

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182780

UNIVERSAL
LIBRARY

OL P—390—29.4.72—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No

H81.09
U65 S

Accession No

H 4374

Author

उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ .

Title

संत चैष्णव काव्यपर तांत्रिकभाव

This book should be returned on or before the date last marked below

1962.

--	--	--	--

संत-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव

संत-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि
के लिए प्रस्तुत तथा स्वीकृत प्रबन्ध

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच० डी०

प्राध्यापक—हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट कालेज, नैनीताल

भूतपूर्व प्राध्यापक—आगरा कालेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक :
बिनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल, रोड
आगरा

प्रथम संस्करण
नवम्बर १९६२

मूल्य : १५.००

मुद्रक
जनता प्रेस,

परमपूज्य पण्डित जगन्नाथ जी तिवारी
[अध्यक्ष हिन्दी विभाग, आगरा कालेज, आगरा]

जिनकी स्तुति के लिए
अनगवज्र के ये शब्द

भी
अपर्याप्त हैं --

अनन्त बोधि सत्सौख्यं प्राप्यते यस्य तेजसा
श्रेष्ठत्वं सर्वभूतानां त्रैलोक्ये सचराचरे

उन्हीं के
चरण-कमलों
में
यह ग्रन्थ समर्पित है ।

भूमिका

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है, 'सन्त-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव" (१४०० ई०-१७०० ई०)। सर्व प्रथम विषय के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण आवश्यक है। तंत्र शब्द की विस्तृत व्याख्या इस प्रबन्ध के प्रारम्भ में दी गई है, किन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि तंत्र से हमारा तात्पर्य शैवागम, शाक्तागम, पांचरात्रआगम तथा बौद्धतन्त्र से ही है। इन तन्त्रों या आगमों का रचना-काल ईसा की छठी शताब्दी से लेकर लगभग तेरहवीं शता० तक है। तेरहवीं शताब्दी के बाद भी शैव व शाक्तागमों की रचना होती रही है तथापि मुसलमानों के द्वारा बौद्ध-विहारों के नष्ट हो जाने के कारण बौद्ध-तन्त्रों की रचना रुक जाती है। इसी प्रकार सन्त एवम् वैष्णव शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सन्त शब्द का प्रयोग केवल "निर्गुनियाँ" कहलाने वाले सन्त-कवि वर्ग से ही लिया गया है। प्रेममार्गी सूफी कवि सन्त कवियों में सम्मिलित नहीं किए गए अतएव सन्तकवियों से मेरा तात्पर्य कबीर, दादू, नानक आदि कवियों से है। वैष्णव कवि भी सन्तकवि कहे जा सकते हैं और कतिपय आलोचक सन्त एवम् वैष्णव----यह विभाजन स्वीकार नहीं करते, किन्तु मैंने कई कारणों से, वैष्णव कवियों और सन्त कवियों का अलग-अलग विवेचन किया है। अतएव 'तन्त्र' शब्द की तरह 'सन्त' और 'वैष्णव' शब्दों का इस शोध में स्वीकृत अर्थ स्मरणीय है।

तांत्रिक साहित्य विपुल है। इस साहित्य और इस साहित्य में वर्णित

साधनाओं में, थोड़ी बहुत भिन्नता रहने पर भी, अद्भुत सादृश्य मिलता है। शक्तिवाद, आराध्य की कृपा, कुण्डलिनी योग, शक्ति सहित देवता के रूप, वस्त्र वाहन, अस्त्र-शस्त्र, तथा मूर्ति के ध्यान द्वारा आराध्य के साथ तादात्म्य, मंत्र, मुद्रा, यन्त्र, गुरु की महत्ता आदि अनेक तत्त्व सभी तन्त्रों में समान रूप से मिलते हैं। सभी तन्त्र एक स्वर से समाज की स्थूल नैतिकता, सकीर्णता तथा बाह्याचार के विरोधी हैं। सभी तन्त्रों में राग को साधना का माध्यम बनाया गया है। इन समानताओं को देखकर यह अनुमान असंगत नहीं है कि ईसा की षष्ठ शताब्दी के बाद, एक ही तांत्रिक साधना विभिन्न सम्प्रदायों में प्रस्फुटित हुई है और नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र तथा पुरातत्त्व की सहायता से यह भी कहा जा सकता है कि यह साधना प्राचीन है, यहाँ तक कि वैदिक युग में भी पूर्व इसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

इस तांत्रिक साहित्य और साधना का प्रभाव हिन्दी के सन्त-वैष्णव-काव्य पर बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। इस प्रबन्ध में इस प्रभाव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

तान्त्रिक प्रभाव का स्वरूप सन्त और वैष्णव-काव्य पर भिन्न-भिन्न प्रकार का है, उदाहरणतः सन्त-सम्प्रदाय के कवियों ने तांत्रिकों के कुण्डलिनीयोग को बाणी दी है। तान्त्रिकों के ही अनुसार सन्तकवि अपने समय की सामाजिक व्यवस्था के कठोर आलोचक हैं, वे एक स्वर से बाह्याचार विरोधी हैं। तन्त्रमत की तरह ही सन्तमत भी गुरुवादी है। सन्तों की भक्ति, योग व ज्ञान-मूलक हैं, वह कोई बन्धन स्वीकार नहीं करती। तांत्रिकों की ही तरह सन्तकवि सहज जीवन के प्रतिष्ठापक हैं।

तांत्रिक प्रभाव के परिणाम स्वरूप वैष्णव-काव्य में शक्तिवाद, शक्तिसहित देवता की उपासना, नाम या मंत्रमाधना, गुरुमहिमा, रागात्मिकाभक्ति तथा अपनी शक्तियों के साथ भगवान की रतिलीलाओं का ध्यान आदि प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। कृष्ण-सम्प्रदाय तथा रामभक्ति में रसिकसम्प्रदाय के कवियों पर शैवशाक्तागमों के शक्ति-शक्तिमान की मधुर क्रीड़ा राधा-कृष्ण या सीता-राम के विलास-वर्णन के रूप में मुखरित हुई है।

उक्त सन्त-वैष्णव-काव्य पर तांत्रिक प्रभाव में कुछ सादृश्य भी है तथापि उपर्युक्त भिन्नताओं को देखकर ही सन्त और वैष्णव भक्त-ऐसा विभाजन स्वीकार किया गया है। जो इन दोनों सम्प्रदायों में भक्ति, नाम साधना, गुरुत्व आदि सामान्य तत्त्व हैं तथापि सन्तों की भक्ति व वैष्णवों की भक्ति में

नाट्यिक अन्तर है। सन्तों की भक्ति ज्ञान व योगमूलक है जबकि अधिकांश भक्तों ने योग व ज्ञान का उपहास किया है। सन्तकवि देवता के रूप को स्वीकार नहीं करते किन्तु नाम को मानते हैं, जबकि भक्तकवि नाम और रूप दोनों के विश्वासी हैं, सामाजिक व्यवस्था के प्रति भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। अतः सामान्य विभाजन स्वीकार न करके, विशिष्ट विभाजन ही इस प्रबन्ध में स्वीकार किया गया है।

इस प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय तांत्रिकधारा के विकास में सम्बन्धित है। प्राग्वैदिक युग से लेकर तांत्रिक युग के पूर्व तक इस साधना के विकास को समझने का प्रयत्न किया गया है। तांत्रिक परम्परा अपने विशिष्ट और निश्चित रूप धारण करने के पूर्व किन-किन रूपों में मिलती है, इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-वैष्णव काव्य में व्यक्त धारणाओं, कल्पनाओं, देवी-देवताओं तथा मानवीय सम्बन्धों का रूप पहले क्या रहा है और कहाँ-कहाँ से किस रूप में आकर नाना उपकरण मध्ययुग की काव्य-सामग्री का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार विचार करने पर सन्त-वैष्णव-काव्य संस्कृति के एक अभिन्न अंग के रूप में कार्य करता हुआ दिखाई पड़ता है और समाज व संस्कृति के क्षेत्र में उसकी भूमिका स्पष्ट हो जाती है। यह सर्वविदित तथ्य है कि हमारे समाज व संस्कृति का इतिहास प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, फिर भी वैदिक आर्यों के यज्ञयाग के समानान्तर विकसित तांत्रिक परम्परा का एक क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

द्वितीय अध्याय में तांत्रिक सम्प्रदायों के दर्शन और साधना का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इस अध्याय में भी विकास पर ध्यान दिया गया है और उन्हीं तत्त्वों पर अधिक प्रकाश डाला गया है जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सन्त-वैष्णव-काव्य पर प्रभाव पड़ा है। सन्त-वैष्णव काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाय, इस अध्याय का यही प्रयोजन है।

तृतीय अध्याय में सन्तकाव्य का विकास और विवरण है। विकास प्रस्तुत करते समय सन्तकाव्य को निरपेक्ष रूप में न लेकर उसे सम्पूर्ण समाज और उसके अनुरूप संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। तांत्रिक परम्परा में विकसित होने के कारण सन्तकाव्य के सामाजिक योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है।

सन्त कवियों और उनकी रचनाओं का विवरण जो इस अध्याय में प्रस्तुत

किया गया है उसमें केवल मुख्य सन्त कवियों का ही उल्लेख किया गया है। विवरण अधिकांशतः डा० रामकुमार वर्मा के “आलोचनात्मक इतिहास” पर आधारित है। “उत्तरभारत की सन्त-परम्परा” में सन्त कवियों का पूर्ण विवरण मिलता है। सन्तकवियों और उनकी रचनाओं की सूचियाँ प्रस्तुत करना मेरे इस कार्य के लिए अनावश्यक था।

चतुर्थ अध्याय में सन्तकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। स्वभावतः तृतीय अध्याय से यह अध्याय अधिक विस्तृत है, क्योंकि तृतीय अध्याय इस अध्याय का सहायक अध्याय है। दर्शन, साधना तथा अभिव्यञ्जना पद्धति इन तीन मुख्य क्षेत्रों पर तांत्रिक प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। साधना में गुरु, दाक्षा, मंत्र, आचार आदि तत्वों पर तांत्रिक प्रभाव का स्वरूप निर्देशित किया गया है।

पंचम अध्याय वैष्णव-काव्य के विकास से सम्बन्धित है। इस अध्याय में विवेच्यकाल के कवियों और उनकी रचनाओं का ही विवरण दिया गया है। हिन्दी भाषा-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी वैष्णवों ने हिन्दी में रचनाएँ की हैं किन्तु हिन्दी-वैष्णव-काव्य तक ही मैंने अपने को सीमित रखा है।

षष्ठ अध्याय में वैष्णव काव्य में व्यक्त दर्शन, साधना व कथन पद्धति आदि पर तान्त्रिक प्रभाव का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। मुविधा के लिए उप-सम्प्रदायों पर अलग-अलग विचार किया गया है।

प्रबन्ध की मौलिकता के विषय में वास्तविक निर्णय तो अधिकारी विद्वान ही करेंगे, तथापि इस सम्बन्ध में यह निवेदन किया जा सकता है।

१. हिन्दी भाषा में प्रथम बार तांत्रिक धारा को क्रम-बद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

२. तान्त्रिक साहित्य पर उपलब्ध सामग्री के साथ मूल ग्रन्थों का भी अध्ययन करके तान्त्रिक सम्प्रदायों के उस पक्ष को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रभाव सन्त-वैष्णव-काव्य पर पड़ा है।

३. इस प्रबन्ध से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तकाव्य में व्यक्त कुण्ड-लिनीयोग वस्तुतः तांत्रिक योग है। सन्तमत की परमतत्त्व व जगत् में सम्बन्धित धारणाएँ तांत्रिक बौद्धमत से सादृश्य रखती हैं। शून्य, सहज, कायासिद्धान्त, चक्रसिद्धान्त, खसमावस्था आदि तत्व बौद्ध व शैव परम्पराओं से लिए गये हैं। कबीरपन्थ का चौकाविधान, तांत्रिकों की चक्र-साधना का अनुकरण है। सन्तों की कथनपद्धति ही तांत्रिक नहीं है, अपितु उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पर भी तांत्रिक प्रभाव प्रमाणित होता है।

४. इस प्रबन्ध में यह प्रमाणित होता है कि वैष्णव काव्य में व्यक्त दर्शन आगमों पर आधारित है। भक्तकवियों की युगल-उपासना तांत्रिकों की यामल-उपासना से प्रेरित है। कृष्ण व राम के राधा और सीता के साथ नित्यविहार की कल्पना पर आगमों के शक्ति-शक्तिमान के विहार का प्रभाव है। भक्तकवियों का नामजप, गुह्यतत्त्व तथा मूर्ति उपासना आगममूलक है। भक्ति के क्षेत्र में सभी जातियों को समानाधिकार देने की प्रवृत्ति तथा मधुराभक्ति के क्षेत्र में मर्यादा की उपेक्षा की प्रवृत्ति पर तांत्रिक प्रभाव प्रमाणित होता है।

अन्त में यह कहना आवश्यक है, कि इस शोध से मैं जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ, उनसे “परम सन्त” और “परम वैष्णव” लेखक कभी सहमत न होंगे क्योंकि साम्प्रदायिक बुद्धि यह स्वीकार नहीं कर सकती कि उसके सम्प्रदाय पर किसी अन्य सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है अथवा उसके निर्माण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्य तत्त्व भी सहायक रहे हैं। किन्तु मुझे आशा यह है, कि जो पाठक साहित्य, धर्म, दर्शन आदि को समाज के आधारभूत प्रवाह के साथ सन्निविष्ट रूप में विकसित होता हुआ देख सकते हैं, उन्हें मेरे इस अध्ययन से अवश्य प्रसन्नता होगी। किसी व्यक्ति, संस्था अथवा सम्प्रदाय की चेतना, अपने युग के अन्य चेतनाप्रवाहों में स्वतः प्रभावित होती है। ईसा की पष्ठ शताब्दी के पश्चात् भारतीय धर्म और साधना तांत्रिक तत्वों से इस प्रकार बुनी हुई लगती है, कि उन तत्वों को अलग करके देखने पर हमें आश्चर्य होता है।

मेरी इस शोध के पश्चात् श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का लोकायत नामक ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुआ है जिसमें तांत्रिक मत की उत्पत्ति के विषय में कृषीय आधार (एग्रीकल्चरल बेसिस) को मुख्य माना गया है किन्तु मैं तांत्रिक साधना का सम्बन्ध आदिम कबीलों से मानता हूँ, अतः मुझे लोकायत के बाद भी अपनी शोध में सशोधन करने का कोई कारण नहीं मिला।

यह प्रबन्ध आगरा विश्व विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए पूज्य पं० जगन्नाथ तिवारी जी के निरीक्षण में तैयार किया गया था। सम्पूर्ण भारतीय साधना में तंत्र-साहित्य एक अनन्त अरण्य के समान सबसे अधिक दुर्गम और गुह्य है। शताब्दियों में निर्मित इस साहित्य से हमारा सन्त-वैष्णव-काव्य किन-किन रूपों में प्रभावित हुआ है, यह समझ लेना मेरे लिए असम्भव था, यदि पग-पग पर पूज्य पण्डित जी का मुझे पथ-प्रदर्शन न मिलता अतः इस अवसर पर सर्व प्रथम मैं गुरु-चरणों का स्मरण करता हूँ—

भवत्पादाम्बुजे त्यक्त्वा नान्या मे विद्यते गतिः ।

पूज्य पं० कैलाशचन्द्र मिश्र के चरणों में बैठ कर मैंने दो वर्ष तक कई तंत्रों का अध्ययन किया है । इस प्रबन्ध में तांत्रिक सम्प्रदायों का मूल ग्रंथों के आधार पर विवरण प्रस्तुत करना मेरे लिए असम्भव हो जाता, यदि पूज्य मिश्रजी का अनुग्रह मुझे प्राप्त न होता । श्रद्धेय मिश्रजी साक्षात् सूर्य हैं, जिनके सन्निधान से बुद्धि का अंधकार नष्ट हो जाता है और वह सूर्यकान्तमणिवत् धक् से प्रज्वलित हो जाती है—

ध्वस्तसान्द्रांधकारस्य, सन्निधानाद् विवस्वतः

धगिति प्रज्वलत्युच्चैः सूर्यकान्तमणिर्यथा ।

ऐसे महान् आचार्य के प्रति शब्दों द्वारा आभार-प्रदर्शन असम्भव है ।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० हजारिप्रसाद द्विवेदी, सिद्धाचार्य नारायण स्वामी, डा० महादेव साहा तथा डा० शशिभूषणदास गुप्त द्वारा मुझे अमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं । डा० सत्येन्द्र जी ने भी मेरी बड़ी सहायता की है, अतः इस अवसर पर मैं इन सब विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ ।

पं० उदयशंकर शास्त्री ने मुझे कुछ दुर्लभ सामग्री प्रदान कर इस अध्ययन को सम्भव बनाया है, एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के यदि प्रकाशन से पूर्व सुझाव प्राप्त न होते तो इस अध्ययन को इस रूप में प्रकाशित करना असम्भव हो जाता । अतः ये आचार्य द्वय धन्यवाद के पात्र हैं ।

इतिहास-विशेषज्ञ डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ को पढ़ने की कृपा की है । कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों और उनकी व्याख्या के लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ ।

मेरे प्रिय शिष्य प्रो० कुन्दनलाल उप्रती ने इस ग्रन्थ को प्रकाशन योग्य बनाने में धीर श्रम किया है, उन्हें इस ग्रन्थ के प्रकाशन से ही विकट प्रसन्नता होगी अतः धन्यवाद देना व्यर्थ ही लग रहा है ।

मैंने इस ग्रन्थ में जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उनके लेखकों के प्रति मैं अत्यधिक आभारी हूँ । स्थानाभाव से पुस्तकों की सूची में सभी ग्रन्थों और लेखकों का उल्लेख भी नहीं हो पाया है ।

मैं इस अवसर पर श्रीयुत भोलानाथ अग्रवाल, श्री राजकिशोर अग्रवाल (जिनका मेरे दुर्भाग्यवश स्वर्गवास होगया है और जो इस ग्रन्थ को प्रकाशित रूप में न देख पाए) एवं श्री विनोदकुमार अग्रवाल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जिनके प्रयत्न से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है ।

—विश्वम्भरनाथ जगन्नाथ

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	
प्रथम अध्याय— आविर्भाव और विकास—	१-४३
१—(क) तन्त्र शब्द व्याख्या	१- ४
(ख) प्रागैतिहासिक युग में तांत्रिक तत्त्व	५- ८
(ग) वैदिक युग में तांत्रिक तत्त्व	८-२२
(घ) उपनिषदों में तांत्रिक तत्त्व	२२-२६
२— महाभारत में तांत्रिक तत्त्व	२७-३८
३— षड्दर्शन तथा तंत्र	३६-४३
द्वितीय अध्याय— विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदाय—	४७-१५७
१— तांत्रिक जैन मत	४७-४६
२— तांत्रिक बौद्ध मत	५०-७६
३— पांचरात्र तांत्रिक मत	७७-६१
४— तांत्रिक शैवमत	६२-१२३
५— तांत्रिक शाक्तमत	१२४-१४६
६—नाथ सम्प्रदाय पर तांत्रिक प्रभाव	१५०-१५७
तृतीय अध्याय— सन्तकाव्य का विकास और विवरण—	१६१-२१४
१— विकास	१६१-२१०
२— विवरण	२१०-२१४

चतुर्थ अध्याय—	सन्तकाव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ—	२१७-३१३
१—	दर्शन	२१७-२४०
	ब्रह्म	२१७-२२३
	आत्मा	२२३-२२४
	सृज	२२४-२२७
	जगत	२२७-२२८
२—	सन्त साधना पर तांत्रिक प्रभाव	२४०-२६२
	क्रम साधना	२४०-२४१
	दीक्षा	२४३
	मंत्र	२४४
	कुण्डलिनी योग	२४४
	व्यान और जप	२४५-२४६
	अजपा जाप	२४६-२५६
	नाद योग	२५६
	चक्र स्थिति	२५६-२६३
	तादानु संधान और उन्मनावस्था	२६३-२६७
	परवर्ती सन्तो में चक्र	२६७-२७१
	काया सिद्धान्त	२७१-२७३
	चमत्कार	२७३
	जादू	२७३-२७५
	अभिचार	२७५-२७६
	योग: ज्ञान और भक्ति	२७६-२८४
	आचार	२८४-२८६
	मूर्ति उपासना	२८७-२८८
	आचार खंडन	२८८-२८९
३—	कथाएँ	२८९-२९४
४—	अभि व्यंजना पद्धति	२९४-२९७
५—	कथनी का सामाजिक पक्ष	२९७-३०३
६—	सन्त काव्यकला पर तांत्रिक प्रभाव	३०३-३१३

पंचम अध्याय	वैष्णव काव्य का विकास और विवरण	३१७-३४४
१—विकास		३१७-३४१
मधुराभक्ति पर तांत्रिक प्रभाव		३२२-३२४
ऐतिहासिक औचित्य		३२४
साधनाओं की अंतर्भुक्ति		३३०-३३७
बुद्ध, विष्णु, शिव, राम और कृष्ण		३३७-३३९
मुगल उपासना		३३९-३४१
२—विवरण		३४१-३४४
षष्ठ अध्याय	वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ	३४७-४३८
१—कृष्ण-काव्य का दर्शन		३४७-३६७
ब्रह्म		३४७-३५२
शक्ति		३५२-३५३
मुक्ति		३५४-३५५
कृपा का सिद्धान्त		३५६-३५७
लीला		३५७-३६०
गोलोक		३६०-३६१
साधना		३६१-३६७
२—अष्ट छाप काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ		३६७-३८९
दर्शन		३६७-३८८
शक्ति शक्तिमान्		३६८-३७३
रासमण्डल		३७३-३७९
विरह और वात्सल्य		३७९-३८२
नायिकाभेद पर तांत्रिक प्रभाव		३८२-३८३
आचार		३८३-३८७
अभिव्यक्ति-पद्धति		३८७-३८९
३—हितहरिवंशीय काव्य पर तांत्रिक प्रभाव		३८९-४००
हित तत्त्व		३९०-
नित्य विहार		३९०-३९१
हित की रसरूपता		३९२
द्विदल सिद्धान्त		३९२
वृन्दावन		३९३
युगल केलि		३९३

राधातत्व	३६४
सहचरी तत्व	३६५-३६७
गुरुतत्व	३६८
सेवा	३६८
तिलक और कण्ठी	३६६
सखी सम्प्रदाय में काम केलि	४००
४—निम्पार्क सम्प्रदाय के काव्य में तंत्र	४०२-४०५
श्रीभट्ट	४०२-४०३
हरिव्यास देव	४०३-४०४
अभ्य कवि	४०४-४०५
५— राम काव्य में तन्त्र	४१२-४३६
दर्शन	४१३
कृपा का सिद्धान्त	४१३-४१४
भक्ति का स्वरूप	४१४-४१५
बाशिरा भक्ति	४१५-४१७
शक्ति वाद	४१७
शिव	४१६
पंचदेवोपासना	४२०-४२१
मंत्र साधना	४२२
चमत्कार	४२४-४२६
अभिव्यंजना पद्धति	४२६
अग्रदास	४२७-४३१
तुलसीदास	४३१-४३२
नाभादास	४३२
शक्तिपात	४३४
दीक्षा	४३४
साधना	४३५
स्वसुख सिद्धान्त	४३६
उपसंहार	४३६
सहायक ग्रंथ	४४४
शब्दानुक्रमणिका	४५५
शुद्धि पत्र	

आविर्भाव और विकास

तत्र शब्द की व्याख्या—तन्त्र शब्द का सामान्य अर्थ इस प्रकार है—
तन् = विस्तार, तन्यते = विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम् (काशिका), जिससे
ज्ञान का विस्तार हो, वह तन्त्र है। इस अर्थ में ज्ञान की सभी शाखाएँ अन्तर्भुक्त
हो जाती हैं। इसीलिए न्याय तन्त्र, सांख्य तन्त्र, चिकित्सा तन्त्र आदि प्रयोग
प्रचलित रहे हैं।^१

तत्र के सामान्य अर्थों में एक अर्थ यह है, तन् = विश्वास करना। इस
व्युत्पत्ति से तत्र का अर्थ है विश्वास का माधन। अतः तन्त्र का अर्थ उपासकों
के उन पवित्र शास्त्रों से है जिनमें देवी का पूजा की विधियों आदि का वर्णन
किया गया है। इस अर्थ में 'विश्वास करना' इतना अर्थ तो सामान्य है
परन्तु देवी की पूजा में विश्वास करना, देवी-पूजा-सम्बन्धित शास्त्रों में विश्वास
करना, यह तत्र का विशेष अर्थ है, जो मन्त्र स्वीकृत है।^२ वाचस्पति, आनन्दगिरि
तथा गोविन्दनाथ तत्रि या तत्रि धातु से व्युत्पाद (ओरिजिनेशन) या ज्ञान

१ एस० बी० दास गुप्ता: एन इन्ट्रोडक्शन आफ़ तांत्रिक बुद्धिज्म पृ० १, २
कलकत्ता।

२ एस० एन० दास गुप्ता. फिलोसोफीकल एसेज पृ० १५२, कलकत्ता।

अर्थ लेते हैं।^१ परन्तु तन् शब्द में विस्तार (इन्फ्रॉगेशन) अर्थ ही अधिक प्रचलित है।^२ पिगलामत तंत्र में तत्र को आगम कहा गया है और आगम का अर्थ इस प्रकार किया गया है। आगम वे शास्त्र हैं जिनमें सभी सिद्धान्त उत्पन्न हुए हैं और जो शिव के मुख से निःसृत हैं। ये शास्त्र गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा छन्दोबद्ध रूप में प्रचलित हैं।^३

पिगलामत तंत्र की यह परिभाषा तंत्र के विशेष अर्थ की सूचक है। तत्र शिव या शक्ति के वार्ता रूप में कहे गए हैं। बौद्ध तंत्रों में भी गौतम बुद्ध व माधको के वार्तालाप रूप में ही तंत्र मिलते हैं। हिन्दू तंत्रों में सर्वदा शिव या शक्ति ही उपदेश देते दिखाई पड़ते हैं। इन तंत्रों में शक्ति पूजा या शिव पूजा के अतिरिक्त ज्योतिष, रसायन, सृष्टि-विज्ञान आदि अनेक विषयों का वर्णन मिलता है। इसीलिए तंत्र का सामान्य अर्थ 'ज्ञान का विस्तार' किया जाता है परन्तु तंत्र शब्द के विशेष अर्थ में वेदों से भिन्न उस शास्त्र का अर्थ लिया जाता है जिसमें शक्ति धनात्मक, ऋणात्मक अथवा पुरुष व स्त्री शक्ति-पूजा का वर्णन हो। इसमें पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के द्वारा सिद्धि व मुक्ति प्राप्त करने की विधि वर्णित है।^४ पुरुषशक्ति व स्त्री शक्ति का एकता के लिए तंत्रों में योग, उपासना, चक्र, मन्त्रादि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार तत्र शब्द का विशेष अर्थ उस शास्त्र-समूह में है जिसमें पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के उपायों का वर्णन होता है।

तंत्रों में देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का वर्णन मिलता है। इनमें देवता विषयक मन्त्र मिलते हैं। उपासना के पाँचो अंग—पटल, पद्मति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र की व्यवस्था मिलती है।^५

धर्म के विश्वकोश में तत्र शब्द के अर्थ का विकास भी समझाया गया है।

- १ एस० एन० दास गुप्ता-फिलोसोफीकल एसेज पृ० १५२ कलकत्ता।
- २ तन्मया तन्त्रयते तन्त्रा लोक नाम्न्यंत्र शासने-तन्त्रालोक-प्रथम आह्लाक पृ० २५८। सस्कृत सीरीज, श्रीनगर, काश्मीर (जिल्द १)
- ३ पामलीफ सेलेंडिडेटड मैन्युसक्रिप्ट, हरप्रसाद शास्त्री, बी० टी, प्रीफेस पृ० २२ कलकत्ता।
- ४ एस० बी० दास गुप्ता पृ० ३, ११०, ११३ तथा १२६।
- ५ बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन सीमांसा पृ० ४१७ प्रथम संस्करण बनारस १९४६।

तंत्र का प्रथम अर्थ बुनना या आवरण था, पुनः उसका अर्थ निरन्तर रूप से होने वाली धार्मिक क्रिया हुआ। तत्पश्चात् तंत्र शब्द उन शास्त्रों के अर्थ में प्रचलित हो गया जिसमें तांत्रिक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। चिंतामणि भट्टाचार्य के अनुसार तंत्र से अभिप्राय उस शास्त्र से है जिसे शिवजी ने पार्वती के सम्मुख प्रकट किया था। क्योंकि कलियुग में वेद मंत्र कुण्ठित हो जाते हैं, यज्ञ योग का अवसर नहीं मिलता है। अतः एक नवीन शास्त्र की आवश्यकता समझ कर मुक्ति व भुक्ति दोनों की सरलता के साथ प्राप्ति कराने के लिए तंत्रों को प्रकट किया गया।^१ शिव के मुख से आने से तंत्र को आगम (आगच्छतीति आगमः) कहा जाता है। अथवा इन्हें निगम भी कहा जा सकता है क्योंकि शिव के लिए ये शास्त्र गिरजा के मुख से निकले थे। निर्गच्छतीति निगमः।

अभिनवगुप्त के अनुसार तंत्र का अर्थ “प्रसिद्धि-शास्त्र” है। प्रसिद्धि का अर्थ है भोग व अपवर्ग के लिए भैरव शिव द्वारा प्रकाशित विद्या। और इस पारमेश्वरी विद्या का जिन शास्त्रों में वर्णन मिलता है वे शास्त्र आगम कहलाते हैं। अतः जिन जिन शास्त्रों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि हो कि गुरु शिष्य परम्परा से वे शिव द्वारा प्रकाशित होकर प्रचलित हैं, वे आगम कहलाते हैं।^२

आगमों में गुरु-शिष्य-परम्परा तथा साक्षात्कृत अनुभव को ही प्रमाण माना गया है। श्रुति का प्रमाण यहाँ सर्वत्र नहीं मिलता। उसका अर्थ यह नहीं कि आगम शास्त्र अप्रामाणिक हैं, क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अनिन्दनीय शास्त्र होने से तथा आप्त वाक्य होने से ये आगम प्रामाणिक माने जाते हैं।^३

इस प्रकार शिव व शक्ति के गघट्ट (यामल) के लिए नाना गाथनामों का जिन शास्त्रों में वर्णन है, वे ही आगम या तन्त्रशास्त्र कहलाते हैं। पुरुष शक्ति का प्रधानता से शैव तंत्र तथा स्त्री शक्ति की प्रधानता से ये शक्तियोग कहलाते

१ सम्पादक चिंतामणि भट्टाचार्य सातुकाभेदतंत्रम्, भूमिका, कलकत्ता, १९३३।

२ तत्रालोक ३५ आ० पृ० ३५६, जिल्द १२।

३ अविगीतैव हि प्रसिद्धिरागम तत्रालोक-प्रथम आ० पृ० ४६, जिल्द १।

है। बौद्ध तंत्रों में भी पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता ही प्रतिपादित है। पाँचरात्र आगमों में भी पुरुष शक्ति के साथ स्त्री शक्ति की प्रतिष्ठा का विधान मिलता है अतः शैव, शाक्त, पाचरात्र तथा बौद्ध इन नामों से तन्त्र प्रसिद्ध है।

यद्यपि हिन्दू (शैव, शाक्त, पाचरात्र) तथा बौद्ध तंत्रों में वर्णित शक्ति साधना की विधियों में अन्तर प्रतीत होता है परन्तु तंत्र की मूल एकता अर्थात् पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता सभी तन्त्रों में प्रतिष्ठित है। तंत्रों के विश्वास के अनुसार अद्वैत चिन्मय सत्ता में ही प्रवृत्ति व निवृत्ति अर्थात् पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति के भेद हो जाते हैं, जिनकी एकता से पुनः अद्वैत चिन्मय सत्ता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। हिन्दू तंत्रों में शिव शक्ति, विष्णु व लक्ष्मी तथा बौद्ध तंत्रों में उपाय व ज्ञाना, पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति के नाम हैं। अतः तंत्र अपने मूल अर्थ में एक और अविभाज्य है।

तंत्र का अर्थ स्पष्ट कर लेने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि शिव-शक्ति की एकता के लिए जिन सिद्धान्तों तथा साधनाओं का वर्णन तंत्रों में मिलता है, उनका विकास किस प्रकार हुआ। तंत्रों में अनेक वेद विरोधी क्रियाओं का वर्णन मिलता है और इन क्रियाओं को तंत्रों में प्रामाणिक माना गया है। अतः तंत्रों के विकास पर विचार करते समय प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ये साधनाएँ वेदों के अतिरिक्त किस स्रोत से आई हैं। विद्वानों का विचार है कि तंत्रों में वेदों से पूर्व के युगों में प्रचलित जनता के विश्वासों को स्वीकार कर लिया गया है। इस अनुमान की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। कुब्जिका तंत्र में कहा गया है कि तंत्र के प्रचार के लिए भारत देश में जाना चाहिए।^१ सम्मोहन तंत्र में कहा गया है कि महानील सरस्वती की सहायता से ही ब्रह्मा वेद पढ़ते हैं। मेरु पर्वत के पश्चिम में नीलोन्नारा देवी चोल नामक भील में रहती है। मेरु के उत्तर में अक्षोभ मुनि का निवास है, वह ही राधावत् महादेव है। उन्होंने प्रथम महानील सरस्वती देवी की साधना की थी, यह देवी प्रलय के समय चीन देश में अवतरित हुई थी।^२ इन कथाओं

१ गच्छे त्व भारतेष्वे अधिकाराय च सर्वतः

हर प्रसाद शास्त्री : कंडालीन ग्राफ बरबार लाइब्रेरी, पृष्ठ ५६ नेपाल ।

२ पी० सी० बागची : ओन सम तांत्रिक टेंक्ट्स स्टडीड इन एनसियेन्ड कम्बोज, पार्ट १ कसकता ।

मे कम मे कम इतना स्पष्ट होता है कि कतिपय तांत्रिक तत्व बाहर मे भी आये है ।

प्रागैतिहासिक विभिन्न संस्कृतियों में तांत्रिक तत्व—इस प्रबन्ध मे पूर्व वैदिक युग के लिए “प्रागैतिहासिक युग” शब्द का प्रयोग किया जाएगा । प्रागैतिहासिक युग मे मिश्र देश (६००० ई० पूर्व) सुमेर देश (५००० ई० पू०) तथा पश्चिमी एशिया के देशो मे शक्ति-उपासना के बहुत से प्रमाण मिलते है । मिश्र देश मे रा, होरम, ओमिरम, त्मु, अमेन, मेन आदि देवताओ के साथ आइमिस देवी की पूजा का बहुत अधिक प्रचार था । ग्रीक मे यही देवी इसो के नाम मे प्रसिद्ध हुई । देवी देवताओ को बलि देने का विधान उस काल मे प्रचलित था । इन देवी देवताओ की मूर्तियो मे अर्द्ध मनुष्य और अर्द्ध पशु की मिश्रित मूर्तिया मिलती है ।^१

सुमेर देश मे इशतर तथा बालजेबल आदि देवियों की पूजा का प्रचार था । इनके अतिरिक्त जरमिन देवी तथा तममित देवी क्रमशः उत्पत्ति और बुद्धि की देवियां मानी जाती थी ।^२

बलि, मंत्र तथा मुक्त यौन-सम्बन्धो द्वारा इन देवी देवताओ की पूजा प्रागैतिहासिक युग मे प्रचलित थी ।^३ बामाचार के अतिरिक्त प्रार्थनाओ और विभिन्न द्रव्यो से देवी देवताओ की उपासना भी प्रचलित थी । इन देवी देवताओ में बहुत से प्रेत, राक्षस आदि की भी पूजा की जाती थी ।^४

पिंड-ब्रह्माण्ड-कल्पना—यह आश्चर्य का विषय है कि प्रागैतिहासिक युग मे ही पिंड ब्रह्माण्ड की कल्पना हो चुकी थी । सुमेरियन विश्वासो के अनुसार पृथ्वी पर काल की क्रीड़ा स्वर्गीय घटनाओ का प्रतिबिम्ब मात्र है । शरीर मे यकृत ही बुद्धि का क्षेत्र है, पशु की बलि देते समय उसके यकृत मे स्थित देवता के विचारो का पता लगाया जा सकता है ।^५

१ हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड, लन्दन, जिल्द १, पृ० २१६ से २२४

२ वही पृष्ठ ३०६ से ५२१ तक । तथा एनसियेन्ट हिस्ट्री आफ वेस्टर्न एशिया, इन्डिया एन्ड क्रीट, प्रोफे० बी० ह्याजनी, न्यूयार्क (संक्षान सुमेर अक्कादियन सिविलीजेशन)

३ वही ।

४ वही ।

५ प्रो० ह्याजनी, संक्षान सुमेर अक्कादियन सिविलीजेशन ।

गुरु—प्रागैतिहासिक युग में गुरु का महत्व तांत्रिक संप्रदायों के समान ही स्वीकृत था। इस्तर देवी की उपासना में स्त्री गुरुओं व स्त्री शिष्याओं की अधिकता थी।^१

सुमेरियन सभ्यता में जादू व मंत्र का प्रयोग अधिक होता था। प्रत व राक्षसग्रस्त व्यक्तियों के शरीर से धर्मपुण्डित मंत्रों द्वारा राक्षसों व प्रेतादि को भगा देने थे। जादू के वीज मंत्रों को मिट्टी के टुकड़ों पर लिखा जाता था जिन्हें तांत्रिक माहिर्य में गन कहा गया।

हती या हिट्टायट भाषा में प्राप्त धर्म में भी बहुत से तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं। हती भाषा में १६०० ई० पूर्व के ग्राम पाम यज्ञों का प्रचार हुआ था। सम्भवतः उस समय तक हती प्रदेश में आर्य कबीले आ चुके थे। उसीलिए हती प्रदेश में आर्यों ने १६०० ई० पूर्व के ग्राम पाम यज्ञ धर्म का प्रचार किया। किन्तु उसके पूर्व हती प्रदेश में धर्म का वही स्वरूप मिलता है जो मिश्र और सुमेर देश के प्राचीन धर्मों में मिलता है।^२

सिन्धु सभ्यता में तांत्रिक तत्त्व—प्री० ह्याजनी के अनुसार सिन्धु घाटी पर २००० ई० पू० के ग्राम पाम द्रविडों का आक्रमण हुआ और १६०० ई० पू० के पश्चात् सिन्धु घाटी पर प्रारम्भिक आर्यों का आक्रमण हुआ। इस प्रकार वैदिक आर्यों के आने के पूर्व अर्थात् १५०० ई० पूर्व के पूर्व सिन्धु घाटी में प्रारम्भिक भारतीय धर्म का विकास हो चुका था जिसमें द्रविडों और प्रारम्भिक आर्यों के विश्वास भी मिलते हैं। १५०० ई० पू० के ग्राम पाम वैदिक आर्यों का आक्रमण सिन्धु घाटी पर हुआ था। उसीलिए वैदिक देवताओं में बहुत से देवताओं को वैदिक आर्यों ने सिन्धु सभ्यता के देवताओं से या तो उधार लिया है या उन्हीं के आधार पर इन्द्र, उषा, वरुण, विष्णु आदि देवताओं का विकास किया है।^३ प्री० ह्याजनी का यह शोध चमत्कारक है। उन्होंने सिन्धु घाटी की लिपि को ठीक ठीक पढ़ने का दावा किया है। जो हो, ह्याजनी की शोध से यह तथ्य अवश्य स्पष्ट होता है कि सिन्धु सभ्यता वैदिक युग से पूर्व की सभ्यता है और उसमें वैदिक विश्वासों के साथ बहुत से अवैदिक अविश्वास भी मिलते हैं। इन अवैदिक विश्वासों के साथ मिश्र, सुमेर, तथा पश्चिमी एशिया के विश्वासों के साथ अद्भुत सादृश्य मिलता है।

१ प्री० ह्याजनी संक्षेप सुमेर ग्रन्थालय सिविलीजेशन।

२ वही, संक्षेप हती या हिट्टायट पीपुल।

३ संक्षेप प्राचीन भारत का इतिहास · प्री० ह्याजनी।

उदाहरण के लिए इश्वर देवी के सगान हाँ सिन्धु घाटी में देवी पूजा के कई प्रमाण मिलते हैं। एक सील पर यंत्र अंकित है उसके दूसरी ओर देवी की मूर्ति है। एक दूसरी सील पर एक शेर अंकित किया गया है जो स्पष्ट ही दुर्गा देवी में सम्बन्धित रहा होगा। सील पर लिखा है “कुइय देव का मुद्रायंत्र”। कुइय का सम्बन्ध लिंग पूजा में प्रतीत होता है। एक अन्य सील में शिवा शब्द मिलता है, उसमें देवी शयन-मुद्रा में है। इस सील की पीठ पर एक आदमी किसी स्त्री का बलिदान करने को प्रस्तुत है। एक दूसरी सील पर मिश्र देश की मूर्तियों के समान देवी का शरीर शेर का है और मुख स्त्री का। शिवा देवी का चिन्ह योनि भी एक अन्य सील पर अंकित है। एक दूसरी सील पर “कुट्श” शब्द मिला है जिसका सम्बन्ध गर्भ व कुण्डलिनी में जोड़ा गया है।

देवी के अतिरिक्त ह्याजनी ने एक सील पर नाट्य और दूसरी पर नटराज शब्द पड़ा है। एक अन्य सील पर पशुपति योग मुद्रा में अंकित है। वह नग्न है, मेखलाधारी है और पद्मासन लगाए हुए है। श्री ह्याजनी ने यह भी बताया है कि सिन्धु घाटी में वैदिक कार्यों के आक्रमण के पूर्व योग, कुण्डलिनी, लिंग-योनि, पूजा, बलिप्रथा तथा मन्त्र आदि तत्त्व विद्यमान थे।^१ यदि श्री ह्याजनी की शोध प्रामाणिक है तो यह स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी में शक्ति-शिव पूजा तथा कुण्डलिनी योग का प्रचार हो चुका था और इनके साथ बामाचार का सम्बन्ध भी था। ऋग्वेद में रुद्र और आम्भृणी (देवी) को छोड़कर इस सिन्धु घाटी में प्राप्त तांत्रिक साधना को स्वीकृति नहीं मिली किन्तु अथर्ववेद में सभी प्रागैतिहासिक अर्थात् पूर्व वैदिक विश्वासों को यथावत् स्वीकार कर

- १ प्रो० ह्याजनी: संक्शन प्राचीन भारत का इतिहास। इस ग्रन्थ के सिवा द्रष्टव्य “न्यूलाइट आन द मोस्ट एनसियेंट ईस्ट” वी० गारडन चाइल्ड, लंदन, १९५४ पृष्ठ, १८४, १८५। गारडन चाइल्ड के अनुसार सिन्धु सभ्यता का धर्म ऋग्वेद से नहीं मिलता। हरप्पा और मोहन जोदड़ों का शिव प्रागैतिहासिक है। इसके सिवा देवी या शक्ति तत्त्व का स्थान वेदों में महत्वपूर्ण नहीं है। अतः विद्वानों का मत है कि उत्तरवैदिककाल में उक्त प्रागैतिहासिक तत्त्व—शिव योग, शक्ति पूजा आदि ब्राह्मण मत में शनैः शनैः सम्मिलित हुए।

लिया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों व कृष्ण यजुर्वेद पर इस प्रागैतिहासिक साधना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उपनिषद् भी इस प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उपनिषदों के बाद यह प्रागैतिहासिक विश्वास जो भारतवर्ष में भी अनार्य कबीलों और जातियों में प्रचलित थे, शाक्त, शैव, वैष्णव तथा तांत्रिक बौद्ध मतों में विभिन्न रूप धारण करके प्रविष्ट हुए। तांत्रिक युग में इस विश्वास-परम्परा को दार्शनिक आधार भी दिया गया तथा कुण्डलिनी योग के रूप में यही साधना नाथ पन्थ तथा कबीर, दादू, नानक आदि सन्त सम्प्रदायों में विकसित हुई तथा शक्तिवाद के रूप में यही साधना पांचरात्र वैष्णव यागम, पुराण तथा वल्लभ, हरिदास, चित्त हरिवंश, अग्रदास आदि वैष्णव सम्प्रदायों में एक भिन्न रूप धारण कर प्रतिष्ठित हुई। और इस प्रकार गुप्तकाल के आक्रमण-काल के पूर्व से जो विराट् सांस्कृतिक समन्वय प्रारम्भ हुआ उसमें तांत्रिक तत्वों को, उपयुक्त इतिहास को, स्मरण रख कर, स्पष्ट रूप से अलग किया जा सकता है।

वैदिक युग में तांत्रिक तत्व

पूर्व वैदिक युग में प्रारम्भिक तांत्रिक साधना के स्वरूप पर हम विचार कर चुके हैं। किन्तु ऋग्वेद का मुख्य स्वर याज्ञिक और पुरुष-देव प्रधान है। जबकि अनार्य जातियों में मातृपूजा का विशेष प्रचार था। ऋग्वेद में यह प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। फिर भी ऋग्वेद में देवता स्तवन का सम्बन्ध शक्ति जागरण के साथ दिखाई पड़ता है। ऋषि का विश्वास था कि अमुक मंत्र पढ़ने से अमुक शक्ति जाग्रत होती है। इस शक्ति विशेष को ही देवता कहा गया है। देवताओं का शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में निवास है यह विश्वास भी यहाँ मिलता है^१। आगे चलकर तंत्रों में देवता की यही परिभाषा मिलती है कि देवता मंत्रात्मक है^२।

ऋग्वेद में पुरुष देवताओं के अतिरिक्त कुछ शक्तियों की उपासना भी मिलती है^३। सरस्वती या वाणी को देवी स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के दशम मंडल के १२५ वें सूक्त में प्रसिद्ध वाग्देवी के मंत्र हैं जिनमें शक्ति नारी रूप में वर्णित है। सम्भवतः इन्हें बाद में जोड़ा गया है। ऋग्वेद में

१ ऋग्वेद—अनूवित, रामगोविन्द त्रिवेदी, ३-६२-१०, प्रयाग १९५४।

२ सर्वे मंत्रात्मक देवाः सर्वे मंत्राः शिवात्मकाः—तंत्रालोक, जिल्द १ भा० १।

३ ऋग्वेद १०-७२-१०६। १-३-१०। १-१८८-८। १-१६४-४५।

शची देवी की उपासना के संकेत भी मिलते हैं। यह वाग्देवी की तरह ही गर्व और दर्प में पूर्ण दिखाई पड़ती है। भोग में आसक्ति और मौन्दर्य के प्रति अनुराग शची में अधिक दिखाई पड़ता है।^१ इसके अतिरिक्त सिनीवाली श्रद्धा, सूर्या, सरमा, इला, भारती, महिलुपी आदि देवियों के उल्लेख इस वेद में मिलते हैं। दशम मंडल में एक पूरा गो-सूक्त भी मिलता है। इसी मंडल के रात्रि सूक्त में तात्रिक काली देवी का सम्बन्ध जोड़ते हैं।^२ एक मन्त्र में लिग उपासना भी संकेतित है।^३ ऋग्वेद में प्रागैतिहासिक रुद्र देवता को स्वीकार किया गया है।^४ अहिर्बुध्न्य की भी यहाँ चर्चा है जो रुद्र का ही एक रूप है। रुद्र अहिर्बुध्न्य और विष्णु ऋग्वेद में अधिक महत्वपूर्ण देवता नहीं हैं। तात्रिक युग में इनका विशेष महत्व बढ़ता है। सम्भवतः ये देवता अपने मौलिक रूप में सामान्य जनता द्वारा पूजित थे। बाद में उनको आर्यों ने विशेष रूप दे दिया।^५

ऋग्वेद के यज्ञों में मास, मदिरादि का प्रयोग भी विशेष अवसरों पर अवश्य होता था।^६ दशम मंडल में ऋषि स्पष्ट कहता है “इन्द्र तुम्हारे लिए पुरोहितों के साथ में स्थूल काय बैल पाक करता हूँ।”^७ ऋषि कक्षीवान् सुरा की प्रशंसा करते हैं।^८ अभिनव गुप्त ने शायद ऐसे ही स्थलों को देखकर लिखा है कि ऋषि सुरा और गोमाम का प्रयोग करते थे।^९

ऋग्वेद में उन चमत्कारों का भी वर्णन मिलता है जिसका तात्रिक युग पर विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। किन्तु इसे आसुरी माया कह कर इस प्रवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट की गई है।^{१०} राक्षस, पिशाच, असुर, नाग आदि अनायों में गृह्य साधनाओं और अमिचार का विशेष प्रचार था। इन विश्वासों

१ ऋग्वेद १०-८६-६ से १६ तक ।

२ „ १०-१२७-१ ।

३ „ ६ - १००१ ।

४ „ १ - ११४ ।

५ गणेश - ए० गेटी, ओक्सफोर्ड १९३६ ।

६ १० - ८६ - ६ से १६ तक तथा ८ - १३३ - ५ ऋग्वेद ।

७ १० - २७ - २ ऋग्वेद ।

८ १ - ११६ - ७, „

९ तंत्रालोक जिल्द १ आ० ४ पृ० २६६ ।

१० ऋग्वेद ५ - २ - ८ ।

के उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं। राक्षसों को काले रंग वाला और कई मिर वाला बताया गया है।^१ तुलसी के रामचरित मानस में रावण को दस मिर वाला कहा गया है।

ऋग्वेद में वह 'विपरीत कथन पद्धति' भी मिलती है, जिसका आगे चलकर मिर्द्रा और मन्त कवियों ने विशेष रूप में प्रयोग किया है—

एक शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं, एक फल खाता है और दूसरा उदासीन बैठा है।^२ एक युवती है, उसके चार कोने हैं, उसकी मूर्ति सुन्दर है। दो पक्षी उस युवती पर बैठते हैं।^३ एक नवीन बालक का क्या ही अद्भुत प्रभाव है। दूध पीने के लिए वह बालक माता-पिता के पास नहीं जाता। उसके पान के लिए स्तन-दुग्ध नहीं है।^४

ऋग्वेद में तात्रिकों द्वारा प्रयुक्त बहुत से प्रतीक भी ऋग्वेद में मिलते हैं जैसे विद्युत्, ध्रुव, सूर्य, चन्द्र, हंस, अग्नि, धूम्र, कमल, पुरुष, नार्गा आदि। यास्क के निरुक्त में पता चलता है कि वैदिक परम्परा में भी एक एक शब्द के कई अर्थ प्रचलित थे। इनमें कुछ साधक योग परक भी अर्थ ग्रहण करते थे।^५

इस प्रकार ऋग्वेद में भी उपर्युक्त तात्रिक तत्त्व मिलते हैं परन्तु कुल मिलाकर ऋग्वेद पुरुष-देव-प्रधान यज्ञ-धर्म का ही प्रतिनिधित्व करता है जो आर्य धर्म की प्रमुख विशेषता थी।

अथर्ववेद—तात्रिक प्रवृत्तियों का प्रारम्भिक रूप अथर्ववेद में मिलता है। ऋग्वेद में तो उसकी यत्र तत्र ही झलक मिलती है। अथर्ववेद में धर्म और जादू (यातु) का मिश्रित रूप दिखाई पड़ता है। यह प्रवृत्ति तात्रिक चर्या में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है।^६ धर्म में महत्तर शक्तियों की उपामना की जाती है, जबकि जादू में कुछ विशेष क्रियाओं के द्वारा शक्ति को

१ ऋग्वेद १० - ६६ - ६

२ „ १-१६४-५

३ „ १०-११४-३

४ „ १०-११५-१

५ राम गोविंद त्रिवेदी : हिन्दी ऋग्वेद की भूमिका पृ० ६, १०

६ एन० जे० शिन्वे : द रिलीजन एन्ड फिलोसफी आफ अथर्ववेद, इंट्रोडक्शन पृ० १, पृ० १६५२

बलात् वश में किया जाता है। धर्म में माधक देवता की प्रमन्नता के लिए उसकी कृपा पर निर्भर रहता है, वह अपनी प्रार्थना, सेवा, समर्पण और भक्ति से देवता को प्रमन्न करना चाहता है जबकि जादू में कुछ विशेष क्रियाओं के द्वारा देवता को कार्य विशेष करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। वस्तुतः धर्म और जादू मनुष्य की प्रकृति-विजय-आकांक्षा के प्रतीक है। विज्ञान के आविष्कार के पूर्व मनुष्य धर्म और जादू के द्वारा आत्म-विश्राम प्राप्त करने के लिए अनेक व्यर्थ प्रतीत होने वाली क्रियाओं को करता आया है। मादृश्य और सम्पर्क ये दो प्रसिद्ध जादू के सिद्धान्त हैं। मादृश्य सिद्धान्त में मनुष्य यह कल्पना कर लेता है कि सदृश वस्तु सदृश प्रभाव उत्पन्न करती है अथवा परिणाम कारण के सदृश होता है।^१

जादू का यह रूप मारण क्रिया में देखा जा सकता है। मनुष्य किसी वृक्ष की शाखा को काटता है और कल्पना कर लेता है कि डाल काटना चूँकि गला काटने के समान है इसलिए डाल काटने ही शत्रु की मृत्यु हो जानी चाहिए। उगी प्रकार शत्रु के पुतले का बनाकर उसे काटा जाता है या मुँह में छेदा जाता है और शत्रु को पाँडा या वध की कल्पना करवा दी जाती है।

सम्पर्क सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि एक बार सम्पर्क में आकर दो वस्तुएँ विलग होने पर भी सम्पर्क रहती हैं।^२ यदि किसी व्यक्ति के पैर की धूल लेकर उसे आग में डाल दे तो धूल के जलने के साथ ही उस व्यक्ति का पैर भी जल जायगा। धूल का सम्पर्क उस व्यक्ति में हो चुका था। अतः मनुष्य यह मान लेता है कि उस व्यक्ति के चले जाने पर भी उस धूल का सम्पर्क उसके पैर में बना रहता है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि खैर वृक्ष में उत्पन्न अश्वत्थ में बनी मणि को इन्द्र ने युद्ध में धारण किया था अतः इसे हमें भी धारण करना चाहिए।^३ इस उदाहरण में जादू का सम्पर्क-सिद्धान्त कार्य कर रहा है। अन्यत्र

१ फ्रेजर : द गोल्डन बाऊ पृ० ११, लंदन १९५४ संक्षिप्त संस्करण।

२ वही " " ।

३ अथर्ववेदः हिन्दी अनुवाद-सायणभाष्य-रामचन्द्र शर्मा, मुरादाबाद संवत् १९८६, कांड ३ अनुवाक २ सूक्त १ मंत्र २।

कहा गया है कि यदि मूत्र रुक जाय तो 'बाल' शब्द कहे तो मूत्र बाहर निकल आएगा । यहाँ सादृश्य सिद्धान्त काम कर रहा है ।^१ यह सादृश्य-सिद्धान्त निम्नलिखित मंत्रों में द्रष्टव्य है ।^२ कौशिक गृह्य सूत्रों में जादू की हों प्रधानता दिखाई पड़ती है । शान्तिक, पौष्टिक, आभिचारिक तथा अद्भुत कर्मों का अथर्ववेद और कौशिक सूत्रों में विस्तृत विवरण मिलता है । यज्ञ में भी इस जादू का एक रूप दिखाई पड़ता है । चावन की भूसी अग्नि में डालने से भूत प्रेतों पर विजय होती है । जबकि सामान्य यज्ञों में घृत का प्रयोग होता है, क्योंकि घृत सार तत्त्व है । अतः इसका प्रयोग सर्वग्राही है । भूसी में सार नहीं है । अतः सारहीन भूत प्रेत उसमें वश में हो जाते हैं, ऐसा विश्वास हमें अथर्ववेद में मिलता है । यज्ञों में विघ्न डालकर शत्रुओं की हानि की कल्पना भी इस वेद में मिलती है । पुरोहित यजमान के दोनों हाथों को बाधता है, मुख बन्द कर देता है और शत्रु की हवि को नष्ट कर देता है । इस क्रिया में कल्पना करती जाती है कि शत्रु नष्ट हो गया क्योंकि उसकी हवि नष्ट हो गई है । इसे जादू में टेलीपैथी का सिद्धान्त कहा जा सकता है । शाप देने, कुस्वप्नों के नाश करने तथा ताबीज देने में भी जादू के ही सिद्धान्त काम करते दिखाई पड़ते हैं । वस्तुतः ये सब शक्ति-प्राप्ति के नाना उपाय हैं जिनका विशिष्ट विकास आगे चल कर तन्त्रों में हुआ है । अथर्ववेद में वशीकरण के लिए कहा गया है कि तृण को जैसे वायु घुमाती है वैसे ही मैं तेरे हृदय को मथता हूँ । हे अश्वनी कुमार ! इच्छित स्त्री को लाओ ।^३ इसी प्रकार बाजीकरण के लिए कहा गया है कि हे पुरुष तू वृषभ के समान आचरण कर ।^४ कौशिक सूत्र में वशीकरण के लिए यह क्रिया

१ अथर्ववेदः १-१-३ । १ से ८ तक ।

२ " २-३-५-३ । २-३-६-५ । २-५-४-१
 ३-५-५-१ । ४-२-४-८ । ५-१-२-५
 ५-४-७-४ । ६-१-४-१ । ६-७-५-६
 ६-१०-४-१ । ११-२-२-१० । ८-२-६-२
 ९-१-२-१ । १०-१-१-१

३ अथर्ववेद २ - ५ - ४ - १ से ५ तक ।

४ " २ - ५ - ५ - १

बताई गई है कि उपर्युक्त वशीकरण-मंत्र से कूट को मक्खन में मिलाकर तीन समय अग्नि द्वारा शरीर को ताप दे । यहाँ भी जादू का सादृश्य सिद्धान्त ही दिखाई पड़ता है क्योंकि मक्खन का सादृश्य स्त्री के हृदय से माना गया है ।

कृत्याओं के प्रयोग में भी जादू का सिद्धान्त ही दिखाई पड़ता है । कृत्या स्त्री रूप में कल्पित वह नाशक शक्ति है जो मंत्रों में संचालित होती है । किसी शत्रु के मारण के लिए इसका प्रयोग होता है । एक पुतली बनाकर उसे मंत्रों में संयुक्त करके उसे हरी घास में गाढ़ देते हैं और यह कल्पना कर ली जाती है कि यह अदृश्य रहकर शत्रु पर आक्रमण करेगी । कभी-कभी इस कृत्या का सिर या अवयव काट दिये जाते हैं और प्रयोग करने समय मंत्र पढ़े जाते हैं ।^१

जादू के ये सिद्धान्त वैदिक और तांत्रिक दोनों आचारों में देखे जा सकते हैं किन्तु विशेष रूप से इनका प्रयोग तांत्रिक आचारों में दिखाई पड़ता है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि जनसाधारण के अथर्ववेद में सुरक्षित सामान्य विश्वासों की परम्परा में ही तांत्रिक आचारों का विकास हुआ । तांत्रिकों ने जादू, अभिचार और धर्म के उन सब स्वरूपों को भी समेट लिया है जो आर्येतर जातियों में प्रचलित थे ।

किन्तु अथर्ववेद के इन जादू मिश्रित आचारों और क्रियाओं से तांत्रिक साधना में एक अन्तर भी दिखाई पड़ता है । तंत्रों में ज्ञान और क्रिया की एकता मानी गई है अतः प्रयोग कर्त्ता के चित्त की अवस्था के अनुसार फल मिलता है, ऐसा उनका विश्वास है । मारण या वशीकरण आदि में साधक के चित्त की अवस्था वध या वशीकरण का कारण बनती है न कि बाह्य क्रिया मात्र । तत्र सम्पूर्ण विश्व को चेतना का ही रूप स्वीकार करते हैं और मंत्र को चिन्मय मानते हैं । इसलिए जगत् शब्दमय होने के कारण मंत्र के द्वारा इच्छानुसार उसमें परिवर्तन किया जा सकता है, ऐसा तांत्रिकों का विश्वास है । किन्तु यह विकास आग चलकर ही होता है । यह निश्चय है कि तांत्रिक क्रियाओं का प्रारम्भिक रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है ।

अभिनवगुप्त ने तांत्रिक परम्परा के प्रवर्तकों में राक्षसों, असुरों, यज्ञों और दानवों की विशेष चर्चा की है । यह भी कहा गया है कि रावण

तंत्रों को चुरा कर लंका ले गया है। वहा पर विभीषण ने तंत्रों का उद्धार किया।^१

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य राक्षसों को मायावी कहता आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुह्य साधनाओं का इन अनार्य जातियों के साथ विशेष सम्बन्ध था और उन्हीं से आर्यों ने भी उन्हें सीखा। यह इस बात से पुष्ट होता है कि अथर्ववेद का अभिचार रक्षात्मक है, जबकि राक्षस, पिशाच आदि जातियों में वह दुष्ट जादू। (ब्लैक मैजिक) के रूप में दिखाई देता है। राक्षसों को सम्भवतः इसीलिए यातुधान भी कहा गया है। अथर्ववेद में अनार्य जातियों द्वारा प्रयुक्त दुष्ट जादू से आर्यों के पीड़ित होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।^२ अथर्ववेद में अनार्यों के धर्म और अभिचार में स्पष्ट ही मांस, मदिरा, मैथुनादि का बहुत प्रयोग होता था। यही परम्परा तांत्रिकों की पंचमकार-साधना में विकसित हुई।

दर्शन—यद्यपि ऋग्वेद में भा, सत्ता एक है, विद्वान उसी को अनेक प्रकार से कहते हैं, ऐसा विश्वास मिलता है किन्तु फिर भी अथर्ववेद में ब्रह्मवाद अधिक प्रौढ हो गया है। इस ब्रह्म को अथर्ववेद एक जादूगर के रूप में भी प्रस्तुत करता है। 'ब्रह्मन्' शब्द का एक अर्थ जादू भी होता है। अर्थात् जो व्यक्ति इस जादू को जानता है वह ब्रह्म को भी जानता है, ऐसा उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।^३ इस प्रकार अथर्ववेद के ब्रह्म का ब्रह्मन् या जादू में भी धानिष्ट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिये अथर्ववेद को ब्राह्मण-साहित्य तथा उपनिषद साहित्य के बीच की शृंखला के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि उपनिषदों में ब्रह्म के साथ 'माया' का सम्बन्ध धानिष्ट होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस माया को आगे चलकर गणराचार्य ने एक अनिर्वचनीय शक्ति का रूप दिया है और तांत्रिकों ने इसे ब्रह्म के ही एक अंश के रूप में स्वीकार किया है। यह निश्चय है कि माया की इस महत्ता की पृष्ठभूमि में जनता के अथर्ववेद में सुरक्षित जादू के भी सिद्धान्त थे।

१ तंत्रालोक : जिल्द १२ आ० ३६ पृ० ३८२ से ३८८ तक।

२ अथर्ववेद १-२-१। १-२-२-२। १-५-७-३।

२-४-५-१। २-४-७-३ से ६ तक।

३ एन० जे० शिन्ने पृ० २१७।

शक्ति सिद्धान्त—माया को ब्रह्म की शक्ति माना गया है । यद्यपि अथर्ववेद में कालिका, लक्ष्मी, इन्द्राणी आदि शक्तियों का वर्णन मिलता है ^१ परन्तु अथर्ववेद में ब्रह्म अपनी माया में ही सम्पूर्ण कार्य कर लेता है । तान्त्रिक शक्तिवाद का प्रारम्भिक रूप यहाँ देखा जा सकता है । अथर्ववेद में वाक् शक्ति का बड़ा ही गम्भीर विवेचन मिलता है । यहाँ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी चारों वाणियों की व्याख्या की गई है । ^२ यहाँ वाक् शक्ति को देवी परमेष्ठी कहा गया है—

इयं या देवी परमेष्ठिनी वाक् देवी ब्रह्म संहिता । ^३

अन्यत्र कहा गया है कि इस जगत् के कारण रूप ब्रह्म को स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता । अतः वाणी को प्राप्त करने का इच्छा अथर्ववेद में प्रकट की गई है । ^४

पिंड-ब्रह्मांड-कल्पना—अथर्ववेद में पिंड-ब्रह्मांड-कल्पना का विशेष विकास मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के यज्ञप्रधान आर्यों के समानान्तर तप, योग, और अभिचार आदि साधनाओं का जो जनना में प्रचार रहा होगा उसी को अथर्ववेदी आर्यों ने स्वीकार किया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवनाम पूरयोध्या

तस्याम् हिरण्ययाः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः । ^५

अर्थात् आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवताओं की अयोध्यापुरी है । उसमें हिरण्यमय स्वर्गप्रद कोश ज्योति में आवृत है ।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।

तस्मिन् तद् यक्षमात्मन्वत् यद् वै ब्रह्मविदो विदुः । ^६

उम ध्ये त्रिप्रतिष्ठित हिरण्यमय कोश में जो पूजनीय आत्मा का स्थान है उसको ब्रह्मवेत्ता जानने हैं ।

गुह्य-ज्ञान-रूपक परम्परा—गुह्य ज्ञान का अर्थ है योनि अर्थात् कारण का

१ अथर्ववेद ५-१-२-६ । ५-३-२-६ । २-५-६-४ ।

२ „ ८-१०-१२-१३ । ७-१-१ ।

३ „ १४-६-३ ।

४ अथर्ववेद—६ - ५ - २ - १५ ।

५ „ १० - १ - २ - ३१ ।

६ „ १० - १ - २ - ३२ ।

ज्ञान प्राप्त करना । ब्रह्म ही जगत की योनि है और योनि से ही विश्व प्रकट हुआ है । इस योनि-कोश का ज्ञान आवश्यक है ।

कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुञ्जितः ।

तत्र मर्तो विजायते यस्माद् विश्व प्राजयते ।^१

कुलाय में कुलाय है और उस कोश में गर्भ कोश है । उसी से मरण-धर्मा उत्पन्न होता है । उसी से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है ।

इसी प्रकार की उक्तियों की परम्परा से ही आगे प्रतीकात्मक पद्धति तंत्रों में विकसित हुई है, जिसमें दार्शनिक रहस्या को चक्करदार शैली में कहा जाता है ।

“इसी प्रकार अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या” आदि मंत्रों में भी इसी गोपनीय पद्धति का प्रयोग किया गया है । सिद्धो, तांत्रिकों तथा हिन्दी के गन्त कवियों की रूपक परम्परा का सर्व प्रथम स्रोत भी अथर्व-साहित्य में हा प्राप्त होता है, यह स्पष्ट है ।

काम तत्त्व—अथर्ववेद में कामतत्त्व अत्यधिक गूढ़ है । कहा गया है ब्रह्म की शक्ति माया है । माया के बाद मन उत्पन्न हुआ है और तत्पश्चात् सृष्टि-इच्छा काम उत्पन्न हुआ । काम देशकालादि से रहित ब्रह्म की सृष्टि-इच्छा का नाम है और चूँकि जीव भी ब्रह्म ही है अतः जीव द्वारा प्रजनन की इच्छा भी “काम” कहलाता है । सर्ग-इच्छा ही कामोत्पत्ति है ।

कहा गया है कि काम विद्यमान था, उससे पूर्व मन विद्यमान था । काम परमेश्वर की सयोनि है । परमेश्वर के व्यतिरिक्त अन्तःकरण से रहित है । एसा तू धन प्रदाता व हवि प्रदाता काम यजमान के लिए धन का पुष्टि करे ।^२

काम दुरित, प्रजाहीनता, अश्वगता और वृत्ति की अभाव रूपा दरिद्रता का नाशक है । काम उग्र है और वही ईश ह ।^३ वाक् का काम से नित्य सम्बन्ध है । क्योंकि वाक् भी सर्ग-इच्छा का परिणाम है । अतः धेनु (वाणी) काम की पुत्री है । यह काम सर्व प्रथम उत्पन्न होता है । इसकी स मता देवता

१ अथर्ववेद ६ - २ - १ - २० ।

२ „ १६ - ७ - १ - १ ।

३ „ ६ - १ - २ मंत्र १ - २ - ३ ।

पितर नहीं कर सकते । काम सम्पूर्ण को प्राप्त होने वाला है और वह श्रेष्ठ और महान् है ।^१

काल व प्राण-सिद्धान्त—प्राणानुशासन तंत्र का एक प्रमुख विषय है । प्राण पर विजय करने में काल पर विजय होती है । क्योंकि काल ही प्राण के रूप में पिंड में विद्यमान है । प्राण के उत्क्रान्त होने पर काल का उत्क्रमण होता है । अतः योग में काल व प्राण का महत्व बहुत अधिक है ।

अथर्ववेद में कहा गया है कि सब प्राण के ही वशवर्ती हैं । वह प्राण ध्वनि करने वाला है । विद्युत् रूप में दमकता है और वर्षा करता है ।^२ पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राण हा हस है । हन्तिगच्छीति हम् । जगत्प्राण-प्राणवृत्ति में ऊपर को जाता हुआ अपान वृत्त्यात्मक एक पाद को नहीं उठाता है । यदि वह प्राण उम अपान वृत्त्यात्मक पाद को भी उठा ले तो प्राण रूप से शरीर में निकल जाने पर आज कल रात्रि दिन आदि काल-विभाजन न हो । और अधकार की निवृत्ति भी कभी न हो, अतः जगत की मजीबता के लिए एक पाद को प्राण नहीं उठाता ।

एकं पादं नोत्तिष्ठति सलिलाद्भंस उच्चरन् ।

यदंग स तमुत्तिष्ठेन्नैवाद्य न इवः स्यान्न रात्रौ नाहः ।

स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ।^३

यह त्वचा और ओज आदि आठ चक्र हैं जिनमें धुरा प्राण है । इसी प्राण परस्पर में अनेक वर्ण वर्णात्मक शब्द व रूप उत्पन्न होते हैं । प्राण ही प्रवृत्ति व निवृत्ति का कारण है ।

ऋग्वेद में कहा गया है कि ब्रह्मा का एक पाद सकल प्राणी है और इसके तीन पाद स्वर्ग में हैं ।^४

काल—प्राण की तरह काल का वर्णन भी अथर्ववेद में अद्भुत है । काल अश्व है । वह सात रस्सियों, सहस्र लोचनों, और भूरि वीर्य वाला है । यह अपने सवारों को उचित स्थान पर पहुँचता है ।

१ अथर्ववेद—६ - १ - २ मंत्र ५ - ६ - १६ - १६ ।

२ ,, ११ - ७ - ४ - मंत्र १, २ ।

३ ,, ११ - २ - ६ - १

४ ऋग्वेद १० - ६० - ३ (पादोम्य विद्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्रांशो अजरो भूरिरेताः

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा^१

इस काल पर चतुर ही चढ़ते हैं। अश्व के चक्र ही भुवन हैं। काल ही परमेश्वर है। सप्तरश्मि का अर्थ है सात ऋतुएँ^२। ६ ऋतुएँ + १ अधिमाम। इस काल को बुद्धिमान अधीन रखते हैं। और जो अधीन नहीं रखता वह गंतव्य पर नहीं पहुँच पाता।

यह काल प्राणियों को प्रकट करता है। यह काल मनुजों में व्याप्त है। वही इन प्राणियों का जनक है। अतः पिता रूप से या पुत्र रूप में काल ही माना जाता है। काल ही सबसे अधिक तेजवान है।^३

जगत की रचना की इच्छा काल में ही सम्भव होती है। उसमें ही सब जगत अंतर्धामी प्राण रहता है। अथवा इसी काल में परमात्मा में सब जगत के मन व पंचवृत्तिक प्राण रहते हैं। नाम भी उसी में है और ऋतुओं आदि के रूप में स्थित काल द्वारा ही प्रजाएँ मनुष्ट होती हैं। जगत काल की उत्पत्ति है। काल ने ही सृष्टि के आदि में प्रजापति को उत्पन्न किया था। काल में ही जल प्रकट होता है, वायु चलती है, सूर्य उदित होता है।^४

इस प्रकार तांत्रिकों के सैद्धान्तिक और साधनात्मक पक्षों का प्रारम्भिक रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है।

यजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में तंत्र—यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-प्रक्रिया का विस्तार मिलता है। 'शक्ति एण्ड शाक्त' नामक ग्रंथ में ब्रजलाल बनर्जी का एक लेख है जिसमें उन्होंने वैदिक यज्ञों में सा तांत्रिक तत्वों का, विशेष रूप से वामाचार की ओर की है।^५ उनके अनुसार यज्ञ में मिथुनीकरण का सिद्धान्त स्वीकृत था। शतपथ मंत्रभाग की ही अग्निहोत्र कहा गया है। यज्ञ-वेदी के निर्माण में भी मिथुन भावना दिखाई पड़ती है। ईंटों के मिलान में ही सृष्टि होती है ऐसा कहा गया है^६। छन्दों के पढ़ने में

१ अथर्ववेद - १६ - ६ - ८ - १।

२ ,, १६ - ६ - ८ - ४।

३ ,, १६ - ६ - ८ मंत्र ७-८-६-१०।

४ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर ऐबेलोन पृ० १०४।

५ शतपथ ब्राह्मण कांड ११ अध्याय ६ ब्राह्मण २ मंत्र १०।

६ वही ६-५-३-५।

भी मिथुन भावना का ध्यान रखा जाता था । अनुष्टुप के दो चरण मिलाकर हो पढ़े जाते हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में यह स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री देवता की पूजा तब तक नहीं हो सकती जब तक वह किसी पुरुष देवता के साथ युगनद्ध न हो^१ । श्री वनर्जी के अनुसार यज्ञों में मैथुन को अपवित्र नहीं माना जाता था । कामुकता की अवश्य सर्वत्र निंदा की गई है । यह भी प्रथा थी कि मैथुन के समय मंत्रोच्चारण किया जाय ।^२

सौत्रामणि यज्ञों में सुरापान होता था, यह हम कह चुके हैं । तन्दुल, पिप्टक, लाज और धान के साथ पशुबलि का भी विधान यज्ञों में होता था । कृष्ण यजुर्वेद में यायद ही कोई ऐसा पशु बचा हो जिसकी बलि का विधान न किया गया हो ।^३ कृष्ण यजुर्वेद के सम्बन्ध में आर्य समाजों पं० रघुनन्दन शर्मा का कथन है कि पूर्ववेदी पर तो नहीं परन्तु उत्तर वेदी पर अवश्य पशु बलि होती थी । उनका यह भी कथन है कि रावण आदि द्रविड असुरों ने इस वेद की रचना की है ।^४ जो हो परन्तु यह एक तथ्य है कि कृष्ण यजुर्वेद में अनार्य प्रभावों को स्वीकार किया गया है ।

तांत्रिकों की चक्राकार बैठक का प्रथम रूप वाजपेय तथा सौत्रामणि यज्ञों में मिलता है । यहाँ कहा गया है कि यज्ञ करने समय सभी भागकर्ता ब्राह्मण हो जाते हैं । उस समय उनमें जाति भेद नहीं रहता ।^५

यज्ञ में भी आचमन, न्यास, बोजमंत्र । (खट्वा, फट्, हुम् आदि) मुद्रा आदि का विधान मिलता है^६ । कृष्णयजुर्वेद में दीक्षा पर भी बहुत बल दिया गया है । पाण्ड्यायाम तथा तर्पण का प्रचार भी कृष्ण यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों में दिखाई पड़ता है ।

सात्पर्य यह है कि तांत्रिकों की वामाचार्य साधना को वैदिक सिद्ध करने के लिए संहिताओं में कुछ प्रमाण अवश्य मिल जाते हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य में आर्य-अनार्य साधनाओं की अन्तर्भुक्ति का वेग के साथ प्रारम्भ होने लगा था । यह उपर्युक्त प्रमाणों से अवश्य पुष्टि होता है ।

- १ ऐतरेय ब्राह्मण ३-५-४ ।
- २ शक्ति एण्ड शक्ति पृ० १०४ ।
- ३ कृष्ण यजुर्वेद ५-७-१४ ।
- ४ वैदिक सम्पत्ति ५८३-६०७ ।
- ५ ऐतरेय ब्राह्मण ७-४-१ ।
- ६ तैत्तिरीय आरण्यक ४-२७ ।

देवता—ऋग्वेद के देवताओं के अतिरिक्त यजुर्वेद व ब्राह्मणों में अनार्य देवताओं की संख्या बढ़ने लगती है। यजुर्वेद की शतरुद्रीय प्रसिद्ध है^१। रुद्र के अतिरिक्त अम्बा, दुला, मेघयन्ति, नाग, पृथ्वी, वरुण पति, जल आदि का उपासना का विशेष प्रचार मिलता है।^२

शतपथ में सरस्वती को पशुबलि देने का भी उल्लेख मिलता है।^३

तैत्तरीय आरण्यक में लिग उपासना का भी उल्लेख मिलता है।^४ सामविधान ब्राह्मण में रात्रिदेवी का वर्णन मिलता है।^५ तैत्तरीय आरण्यक में अग्नि की सात जिह्वाओं का दिव्य रूप में वर्णन है।^६

शाक्तों के अनुसार रात्रिदेवी ही आगे काली के रूप में पूजित हुई। वस्तुतः ये स्थानीय जनता द्वारा पूजित देवियाँ थी। जिन्हें आर्यों ने स्वीकार कर लिया। सामविधान ब्राह्मण में स्कन्द, विनायक व विष्णु की भी पूजा का उल्लेख है। इनका महत्त्व तात्रिक युग में विशेष रूप से बढ़ा। गेटी ने बताया है कि गरुडेश आर्या में पूर्व ग्राम देवता के रूप में पूजित था। बहुत से विचित्र और स्वेच्छाचारी स्थानीय देवताओं को आर्यों ने स्वीकार कर उन्हें रुद्र शिव के गणों में शामिल कर दिया है।^७

पुरातत्त्व के प्रमाणों में स्पष्ट है कि विष्णु, स्कन्द, गरुडेश, रुद्र आदि देवता प्रथम कुरूप थे। धीरे-धीरे उन्हें सुन्दर रूप दिया गया। विष्णु की गाधार शैली की मूर्तियाँ में विचित्र और कुरूप आकृतियाँ मिलती हैं। विष्णु के तीन सिर हैं। एक ओर सिंह, दूसरी ओर वाराह और मध्य में मनुष्य का शीश मिलता है।^८ अतः उपनिषद् युग के बाद भागवतो ने विष्णु का जो सुन्दर रूप कल्पित किया है, वह परवर्ती है। उसके पूर्व विष्णु पशुपति रुद्र को तरह एक कुरूप स्थानीय देवता रहे होंगे। आगम युग में वैष्णवों ने इस स्थानाय

१ कृष्ण यजुर्वेद ४-५-१।

२ वही ४-४-५। ४-१-६। ७-४-१६। ४-२-८।

३ शतपथ ३-६-१-७। ५-५-४-१।

४ तैत्तरीय आरण्यक १० - १७।

५ सामविधान ब्राह्मण ३ - ८।

६ शक्ति एवं शाक्त पृ १०८।

७ गणेश-एलिसगेटी।

८ वही।

देवता को अपना कर उमका सम्बन्ध वैदिक त्रिष्णु में जोड़ दिया जो वहाँ एक महत्वहीन देवता है। ये स्थानीय देवता अपने साथ नाना पद्धतियों को लाये हैं जिनका संस्कार भागवतो और शैवों ने वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में किया। शक्तो ने एक सीमा तक ही संस्कार को पसंद किया। तांत्रिक बौद्धों ने भी बहुत से स्थानीय देवताओं और पूजा पद्धतियों को स्वीकार किया है।

मंत्र—यज्ञो में भी मंत्र, देवता और क्रिया की एकता स्वीकार की गई है।^१ ब्राह्मण साहित्य में बहुत से एकाक्षरी या बीज मंत्र मिलते हैं। ओउम् को सर्वश्रेष्ठ बीज मंत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी को प्रणव भी कहते हैं।

कथन पद्धति—यज्ञ प्रक्रिया को वृद्धि मंगत बनाने का कार्य ब्राह्मण साहित्य ने किया है। यज्ञ-प्रक्रिया में प्रयुक्त पदार्थों की ये व्याख्याएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इन्हीं व्याख्याओं में प्रागैतिहासिक युग का आदिम धर्म सुसंस्कृत होकर समाज में स्वीकृत हुआ। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

“विष्णु थककर पृथ्वी में प्रविष्ट हो गए, देवों ने उन्हें तीन इंच खोदकर निकाला अतः वेदी के लिए तीन इंच खोदना चाहिए।^२ रोटी के पाँच टुकड़े करने चाहिए क्योंकि पशु के पाँच भाग होते हैं।^३ वह पूर्ण खुवा से हवि देता है, क्योंकि निःसन्देह पूर्ण ही यह सब ब्रह्मांड है। अतः उम पूर्ण को इस पूर्ण खुवा से प्रसन्न किया जाता है।”^४

इसका अर्थ यह हुआ कि वेदी के लिए ३ इंच जमीन खोदना, रोटी के पाँच टुकड़े करना तथा पूर्ण खुवा से होम करना—ये क्रियाएँ प्रतीक मात्र हैं। इनके पीछे जो रहस्य है, वह समझे बिना इन क्रियाओं का महत्व कुछ नहीं है।

इस प्रतीकवाद ने धार्मिक क्रियाओं को एक प्रकार की आंतरिकता दे दी जिसकी चरम-सीमा तन्त्रों में मिलती है। वेदों की यज्ञ-पद्धति का विकास तो हुआ परन्तु धीरे धीरे लोग क्रियाओं के पीछे जो रहस्य था उसे भूल गए। अतः क्रियाओं का अन्ध अनुकरण होने लगा। उपनिषदों ने इन्हीं ज्ञानहीन क्रियाओं का अध्यात्मपरक अर्थ किया और आगमों ने अध्यात्मपरक व भोग

१ कृष्ण यजुर्वेद ५-१-१ ।

२ शतपथ ब्राह्मण १ २-५-६ ।

३ वही ,, १-८-१-१२ ।

४ वही ,, २-२-१-३ ।

परक दोनों प्रकार अर्थ किए। अतः मनुष्य के प्रत्येक कार्य को किसी न किसी आंतरिक सत्य का प्रतीक बना दिया गया और उस आंतरिकता की जानकारी मात्र को इतना अधिक महत्व दिया गया कि ज्ञान हीन क्रिया का भयंकर खंडन होने लगा। आंतरिकता-प्रिय सिद्धों और साधकों ने याज्ञिक आचारवाद और क्रिया का घोर विरोध किया। किन्तु स्वयं तांत्रिकों ने प्रारम्भिक साधना-सोपान के रूप में क्रिया-विस्तार को अपनाया गया है।

उपनिषदों में तांत्रिक तत्व—उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म और जीव की एकता स्थापित करना है। उपनिषदों के नेतिनेतिवाद से आगे की सभी ब्रह्म सम्बन्धी धारणाएँ प्रभावित हुई हैं। किन्तु जगत् के सम्बन्ध में उपनिषदों में परस्पर विरोधी धारणाएँ भी मिलती हैं। इसलिए आगे चलकर किसी ने उपनिषदों में मायावाद की खोज की है तो किसी ने शक्तिवाद की। हम यह कह चुके हैं कि ब्रह्म और माया की धारणाओं के पीछे ब्रह्मन् या जादू के प्रचार का भी कुछ योग अवश्य रहा है। यद्यपि उपनिषदों का दृष्टिकोण वैराग्यमूलक है फिर भी अनेक ऋषियों के अनुभवों में रागमूलक साधनाओं के तत्व भी मिलते हैं।

मिथुन भावना—तांत्रिक दर्शन व साधना में प्राप्त काम तत्व उपनिषदों में भी मिलता है। ब्रह्म अकेला था उसने रमण नहीं किया तब उसने द्वितीय की इच्छा की।^१ यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष परस्पर आर्लिगित होते हैं, ब्रह्म वैसे ही परिमाण वाला हो गया। उसने अपने देह को दो भागों में विभक्त कर डाला उससे पति और पत्नी हुए। उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो। अतः उसने मन से वेद रूप मिथुन की भावना की। उससे जो रेत या वीर्य हुआ वह संवत्सर हुआ।^२ यह मिथुन भावना शतरूपा और मनु के उपाख्यान द्वारा भी पुष्ट होती है।^३ प्रश्नो० में रयि व प्राण की मिथुन द्वारा सृष्टि समझाई गई है।^४ श्वेताश्वतर० में

१ स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमच्छत्

बृहदारण्यक, अध्याय १ ब्राह्मण ४ मंत्र ३ तथा १-४-१७

२ बृहदारण्यक १-२-४।

३ वही १-४-४।

४ प्रश्नो० प्रश्न १ मंत्र ४।

स्पष्टतः शक्ति व शक्तिमान के मिथुन की चर्चा मिलती है ।^१ बृहदारण्यक० में मिथुन की तुलना यज्ञ से की गई है । कहा गया है कि स्त्री ही अग्नि है । उपस्थ ही उसकी समिधि है । लोम धूम है । योनि ज्वाला है जो मैथुन व्यापार करता है वह अंगार है । आनन्द लेश चिनगारियाँ हैं । इसी प्रकार आत्म साक्षात्कारजन्य आनन्द की उपमा स्त्री के आलिंगन से दी गई है ।^२ सम्भवतः ऐसे ही स्थल आगे के रागमार्गियों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गए ।

शब्द-साधना—जिस प्रकार तांत्रिकों ने बीजाक्षरों के अध्यात्मपरक अर्थ किए हैं उसी प्रकार उपनिषदों में भी किए गए हैं । 'हृ' को हृदय, प्रजापति व ब्रह्म कहा गया है । इसी प्रकार 'द' और 'यम्' की भी व्याख्या की गई है । छान्दोग्य० में हिकारोपामना का वर्णन है । प्राण की सहज गति को द्विकार कहा गया है । प्रस्ताव उद्गीथ, निधन तथा माम की मत्ता भी प्राणों में स्वीकार की गई गई है ।^३ अन्यत्र ओउम् को ब्रह्म कहा गया है । ओउम् रूपी वाण से ब्रह्म रूपी लक्ष्य का वेध करना बताया गया है ।^४

पिंड-ब्रह्मांड की एकता—बृह० में वेद, देवता, पितृगण और मनुष्य की सत्ता भी पिंड में ही बताई गई है । इसमें सूर्य का उदय और अस्त तथा आकाश की सत्ता भी प्राण के अन्तर्गत मानी गई है । सूक्ष्म प्राण शक्तियों और नाड़ियों का भी वर्णन इस उप० में मिलता है ।^५ ऐतरेय० से भी पिंड ब्रह्मांड की एकता पुष्ट होती है ।^६ तैत्तरीय में सुषुम्ना नाड़ी की पहुँच इन्द्र-योनि अर्थात् कपाल तक बताई गई है ।^७ छान्दोग्य० में पिंड विजय को अतियोग कहा गया है ।^८ तांत्रिकों ने चक्रों की कमल के रूप में कल्पना की है । इस उपनिषद में उन्हें पुण्डरीक गृह कहा गया है । श्वेत० में पिंड योग पर्याप्त विकसित रूप में मिलता है किन्तु कुंडलिनी की चर्चा उपनिषदों में नहीं मिलती ।

१ श्वेताश्वतर १-३ ।

२ बृह० ४-३-२१ तथा ६-४ ।

३ छान्दोग्य० २-२-३ ।

४ तैत्तरीय १-८-१-मुंडक २-४ ।

५ बृह० १-५-६ । १-५-२३ । २-३-५ । ४-२-३ । २-१-१६ ।

६ ऐतरेय उप० १-२-४ ।

७ तैत्तरीय १-६-१ ।

८ छान्दोग्य० १-३-३ । ३-१३-२ । ७-२-१

प्राणानुशासन के साथ ध्यान का सूक्ष्म वर्णन भी उप० में मिलता है । कहा गया है जब हम देखते हैं तो हमारी श्वास रुक जाती है । जब हम विचार करते हैं तो भी श्वास रुक जाती है और जब हम किसी वस्तु के साथ तन्मय हो जाते हैं तो भी ऐसा ही होता है अतः ध्यान को किसी पदार्थ या भाव पर केन्द्रित करके चित वृत्तियों और प्राण-विजय प्राप्त की जा सकती है । इसे प्रतर्दन यज्ञ कहा गया है ।^१ श्वेताश्वतर में ध्यान के अनेक अनुभवों का वर्णन मिलता है । निश्चित रूप से उपनिषद् युग में आर्यों ने उस योग और तप को स्वीकार कर लिया था जो अथर्ववेद की परम्परा में विकसित हो रहा था । इसे आर्येतर प्रभाव ही माना जा सकता है । परवर्ती उपनिषदों में योग परक उपनिषदों की संख्या बढ़ती गई जिसमें बहुत सी तांत्रिक कुण्डलिनी योग पर आधारित हैं ।

देवता—उपनिषदें ब्रह्ममूलक है । इसलिए देव और असुर का अर्थ योग-मूलक किया गया है ।^२ किन्तु श्वेताश्वतर में सर्वप्रथम रुद्र भक्ति का उपदेश स्पष्ट भाषा में विस्तार के साथ दिया गया है ।^३ भक्ति के विकास में इसी उपनिषद का महत्व सबसे अधिक है । चूँकि वैदिक साहित्य में भक्ति का वह स्वरूप नहीं मिलता जो इस उपनिषद में प्राप्त होता है । इसलिए यह अनुमान निराधार नहीं है कि योग की तरह देवता भक्ति के लिए आर्यों ने स्थानीय देवताओं की भक्ति से प्रेरणा ली है । केनो० में उमा हेमवती का महत्व बहुत अधिक बढ़ा है ।^४ आगे चलकर रुद्र और उमा शक्तिमान् व शक्ति के रूप में आगम साहित्य में प्रतिष्ठित हुए हैं ।

दर्शन—निश्चित रूप से उपनिषदों में एक ही ब्रह्म की चर्चा मिलती है किन्तु श्वेताश्वतर व मुण्डक में द्वैतवाद अधिक दिखाई पड़ता है ।^५ महाभारत में वर्णित पाशुपत सम्प्रदाय श्वेताश्वतर० के द्वैतवाद को लेकर ही चला है । नवी शताब्दी के पूर्व के शैवागमों में भी द्वैतवाद स्वीकृत है । आगे बौद्ध तथा शांकर वेदान्त के प्रभाव से काश्मीरी शैवों ने आगमों की अद्वैतमूलक व्याख्या

१ कौशीतकी २-५ ।

२ बृह० १ - ३ - १ ।

३ श्वेताश्वतर० ३ - ६ - ४ ।

४ केनो० १ - ३ ।

५ मुण्डक० ३ - १ - १ और श्वेत० ४ - ५ ।

की । श्वेताश्वतर में काल, स्वभाव, नियत, यहृच्छा भूत और पुरुष को कारण माना गया है ।^१ तंत्रों में राग, कला, और विद्या आदि नए तत्व और जुड़ गए । इसी उपनिषद् में अन्यत्र पाश का विवेचन भी मिलता है जिमका शैवों और शाक्तों में विशेष महत्व है ।^२

कथन-पद्धति—गुह्य कथन पद्धति का पूर्व रूप उपनिषदों में भी मिलता है । कहा गया है कि इस भुवन के मध्य एक हंस है, वही जल में स्थित अग्नि है ।^३ अन्यत्र ईश्वर और जीव के लिए दो पक्षियों की कहानी कही गई है ।^४ प्रकृति और जीव के सम्बन्ध को अजा और अज के सम्बन्ध के रूप में दिखाया गया है ।^५ उपनिषदों की सभी कथाएँ प्रतीकात्मक है । आन्तरिक सत्त्यों का उद्घाटन ही उनका उद्देश्य है । बृहदा० में याज्ञवल्क्य के मंवादों में प्रतीकात्मक शैली प्रयुक्त हुई है । बाह्याचार की कठोर आलोचना उपनिषद में मिलती है उन्मी प्रकार जिस प्रकार तांत्रिक सिद्धों में मिलती है ।

इस प्रकार उपनिषदों में प्राप्त शब्द-साधना, पिंड-ब्रह्मांड एकता, नाडी योग, ध्यान योग, आत्मा का साक्षात्कार, कर्मकांड के स्थान पर ज्ञान द्वारा मुक्ति आदि तत्व उन योगियों की परम्परा में विकसित हुए हैं जो यज्ञ के स्थान पर अंतरावलोकन पर अधिक बल देते थे । आर्यों के धर्म में यज्ञ और प्रकृति-पूजा की प्रधानता थी । अथर्ववेद में वर्णित ब्राह्म्य योगी व तपस्वी आन्तरिक साधना पर अधिक बल देते थे । इस परम्परा को उपनिषदों ने अपने में समेट लिया है । स्थानीय देवताओं की भक्ति को भी शैव उपनिषद श्वेता० में स्वीकार किया गया है । इस प्रकार उपनिषदों में आर्य और आर्येतर विद्वांसों की बहुत बड़ी मात्रा में अंतर्भुक्ति हुई है । इसीलिए उपनिषदों से आगम परम्परा भी प्रभावित हुई है ।

सूत्र-साहित्य में तन्त्र—ऐतिहासिक दृष्टि से सूत्र युग प्राचीन उपनिषदों के बाद में आता है । सूत्र साहित्य व्यवस्था, व्यावहारिकता तथा घरेलू आचारों

१ श्वेता० १ - २ ।

२ वही ३ - १ तथा ५ - ३ ।

३ बृहदा० २ - ४ - १४ ।

४ मुंडक० ३ - १ - १ ।

५ श्वेता० ४ - ५ ।

का साहित्य है। इसलिए इसमें आचार और देवता को छोड़ कर तांत्रिक तत्व कम मिलते हैं।

सूत्र-साहित्य में तन्त्रों की तरह ही अनेक व्यर्थ लगने वाली क्रियाओं का उल्लेख है। सूत्रकाल में मूर्तिपूजा का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। मूर्ति पूजा स्पष्ट ही अवैदिक है और योग, तप तथा भक्ति की तरह सामान्य जनता में ली गई है। इसलिए सूत्रों में चैत्यों या मन्दिरों का भी वर्णन मिलता है।

सूत्र साहित्य में अनेक नवीन देवताओं के दर्शन होते हैं। जिन्हें आर्यों ने सामान्य जनता से ग्रहण किया है। विरूपाक्ष, समुद्र, नदियाँ, पर्वत, भाड़ियाँ, मिद्ध, यज्ञ, राक्षस, धन्वन्तरि, पशुपति आदि अनेक नवीन देवताओं की उपासना का उल्लेख इन सूत्रों में मिलता है। देवताओं के साथ इंद्राणी, रुद्राणी, शर्वाणी तथा भवानी आदि देवियों की पूजा देवताओं के साथ चल पड़ती है। पितृ पूजा का प्रचार सूत्र साहित्य की विशेषता है जो प्राचीन प्रेत पूजा का ही संस्कृत रूप है।^१

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य।

सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन द गृह्य-सूत्र—बी० एम० आण्टे
संशोधित संस्करण—१९५४।

महाभारत में तांत्रिक तत्व

यद्यपि महाभारत को अन्तिम रूप ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक मिल पाया है किन्तु महाभारत में उपनिषद् कालीन विश्वास भी सुरक्षित हैं। महाभारत को वेदों का गुह्यतम रहस्य और अन्य शास्त्रों का सार कहा गया है। इसमें उपनिषद् ज्ञान की भी विशेष चर्चा है। किन्तु साथ ही पाशुपत, भागवत और शाक्त सम्प्रदायों की चर्चा भी मिलती है। वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत रुद्र व विष्णु रूपधारी कृष्ण की उपासना का प्रचार करता है। स्पष्ट ही प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के समानान्तर प्राचीन उपनिषदों के बाद जिन शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का प्रचार हुआ उनमें साम्प्रदायिक आग्रह रहने पर भी रुद्र व विष्णु की एकता का प्रतिपादन किया गया है। महाभारत से यह प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। विटरनिट्स ने महाभारत का निर्माण समय ईसापूर्व पंचम शताब्दी से चार सौ ई० तक माना है। इसी काल में प्राचीन, कुरूप और भयंकर रुद्र व विष्णु को आकर्षक और करुणामय रूप दिया गया है। योग और ज्ञान के साथ इन्हीं शताब्दियों में भक्ति का भी विशेष प्रचार मिलता है और उसका सम्बन्ध रुद्र, विष्णु और शक्ति के साथ जोड़ा गया है। इन सम्प्रदायों के प्रचार के लिए जनता के सभी विश्वासों को स्वीकार कर लिया गया है। और नाना देवी, देवताओं की उपासनाओं को स्वीकार कर देवाधिपतियों के रूप में रुद्र,

विष्णु और शक्ति की प्रतिष्ठा कर दी गई है। इसलिए शैव, वैष्णव व शाक्त-सम्प्रदायों में वैदिक और अवैदिक (तांत्रिक) परम्पराएं मिलकर एक हो गईं। शुद्ध वैदिकों ने पाशुपत शैवों और पांचरात्र वैष्णवों को अवैदिक ही मिद्ध किया है। किन्तु बौद्ध धर्म के विरुद्ध संघर्ष में आर्य परम्पराओं के लिए संघर्ष करने के कारण पुराणों और पुराणों के बाद शैव, वैष्णव सम्प्रदायों को शुद्ध वैष्णव धर्म मान लिया गया। यह प्रक्रिया महाभारत तथा अन्य पुराणों से स्पष्ट हो जाती है।

महाभारत में रुद्र के गणों के वर्णन से उनकी अवैदिकता स्पष्ट हो जाती है।^१ ग्यारह रुद्रों में सर्प, अहिबुध्न्य और कपाली जैम नाम भी है जो सम्भवतः नागों के देवता रहे होंगे। पशुपति रुद्र को मृगव्याध कहा गया है। रुद्र के साथ स्कन्द और काकी, हलिमा, मानिनी, पलाला आदि मातृकाओं या देवियों की उपासना का सम्बन्ध भी जोड़ दिया गया है*। द्रौणपर्व में रुद्र को राक्षसों का स्वामी कहा गया है।† वे भयंकर अस्त्रशस्त्रों और गुह्य विद्या के उपदेशक के रूप में चित्रित किए गए हैं। द्रौणपर्व में ऋषि नर, नारायण (वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक) लिंगोपासक बताए गए हैं।^२

महाभारत के रुद्र कृष्ण की प्रशंसा करते हैं और कृष्ण रुद्र की।* यहाँ रुद्र सहस्रनाम भी मिलते हैं जो सम्भवतः परवर्ती हैं। इनमें तांत्रिक साधना का रूप स्पष्ट होता है। इनमें रुद्र को पचपच, अघोर, हूँ हूँ, शृगाल, घंटाधारी, मिलीमिली, धूर्त, अक्षप्रिय, गणाध्यक्ष, कनेर मालाधारी, निशाचर, उन्मत्त वेशधर और प्रेतचारी कहा गया है।† इससे स्पष्ट है कि अवैदिक उपासनाओं के उपदेष्टा के रूप में रुद्र की महिमा महाभारत में प्रतिष्ठित है किन्तु मनोरंजक तथ्य यह है कि रुद्र शिव द्वारा वैदिक यज्ञयाग और वर्णाश्रम धर्म आदि का भी उपदेश कराया गया है।

रुद्र भक्ति का भी पूर्ण विकसित रूप महाभारत में दिखाई पड़ता है।

१ महाभारत गीता प्रेस १९५५ आदिपर्व, अध्याय ६६।

* ,, वनपर्व अध्याय २२८।

† ,, द्रौणपर्व अध्याय ५२ श्लोक ४३।

२ ,, ,, ,, २०१

* ,, सौप्तिकपर्व ,, १७ तथा अनुशासन पर्व अध्याय १४ से १७ तक।

† ,, शान्तिपर्व ,, २८४ तथा ,, ,, १७

गीता के द्वारा वासुदेव भक्ति का प्रचारक भी महाभारत ही है। इसमें भी सांख्य, योग, उपनिषद्-ज्ञान तथा भक्ति में अविरोध स्थापित किया गया है। कृष्ण को विष्णु का अवतार बनाकर मनुष्य के सम्पूर्ण रागों का उन्हें विषय बनाया गया है। हम कह चुके हैं कि वैदिक साहित्य में विष्णु महत्वहीन देवता था किन्तु महाभारत में विष्णु का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया है। भागवतों द्वारा सामान्य जनता की “टाटेम” उपासना को भी अवतारवाद के द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय में समेट लिया गया है। कच्छप, अश्व, या ‘हयग्रीव’ मत्स्य, नृसिंह, हंस आदि आर्येतर जातियों के टाटेम थे। व्यास नामधारी आर्य कवियों ने इन सबको विष्णु के आदि अवतारों के रूप में स्वीकार कर लिया है। इनके साथ उनकी पूजा पद्धतियाँ भी आईं, जो निश्चित रूप से तांत्रिक हैं। जिनमें देवता के रूप, वस्त्र, अस्त्र, शस्त्र, वाहन आदि का ध्यान तथा स्तोत्र, मंत्र तथा मूर्तिपूजा द्वारा उनकी उपासना प्रचलित थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने “संस्कृति संगम” नामक ग्रंथ में यह भी बताया है^१ कि इन नाना देवताओं की पूजा पद्धतियाँ आर्य पत्तिओं के द्वारा आर्य घरों में प्रचलित हुई। क्योंकि आर्यों को अनार्या के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पड़े थे।

यह निश्चित नहीं हो पाया है कि अनेक कृष्णों में से किस कृष्ण को सर्व प्रथम विष्णु का अवतार माना गया है। प्राचीन साहित्य में अनेक कृष्ण मिलते हैं जैसे कृष्ण हारीत, कृष्णदत्त लौहित्य, कृष्ण धृति सात्यकी, कृष्ण ऋषि तथा देवकी पुत्र कृष्ण।^२ फिर भी यह निश्चित है कि देवकी पुत्र कृष्ण को विष्णु बनाकर उन्हो के मुख से गीता का उपदेश दिलवाया गया है। आगे चल कर यही देवकी पुत्र कृष्ण विष्णु से भी अधिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। सात्वत क्षत्रियों ने देवकी पुत्र कृष्ण की भक्ति के प्रचार में विशेष कार्य किया। इसलिए भागवत सम्प्रदाय सात्वत सम्प्रदाय भी कहलाता है। इस सम्प्रदाय में भी परवर्ती तांत्रिक मतों की तरह वासुदेव कृष्ण देवता के रूप में पूजित हुए। इस सम्प्रदाय का मंत्र है, ओउम्नमो भगवते वासुदेवाय। विष्णु या कृष्ण

१ संस्कृति-संगम : क्षितिमोहन सेन, साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग, प्रथम संस्करण १९५१ पृ० ४७ से ४९ तक।

२ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : रांगेय राघव, दिल्ली १९५३ पृ० २३०।

का विशेष रूप है। विशिष्ट अस्त्र, शस्त्र और वाहन हैं। इनकी ध्यान, जप और भक्ति भी उसी प्रकार होती है जैसे रुद्र शिव की। रुद्र की तरह कृष्ण भी नृत्य करते हैं। रुद्र ही की तरह वे विलासी हैं। वैसे ही उनके भयंकर और कोमल दो रूप हैं। इससे स्पष्ट है कि वासुदेव कृष्ण के रूप निर्माण में रुद्र शिव से बहुत प्रेरणा ली गई है। आगे वर्णित पांचरात्र संहिताओं में भी शैवागमों और पांचरात्र आगमों में केवल यह अन्तर दिखाई पड़ता है कि शैव दक्षिण 'वैदिक' और 'बाम मार्ग' दोनों मार्गों को अपनाते हैं। जबकि पांचरात्र मत आचार की शुद्धता को ही अपनाता है। इसीलिए मूलतः अवैदिक होने पर भी आगे चलकर वैष्णव सम्प्रदाय पूर्ण रूप से वैदिक मान लिया गया है।

शक्ति उपासना—महाभारत में कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा आदि को भी देवियों के रूप में स्वीकार किया गया है।^१ वनपर्व० में भानुमती 'दिन की देवी', रागा 'रात की देवी', सिनीवाली 'अमावस्या', तथा कुहू 'शुद्ध अमावस्या' आदि को भी देवी माना गया है।^२ स्कन्द के साथ कुछ देवियों का उल्लेख हम कर चुके हैं। शीत पूतना, अदिति, दिति, विनता तथा सरमा शिशुमांस भक्षण, गर्भहरण तथा अन्य कष्टों द्वारा जनता को केवल पीड़ित ही नहीं करती प्रसन्न होने पर बड़े बड़े बर भी देती है।

विराट् पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा देवी की उपासना का वर्णन है। जिसमें देवी को कृष्ण की भगिनी कहा गया है।^३ भीष्मपर्व में कुमारी, काली, कापाली, कपिला, भद्रकाली, महाकाली, शाकम्भरी, उमा, कात्यायनी, चंडी आदि देवियों का उल्लेख है। यह सम्भव है कि शाक्तों ने महाभारत में ये अंश पीछे से जोड़ दिये हों। किन्तु शक्ति उपासना प्रागैतिहासिक है यह हम देख चुके हैं। महाभारत में भी शिव व देवी पूजा के साथ भयंकरता और युद्ध का सम्बन्ध अधिक दिखाई पड़ता है। शल्य पर्व में देवी का परा या निर्घोषा वाणी के रूप में दार्शनिक विवेचन भी मिलता है।^४ तांत्रिकों में शक्ति और

१ महाभारत आदि पर्व ६६-१५।

२ वनपर्व अध्याय २१३।

३ विराटपर्व अध्याय ६।

४ शल्यपर्व, अध्याय ४६।

शक्तिमान की एकता का विशेष प्रचार मिलता है, यह संक्षिप्त रूप में महाभारत में भी मिलता है। यहाँ शिव जगत् के पदार्थों को शीत व उष्ण दो भागों में बाँटते हैं। जगत अग्निसोम रूप है। विष्णु सोम रूप है और शिव अग्नि रूप है।^१ सोम और अग्नि की यह व्याख्या तांत्रिक कुण्डलिनी योग में भी मिलती है।

पाशुपत व्रत—महाभारत में पाशुपत व्रत का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है। इसमें यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान आदि के साथ कुछ गुह्य क्रियाएँ भी प्रचलित थीं। यह पाशुपत व्रत वर्णाश्रम धर्म का विरोधी था। इस मत के द्वारा सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव बताई गई है।^२

इस प्रकार महाभारत में शैव, वैष्णव और शाक्त साधनाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रथम बार बहुत व्यापक रूप में आर्यों ने अनेक विश्वासों और साधनाओं को वैदिक यज्ञ याग के साथ संयुक्त कर दिया था।

पुराणों में तन्त्र—महाभारत की तरह अन्य पुराणों में भी अनेक तांत्रिक साधनाओं को स्वीकार किया गया है। प्रचलित पुराणों में प्रत्येक पुराण किसी विशेष सम्प्रदाय से प्रभावित है। रामदास गौड़ का कहना है कि यह बात अभी निश्चित नहीं है कि इन पुराणों से ही ये सम्प्रदाय चल पड़े हैं अथवा सम्प्रदाय पहले से थे और पुराण बाद में बने।^३ हमारे उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन गुह्य शैव शाक्त सम्प्रदायों को पुराणों में स्वीकार किया गया है वे किसी न किसी रूप में प्रागैतिहासिक काल में भी प्रचलित थे। पुराणों में इन सम्प्रदायों को स्वीकार भी किया गया है और साथ ही श्रेष्ठता का स्थान वैदिक परम्परा को दिया गया है।

पौराणिक युग (४०० ई० पू० से मध्य काल तक) में ब्राह्म, सौर्य, गारा-पत्य, शाक्त, शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों का विशेष प्रचार दिखाई पड़ता है। इनका अपना अपना देवता है और अपने अपने मंत्र और पूजा विधान हैं। इन सम्प्रदायों को वैदिक स्वीकृति दिलाने के लिए पुराण घोर प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ते हैं क्योंकि याज्ञिक ब्राह्मण इन्हें स्वीकार नहीं करते थे। उपनिषदों

१ अनुशासन पर्व, अध्याय १४१।

२ वनपर्व, अध्याय २१३।

३ हिन्दुत्व : रामदास गौड़ सम्बत् १९६५ वि पृ० १६२।

के ब्रह्मवाद के द्वारा ब्रह्म के ही अनेक रूपों में देवताओं को स्वीकार कर सम्पूर्ण भारतवर्ष को धार्मिक दृष्टि से एक करने का प्रयत्न जितना पुराणों में दिखाई पड़ता है उतना अन्यत्र नहीं मिलता । इसीलिए १८ पुराणों में १० पुराण शैव हैं, ४ ब्राह्म हैं, २ शाक्त और २ वैष्णव हैं । विन्टरनिट्ज के अनुसार महापुराणों में (उप-पुराणों में नहीं) सातवीं शताब्दी के बाद की घटनाएँ नहीं मिलती हैं । इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन १८ महापुराणों को सातवीं शताब्दी तक लगभग वर्तमान रूप प्राप्त हो चुका होगा । इससे स्पष्ट है कि पुराणों द्वारा भी शाक्त शैव धारणाओं और साधनाओं का प्रचार होता रहा है और उनके साथ ही साथ उप-पुराणों, आगमों तथा परवर्ती शैव-शाक्त वैष्णव उपनिषदों के द्वारा तांत्रिक साधना के प्रचार में बृद्धि हुई है ।

ब्रह्मपुराण में शिव, शक्ति, गणपति, सूर्य व विष्णु की उपासना सम्बन्धी अनेक उल्लेख हैं । रामेश्वर लिंग की उपासना,^१ रुद्रमहिमा,^२ नृसिंह उपासना^३ नारायणकवच,^४ मार्कण्डेय द्वारा भगवान के उदर में बालमुकुन्द का दर्शन,^५ कार्तिकेय व केशरी वानर की उपासना,^६ आदि के विवरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मपुराण में शिव व विष्णु के अवतारों व उपासनाओं का ही वर्णन अधिक है । विष्णु के अवतार कृष्ण की रास लीला के कुछ प्रमाण भी इस पुराण में मिलते हैं ।^७ इन सब देवताओं की उपासनाओं में देवता, मंत्र, वाहन, वेप, कवच या स्तोत्र का महात्म्य अधिक दिखाई पड़ता है और देवता उपासना की यह पद्धति शुद्ध तांत्रिक है ।

पद्मपुराण में कापालिक व्रत-कथा मिलती है ।^८ वैष्णवों व चामुण्डा शक्तियों द्वारा दैत्यवध के उल्लेख भी हैं ।^९ इसमें तुलसी गणेश, दुर्गा तथा

१ ब्रह्मपुराण खंड २८ ।

२ वही ३४-३६

३ वही ५८-

४ वही ६०

५ वही ५५

६ वही ८१-८४

७ वही १८६

८ पद्मपुराण, खंड १ अध्याय १४

९ वही १-३१

सूर्य की उपासना पर बल दिया गया है ।^१ चूँकि पद्मपुराण को वर्तमान रूप वैष्णवों द्वारा बहुत बाद में प्राप्त हुआ है अतः इसमें ययाति को भी कृष्ण भक्त बताया गया है ।^२ कामाक्षादेवी का वर्णन भी इसमें प्राप्त होता है ।^३ कृष्ण की ब्रजलीला व राधा का कृष्ण की शक्ति के रूप में वर्णन किया गया है । यहाँ कृष्णमन्त्र व दीक्षादि का तांत्रिक पद्धति पर निरूपण किया गया है ।^४

विष्णुपुराण में विष्णु-शक्ति लक्ष्मी की महिमा वर्णित है ।^५ कृष्ण की रास लीला यहाँ भी प्राप्त होती है ।^६ श्राद्ध में मधु-मांसादि के दान का फल भी इस पुराण में बताया गया है ।^७ विष्णुपुराण में शिव को महत्व कम मिला है किन्तु लक्ष्मी तत्व के रूप में शक्तिवाद को स्वीकार किया गया है ।

शिवपुराण में विष्णुपुराण के विपरीत शिव की प्रधानता है । इसमें लिंग पूजा का महात्म्य अधिक बताया गया है ।^८ साथ ही यज्ञयाग की भी प्रशंसा की गई है ।^९ इस पुराण में शिव, सती, पार्वती तथा कुमार कार्तिकेय की कथाओं का विस्तार अधिक है । शतरुद्रसंहिता में “अष्टमूर्ति” शिव का वर्णन है । वायवीय संहिता में अर्द्धनारीश्वर रूप भी वर्णित है । इसमें पाशुपत व्रत का भी वर्णन मिलता है । उमासंहिता में देवी के चमत्कार वर्णित हैं । वायवीयसंहिता के उत्तर खंड में शिव के मंत्र, वेप, वस्त्र, अस्त्र आदि का विवरण है । आगमों में वर्णित पद्धति इस पुराण में यथावत् मिलती है ।^{१०}

वायुपुराण पर शैव-प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है । पाशुपतयोग तथा

१ पद्मपुराण खण्ड १ अध्याय ५६, ६०, ६१, ७७, ८०, ८१

२ पद्मपुराण भूमिखंड ८१

३ पाताल खंड १२ (पद्मपुराण)

४ ” ६६-८३ ”

५ विष्णुपुराण अंश १ अध्याय ८

६ वही ” ” ६

७ वही अंश ३ ” १६

८ शिवपुराण रुद्रसंहिता

९ वही बिष्णुश्वरसंहिता १४

१० वायवीयसंहिता उत्तरखंड १०-४० । (शिवपुराण)

अन्य योगों का वर्णन यहाँ मिलता है।^१ नारदीयमहापुराण में तांत्रिक पूजा पद्धति विशेष रूप में दिखाई पड़ती है। यहाँ मन्त्रसिद्धि, दीक्षाविधि, जप गणेशमन्त्र, यन्त्रविधि, विष्णुमन्त्र, नृसिंहमन्त्र तथा नृसिंह-यन्त्र कथन, लक्ष्मण मन्त्र, हनुमन्मन्त्र, राधाकृष्ण मन्त्र, देवीमन्त्र आदि का वर्णन है। इस पुराण में राधा-पूजा पद्धति पूर्णतया “तांत्रिक पूजा विधान” के अनुरूप दिखाई पड़ती है। यक्षिणी, दुर्गा, ललिता, महालक्ष्मी, राधा आदि शक्तियों के रूप में स्वीकृत हैं।^२ लिंगपुराण में भी शैव-प्रभाव दिखाई पड़ता है। उत्तरार्ध में वैष्णव धर्म की भी स्वीकृति है। इसमें संगीत द्वारा विष्णु-आराधना पर बल दिया गया है।^३

अग्निपुराण में विष्णु, नवग्रह, सरस्वती, विष्णु के द्वारपाल वासुदेव की पूजा, मुद्रा, मन्त्र, दीक्षा, अभिषेक, मंडल, कुम्भपूजा आदि पूर्ण तांत्रिक विधि के अनुसार वर्णित हैं।^४ इस पुराण में अभिचार का वर्णन भी मिलता है।^५ इसी तरह वाराहपुराण में शैव व वैष्णव प्रभाव मिश्रित रूप में प्राप्त होता है।^६ मार्कंडेयपुराण में मार्कंडेय के योग का चमत्कार वर्णित है। मार्कंडेय भारतीय परम्परा में आदि योगी माने जाते हैं। इनके साथ दत्तात्रेय, अलर्क आदि की योग पद्धतियाँ भी वर्णित हैं। वामनपुराण में भी शैव व शाक्त प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। कूर्मपुराण में हरिहर के अभेद पर बहुत बल दिया गया है और योग सिद्धि के लिए अभेद बुद्धि आवश्यक मानी गई है।^७ मत्स्यपुराण में भी शिव, विष्णु तथा शक्ति की आराधना तथा इन देवताओं के महात्म्य का बहुत विस्तार किया गया। गरुडपुराण और ब्रह्मांडपुराण में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराणों में शैव-शाक्त साधनाओं तथा वैष्णव साधना का समन्वय सबसे अधिक मिलता है। शिव व पार्वती की केलि लीला के अनुकरण पर कृष्ण और गोपी की केलिलीला का विस्तार इन पुराणों में

१ वायुपुराण ११-१५

२ नारदमहापुराण पूर्वार्द्ध ८२-८६

३ लिंगपुराण उत्तरार्द्ध २

४ अग्निपुराण २१-७७

५ वही १३८

६ वाराहपुराण अध्याय ३३ - ४२ - ४३ - ४४ - ४५ - ४६

७ कूर्मपुराण उत्तरार्द्ध-४

अधिक देखा जाता है। कपिल जैसे योगी को भी भागवतपुराण “परमभागवत भक्त” रूप में चित्रित करता है।^१ दशम स्कन्ध में कृष्ण की गोकुल वृन्दावन लीला का विस्तार है और उसके ध्यान को ही पुरुषार्थ बताया गया है। हरिवंश-पुराण में भी कृष्ण लीला का विस्तार मिलता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में शंकर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं।^२ यहाँ सृष्टि श्रीकृष्ण से विकसित होती है। यहीं श्रीकृष्ण प्रत्येक देवता को शक्ति का दान करते हैं। नारायण को लक्ष्मी तथा महेश्वर को दुर्गा भेंट की जाती है।^३ शक्ति व शक्तिमान की एकता व दोनों की एक साथ पूजा पर यह पुराण बहुत अधिक बल देता है। राधा की पूजा पद्धति में तांत्रिक पद्धति का अनुकरण किया गया है। राधा का ध्यान है, मन्त्र है और कवच या स्तोत्र भी मिलता है।^४ राधा की महता स्थापन ही इस पुराण का मुख्य उद्देश्य है। एक जगह राधा यशोदा को भक्ति व ज्ञान का उपदेश देती है।^५ शिव-गौरी रति-विलास का अनुकरण यहाँ चरम सीमा पर दिखाई देता है। श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण को बहुत से विद्वान इसीलिए परवर्ती पुराण मानते हैं।

देवी भागवत भी परवर्ती पुराण माना जाता है। इसमें देवी की महिमा व उसकी पूजा पद्धतियों का वर्णन है। भक्ति, योग व ज्ञान यहाँ मिश्रित रूप में प्राप्त होते हैं। वेद से स्वाहा ‘स्वाधा’ आदि को लेकर इन्हें शक्ति रूप दिया गया है। राधा व दुर्गा को इस पुराण में समान स्थान दिया गया है।

श्रीमद्भागवत, देवीभागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण को महापुराणों में माना जाय या नहीं यह विवादास्पद है। तथ्य यह है कि इन पुराणों में सभी प्रकार की साधनाओं व धारणाओं में अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न अधिक है। यर्थाप अपने अपने इष्ट देवता की प्रभुता-स्थापन पर भी बहुत बल दिया गया है। भविष्य पुराण में परम्परागत धर्म के आचरण की आवश्यकता बताई गई है।^६ अर्थात् जो कुछ हमारी संस्कृति में है सबको स्वीकार करना चाहिए,

१ श्रीमद्भागवत पुराण-स्कन्ध-३-अध्याय २५

२ ब्रह्मवैवर्त-ब्रह्मखंड-३

३ वही ” ६

४ वही प्रकृति खंड ५५-५६

५ वही उत्तरार्द्ध १११

६ भविष्यपुराण-८

इस सिद्धान्त के द्वारा वैदिक और अवैदिक का द्वन्द्व समाप्त कर दिया गया । इस पुराण के चार अध्यायों में जातिभेद का खन्डन किया गया है । सूर्य, गणपति, नाग, विष्णु शिव आदि देवताओं की पूजा पर जोर दिया गया है । इस में शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणों का भी वर्णन है, जिन्हें कृष्ण के पुत्र सम्ब भारतवर्ष लाए थे, ये सूर्य उपासक थे । ये लोग 'सुरापान' करते थे । फारसी साहित्य में इन्हें 'पीरे मुर्गा' कहा जाता है ।^१

पुराण-धर्म, बौद्ध-जैन-धर्म के समानान्तर विकसित हुआ है । बौद्ध व जैन धर्म जन्म से ही संन्यास का प्रचार करते थे, कठोर साधना अपनाते थे अतः पुराणों ने जनता के विश्वासों व पूजा पद्धतियों को अपनाकर, उनके देवताओं को स्वीकार कर, एक प्रचलित धर्म का ही प्रचार किया तब भक्ति योग और ज्ञान में समन्वय स्थापित किया अर्थात् जीवन और पारमार्थिक ज्ञान की खाई को पाट दिया । पुराणों ने आगमों की तरह देवता के रूप, मंत्र, मुद्रा, मंडल, स्तोत्र, वाहन, अस्त्र-शस्त्र, मूर्ति आदि के ध्यान द्वारा देवता के साथ तादात्म्य करना सिखाया और वैदिक यज्ञयाग तथा उपनिषदों की कठिन ज्ञान साधना के स्थान पर उपर्युक्त सरल साधना का प्रचार किया । केवल समर्पण या भक्ति से देव भाव प्राप्त हो सकता है, यह विश्वास जगाया । मूर्ति, शालग्राम पूजा, व्रत, तीर्थ आदि ने वैदिक यज्ञयाग व ज्ञानमार्ग का स्थान ले लिया तथा शिव, शक्ति, गणपति, विष्णु, सूर्य आदि ने प्राचीन वैदिक देवताओं का स्थान लिया । यह स्पष्ट है कि पौराणिक धर्म एक प्रचलित धर्म था । अतः उसमें अनेक आर्येतर विश्वास मिल गए । शिव, विष्णु, गरुड आदि देवताओं को पुराण वैदिक देवता कहता है, किन्तु वे वैदिक देवता नहीं हैं । ये देवता सामान्य जनता के देवता थे । सम्भवतः नाग लोग शैव व सुपर्ण लोग वैष्णव थे । कैम्पबेल ने बतलाया है कि आर्यों की अधिकतर स्त्रियाँ अनार्यों से आई थीं अतः उन्होंने शैव व वैष्णव मतों का प्रवेश आर्य घरों में कराया ।^२ पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि शिव को देख कर मुनियों के रोकने पर भी उनकी पत्नियाँ आकर्षित हुई थी, इससे यह तात्पर्य सहज ही निकाला जा सकता है कि शिव उन मुनि पत्नियों के माइके का देवता था ।^३

१ गोपीनाथ राव : एलीमेंट्स आफ हिन्दू इकनोमिक्स, जिल्ड १, भाग २ पृष्ठ १ मद्रास १९१४ तथा रामदास गौड़ पृ० ४०७

२ क्षितिमोहन सेन-संस्कृति संगम, पृ० १६ से १८

३ वही " पृ० ४०७

इसी प्रकार गरुडपति अनार्यों का देवता था, यह गेटी ने भलीभाँति प्रमाणित किया है। गरुडेश प्रागैतिहासिक काल अर्थात् आर्यपूर्व युग में जनता द्वारा पूजित था। जिस तरह हिन्दू धर्म में सर्प, नागदेव, बानर, हनुमान और पक्षी गरुड हो गए उसी प्रकार हाथी भी गरुड मान लिया गया। इसी तरह कच्छप व मछली आदि को विष्णु का अवतार मान लिया गया।^१

इस प्रकार पुराणों में जो नाना देवी देवता स्वीकृत हैं, उनमें अधिकांश जनता के निम्न स्तरों से आए हैं, उनके आर्यीकरण का महान प्रयत्न पुराणों और आगमों में ही हुआ है। आज गरुडपति की यज्ञ में सर्व प्रथम पूजा की जाती है जो अवैदिक देवता है। शालग्राम की पूजा अनार्य उपासना है।^२ भक्ति अनार्य उपासना है।^३ इष्ट देवता या कुल देवता की कल्पना अवैदिक है। प्रथम दक्षिण के शैव और वैष्णव मंदिरों में पुजारी सातानी या सातादवन अर्थात् शिखासूत्र विहीन लोग हुआ करते थे। बाद में इनकी जगह ब्राह्मण पुजारी हुए। स्वयं पौराणिकों को वैदिक लोग अब तक महत्व नहीं देते हैं। पुराणों में जिन व्रतों का इतना महत्व है, वह वैदिक साहित्य में प्राप्त नहीं होता, न तीर्थों का वहाँ महत्व मिलता है। इसीलिए अवैदिकों को तैत्थिक कहा जाता था।^४ भक्ति को स्पष्टतः ही पद्मपुराण अवैदिक मानता है—

उत्पन्ना ब्राविडे चाहं, कण्टि वृद्धिमागता।

स्थिता किञ्चिन्महाराष्ट्रे गुज्जरे जीर्णमागता।^५

पुराणों में जिन नाना जातियों का उल्लेख मिलता है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि बौद्ध युग से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक आर्य अनार्य सम्पर्क व सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत अधिक हुआ है। इसी के फल पुराण हैं। छठी शताब्दी के आसपास से शैव, शाक्त वैष्णव तथा बौद्ध तन्त्र का निर्माण द्रुतगति से होता है।

तन्त्रों में जन सामान्य में प्रचलित कोमल व भयंकर आचारों को भी

१ गेटी : गनेश भूमिका — २० फाउचर

२ संस्कृति संगम पृ० ५०

३ वही पृ० ५१

४ वही पृ० ५६-५७ तथा ए० के० सूर : प्रो एरियन ऐलीमेंटस इन इंडियन कल्चर, कलकत्ता, १९३४।

५ संस्कृति संगम के पृ० ५०

अभ्यास का विषय बनाया गया । जिन तत्वों को पुराण केवल स्वीकार करते हैं तन्त्र उन्हीं तत्वों को साधना का लक्ष्य मान कर चलते हैं । अतः पुराणों व तन्त्रों में बहुत से सामान्य तत्व मिलते हैं । किन्तु यह भी मानना पड़ता है कि पुराणों में कुल मिलाकर नैतिक स्वर प्रबल है । उनमें उपदेशवादिता अधिक है । जबकि तन्त्रों में मनुष्य के दुर्बल अंशों को भी साधना द्वारा रूपान्तरित किया गया है ।

इस प्रकार बौद्ध युग में पुराणों द्वारा स्वीकृत देवता तथा पूजा पद्धतियों में निम्न जनता में अनेक तत्व आये हैं और तन्त्रों की ही तरह पुराणों में देवता के मन्त्र, वाहन, वेप, यंत्र आदि की उपासना होती है । अतः पुराणों और तन्त्रों में जो विरोध देखते हैं वे भूल करते हैं किन्तु पुराण वैदिक यज्ञयाग व ऋषि मुनियों के यज्ञ का अधिक प्रचार करते हैं जबकि तन्त्रों में वैदिक यज्ञयाग और वर्णाश्रम धर्म के समानान्तर चलने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है ।

स्मृतियों की तुलना में समाज के निम्न वर्गों के प्रति जिस प्रकार तांत्रिक साधक उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं, उसी प्रकार पुराण भी सम्पूर्ण वर्गों के आनन्द पर ध्यान देते हैं; यद्यपि वे उतने उदार नहीं हैं जितने कि तन्त्र । कुलार्णव तंत्र ने पुराणों के उदार दृष्टिकोण की प्रशंसा की है ।^१

१ पुन्य पापादिकथनाद्गणद्वेषादिवारणात् ।

नन्दनात्सर्व वर्णानां, पुराणमिति कथ्यते । “हंस विलास” से उद्धृत

षड्दर्शन तथा तन्त्र

षड्दर्शन से तात्पर्य, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त से है। दर्शन में जगत्, जीव और ब्रह्म की तर्कसंगत व्याख्या की जाती है। यहाँ हमारा तात्पर्य षड्दर्शनों के प्रामाण्यवाद से नहीं, मान्यताओं से है, जिन्हें विभिन्न प्रमाणों से तर्कसंगत बनाने की चेष्टा की गई है।

सांख्य में प्रकृति व पुरुष इन दो स्वतन्त्र तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। सांख्य की अव्यक्त प्रकृति के सिद्धान्त से बहुत पूर्व जगत् के मूल में नाना शक्तियों की कल्पना की गई है। आर्य व अनार्य नाना देवी देवताओं की पूजा करते थे। ब्रह्म को मायावी और जगत् को माया कहने के मूल में सम्भवतः अथर्ववेदी जाड़ू के सिद्धान्त की ही कल्पना थी। उपनिषदों ने इसे दार्शनिक रूप दिया और सांख्य ने उसे ग्रंथशक्ति या जड़ शक्ति के रूप में अपनाकर उसे ही अव्यक्त प्रकृति कहा जो नटी की तरह अभिनय करती है और पुरुष को मोह लेती है। अतः वेदान्त सूत्र के मायावी ब्रह्म, माया शक्ति, तथा सांख्य के अव्यक्त प्रकृति के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में कुछ आदिम विश्वास हैं जिन्हें हम अथर्ववेद के अध्ययन में देख चुके हैं। आगे चलकर शांकर-वेदान्ती 'मायावाद' शाक्त, शैव तथा वैष्णव अपने शक्तिवाद को व्यवस्थित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। शाक्त, शैव तथा वैष्णव सृष्टि का सारा कार्य ब्रह्म की शक्ति

शांकर वेदान्त पर पड़ा है। शंकराचार्य भी जगत् की प्रातीतिक सत्ता ही स्वीकार करते हैं।

पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से वेदान्तमूत्र का वेदान्त तथा शाक्त, शैव तान्त्रिक बौद्ध तथा पांचरात्र वैष्णव उपनिषदों की आनन्दवादी परम्परा को आधार मानकर चले हैं। ब्रह्म आनन्द का ही पर्याय है। जीव का स्वरूप भी आनन्द ही है। कंचुक, आवरण या पाशों के कारण यह आनन्द आवृत रहता है। आवरण के कारण यह आनन्द क्षीण और क्षणिक रूप में जीवन के आनन्दों में व्यक्त होता है। इसे स्थायी बनाना ही तांत्रिकों का उद्देश्य है। सभी तांत्रिक पारमार्थिक आनन्द प्राप्त करने के लिए मनुष्य के रागात्मक आनन्द को ही माध्यम बनाते हैं जबकि वेदान्त रागात्मक आनन्द को भ्रम मानकर उसका त्याग ही विधेय ठहराता है। यही वेदान्त और तांत्रिक दृष्टि में अन्तर है। यह विचित्र तथ्य है कि बौद्ध तांत्रिक जगत् को सांवृतिक सत्य मानकर ही रागात्मक आनन्द को साधना का माध्यम मानते हैं जबकि जगत् की व्याख्या उन्हीं में उधार लेने वाले शंकराचार्य वैराग्यमूलक दृष्टिकोण अपनाते हैं। शाक्त-शैव व वैष्णवों में यह वैचित्त्य इसलिए नहीं मिलता क्योंकि वे तो जगत् को आनन्दमयी शक्ति का ही विकास मानते हैं अतएव रागात्मक रूप में व्यक्त होने वाला आनन्द पारमार्थिक आनन्द का ही सहायक है।

मोक्ष के सिद्धान्त की दृष्टि से तान्त्रिक, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, तथा वेदान्ती विचारक उपनिषदों की परम्परा को ही स्वीकार करते हैं यद्यपि मोक्ष में जीव की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। उदाहरणतः वैष्णव मोक्ष की अवस्था में भी जीव की सत्ता मानते हैं जबकि शाक्त-शैव आगम ब्रह्मानन्दमय होने के बाद जीव का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं मानते। न्याय, वैशेषिक तो केवल क्लेश-नाश को ही मुक्ति मानते हैं। सांख्य की मुक्ति में विवेक की ही प्रधानता है आनन्द की नहीं। अतः तांत्रिकों के आनन्द की कल्पना षड्दर्शनों में केवल वेदान्त से सादृश्य रखती है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा वेदान्त मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक अनुभवों में द्वन्द्व मान कर चले हैं जबकि तांत्रिक इनमें अविरोध स्थापित करते हैं अतः तांत्रिक दर्शन षड्दर्शनों का पूरक दर्शन है। यदि वह सांख्य, योग तथा उपनिषद-परम्परा से कुछ ग्रहण करता है तो उनकी उक्त कमी को पूरा भी करता है।

तांत्रिकयोग कुण्डलिनी योग पर आधारित है। पाँचरात्र वैष्णव योग को स्वीकार करने हैं परन्तु आगे के वैष्णव भक्तिभाव पर ही बल देते हैं। तांत्रिक कुण्डलिनीयोग पातंजलयोग के षडंग या अष्टांग योग को स्वीकार करता है। राजयोग भी तांत्रिकयोग में स्वीकृत है। किन्तु ब्रह्म, जगत् व जीव सम्बन्ध में तांत्रिकों की धारणाएं पातंजलयोग से भिन्न है। स्वयं योग का सिद्धान्त आर्य पंडितों व साधकों ने अथर्ववेद की तपस्वी व योगी परम्पराओं में ग्रहण किया था। तांत्रिक रसायनयोग पर सांख्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सांख्य-योगियों का विश्वास था कि भूततत्त्व में शक्ति की वृद्धि, रक्षा, रूपान्तरण तथा नाश की शक्ति है। भूततत्त्व में शक्ति स्थिर है। इस मूल सिद्धान्त में ही भूत तत्त्वों के द्वारा शक्ति-वृद्धि के नाना उपायों का आविष्कार हुआ है अतः रसायनयोग पर सांख्य प्रभाव दिखाई पड़ता है।^१

इस प्रकार तांत्रिक दर्शन का सम्बन्ध पङ्दर्शनों से देखने के पश्चात् हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि तांत्रिक दर्शन और साधना मूल वैदिक यज्ञ-धर्म को स्वीकार न करके प्रागैतिहासिक योग परम्परा में ही एक नवीन अध्याय जोड़ती है। दार्शनिक दृष्टि में उसका सादृश्य उपनिषदों, मोमांसा, सांख्य और वेदान्त में दिखाई पड़ता है किन्तु तांत्रिकों की सबसे महत्वपूर्ण देन द्वैत और अद्वैत में समन्वय प्रस्तुत करना तथा मनोवैज्ञानिक और पारमार्थिक आनन्द के विरोध को समाप्त कर देना है। सामाजिक दृष्टिकोण से तांत्रिक दर्शन भेदभाव समर्थक ब्राह्मण—बौद्ध पौरोहित्य का विरोध करता है तथा समाज के सभी स्तरों को एक समान भाव-भूमि पर लाने के लिए प्रयत्न करता है।

द्वितीय अध्याय

विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदाय

विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदाय

तांत्रिक जैनमत—जैनमत मूलतः योगमत है, इस योग में कृच्छ्र साधनाओं द्वारा राग का सर्वथा नाश ही ध्येय है। राग के नाश के लिए जैनाचार को अत्यधिक कठोर बनाया गया है। यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय अकाल पड़ने पर भद्रबाहु की देखरेख में दक्षिण जाने वाले जैन साधक जब श्वेत वस्त्र धारण करने लगे तो उत्तर के नग्न जैन भिक्षुओं ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और केवल वस्त्र की सुविधा को भी भोग-प्रवृत्ति मानकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय को अलग कर दिया गया।

फिर भी कठोर आचार व साधनाएं केवल संन्यासियों के लिए ही स्वीकृत की गई हैं। गृहस्थों में जैनमत अपेक्षाकृत कोमल है। जैन आगम में स्वर्ग और नर्क का भी विधान मिलता है। तीर्थकारों की पूजा जैन गृहस्थ उसी प्रकार करते हैं, जैसे बौद्ध, शाक्त, शैव व वैष्णव करते हैं। जैनियों के तीर्थकारों व हिन्दुओं के ईश्वर में केवल नाम मात्र का ही अन्तर है। ईश्वर की उपासना से जो मिलता है वह तीर्थंकर-उपासना से भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार हिन्दुओं को ईश्वर के महात्म्य, उमके रूप, वेप, वाहन, मंत्र आदि में विश्वास है उसी प्रकार तीर्थंकरों के अलग अलग मंत्र और यंत्र हैं। उनकी अनेक महात्म्य कथाएँ हैं जो जैन पुराणों में मिलती हैं। भक्ति, देवता में विश्वास, मंत्र साधना, पूजा, उपासना सब कुछ जैन मत में प्राप्त होता है। इस प्रकार जन प्रिय जैनमत का स्वरूप तांत्रिक मत से भिन्न नहीं दिखाई पड़ता। यह जनप्रिय रूप आठवीं शताब्दी से और भी अधिक महत्त्व प्राप्त करता है।

आदिपुराण 'जिनसेन' का समय भी यही है। तात्पर्य यह है कि तांत्रिक युग में ही जैनमत के जनप्रिय रूप पर तांत्रिक प्रभाव देखा जा सकता है।

जैनशासन में तीर्थंकरों की धारणा व ध्यान तांत्रिक पद्धति के अनुसार प्रचलित है। ध्यान के चार रूप जैनमत में मिलते हैं—(१) पिंडस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपवर्जित। पिंडस्थध्यान में ध्यान का आलम्बन पिंड के भीतर माना जाता है। पदस्थ ध्यान में वाक्य, वर्णन तथा पद पर धारणा की जाती है। इसी को शाक्त, शैव मातृका साधना कहते हैं। रूपस्थ ध्यान में अर्हत् के रूप का ध्यान किया जाता है, उसके साथ तादात्म्य किया जाता है। रूपवर्जित ध्यान में आत्मचिन्तन होता है।^१ निराकारमतावलम्बी योगी ऐसा ही ध्यान करते हैं।

तांत्रिकों में भूतविजयसाधना में आकाश, वायु, अग्नि आदि तत्वों का ध्यान कर इन पर विजय प्राप्त की जाती है। जैनमत के पिंडस्थ ध्यान में यह सिद्धान्त भी स्वीकृत है।

हेमचन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि आत्मतत्त्व के ध्यान में मग्न योगी को डाकिनी, शाकिनी, आदि शक्तियाँ सताती हैं। बहुत से सामान्य जैनसाधक इन निम्न शक्तियों को भी वश में करते थे^२ और इस प्रयत्न में तांत्रिकों की पद्धति अपनानी पड़ती थी।

पिंडस्थध्यान में तांत्रिकों का षट्चक्रवेध पूर्णतया स्वीकृत है। जैन योगी नामस्थान में १६ दल, १६ स्वर मात्राएं, हृदयस्थान में २४ दल, २५ वर्ण, नाभिस्कन्द के नीचे आठ दल, अर्हत् पद आदि का ध्यान करके सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से जीव शक्ति को ऊर्ध्वगामिनी करते हैं। जैन नाड़ीयोग में १६ विद्या देवियाँ, अमृततत्त्व आदि सभी तांत्रिकतत्त्व स्वीकृत हैं, अंत में मूर्धा (चक्र) में अर्हत् के साथ तादात्म्य करके "सोऽम् सोऽम्" की भावना की जाती है। इससे देवता या अर्हत् के साथ एकीभाव प्राप्त होने से पिंडस्थध्यान सकल होता है। इस योग में तांत्रिकों का पूरा मंत्र शास्त्र स्वीकार किया गया है। 'अरिहं-
'ताणम्' यह जैन पंचाक्षरी है। प्रणव (ओम्) तथा माया (ह्रीं) आदि बीजाक्षर

१ शक्ति अंक - कल्याण - गोरखपुर, पृ० ५४७-५४९

२ ब्रह्मसूत्र—ए हिस्ट्री आफ़ क्रिडीकल मंत्रशास्त्र एम० भावेरी

भी स्वीकृत है। अंतर केवल यह है कि जैनयोग में वामाचार स्वीकृत नहीं है, शेष बातें तांत्रिक हैं।

जैनयोग व उपासना में शाक्तत्व बहुत अधिक है। बालचन्द्र सूरि ने वसन्तविलास के मंगलाचरण में सरस्वती की प्रार्थना इस प्रकार की है—

ज्योतिस्तडिदंडवती सुषुम्णा-कादम्बिनी मूर्ध्नि यदाम्युषेति ।

अर्थात् जब सुषुम्णा नाम की नाड़ी रूपी बदली सरस्वती के तेजोमय बिजली के दंडभेदन से भेदित हो कर मूर्धा में आकर निवास करती है।^१ शाक्तों की पद्धति पर जैनागम में तीर्थंकर की “शासनदेवता” के रूप में शक्तिपूजा स्वीकृत है, श्वेताम्बरमत में २४ देवियों के नाम मिलते हैं तथा सरस्वती के १६ व्यूह माने गए हैं।

चक्रेश्वरी, अजितबला, दुरितारी, कालिका, महाकाली, श्यामा, शान्ता, ज्वाला, सुतारिका, अशोका, श्रीवत्सा, चंडा, विजया, अंकुशा, पन्नगा, निर्वाणी, बला, अम्बिका आदि देवियों की उपासना जैनियों में प्रचलित है।

सरस्वती के १६ विद्या व्यूहों में भी यही स्थिति दिखाई पड़ती है। रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला, कुलिशांकुशा, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्रमहाज्वाला, मानवी, वैरोप्या अक्षुप्ता, मानसी तथा मानमानसिका इन १६ देवियों में कुछ नाम गढ़ लिये गए हैं और कुछ स्थानीय देवियों के नाम हैं। सिद्धायिका देवी की पूजा दिगम्बर जैन भी करते थे।^२ दिगम्बरों में भी मंत्रवाद प्रचलित था और ११ वीं शताब्दी में मल्लिषेण ने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वालामालिनी कल्प, कामचांडाली कल्प तथा विद्यानुवाद आदि कई तंत्र ग्रन्थ लिखे हैं।^३ किन्तु स्पष्ट ही भूत-प्रेत-सिद्धि को जैन उसी प्रकार महत्व नहीं देते जिस प्रकार उच्च कोटि के तांत्रिक “भूतडामर” जैसे तंत्रों को महत्व नहीं देते हैं।

मठपति तथा बनवासी, जैन साधकों के ये दो भेद हैं। तांत्रिक जैन मठों में रह कर ही साधना करते थे और देवी-अर्चन, वशीकरण, अंगनाकर्षण, गारुड़ी-विद्या आदि का अभ्यास करने थे।

१ कल्याण-शक्ति अंक पृ० ५४६

२ जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, पृ० ४७०, बम्बई, १९५६
द्वितीय संस्करण।

३ यही पृ० ४६२। मल्लिषेण के दो तंत्र प्रकाशित हो चुके हैं—सरस्वती भवन, बम्बई।

तांत्रिक बौद्धमत

तांत्रिक बौद्धमत कर्मकांड, और प्रारम्भिक हीनयानी मत की कठोर नैतिकता के विरुद्ध प्रादुर्भूत हुआ। प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में तपस्या और योग को स्वीकार किया गया था। उसकी प्रतिक्रिया में भिक्षु-संघों के भीतर गुह्य समाजों का संगठन हुआ। इन गुह्य समाजों का विकास महायान सम्प्रदाय के क्रोड़ में हुआ। महायानियों ने हीनयानियों की शब्दावली की भिन्न दार्शनिक व्याख्या की और इस दार्शनिकता को ही महायानी तांत्रिकों ने स्वीकार कर लिया। बुद्धत्व, कार्यासिद्धान्त, शून्य, पंचस्कंध, धातु, आयतन, आर्यसत्य, निर्वाण आदि शब्दों की महायानियों ने नई व्याख्या की है।^१ बौद्ध धर्म के विकास को निम्न सोपानों विभाजित किया जा सकता है—

१—शुद्ध हीनयान मत ४५० ई० पू० से ३५० ई० पू० तक

२—मिश्रित हीनयानमत ३५० ई० पू० से १०० ई० पू० तक

३—महायान मत का प्रारम्भ और विकास—१०० ई० पू० से ३०० ई०
पश्चात् तक।

१ महायान बुद्धिपरम एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान-नलिनाक्षर, लंबन १९३०।

४—तांत्रिक बौद्ध, मत चतुर्थ शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक ।

तांत्रिक बौद्धमत ईसा की चतुर्थ शताब्दी के पूर्व गुह्य समाजों के रूप में विकसित होता रहा और छठी शताब्दी तक उसका रूप निश्चित हो गया ।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार तांत्रिक बौद्धमत का प्रथम रूप निम्नलिखित ग्रंथों में मिलता है ।^१

१—विद्याधर पिटक

२—सुखावती व्यूह

३—मंजु श्री मूल कल्प

ये रचनाएँ ईसा के जन्म समय के आसपास की हैं । मंजुश्रीमूलकल्प में शाक्य मुनि व मंजुश्री के सम्वाद रूप में मंत्र साधना का वर्णन मिलता है । इसमें विष्णु और रुद्र दोनों को स्वीकार किया गया है । शाक्य मुनि का स्पष्ट कथन है कि पूर्व कल्पों में शिव ने जिम मार्ग का उपदेश दिया था उसी का उपदेश मैं कर रहा हूँ ।^२

इस तंत्र का समकालीन ही सद्धर्मपुंडरीक नामक ग्रन्थ है जिसमें अनेक तांत्रिक तत्व मिलते हैं । सभी वर्गों के लिए इसमें सरल साधना का उपदेश दिया गया है ।^३ पौराणिकों के स्वर्गों की तरह इसमें सुखावती स्वर्ग का वर्णन किया गया है । शास्त्र के मर्म को लोक भाषा में लिखित धारणी मंत्रों में गुरक्षित किया गया है, जिनके लेखन स्मरण तथा जप से मूल पुस्तक के पाठ का लाभ प्राप्त होता है । इसलिए कठोर तप और योग को अनावश्यक बताया गया है । गौतम बुद्ध को भेषज्यराज अर्थात् रमायन शास्त्री के रूप में चित्रित किया गया है ।^४ अथर्ववेद की तरह इसमें राक्षस-प्रेत-पिशाच साधना भी मिलती है । गौतम बुद्ध इन तन्त्रों में संध्या भाषा का प्रयोग करते हैं जो सन्त कवियों के लिए प्रेरक बनी है ।^५ सुखावती व्यूह तंत्र में सम्मोहनजन्य ध्यान

१ साधनमाला भाग २, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा

२ मंजुश्री मूल कल्प : गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम सीरीज, पृ० ५२३, १९२० ई०

३ सद्धर्मपुंडरीक : सम्पा० कर्न, पृ० १३७, सेंटपीटर्सबर्ग, १९१२ ई०

४ वही पृ० ३६७ - ३६८

५ दुर्बोधं शारिपुत्र तथागतस्य संघाभाष्यम् सद्धर्म० पृ० ३६

का वर्णन किया गया है। कारण्यव्यूह में अवीचिनरक व सुखावती स्वर्ग का वर्णन मिलता है। अवलोकितेश्वर का विराट रूप भी यहाँ वर्णित है।^१ इसमें आकाश को लिङ्ग, पृथ्वी को लिङ्ग की पीठिका और सृष्टि को भगवान की लीला कहा गया है।^२

प्रवृत्ति प्रधान जीवों के लिए ही तंत्र मार्ग का आविष्कार बताया गया है। कारण्यव्यूह में “ओं मणिपद्मे हूँ”—यह पङ्करी महाविद्या मिलती है। यही परम्परा गंडव्यूह, स्वर्णप्रभा और समाधिराज तन्त्रों में भी मिलती है। इन बौद्ध तन्त्रों पर शैव प्रभाव दिखाई पड़ता है। तांत्रिक बौद्ध मत का निश्चित स्वरूप तथागत गुह्यक नामक तंत्र में मिलता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य इसका समय तृतीय शताब्दी मानते हैं।^३ इसका प्रथमादर्ध और उत्तरादर्ध नवीन है। इस तंत्र में गौतम बुद्ध तथागतों, ध्यानी बुद्धों तथा शक्तियों आदि की संगीति में उपदेश देते हैं। भोग द्वारा योग ही साधना का वर्णन है। आशु-सिद्धि के लिए विधिनिषेध की अवहेलना और शक्ति-साधना का वर्णन यहाँ मिलता है। हठयोग को शक्ति साधना के सहायक के रूप में स्वीकार किया गया है। यह तंत्र भी संख्या भाषा में लिखा गया है। प्रारम्भ में ही कहा गया है कि तथागत काय, वाक्, चित्त, हृदय तथा वज्ररूपी स्त्री की भग में विहार करते हैं।^४ इन्द्रभूति ने ज्ञानसिद्धि में इसका यह अर्थ किया है कि हृदय का अर्थ ज्ञान है। यही वज्रयोषित् है। यही भग है, क्योंकि यह सारे क्लेश का भंजन करती है।^५ इसमें सांसारिक पदार्थ अनुत्पन्न माने गए हैं। कहा गया है कि बोधि या चेतना आकाश के समान है। बोधि के संयुक्त होने से ही पदार्थ प्रकाशित होते हैं। साधना के द्वारा जब भाव-अभाव, ग्राह्यग्राहक या

१ एन आउटलाइन आफ रिलीजन्स आफ इंडिया: जे० एन० फर्कुअर, पृ० १५८, १६२० ई०

२ कारण्यव्यूह पृ० १० : जीवनन्द, १८७३ ई०

३ तथागत गुह्यक-गायकबाड़, ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा (भूमिका भाग)

४ एवं मया श्रुतम्, एकस्मिन् समये भगवान सर्व तथागत कायवाकचित्तहृदय-वज्र योषिष्य-गेषु विजहार-तथागत गुह्यक।

५ हृदयं तदेव वज्रयोषित् अभेद्यप्रज्ञास्वस्वाभावात्।

तदेव भगं सर्वक्लेशभंजनात् - ज्ञानसिद्धि

ब्रह्मसमाज तंत्र पटल १

वेश-वैद्यक की स्थिति का नाश हो जाता है तो इसे शून्यता की स्थिति कहते हैं। किन्तु इस शून्यता के साथ करुणा को संयुक्त या युगनद्ध करना पड़ता है। यही अद्वय अवस्था है जिसको बोधिचित् कहा गया है।^१

इस तंत्र में भक्ति और कर्म गौण है और ज्ञान को मुख्य माना गया है। यह ज्ञान गुरुकृपा और योग द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रज्ञा के साथ जीवों पर करुणा या उपाय को सम्बद्ध करना पड़ता है। बिना उपाय के प्रज्ञा निःमहाय है और बिना प्रज्ञा के उपाय अन्धा है। इसकी एकता ही युगनद्ध है। इस एकता की प्राप्ति में स्त्री और पुरुष की रति के समय की एकता को साधन रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि इसी प्रकार प्रज्ञोपाय की एकता का अनुभव शिष्य को कराया जा सकता है। यह शैवों और शाक्तों की शक्ति साधना का ही यह एक विशेष रूप है। प्रज्ञा व उपाय की एकता को ही योग कहा गया है।^२

गुह्यसमाज तंत्र में बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। केवल चेतना की ही सत्ता स्वीकार की गई है। बौद्ध तंत्र दुष्ट, कामी, पापी आदि सभी प्रकार के लोगों को साधना के लिए उपयोगी मानते हैं।^३ गुह्यसमाज तंत्र में चक्र, रत्न, पद्म, रश्मिमंडल आदि का महीनों ध्यान करना पड़ता है। विद्वानों का विचार है कि भारतीय तांत्रिक बौद्धमत की इस ध्यान साधना पर चीन और जापान में प्रचलित 'जैन' सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है। जैन सम्प्रदाय में भी पदार्थ की सत्ता निःस्वभाव ही मानी गई है। इसका प्रवर्तक कई वर्षों तक एक दीवाल पर ध्यान जमाए रहता था। दूसरे जैन सम्प्रदाय के साधक ध्यान के स्थान पर 'स्वयं प्रकाश ज्ञान' को ही इस धर्म का मूल मानते हैं। इन लोगों को सतोरी कहा जाता है। वस्तुतः चीन, जापान का प्रारम्भिक ध्यान सम्प्रदाय भारतवर्ष के ध्यान मार्ग से ही प्रभावित था क्योंकि यह ध्यान-साधना उपनिषदों में भी प्राप्त होती है तथा प्रारम्भिक बौद्ध और जैन मतों में भी इसका अस्तित्व मिलता है।

चीन, जापान के जैन सम्प्रदाय भारतीय तांत्रिकों की-तस्ह ही सन्ध्या

१ गुह्यसमाज तंत्र—(तथागत गुह्यक) पटल १८

२ वही

३ वही पटल ५

भाषा का प्रयोग करते हैं ।^१ किन्तु भारतवर्ष में दस मंथ्या भाषा का पूर्व रूप अथर्ववेद में भी मिलता है, यह हम देख चुके हैं ।

गुह्यसमाज तंत्र में जिन पदार्थों का ध्यान किया जाता है उनका प्रतीकार्थ भी साथ साथ ग्रहण किया जाता है । इस साधना में ध्यान के अनतिरिक्त अभिषेक, न्यास, मंत्र चर्या आदि का भी विधान किया गया है ।

जप—गुह्यसमाज में दस प्रकार के जप बताए गए हैं । भाव और अभ्यास का विचार करते हुए उच्च स्वर से जप करना काय जप है । शब्द व अशब्द का विचार करते हुए जप करना वाक् जप है । चित्त जप में चिन्तानुसंधान होता है । बुद्ध पर ध्यान करते हुए रत्न जाप किया जाता है । तत्त्व में बार बार गमन अमोघ जप कहलाता है । क्रोध के समय ज्ञान द्वारा जप क्रोध जप है । सर्व जीवों के हित के लिए व्याकुल होने की अवस्था में मोह से युक्त होने पर ज्ञान पूर्वक जप मोह जप है । काया, वाक् तथा चित्त के स्थिर होने पर राग पद में स्थित होकर जप करना राग जप है । इसी प्रकार द्वेष की स्थिति में जप करना द्वेष जप है । उपर्युक्त सर्व तत्त्वों का एक साथ जप करना नपुंसक जप है ।^२ जप के समय चेतना की उच्च अवस्था ही फल देती है । इस मंत्र चर्या में बाह्य प्रयत्न आवश्यक नहीं माना गया है । शुद्ध तत्त्व में चित्त का समाहित होना ही मंत्र चर्या है । तत्त्व का मनन ही मंत्र है ।^३ आगे यही दृष्टि कबीर, दादू आदि सन्तों ने ग्रहण की है ।

क्योंकि संसार में राग से बन्धन है इसलिए राग पर राग द्वारा, क्रोध पर क्रोध द्वारा तथा मोह पर मोह द्वारा विजय प्राप्त करने की विधियाँ इस तंत्र में वर्णित हैं ।^४

इस तंत्र में शब्दों की प्रतीकात्मकता पर बहुत बल दिया गया है । मण्डल = भग = बोधि चित् = शरीर । पुष्प = स्त्री । चक्र = ज्ञान । विद्या = स्त्री । पंचामृत = पाँच प्रकार का ज्ञान । बन्धन = चित्र का आकर्षण और

१ बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक भूलक : परशुराम चतुर्वेदी पृ० १४४ से

१४८ तक प्रयाग १०५८

२ गुह्यसमाज तंत्र - पटल १३

३ वही - पटल १८

४ मोहो द्वेषस्तथा रागः सदा बद्धे रतिः स्थिता

उपायस्तेन बुद्धानां बन्धनमिति स्मृतम्

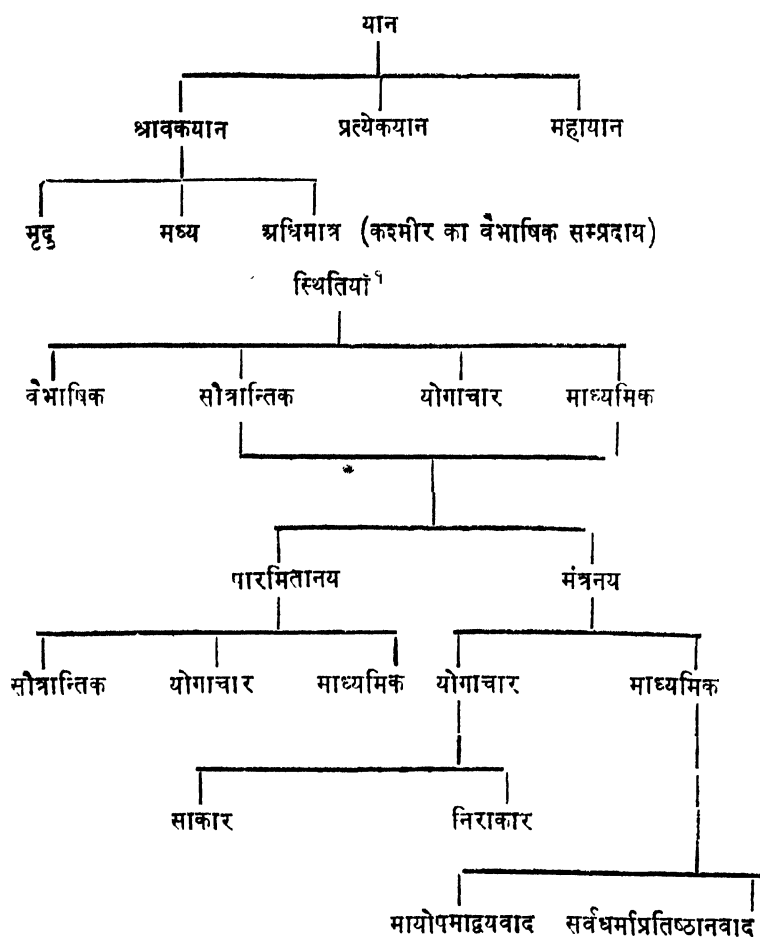
अन्तर्मुखता । गुह्य = काय, वाक् और चित्त । समाज = काय, वाक् और चित्त का संघट्ट । रत्न = चित्त । सेवा = साधन का संयोग । इस प्रकार पूर्ण गुह्य साधना को प्रतीकात्मक रूप दिया गया है ।^१

तांत्रिक बौद्धमत की वज्रयानी शाखा के विकास में पद्मवज्र (६६३ ई०), अर्नगवज्र (७०५), इन्द्रभूति (७१७), लक्ष्मीकरा देवी (७२६), लीलावज्र (७४१), दारिकापाद (७५३), सहजयोगिनी चिता (७६५), डोम्बी हेक्क (७७७ ई०) आदि सिद्धों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है । दूसरी परम्परा के अनुसार सरहपाद (६३३ ई०), नागार्जुन द्वितीय (६४५), शवरिपा (६५७), लुङ्पा (६६६), वज्रघट (६८१), कच्छप (६९३), जालंधरीपा (७०५), कृष्णाचार्य (७१७), गुह्याचार (७२६), विजयपा (७४१), तैलोपा (६७८) तथा नारोपा (६६० ई०) आदि सिद्धों ने वज्रयान और महजयान के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया है ।^२ इनमें इन्द्रभूति, लक्ष्मीकरा देवी और सरहपा को सहजयानी-आचार्यों में मुख्य स्थान दिया जाता है । सातवीं शताब्दी में शान्तिदेव ने शिक्षा समुच्चय नामक ग्रन्थ लिखकर परवर्ती तांत्रिक मत को दार्शनिक आधार दिया । पालवंश के महाराज महीपाल के समय (६७८ से १०३० ई० तक) यह मत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया । इसी समय कश्मीर में शैव सम्प्रदाय की अभूतपूर्व उन्नति हुई जिसका इस मत के साथ सादृश्य मिलता है । वज्रयान सहजयान के अन्य आचार्यों में कुक्कुरीपाद (६६३ ई०), वैरोचन रक्षित (आठवीं शताब्दी) दीपकर (६५० से १०५३ तक) अद्वयवज्र (६७८ से १०८३ ई० तक), ललित गुप्त (१०५० ई०), मुकुट (११०० ई०), कुलाचार (११०० ई०), संघदत्त (१०७५ ई०), अभयकर गुप्त (१०८४ से ११०० ई०) तथा आर्यदेव के नाम उल्लेखनीय हैं ।

इस प्रकार सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक अर्थात् सन्त सम्प्रदाय के उद्भव के पूर्व शैव और बौद्ध योग का दक्षिण-पूर्व और उत्तर में बहुत अधिक प्रचार था और मध्य देश में भी उसके बड़े-बड़े केन्द्र थे ।

अद्वयवज्र ने तांत्रिक बौद्धमत का दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार विभाजन किया है^३—

- १ मोहो द्वेस्तथा रागः सदा बद्धे रति स्थिता उपायस्तेन बुद्धानां वज्रयान-मिति स्मृतम् रागो रागोपभोगन, क्षयरोगः पद्मान्तकृत-गुह्य समाज पटल १८
- २ साधनमाला, भाग २, भूमिका-बी० भट्टाचार्य
- ३ अद्वयवज्रसंग्रह में “तत्त्व रत्नावली” गायकवाड़ और० सीरीज, बड़ौदा



उक्त विभाजन से वज्रयान व मंत्रयान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अद्वयवज्र स्वयं माध्यमिक थे अतः उन्होंने मंत्रयान को योगाचार से अलग कर लिया है। वस्तुतः तांत्रिक बौद्धमत में योगाचार या विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दोनों स्वीकृत हैं। शान्तिरक्षित के “तत्त्व संग्रह” में विज्ञानवाद स्वीकृत है जबकि अनंगवज्र और इन्द्रभूति माध्यमिक हैं। विज्ञानवादी जगत् के पदार्थों को परिमाणुओं का संघात नहीं मानते। पदार्थों के रूप में हमारा

विज्ञान ही प्रकाशित होता है । इसलिए पदार्थ चित्त के भीतर हैं । इसे ही माकार विज्ञानवाद कहा जाता है ।

निराकारवादी विज्ञानवादी चित्त को निष्प्रपञ्च मानते हैं । इनके अनुसार चित्त पदार्थ का रूप धारण नहीं करता है क्योंकि चित्त का आकार नहीं है । अज्ञान के कारण आकाशवत् निर्मल चित्त में नाना रूप प्रतीत होते हैं । अतः पदार्थ माया का कार्य है । यही दृष्टि हिन्दी के सन्त कवियों में भी मिलती है । शांकर मत भी निराकारवादी विज्ञानवादी ही है । शून्यवादी विज्ञानवादियों की तरह विज्ञान या चेतना को कोई नाम नहीं देना चाहते । वे उसे भाव व अभाव से परे बतलाते हैं—यही दोनों में अन्तर है । शून्यवादी सत्य को उपनिषदों की तरह 'नेतिनेति' के रूप में स्वीकार करते हैं ।

बोधिचित्—अद्वयवज्र ने शान्तिपूर्णा, शुद्ध, आभाम रहित, निरालम्ब, अनुत्तर तथा चित्त के अपगत होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रज्ञा कहा है ।^१ तथा दुःखों से दूसरों को मुक्त करने की वृत्ति का नाम करुणा या उपाय बताया है । प्रज्ञा और उपाय के संयोग का नाम ही प्रज्ञोपाय या बोधिचित् है । इसी से महासुख उत्पन्न होता है । अन्यत्र वस्तुसत्ता से रहित निरालम्ब, सर्वशून्य, प्रपञ्ची से अतीत, आश्रयरहित स्थिति को ही बोधिचित् कहा गया है ।^२

जगत के प्रतीयमान पदार्थ को सत्य मान लेने पर भाव उत्पन्न होता है । अनंगवज्र भाव को संकल्पात्मक मानते हैं । भाव से ही भव है जो क्लेश का कारण है ।^३ इसका नाश प्रज्ञा से होता है । इन्द्रभूति कल्पना और प्रज्ञा में अन्तर मानते हैं । कल्पना मिथ्या भावना है जैसे "मैं राजा हूँ, परन्तु प्रज्ञा मिथ्या मानसिक स्थिति नहीं है । वह दूसरी मानसिक सृष्टि का आधार है ।

देवता—यदि सब कुछ संकल्पात्मक है तो देवता का स्वरूप भी संकल्पात्मक मानना होगा । इन्द्रभूति के अनुसार देवता की सत्ता प्रज्ञा से भिन्न नहीं है । देवता का आकार, रूप, वाहन आदि कल्पित है अतः वह मिथ्या है । केवल

१ शान्तं, शुद्धं, निरामासं, चित्तिः प्रज्ञेति कीर्तिता-अद्वयवज्रसंग्रह

२ नैरात्म्यपरिपृच्छा-सम्पादक, सुजीतकुमार मुखोपाध्याय, विश्वभारती पुस्तक भंडार, कलकत्ता, १९३० ।

३ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि-अनंगवज्र, ओरि० इंस्टीट्यूट बड़ौदा, १९२६

सूक्तों के लिए, देवता की कल्पना का अवश्य उपयोग होता है।^१ इस प्रकार बहुदेववादी तांत्रिक बौद्धमत देवता की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानता। उसे अपनी ही चेतना का रूप मानता है। इसलिए वस्तुतः देवता हमारी मनोवृत्तियाँ का रूप विशेष मात्र है। वैष्णव धर्म में भगवान की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के कारण देवताओं की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की गई है। बल्लभाचार्य तो साकार ब्रह्म को ही परमात्मा का वास्तविक रूप मानते हैं। यही वैष्णव देवतावाद और मिद्ध देवतावाद में अन्तर है। सिद्धों की परम्परा में होने के कारण मन्त कवियों में देवता की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं की गई है।

तथता—महायान श्रद्धोत्पादसूत्र में अश्वघोष ने जिस तथता का सिद्धान्त समझाया था उसी में बोधिचित् का सिद्धान्त विकसित हुआ था।^२ तथता के दो रूप हैं—

(१) **भूत तथता**—इसका अर्थ है जो सभी पदार्थों को अपने में समेट लेती है। इसी को धर्मधातु कहा जाता है।

(२) **संसार**—ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। चूँकि संसार चेतना के द्वारा ही अनुभूत है, इसीलिए उसकी ठीक ठीक व्याख्या नहीं हो सकती। तथता का भावात्मक और अभावात्मक दो रूपों में कथन होता है। अभावात्मक रूप में वह शून्य कहलाती है और भावात्मक रूप में वह शाश्वत, अविनाशी, शुद्ध और बुद्ध कहलाती है। संसार स्मृति के कारण है। स्मृति में अतीत होकर ही इस तथता या सत्य या चैतन्य को हम अनुभव कर सकते हैं। समुद्र से लहरों की तरह 'तथागत गर्भ' या चैतन्य में संसार उत्पन्न होता है। स्मृति का नाश होने से प्रशान्त समुद्र के समान तथता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसी को आगे चल कर बोधिचित् कहा गया है जो महामुख की जननी है। इस प्रकार यहाँ सत्य स्वयंसंवेद्य है। वह तथता (देटनेस) रूप वाला है अर्थात् वह जैसा है वैसा ही है। इस सत्य को प्राप्त करने के कारण बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं। द्वन्द्वों से अतीत हो जाने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है।

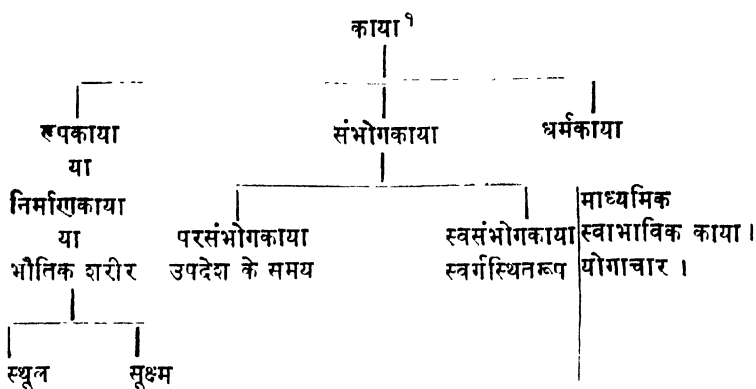
१ ज्ञानसिद्धि पृ० २८

२ महायान श्रद्धोत्पाद सूत्र-‘अवेकनिग आफ केथ’ शीर्षक से, चीनी भाषा से अंग्रेजी भाषा में, टी सुजुकी द्वारा अनुदित, शिकागो, १९०० ई०

करुणा—करुणा या उपाय को इस मत में राग माना गया है। यह राग सामान्य राग नहीं है। यह बोधि का ही एक रूप है। प्रदीप और आलोक के समान प्रज्ञा और उपाय की एकता है।^१ राग में प्रज्ञा क्रियात्मक रूप धारण करती है और साधक जगत् की सेवा की ओर आकर्षित होता है। बौद्ध तंत्रों में प्रज्ञा को स्त्री और उपाय को पुरुष माना गया है। देवियाँ, प्रज्ञास्वरूप हैं और देवता उपायस्वरूप हैं। दोनों की एक साथ उपासना ही ध्येय है। बौद्ध वामाचार भी इसी एकता को प्राप्त करने के लिए ही स्वीकृत हुआ है। ज्ञान को ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा, सहजबद्ध आदि कहा गया है जिससे योगी (पुरुष) रात-दिन संयुक्त रहता है। प्रज्ञा को योनि और उपाय को लिङ्ग भी कहा गया है।

काया सिद्धान्त—गुरु; प्रधान मतों में गुरु की काया के अनेक रूप माने जाते हैं। हीनयानी गौतम बुद्ध को एक वास्तविक मनुष्य मानते थे। सर्वस्तिवादी रूपकाया और धर्मकाया को मानते हैं जिनमें धर्मकाया गुणों का शरीर है। शून्यवादियों ने गुणों को शून्य घोषित किया, इसलिए बुद्ध की धर्मकाया अनिर्वचनीय तथता के रूप में मान्य हो गई। महायान मत में रूपकाया के भी स्थूल और सूक्ष्म दो भेद माने गए हैं। धर्मकाया के भी दो भेद हैं। प्रथम गुणों का शरीर है और दूसरा वास्तविक काया या तथता है। योगाचार वास्तविक काया या तथता को स्वाभाविक काया कहता है। बुद्ध का जन्म, संन्यास, बोधिप्राप्ति आदि तांत्रिकों के अनुसार केवल जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए हैं। वस्तुतः बुद्ध अशरीरी है किन्तु जगत् को वह शरीरी दिखाई पड़ते हैं। एक और संभोगकाया भी मानी गई है जिसके द्वारा भगवान् आन्तरिक उपदेश देते हैं।

१ प्रज्ञा रहितो उपायो बन्धः, उपाय रहिता प्रज्ञा बन्धः..... तादात्म्यं चानयोः सद्गुरुरूपवेशतः प्रदीपलोकयोरिव सहजसिद्धिमेवाधिगम्यते-
अद्भुतयवज्जसंग्रह



सांवृतिक सत्य

पारमार्थिक सत्य

तांत्रिकों ने रूप, संभोग और धर्म काया के अतिरिक्त एक सहज काया भी मानी है। इनको जाग्रत, स्वप्न आदि चार अवस्थाओं के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। क्योंकि तांत्रिक ज्ञान की कोटियों को व्यावहारिक दृष्टि से ही मानते हैं, अतः उपर्युक्त क्रम में विपर्यय भी माना गया है।^२

१ सहजकाया २ धर्मकाया ३ संभोगकाया ४ रूपकाया

इस क्रम में सहजकाया अन्तिम भी है और प्रथम भी है, इसलिए इसमें प्रज्ञा या स्त्री के साथ योग करते समय मस्तक में स्थित बिन्दु को रति क्रिया द्वारा द्रवित किया जाता है। यही बोधिचित् का द्रवित होकर वज्रमणि अर्थात् लिंग तक आगमन है और प्रज्ञा (योनि) तक गमन है। इससे बाह्य सृष्टि भी होती है और आन्तरिक शक्ति भी जाग्रत होती है। इसमें स्थलित बिन्दु को पुनः मस्तक तक पहुँचा दिया जाता है और योगी इस प्रकार सहज या संभोग साधना द्वारा शरीर स्थित शक्ति को ऊर्ध्व संचरित करता है और अन्तिम स्थिति सहजकाया को प्राप्त कर निर्वन्द्व भी हो जाता है। यही सहजानन्द है। प्रथम और अन्तिम एकता भी यहीं है।^३

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य-महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान-एन० दत्ता तथा सेकोद्देश्यटीका, नारोपा, गायक०, सीरीज, भूमिका भाग

२ सेकोद्देश्यटीका, भूमिका भाग

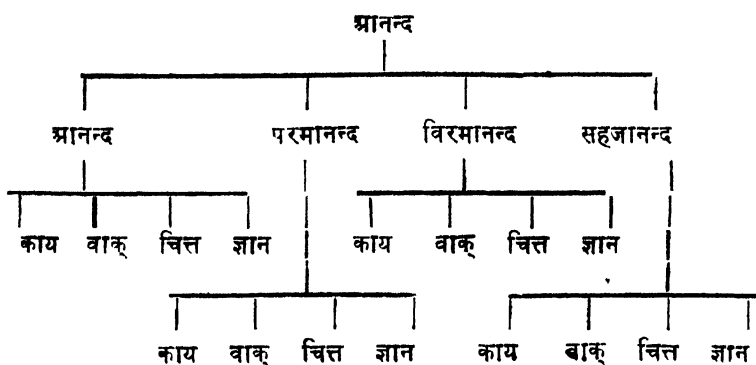
३ स एव सहजकायः शून्यताविमोक्षविशुद्ध ज्ञानवज्रः सर्वज्ञः प्रज्ञोपायात्मकः शुद्धयोग इति। स एव धर्मकायो...स एव...संभोगकायो...स एव निर्माणकायो—वही पृ० ६

वज्रयोग—इस योग से, दीक्षित हो जाने के पश्चात्, साधक का पुनर्जन्म होता है और वह वज्रवत् दृढ़ हो जाता है। साधना में प्रत्येक पदार्थ को साधक विशेष दृष्टि से देखता, सूँघता और स्पर्श करता है। प्रत्येक क्रिया से वह अद्वय अवस्था को प्राप्त करना सीखता है। प्रत्येक क्रिया को वह आन्तरिक सत्यो के प्रतीक के रूप में ग्रहण करता है। विशुद्ध योग, धर्मयोग, मंत्रयोग तथा संस्थानयोग इन चार सोपानों को योगी पार करता है। इनसे चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस साधना में वस्तुतः जगत् की क्रियाएँ और पदार्थ साधक की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो जाते हैं। इसलिये संभोग और बीभत्स साधना को भी इसमें सहायक माना गया है।

अभिसम्बोधि सिद्धान्त—इस शब्द का अर्थ है पूर्ण प्रकाश। इससे सृष्टि की व्याख्या की जा सकती है। जिस तरह शैव बीज या बिन्दु से सृष्टि का विकास समझते हैं वैसे ही बौद्ध तन्त्रों में बिन्दु की कल्पना की गई है। बिन्दुपात से जैसे जीव की सृष्टि होती है वैसे ही ज्ञान होने के पश्चात् चेतना उर्ध्व संचरण करती है और परमार्थ की ओर चलती है। अतः बिन्दु विकास व ह्रास दोनों का प्रारम्भिक स्थान है। हिन्दी के सन्त कवि भी नाद और बिन्दु की चर्चा करते हैं जो उनके गूढ़ सृष्टि-विज्ञान को इंगित करता है। इच्छाशक्ति द्वारा प्रथम प्रश्वास को वश में किया जाता है। पिंड पर पूर्ण रूप से विजय होने पर श्वास प्रश्वास रुक जाता है और योगी की शक्ति आत्म-केन्द्रित हो जाती है। यही योगी का पुनर्जन्म है। इसी को वज्रसत्त्व अवस्था कहते हैं। शैव साधक बिन्दु को ईश्वर मानकर उससे सृष्टि का विकास समझते हैं। बौद्ध भी बिन्दु में स्थित अव्यक्त शक्ति को 'अच्युत' या 'स्वाभाविक' कहते हैं। बिन्दु से शरीर तक के सृष्टि विकास को योगी ध्यान द्वारा देखता है। बिन्दु को शैवों की तरह ही संवित् भी कहा गया है। शैवों की तरह ही यहाँ श्वास को प्रकाश तथा प्रश्वास को विमर्श कहा गया है।^१

आनन्द—निर्माण काया में सोलह प्रकार के आनन्दों पर विजय प्राप्त की जाती है। ये आनन्द भौतिक भी हैं और पारमार्थिक भी हैं। दांतों में अभेद स्थापित करना ही साधना है। इस साधना में श्वास्त्र-प्रश्वास पर जैसे जैसे अनुशासन बढ़ता जाता है वैसे-वैसे भौतिक आनन्द कम क्षोभ उत्पन्न करते हैं और अन्त में सांसारिक और पारमार्थिक आनन्दों का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है।

शैव साधना में भी यही विधि स्वीकृति है। उपर्युक्त १६ प्रकार के आनन्दों, मुद्राओं और आनन्दक्षणों का विवरण इस प्रकार है—



उक्त आनन्दों का मुद्राओं और आनन्द क्षणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुद्रा का अर्थ स्त्री भी है और स्थिति भी। इसी प्रकार उपर्युक्त आनन्द रति-क्रियाजन्य आनन्द भी है और आध्यात्मिक अनुभवजन्य भी।

क्षण—विचित्र विपाक विलक्षण विमर्द्

आनन्द—आनन्द परमानन्द सहजानन्द विरमानन्द

मुद्रा—कर्ममुद्रा धर्ममुद्रा महामुद्रा समयमुद्रा

रतिक्रिया द्वारा ही इन मुद्रा और आनन्द के क्षणों को समझा जा सकता है। रतिक्रिया में अन्तिम क्षण विमर्द् या घर्षण है जिससे वीर्य-स्खलन होता है। इसी से विरमानन्द उत्पन्न होता है। एक क्षण के लिए जिस प्रकार इग अवस्था में मनुष्य भाव और अभाव से परे हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के साथ आध्यात्मिक अभ्यास को बढ़ाकर स्थायी निर्वृद्धता प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए प्रत्येक आनन्द को काय, वाक्, चित्त और ज्ञान इन चार भागों में बाँटा गया है।

युगनद्ध सिद्धान्त—प्रज्ञा और उपाय की एकता ही युगनद्ध अवस्था है। रति क्रिया में स्त्री-पुरुष की संघट्टता से इसे संकेतित किया जाता है। शैव इसे शक्ति शिव का सामरस्य कहते हैं। ज्ञान और क्रिया की एकता से ही यह अवस्था प्राप्त होती है। इसीलिए बौद्ध देवमंडल में आर्लिगनबद्ध देवी देवता दिखाए जाते हैं। तिब्बत में इसी को 'यबयुम' कहा गया है। वैष्णवों में लक्ष्मी

नारायण या राधाकृष्ण की युगल साधना का भी यही रहस्य है। भाव और अभाव दोनों की एकता में ही युगनद्धता प्राप्त होती है।^१ इसी को शून्यता कहा गया है। वही सहज प्रेमावस्था है।^२ इस सहज प्रेम के दर्शन ही हिन्दी के मध्य कालीन कवि अपने अपने ढंग से करते हैं।

महासुख या सामरस्य—चेतना में वस्तु शून्यता का ज्ञान होते ही देवता-कारास्फूर्ति उत्पन्न होने लगती है। इस स्फूर्ति से ही साधक को फल मिलता है। लौकिक सुख भोग में भी इस स्फूर्ति का अनुभव होता है। इसी स्फूर्ति को स्थायी बनाना साधक का काम है। स्थायी स्फूर्ति ही महासुख है। इसलिए लौकिक सुखों का दमन कर देने से महासुख नहीं उत्पन्न हो सकता।^३ लौकिक सुखों का दमन करके जो साधना की जाती है, वह कठिन है, असहज है जबकि तांत्रिक साधना सहज साधना है। पूर्णता की अनुभूति को ही समरसता कहा गया है। इसमें प्रज्ञा और क्रिया का अलग अलग बोध नहीं होता, इसलिए जीवन के चक्र में एक ही रस की अनुभूति प्राप्त करना समरसता है। इस अवस्था में मन की प्रवृत्ति या निवृत्ति नष्ट हो जाती है। सिद्ध कन्हपाद ने कहा है कि जल में लवणवत् जब मन शून्यता (स्त्री) में मग्न हो जाय तभी सामरस्य की प्राप्ति होती है। वैष्णव भक्त राधाकृष्ण या लक्ष्मी नारायण की इसी तात्विक एकता के गुण गाते हैं।

सहज सिद्धान्त—इन्द्रभूति और लक्ष्मीकरा देवी ने इसका विशेष प्रचार किया। सहज का अर्थ प्रज्ञाज्ञान है। सम्पूर्ण धर्मों का अकृत्रिम लक्षण ही सहज है। धर्म का अकृत्रिम लक्षण यह है कि वे निःस्वभाव, अर्थात् शून्य हैं। अतः भाव और अभाव से परे शुद्धबोधि का ज्ञान ही सहजज्ञान है। व्यावहारिक दृष्टि से सहज का अर्थ सरल है। भोगों की ओर मन का उन्मुख होना सहज है। अतः भोग द्वारा योग की प्राप्ति ही सहज मार्ग है। हठयोग और संन्यास मार्ग कठिन मार्ग हैं। तत्त्वज्ञान सहज गृहस्थ जीवन द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। हमारे सन्त कवि इसी अर्थ में सहजयानी हैं। कोरे क्रियावादी ज्ञानहीन क्रियाओं द्वारा सहजानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, इसीलिए सहजयानियों ने उनका खंडन किया है। तांत्रिका ने सहज सुख को अकृत्रिम, निःसंग आदि

१ युगनद्ध प्रकाश—अद्वयवत्ससंग्रह।

२ प्रेमचंचक—अद्वयवत्ससंग्रह।

३ महासुख प्रकाश—”

विशेषण दिए हैं। विश्व को अपनी चेतना में स्थित करके ही यह सहजावस्था प्राप्त होती है।^१

बीक्षा—वज्रयान सहजयान मतों की दीक्षा में शास्त्र की जगह गुरु का ही विशेष महत्व है। गुरु के “पोषधदान” के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। वैष्णव इसी को अनुग्रह या पुष्टि कहते हैं। तांत्रिक अभिषेक में रक्षा व मंडल का विधान किया जाता है। उसमें गुरु शिष्य के अंगों को पवित्र करता है। इन क्रियाओं में एक प्रकार का सम्मोहन दिखाई पड़ता है। गुह्याभिषेक में वामाचार स्वीकृत है। इसमें सभी को शामिल नहीं किया जाता। बिलास में रति युक्त साधक आन्तरिक शक्तियों को जाग्रत करते हैं। जिस प्रकार धनात्मक तथा ऋणात्मक शक्ति की एकता से महाशक्ति जाग्रत होती है उसी तरह पुरुष तत्व और स्त्री तत्व की एकता से ही शक्ति का जागरण सम्भव बताया गया है। तांत्रिकों की अश्लील शब्दावली का मर्म यही है।

षड्ग योग—तांत्रिक बौद्ध योग में प्रत्यहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि—ये छः प्रकार का योग स्वीकृत है। निरभ्र गगन में धारणा करना ही प्रत्यहार है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख व एकाग्रता का अभ्यास ध्यान द्वारा होता है। वितर्क का अर्थ है किसी आदर्श आभास का अवतरण। वस्तु विशेष को पूर्ण प्रकाश में देखना ही विचार है। उससे जन्य आनन्द का अनुभव ही सुख है। चित्त की प्रसन्न अवस्था का नाम ही प्रीति है। शून्यता पर ध्यान केन्द्रित करना एकाग्रता है। इस प्रकार तांत्रिक बौद्ध योग में मौलिकता दिखाई पड़ती है। पातंजल योग से यह आगे का विकास है।

इस योग के अनुसार छः महत्वपूर्ण नाड़ियों का सम्बन्ध ध्यानी बुद्धों और पंच भूतों से जोड़ा गया है।

- | | |
|------------------------------|----------------------|
| १ ललना (इड़ा, वामनाड़ी) | अमिताभ—जलतत्व |
| २ रसना (पिंगला, दक्षिणनाड़ी) | रत्नसंभव—अग्नि तत्व |
| ३ मलत्याग नाड़ी | वैरोचन—पृथ्वी तत्व |
| ४ मूत्र त्याग नाड़ी | अमोघसिद्धि—वायु तत्व |
| ५ अवधूती (सुपुम्ना) | अक्षोभ—शून्य तत्व |
| ६ वीर्य नाड़ी | वज्रसत्व |

ललना, रसना व अवधूती ये तीन नाड़ियां ही प्रधान है—

१	नाड़ी	ललना	अवधूती	रसना
२	नदी	गंगा	सरस्वती	यमुना
३	वायु	प्राण	ऐक्य	अपान
४	शब्द	स्वर	,,	व्यंजन
५	काल	रात्रि	,,	दिवस
६	ज्ञान	ग्राह्य	बोधिचित्	ग्राहक
७	तत्त्व	करुणा	बोधिचित्	उपाय
८	,,	वीर्य	,,	रज

इस प्रकार वायु, नाड़ी, स्वर, व्यंजन तथा तत्त्वों की एकता तथा परस्पर सम्बन्ध पर तांत्रिक योग बहुत बल देता है। रेचक, पूरक, कुम्भक आदि प्राणायामों से चन्द्र (ललना), सूर्य (रसना), नाड़ियों की शुद्धि के बाद इन्हें छोड़कर मध्यमार्ग (अवधूती) का अवलम्बन करने से प्राणयोग सिद्ध होता है। इस नाड़ीयोग में चार चक्रों को पार करना पड़ता है। नाभिस्थान में निर्माण चक्र है, हृदयस्थान में सम्भोग चक्र, कंठ में धर्म और शीश में उष्णीश चक्र है। इस प्रकार बौद्ध तन्त्र केवल चार चक्रों को ही मानते हैं। सेकोद्देश्य टीका में ललाट व उष्णीश में अलग अलग चक्र माने गये हैं। उष्णीश ही बिन्दुस्थान है। यही मध्य मार्ग द्वारा प्राण को चढ़ाकर रोका जाता है। इसी को धारणा कहते हैं। प्रत्याहार व प्राणायाम दोनों में ध्यान सम्मिलित है। ध्यान से ही धारणा प्राप्त होती है। 'जप' भी साथ-साथ चलता है, इसी को वज्र जप कहा जाता है। वज्र जप की अवस्था में प्राणवायु का ललना व रसना में संचरण निषिद्ध है। प्राणायाम धारणा का उपसाधन है। धारणा के बल से नाभि स्थल में ज्वलित 'चंडाली' (शक्ति-देवी या कुंडलिनी) को देखता हुआ योगी बार बार इस महामुद्रा का अनुस्मरण करता है। यही अनुस्मृत है। अर्थात् धारणा के अन्त में चंडाली की भावना की जाती है। इस अवस्था में ज्ञान की अग्नि से स्कन्ध, धातु आयतन आदि दग्ध हो जाते हैं। चंडाली की ज्ञान शिखा से ललाट में चन्द्र स्थान में स्थित बोधिचित् बिन्दु रूप में द्रवित होकर कंठ, हृदय, नाभि और गुह्यकमल अर्थात् लिंग तक आ जाता है। इसी बिन्दुपात की अनुभूति कराने के लिए मैथुनान्त में वीर्य-क्षरण का दृष्टान्त दिया गया है। स्पष्ट कहा गया है कि मैथुन जन्य आनन्द से यह योगजन्य

बिन्दुपात का आनन्द करोड़ों गुना अधिक होता है। जिस प्रकार तत्व ज्ञानी मेथुनरतहोकर वीर्य को इच्छानुसार रोक सकता है, उसी प्रकार प्राणयोग द्वारा बिन्दु को पुनः उष्णीश तक पहुँचकर योगी 'अक्षर' हो जाता है। योगज आनन्द ही सहजानन्द कहलाता है क्योंकि इन्द्रियो का आनन्द तो इसी का एक रूप मात्र है।^१

शून्यता का नाम ही समाधि है। ग्राह्य-ग्राहकभाव रहित चित की अवस्था ही शून्यता है।^२ इस साधना में प्रत्याहार आदि से नादानुसंधान द्वारा प्राण को मध्यमार्ग में प्रवाहित कर उष्णीश में बोधचित् बिन्दु को निरुद्ध कर अक्षर क्षण की साधना की जाती है।

हिन्दू तन्त्रों में कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में स्थित मानी गई है किन्तु यहाँ शक्ति नाभि में स्थित मानी गई है। प्राणायाम द्वारा यही से यह शक्ति दंड रूप में ऊपर उठती है। मध्यनाड़ी में होकर यह शक्ति चक्रों को पार करती हुई मृदु ललित गति से उष्णीश तक पहुँचती है।

खसमावस्था—उष्णीश को भेद कर 'खेचरत्व' प्राप्त होता है अर्थात् चेतना गगनवत् निर्मल हो जाती है और द्वन्द्व मिट जाते हैं। बादलों के समान कलमष नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में जगत स्वप्नवत् प्रतीत होता है और स्वर्गादि लोक स्पष्ट दीखते हैं। संकल्प मात्र से सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न होती है, महासुख प्राप्त होता है। इसी ज्ञान को 'ताथागत' ज्ञान कहा गया है। कम्पनरहित होने से यही ज्ञान 'अक्षोम्य', सात्विक ज्ञान होने से 'रत्नसम्भव' असंख्यगुण संयोगी होने से 'अमिताम' तथा बन्धन रहित होने से यह ज्ञान 'अभोधसिद्धि' कहलाता है। इसी तरह सर्वश्रेष्ठस्थ होने से 'लोचना' व्यापक होने से 'मामकी', सर्वतारणदक्ष होने से 'तारा', तथा सभी सृष्टि का कारण होने से यह ज्ञान षड्भुज कहलाता है।^३ इस अवस्था में न उच्छेदवाद है, और न शाश्वतवाद है। यह ज्ञान आदि, मध्य व अन्त से वर्जित सर्वातीत ज्ञान है।

सर्वद्वन्द्वों से अतीत होकर^४ चेतना की वास्तविक स्थिति को ही कबीर

१ विस्तार के लिए दृष्टव्य-सेकोद्देश्य टीका पृ० ४२

२ वही पृ० ४५

३ ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति

४ असम असम शान्तमादिम ध्यास्तवर्जितम्—अद्वयवज्र

दाह आदि भी खसमावस्था मानते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए चक्र, मुद्रा, आनन्द, देवी देवता, क्षण, सिद्धान्त, काया, सत्य, काल, वर्ण, भूत, गुण आदि को परस्पर सम्बन्धित करना पड़ता है और उनका वास्तविक स्वरूप समझना पड़ता है। इनका अन्तिम निश्चित विवरण इस प्रकार है।^१

चक्र	नाभिचक्र	हृदय चक्र	कंठ चक्र	उष्णीश चक्र
देवी	लोचना	मामकी	पांडा	तारा
गुण	कण्ठा	मैत्री	मुद्रिता	उपेक्षा
भूत	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु
वर्ण	इ	वम्	म	य
मुद्रा	कर्म	धर्म	महा	समय
काया	निर्माण	धर्म	सम्भोग	सहज
क्षण	विचित्र	विपाक	विमर्द	विलक्षण
अंग	सेवा	उपसेवा	साधना	महासाधना
सत्य	दुःख	दुःख का कारण	दुःख का विनाश	दुःख नाश का उपाय
आनन्द	आनन्द	परमानन्द	विरमानन्द	सहजानन्द
निकाय	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	संवित्वाद	महासाधिक
प्रहर	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वज्रयान, सहजयान, तथा कालचक्रयान में सभी बौद्ध सम्प्रदायों व सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कालचक्रयान का प्रतिनिधि ग्रन्थ नारोपा का सेकोद्देश्य टीका ग्रन्थ है।

आदि बुद्ध का सिद्धान्त तथा देव-मंडल—सर्वातीत सत्ता को वज्रयान आदि बुद्ध नाम देता है। इससे पंचध्यानी बुद्धों की अभिव्यक्ति होती है। इस आदि बुद्ध को नारोपा का कालचक्रयान 'काल' कहता है। इसे चक्र भी कहा गया है। और यह कालचक्र भी कहलाता है। पंचध्यानी बुद्धों के मानवीय रूप 'बोधि सत्व' कहलाते हैं। हिन्दू तंत्रों के अनुसार ही प्रत्येक ध्यानी बुद्ध की अलग अलग शक्तियाँ दिशाएँ, वर्ण, कुल, वाहन, मुद्राएँ, तथा बीज मंत्र आदि हैं। इन ध्यानी बुद्धों का ध्यान साधक शक्ति-संयुक्त रूप में ही

करते हैं। हिन्दुओं के पंचरक्षामंडल देवताओं की तरह बौद्धपंचरक्षा मंडल भी मिलता है। इसमें महासहस्र प्रमदिनी, महामायूरी, महासितवती आदि देवियाँ भी हैं। इनके अतिरिक्त गणपति, वज्रहुंकार, भूत, डामर, सरस्वती, अपराजिता, तारा, तारा, चीनमस्ता आदि की उपासना प्रचलित है।

ध्यानी बुद्ध वैरोचन का सम्बन्ध रूपस्कन्ध, केन्द्र दिशा, श्वेत वरण, तारा शक्ति, समन्त भद्र बोधि सत्व, मोह कुल, सर्प वाहन, धर्म चक्रमुद्रा, 'अ' बीज, आकाश, शब्द, वायु महाभूत आदि से माना गया है। इसी तरह अक्षोभ ध्यानी बुद्ध का सम्बन्ध विज्ञान स्कन्ध, पूर्व दिशा, नील वर्ण, लोचना शक्ति, वज्रपाणि बोधिसत्व, द्वेष कुल, गज वाहन, भूस्पर्श मुद्रा, हं बीज, आदि से जोड़ा गया है। इसी तरह अन्य तीन ध्यानी बुद्धों की अलग अलग शक्तियाँ वेष, वाहन, मुद्रा और बीजमंत्र हैं। तात्पर्य यह है कि देवताओं, शक्तियों आदि के नामों के अन्तर को छोड़कर शैव, शाक्त, वैष्णव और तांत्रिक बौद्धमत की देव उपासना में कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

इस बौद्ध देवमंडल का विकास सातवीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक हुआ है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों के साथ इसका अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। तांत्रिक बौद्ध मत में देवता को भी चित्त स्थिति विशेष ही माना गया है।^१

इन देवताओं और देवियों का ध्यान मंत्रमंडल, देवता के रूप, वेष अस्त्र शस्त्र आदि के ध्यान द्वारा किया जाता है। यह तांत्रिक प्रवृत्ति आर्यों की परवर्ती उपनिषदों और परवर्ती वैष्णव मत में भी पूर्णतया सुरक्षित है। इसमें प्रत्येक सम्प्रदाय का अलग अलग देवता है जैसे विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान, महादेव आदि, अलग अलग मंत्र और उपासनाएँ हैं। इन देवताओं की वैष्णव मत में भी शक्ति सहित ही उपासना की जाती है। इस प्रकार वैष्णव, शैव और तांत्रिक बौद्ध देव उपासना के नीचे एक ही सिद्धान्त काम करता हुआ दिखाई देता है और यह निश्चित रूप से तांत्रिक सिद्धान्त है जिसमें मंत्र, मंडल आदि के द्वारा देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है।

कथन-पद्धति — तंत्र मार्ग रहस्य मार्ग है। रहस्यतत्त्व को प्रतीकों द्वारा ही व्यंजित किया जा सकता है क्योंकि सत्य भाव व अभाव से परे हैं अतः भाषा

द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं है ।^१ भाषा या तो भावात्मक हो सकती है या अभावात्मक । इसीलिए तंत्र प्रतीकों का उपयोग करते हैं । ‘शुक्र’ को ‘वैरोचन,’ ‘मंत्र’ को ‘वज्रोदक,’ योनि को ‘पद्म,’ लिंग को ‘वज्र’ आदि प्रतीकों द्वारा वर्णित किया जाता है ।

साधक सामान्य जनों द्वारा गुह्य साधना को दुरुपयोग से बचाने के लिए ‘संध्या भाषा’ का प्रयोग करते थे । गुह्यमंडलियों में इस प्रकार की कथन-पद्धति प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है । एक उदाहरण लीजिए—

सप्तमस्य द्वितीयस्थमष्टमस्य चतुर्थकम् ।

प्रथमस्य चतुर्थेन, भूषितं तत् सविन्दुकम् ॥

अर्थात् सप्तम् वर्ग (अन्तस्थ) का द्वितीय वर्ण है ‘र’ । अष्टम का चतुर्थ वर्ण है ‘ह’ (ऊष्म), प्रथम का चतुर्थ वर्ण है (स्वर) ‘ई’ । बिन्दु का अर्थ है ‘म’ अतः सरस्वती का बीज मंत्र हुआ “ह्री” ।^२

सिद्ध योग-प्रक्रिया को इसी संध्या भाषा में कहते थे । भासुकपाद ने ‘प्राणवायु’ को चुहिया कहा है । इसी को मारने से ‘ज्ञान’ की रक्षा होती है । कन्दुपाद ने लिखा है कि मैंने सास को मार डाला है, माता को मार कर मैं कपाली होगया हूँ । यहाँ सास प्राण वायु है, माता माया है । अन्यत्र कहा है कि सास के सो जाने पर बधू जाग्रत होती है । सास प्राणवायु है और बधू अवधूतिका है ।^३

लामावाद में अविद्या को ‘अंधी ऊँटिनी’ कहा गया है । चेतनरहित इच्छा को ‘योनि’ (सैक्स), पाप को कालाघोंघा, पुण्य को श्वेत घोंघा, विज्ञान को ‘बन्दर’, नाम रूप को ‘नाड़ी देखते हुए वैद्य’, षडायतन को ‘मुख्यावरण’, स्पर्श को ‘चुम्बन’, वेदना को ‘वाण’, तृष्णा को सुरा, उपादान को ‘फलों का संग्रह’, भाव को ‘विवाहित स्त्री’, तथा जाति को ‘शिशुसहित स्त्री’ कहा गया है । जरामरण को ‘शव’ कहा गया है ।^४ श्री वैंडेल का मत है कि धर्म के

१ स्वभावाद् देवताकायं तस्माद् वक्तुं न शक्यते-ज्ञानसिद्धि-इन्द्रभूति

२ साधनमाला-भूमिका भाग

३ एन इन्द्रोडकज्ञान दू तांत्रिक बुद्धिस्म

४ लामाइस्म-वैंडेल, केंम्ब्रिज द्वितीय संस्करण, १९३४ पृ० ११७ तथा सैक्रिड सिम्बल्स तथा जाडू शोर्वक, अध्याय

लिए प्रतीकवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि इस्लाम में चित्र व मूर्ति के बिना भी कार्य चल जाता है अतः प्रतीक कल्पना के पीछे धार्मिकों की कलाप्रियता है। जो भी हो, यह मानना पड़ता है कि इस बौद्ध प्रतीक-प्रियता ने न केवल रहस्यवादी सिद्ध सन्त साहित्य को जन्म दिया है अपितु स्थापत्य व मूर्तिनिर्माण कला को भी प्रभावित किया है।

तिब्बती मत के कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं^१ —

प्रतीकात्मक शब्द	अर्थ
कमल	पवित्रता
रत्न	मंत्र, बुद्ध, धर्म
स्वस्तिक	त्रगत प्रवाह
श्वेतहाथी	सार्वभौमिक शक्ति
अश्व	सूर्य रथ का अश्व
हाथी की सूँड	वैभवपूर्ण जीवन व सुरक्षा
तलवार	विजय
दर्पण	मंगल
गजमुक्ता	,,
दधि	,,
दूर्वा	,,
बिल्वदल	,,
शंख	,,
गरुड	ब्रह्मांड
संख्याएँ = ३	काम, रूप, अरूप
४	ममुद्र
५	स्कन्ध
७	सप्तर्षि
८	सर्प
९	कुबेर के कोष
१०	दिशा

वज्रयान-सहजयान का महत्व—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध

तंत्रमार्ग अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है । मनुष्य के मन में अनन्त शक्तियों विद्यमान हैं; मन व प्राणवायु के शासन में सब कुछ प्राप्त हो सकता है, तन्त्रों का यही संदेश है ।

इसके अतिरिक्त बौद्धतंत्र भोग व योग की एकमात्र शिक्षा देते हैं । शैव—शाक्तों में भी यही क्रम है । देवताओं की भक्ति व पूजा भी तंत्रों में ही विकसित हुई है, यह भी इस अध्ययन से स्पष्ट है । परन्तु तंत्रों में सम्भोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की पद्धति विचित्र है । बाह्य नैतिकता की चिन्ता न करके साहसी भिड़ों ने उसका अभ्यास किया था । भोग को उपाय के रूप में स्वीकार कर बौद्ध तन्त्रों ने यद्यपि बौद्ध धर्म के पतन के लिए मार्ग खोल दिया था परन्तु सहजजीवन को भी तान्त्रिकों ने ही पुनःप्रतिष्ठित किया । संन्यासियों के विरुद्ध इन रागमार्गियों ने 'राग' को ही मुक्ति का साधन घोषित किया । और प्रत्येक व्यक्ति का, अधिकारी भेद के अनुसार, उसकी रुचि और इच्छा को देखकर, देवता या देवी के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ दिया । देवता या देवी के साथ तादात्म्य और एकता स्थापित करना ही समाज का मुख्य धर्म हो गया जिसमें सामान्य लोग पत्र, पुष्प, भोजन, वस्त्र, धन आदि द्वारा देवता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे, ध्यान या जप करते थे । वे मन्दिरों में जाकर देवताओं की प्रार्थनाएँ करते थे और देवता की शरण में अपने मुखों और दुःखों का निवेदन करते थे । यही प्रवृत्ति हिन्दू धर्म में भी मुख्य होती गई और ईश्वर को मानवीय भावनाओं का विषय बनाया गया तथा साथ ही गुह्य ममाजों के रूप में तांत्रिक रति-क्रिया मांस मदिरादि के द्वारा गुह्य योग का भी अभ्यास करते रहे । सर्व साधारण के लिए वर्ग, वर्ण, जाति आदि बाहरी बातों पर ध्यान न देकर बौद्ध तंत्रों ने सरलतम साधना का प्रचार किया और सामान्य गृहस्थ जीवन को अत्यधिक गौरव दिया । यह स्मरणीय है कि गुह्य योग का अधिकार केवल चुने हुए लोगों को ही दिया जाता था, सामान्य जनता के लिए तांत्रिकों ने उपासनापरक धर्म पर ही विशेष बल दिया है जिसमें मनुष्य के राग और भाव के उपयोग पर विशेष बल दिया गया है । मन किस प्रकार स्थिर हो, इसके लिए मन को आकर्षक लगने वाली वस्तुओं को ही उपाय के रूप में तांत्रिकों ने स्वीकार किया । जिससे बन्धन है उसी से मुक्ति होनी चाहिए क्योंकि विष से विष का नाश होता है, यह उनका तर्क है । मेल से ही मेल छूटता है, जो लोहा समुद्र में डूब जाता है, उसी से नाव बना कर पार हो जाते हैं, अतः ज्ञान द्वारा भोग मुक्तिदाता है, यह तन्त्रों का

विश्वास है। तन्त्र कहते हैं कि क्रिया या वस्तु अपने में न हानिकारक है और न गुणकारक। उसका वैज्ञानिक प्रयोग ही गुणकारक होता है और गलत प्रयोग नाशक होता है। आंवला खट्टा है परन्तु दूध में मिला देने पर मीठा हो जाता है। रूप व द्रव्यों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अतः वे न नाशकर हैं न लाभकर। हमारा कल्याण उनके विशिष्ट प्रयोग पर निर्भर है। अतः वासना मनुष्य को ऊपर भी उठा सकती है, यदि प्रज्ञा और उपाय से वह संयुक्त हो जाय। पारमार्थिक दृष्टिकोण में रूप, द्रव्य, वामनादि सब मिथ्या है, परन्तु जैसे सर्प-दंशन जादूगर की मिथ्या-क्रिया द्वारा ठीक हो जाता है वैसे ही क्रिया मिथ्या होने पर भी मुक्तिदायिनी हो सकती है। जगत् को शून्य समझ कर उसे मानसिक विकास में सहायक बनाया जा सकता है। उसे वास्तविक मानकर हम उसी में उलझे रहते हैं। शैव, शाक्त, बौद्ध-तंत्रों के इस रागमार्ग का तथा कुण्डलिनी योग का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

तांत्रिक-बौद्ध मत का रूपान्तरण—आठवीं शताब्दी से लेकर बंगाल पर मुसलमानी आक्रमण के पूर्व तक तांत्रिक बौद्धमत का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया। तुलनात्मक दृष्टि से बंगाल बिहार प्रान्त में इस मत के अधिक प्रबल केन्द्र थे जहाँ से वे सारे भारतीय मानस को प्रभावित करते थे।

यद्यपि फाहियान के यात्रा-विवरण में नालन्दा विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु वसुबन्धु नालन्दा में अध्यापक था। वसुबन्धु का समय श्री कर्न के अनुसार पाँचवीं शताब्दी है,^१ इसका तात्पर्य यह है कि नालन्दा का फाहियान में भले ही उल्लेख न मिलता हो परन्तु नालन्दा विश्व-विद्यालय का निर्माण गुप्त सम्राटों के समय हो चुका था। दक्षिण के धान्यकूट के पश्चात् नालन्दा तांत्रिक बौद्धमत के आचार्यों का केन्द्र रहा है। शांतिदेव (७ वीं शताब्दी), तथा 'सरहपाद (७ वीं शताब्दी), नालन्दा में आचार्य पद पर रहे थे। बंगाल के पालवंश के राजा धर्मपाल प्रथम ने विक्रमशील विश्वविद्यालय की स्थापना की। महिपाल प्रथम तथा न्यायपाल (दशमी शताब्दी के अन्तिम भाग से ११ वीं शताब्दी के मध्य भाग तक) के समय में तांत्रिक बौद्धमत अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था (दीपंकर विक्रमशील वि० वि० का प्रधानाचार्य) अद्वयवज्र, तथा नारोपा जैसे प्रसिद्ध आचार्य इसी युग में हुए। सहजयान व कालचक्रयान की गम्भीर

विचारधारा तथा तांत्रिक बौद्ध देवमण्डल का विकास अपने चरम शिखर पर इस युग में पहुँचा। नालन्दा, विक्रमशील तथा ओदन्तपुरी तंत्र-साधना के प्रकाश स्तम्भ थे।

ज्ञानचर्चा के अनुसार सप्तमी शताब्दी में बंगाल में १० सहस्र संघाराम थे। श्री हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार १० लाख बौद्ध परिवार बंगाल में रहते थे। १२ वीं शताब्दी तक ब्राह्मण व जैन प्रभाव बंगाल में बहुत कम था, बौद्ध प्रभाव बहुत अधिक था। बौद्ध संघ दृढ़ व शक्तिशाली थे। बौद्ध पुरोहित धारणी रचते, बोधिसत्त्वों की पूजा करने और मृत्यु व विवाहादि में कृत्य कराते थे। प्रत्येक कृत्य मन्त्र से सम्पन्न होता था। १२ वीं शताब्दी में बलालमेन ने जन-गणना कराई थी, इसमें केवल ८०० परिवार ब्राह्मणों के मिले थे। इस प्रकार मुसलमानों के आने के पूर्व पूर्वी भारत में बौद्ध प्रभाव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। बंगाल की तीन-चौथाई आबादी बौद्ध हो चुकी थी, बौद्धों ने तांत्रिक बौद्ध मत को इतने सरल रूप में प्रस्तुत किया था कि बिना ज्ञान के ही धारणी मन्त्रों के जाप से, अथवा बोधिसत्त्वों की पूजा व ध्यान से सब कुछ प्राप्त हो सकता था। धनी वर्ग के लिए बौद्ध पुरोहित धन लेकर मंत्र जपते थे और फल धनदाता को होता था। सारा समाज अत्यधिक सरल धर्म और आचारों के द्वारा इस जीवन में भुक्ति और मृत्यु के बाद मुक्ति की प्राप्ति सम्भव समझता था किन्तु इस युग में तांत्रिक बौद्धमत क्रिया प्रधान (संक्रामैटल) होता गया। शिक्षित बौद्ध वर्ग इन क्रियाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के लिए नालन्दा, विक्रमशील व ओदन्तपुरी में जाते थे परन्तु सामान्य जनता मंत्र जप, देवमूर्ति पूजा, गुह्येवा, ध्यान तथा धार्मिक कृत्यों तक ही सीमित थी। गुह्य साधकों में वामाचार का प्रचार था। स्वयं विश्वविद्यालयों में भी वामाचार प्रधान बौद्ध साधना का अभ्यास बढ़ रहा था। नाना देवताओं और देवियों का आविष्कार और अनेकानेक रहस्यमय अनुभवों व उपलब्धियों का विस्तार इन विश्वविद्यालयों द्वारा हुआ है। संघों में भिक्षु अविवाहित रहते थे परन्तु वज्रयान के प्रभाव स्वरूप संघ के बाहर के साधक विवाह करते थे, किन्तु वे उसे विवाह नहीं कहते थे, 'शक्ति ले रहा हूँ' विवाह में स्त्री के लिए ये शब्द कहे जाते थे।^१

१ साइर्न बुद्धिजम एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा-एन० एन० बसु, कलकत्ता १९११

कालचक्रयान द्वारा इस युग में योग, भक्ति और क्रिया के अतिरिक्त भूत, प्रेत, राक्षस आदि पूजा को भी अधिक बल मिला। भयंकर देवों की उपासना भयंकर कृत्यों द्वारा होने लगी। १३ वीं शताब्दी में 'जगत्तला' नामक बौद्ध बिहार में कालचक्रयान के आचार्य बहुत प्रसिद्ध थे।^१

शैवों व बौद्धों से प्रभावित नाथपंथ का भी दसवीं शताब्दी के आसपास विशेष प्रचार हुआ। मल्लंदरनाथ नैपाल में अवलोकितेश्वर के गमान पूजित हैं परन्तु नाथपंथ वज्रयानी सम्भोग-साधना के विरुद्ध शुद्धहठयोगी थे, अतः बौद्ध लोग नाथों को अपने सम्प्रदाय से पृथक् मानते थे।

इस प्रकार बंगाल में बारहवीं शताब्दी में धार्मिक दृष्टि में यह परिस्थिति थी—

१ ब्राह्मणधर्म—८०० परिवार (लगभग)

२ महायानधर्म—उच्चस्तर के भिक्षुओं में प्रचलित।

३ वज्रयान—मध्य वर्ग का धर्म तथा विवाहित बौद्धों का धर्म।

४ नाथ मत—नाथपंथी जनता तथा बौद्ध जनता।

५ सहजियामत—निम्नवर्ग द्वारा स्वीकृत धर्म।

६ कालचक्रयान—निम्नतम वर्ग में प्रचलित।

बंगाल में जब धर्मों की यह स्थिति थी तभी मुसलमानों का आक्रमण हुआ। ये भारतीयों को हिन्दू या ब्राह्मण कहते थे अतः ब्राह्मणों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्धों का अस्तित्व प्रमाणित किया। फलतः संघ छिन्नभिन्न हो जाने पर या तो बौद्ध लोग मुसलमान होगये अथवा निम्न हिन्दू जाति में मिल गए, परन्तु इनके विचार व आचारों में बौद्ध प्रभाव सर्वदा बना रहा। नाथपंथियों की भी यही दशा हुई। चूँकि मुसलमानों के पूर्व बौद्ध अपने को स्वतन्त्र धर्म या जाति के रूप में मानते थे, अतः मुसलमानमत या निम्न हिन्दूजातियों को स्वीकार कर लेने पर भी इन्होंने अपने को कबीर की ही तरह 'न हिन्दू न मुसलमान' कहा। नाथ भी अपने को अलग मानते रहे। चूँकि बौद्ध परम्परा द्वारा इन्हें योग व रहस्य साधनाएँ प्राप्त हुई थीं तथा आचारवाद, ब्राह्मण पीरोहित्य तथा वर्ण व्यवस्था आदि का यह खण्डन करते चले आ रहे थे, अतः ये सब प्रवृत्तियाँ यवन-आक्रमण के पश्चात् भारतीय निम्न जातियों के सन्तों व

१ माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा-एन० एम० वसु, कलकत्ता १९११

नाथपन्थियों में आज तक मिलती है। यद्यपि इन सन्तों पर हिन्दू पातंजल योग, शैव योग तथा वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है। परन्तु बौद्ध प्रवृत्तियाँ उनमें बिल्कुल स्पष्ट हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म का इस देश में सहसा ही निष्कासन हो गया, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि बौद्धमत, तांत्रिक बौद्धमत, नाथमत, सन्तमत तथा वैष्णव मतों का रूप धारण करके भारतीय समाज में मिल गया है।

बंगाल में कैवर्त, योगी, धर्मधारिया योगी, धर्मदेवता के उपासक, कर, अनाचरणीय कहलाने वाली जातियाँ, सुनार, बढई, चित्रकार, वैश्य, कायरथ आदि जातियाँ प्रथम बौद्ध थीं। नेपाल के वैश्य, सुनार, बढई, चित्रकार आदि विवाहित बौद्धों की सन्तानें हैं। यवनों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण व बौद्ध दो ही जातिवर्ग थे परन्तु यवनों के बाद बौद्धों को भी ब्राह्मणों द्वारा निमित्त वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ा। अतः बहुत सी जातियों ने ब्राह्मणों के 'वर्गसंकर' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया, और वे अपने मूल उद्गम को भूल गईं।^१

नेपाल में सारे धर्म दो भागों में बँट जाते हैं—प्रथम, बौद्ध गुरु पूजक है और द्वितीय, ब्राह्मण देवता पूजक। किन्तु नेपाल से कहीं अधिक मिश्रण मैदानी भागों में हुआ। अतः यवनों के आक्रमण के पश्चात् की शताब्दियों में हिन्दू धर्म में गुरुवाद व देवतावाद घुलमिल गया। सन्तों में यह गुरुवाद स्पष्ट दिखाई पड़ता है क्योंकि उन पर बौद्धप्रभाव सबसे अधिक है। वैष्णवों में भी गुरुवाद कम नहीं है। यह स्पष्ट तांत्रिक प्रभाव है। वेदवादी ब्राह्मणवर्ग तांत्रिक परम्परा से प्रभावित नहीं हुआ परन्तु चैतन्यमत के गोस्वामी और भक्तों को श्री हरप्रसाद शास्त्री 'गुरुवादी' मानते हैं।^२

महाराष्ट्र का 'विठोबा देवता' तथा पुरी के जगन्नाथ पर बौद्ध प्रभाव सभी मानते हैं।^३ इसी तरह धर्म सम्प्रदाय, सहज या वैष्णव मत, नाथमत, तथा बंगाल के सराकी तांतिम लोग बौद्धों से प्रभावित हैं। 'सराकी' स्पष्टतः श्रावक का अपभ्रंश है।

११ वीं शताब्दी में बौद्धमार्ग प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्ग दो भागों में

१ मोडर्न बुद्धिज्य एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा - भूमिका भाग

२ वही

३ वही

विभाजित हो गया था। प्रवृत्तिमार्ग में सहजिया साधना प्रचलित थी। अतः यवनों के शासनकाल में भी सहजिया सम्प्रदाय प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थों को प्रभावित करता रहा। वैष्णव धर्म के रूप में यह अब तक जीवित है।

निवृत्तिमार्गीय साहित्य में रमाईपंडित ने 'शून्यपुराण' लिखा। धर्म-सम्प्रदाय के प्रवर्तक रमाई थे। शून्यपुराण में महायानमत स्वीकृत है। 'शून्य' को एक निराकार ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। यह धर्म-सम्प्रदाय आगे चलकर सन्तमत में अन्तर्भुक्त हो गया। निगुण भक्ति के विकास में शून्यपुराण एक महत्वपूर्ण शृंखला है।^१

यवन आक्रमण के पश्चात् बौद्धों ने दक्षिणी भारत में विजयनगर, कलिंग कोंकण आदि स्थानों में अपने केन्द्र स्थापित किए। उड़ीसा में आज भी बौद्धमत जीवित है। उड़ीसा में १९ वीं शताब्दी में प्रचलित 'महिमाधर्म' भी बौद्ध मत का ही एक ही रूप है। इसे 'सद्धर्म' भी कहते हैं। इसने न केवल उड़ीया-वैष्णव मत को प्रभावित किया है बल्कि सन्त सम्प्रदाय को भी प्रभावित किया है। मध्य देश के वैष्णव धर्म व सन्तमत की पृष्ठभूमि में बौद्धमत का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। तांत्रिक बौद्धमत से प्रभावित बंगाली वैष्णवों ने बल्लभ, हरिदास, हितहरिवंश आदि की विचारधारा व साधना-पद्धति को दूर तक प्रभावित किया।

१ नोडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा—(भूमिका भाग-
हरप्रसाद शास्त्री) नगेन्द्रनाथ बसु

पांचरात्र तांत्रिक मत

तांत्रिक दर्शन एवं साधना के इतिहास में पांचरात्र मत का स्थान महत्वपूर्ण है इस मत की २१० से भी अधिक संहिताएँ प्राप्त होती हैं । इन संहिताओं का समय अनिश्चित है किन्तु श्रेडर के अनुसार पौष्कर, सात्वत, जयारूय, वाराह, ब्रह्म, पारमेश्वर, सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेन्द्र, काण्व, पद्म ईश्वर तथा अहिर्बुध्न्य संहिताएँ आठवीं शताब्दी के पूर्व तक अवश्य निर्मित हो गई थी ।^१ अन्य संहिताएँ आठवीं शताब्दी के बाद भी लिखी जाती रहीं । नारद पांचरात्र की भी इन्हीं परवर्ती संहिताओं में गणना होनी चाहिए ।

अहिर्बुध्न्य संहिता का निर्माण काश्मीर में हुआ था । इससे यह भी पता चलता है कि पांचरात्र आगम के साथ शैवों का घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

इस मत का सम्बन्ध पुरुषसूक्त (ऋग्वेद) तथा शतपथ ब्राह्मण में वर्णित नारायण पांचरात्र नामक यज्ञ से जोड़ा जाता है ।^२ शतपथ में पांचरात्र शब्द

१ इन्ट्रोडक्शन टू द पांचरात्र एंड द अहिर्बुध्न्य संहिता—एफ० ओ० श्रेडर
आइयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६ ।

२ शतपथ—१३—६—१

यज्ञ विशेष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व में श्वेत दीप की कथा है जहाँ नारद को भक्ति का उपदेश नारायण से मिला। संभवतः श्वेत दीप से उत्तरीय पर्वत प्रदेश संकेतित है, क्योंकि पांचरात्र आगमों का निर्माण सर्व प्रथम उत्तरी भारत में ही हुआ है।^१ निश्चित रूप से पांचरात्र तंत्रों का निर्माण भूल महाभारत के बाद हुआ है। पांचरात्र तंत्रों में जिस आचार का वर्णन मिलता है वह वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत में भी नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के दीर्घ निर्माणकाल (४०० ई० पू० से ४०० ई० पश्चात् तक) के समानान्तर पांचरात्र संहिताओं की रचना होती रही है।

पांचरात्र मत अवैदिक तत्वों से युक्त है। इसीलिए इसकी स्मृतियों में निन्दा की गई है।^२ सात्वत शब्द का अर्थ ही निम्न जाति है।^३ व्यवसाय की दृष्टि से सात्वत लोग मूर्ति पर चढ़ी हुई भेंट, दीक्षा व दान पर निर्भर रहते थे। वे वैदिक यज्ञ नहीं करते थे। डा० एस० एन० दास गुप्त का अनुमान है कि वादरायण ने इसीलिए पांचरात्रों का खंडन किया है।^४

यामुनाचार्य ने “आगम प्रामाण्य” में कापालिक, कालामुख और पाशुपत मतों को अवैदिक तथा पांचरात्र मत को वैदिक सिद्ध किया है। उनके अनुसार यह मत उन भक्तों के लिए है जो वैदिक यज्ञों के भगड़ों से दूर रहना चाहते थे।^५ किन्तु यामुनाचार्य के इस प्रयत्न से ही स्पष्ट है कि यह मत अवैदिक था। डा० दास गुप्त के अनुसार पांचरात्र पूजा-पद्धति भी अवैदिक है। यह पद्धति छठवीं शताब्दी में ही प्रचलित होगई थी किन्तु इसका उन्होंने प्रमाण नहीं दिया है फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में यह मत अच्छी स्थिति में था जैसा कि बेसनगर के स्तम्भ से प्रमाणित होता है।

पुराणों में पांचरात्र मत के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं किन्तु कहीं कहीं उनकी निन्दा भी की गई है। कूर्मपुराण में कापालिक, गारुड, शाक्त, भगवत्,

१ श्रेडर, पृ० १६

२ ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसफी—डा० एस० एन० दास गुप्ता, जिल्द ३, पृ० १५, कैम्ब्रिज, १९४०

३ वही

४ वही

५ वही पृ० १७

पांचरात्र तथा पाशुपत मत की निन्दा की गई है।^१ स्कन्द पुराण में भी पांचरात्र मत में दीक्षित द्विज को गर्हित कहा गया है।^२ किन्तु इसके विपरीत श्रीमद्भागवत, महाभारत, विष्णुपुराण, नारदोप, पद्म, वाराह आदिपुराणों में इसे सात्त्विकपुराणमत कहा गया है।^३

पांचरात्र शब्द का अर्थ तत्त्व, मुक्तिप्रद, भक्तिप्रद, योगिक तथा वैशेषिक—यह पाँच प्रकार का ज्ञान है। रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है। तत्त्व का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति है। मुक्ति खंड में आवागमन से मुक्ति का वर्णन है। भक्ति और योग उपायों के रूप में स्वीकृत है। वैशेषिक में इन्द्रियों के विषयों का वर्णन है। नारद पांचरात्र में 'रात्र' शब्द का अर्थ है "किस प्रकार हमें ज्ञात नहीं।" आजकल पांचरात्र शब्द से वैष्णव सम्प्रदाय का अर्थ लिया जाता है।

पांचरात्र तंत्रों में दर्शन, मंत्र, यंत्र, माया, योग, मंदिरनिर्माण, प्रतिष्ठा-विधि, संस्कार, वर्णाश्रमधर्म, तथा उत्सव इन दस विषयों का वर्णन है। भक्ति के साथ वैष्णव तंत्रों में इस प्रकार योग, मंत्र, यंत्र आदि को स्वीकार किया गया है।

अहिर्बुध्न्य संहिता में दुर्वासा कहते हैं कि यह तंत्र नारद को अहिर्बुध्न्य अर्थात् रुद्र से प्राप्त हुआ था। ग्यारह रुद्रों में अहिर्बुध्न्य सात्त्विक रुद्र माने गए। इस कथा से भी स्पष्ट है कि प्रारम्भ में वैष्णव मत शैव धर्म के साथ सम्पृक्त था।

दर्शन—सिद्धान्तों की दृष्टि में अहिर्बुध्न्य संहिता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार ब्रह्म मन और वाणी में परे है किन्तु उसका सगुण रूप भी स्वीकार किया गया है। क्योंकि ब्रह्म सर्व शक्तिमान है, अतः वह अनन्त शक्तियों के द्वारा साकार रूप भी धारण कर सकता है। हिरण्यगर्भ, वामुदेव, शिव आदि उसी के नाम हैं।^४

शक्ति का अर्थ जगत् की उत्पत्ति व प्रलय करने की सामर्थ्य किया गया

१ ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसफी-डा० एस० एन० दास गुप्ता, जिल्द ३, पृ० १६, केंमिन्स, १९४०

२ वही पृ० १६

३ वही पृ० २०

४ अहिर्बुध्न्य संहिता—एम० डी० रामानुजाचार्य द्वारा सम्पा० जिल्द १, पृ० १२ आइयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६

है। इसी प्रकार ऐश्वर्य का अर्थ है—स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने की शक्ति। बल का अर्थ है जगत् की रचना करते हुए भी अशान्त न होना।

उपादान कारण होने पर भी ब्रह्म का विकार से रहित रहना वीर्य है। तेज का अर्थ है कि किसी की सहायता के बिना ही ब्रह्म सृष्टि रचने में समर्थ है। इस प्रकार ब्रह्म अपने गुणों द्वारा जगत् का उपादान होकर भी विकार से रहित रहता है। स्पष्टतः यह शक्तिवादी सिद्धान्त है, शैव जिसे स्वच्छन्द शक्ति कहते हैं, पांचरात्र उसी को सामर्थ्य कहते हैं।

शक्तिवाद—जिस शक्ति से पांचरात्रमत ब्रह्म को सारे कार्यों का कर्त्ता और उपादान कारण बनाकर भी उसे अविकारी रखता है, उसका स्वरूप क्या है।

शक्ति अवर्णनीय है, अचिन्त्या है, ब्रह्म से उसकी अप्रथक् स्थिति है। उसे स्वरूपतः नहीं देखा जा सकता किन्तु शक्ति जब कार्यरत होती है तब उसको जाना जा सकता है। वह सूक्ष्मा है, सारे पदार्थों में व्याप्त है, वह 'यह है', 'यह नहीं है'^१—ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार एकाकार है जिस प्रकार चन्द्रमा में ज्योत्स्ना। जयाखसंहिता में ब्रह्म को सूर्य और शक्ति को रश्मि तथा ब्रह्म को अग्नि व शक्ति को स्फुल्लिग और ब्रह्म को अम्बुधि तथा शक्ति को उर्मि कहा गया है।^२

यह शक्ति स्वच्छन्द शक्ति है, इसका प्रस्फुरण ही जगत् है। यह उदित और अस्त होने वाली तथा निमेष और उन्मेषशालिनी है।^३ यह शक्ति निरपेक्ष है, आनन्दमयी है तथा नित्यपूर्णा है। आत्मभक्ति पर अपना ही उन्मीलन कर यह शक्ति जगत् के रूप में परिणत होती है और उससे परे भी रहती है। जगत् को देखकर शक्ति लक्षित होती है, अतः वह लक्ष्मी है, विष्णुभाव का आश्रय लेने के कारण वह श्री है। काम (इच्छा) पूर्ण करने के

१ शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अप्रथक्स्थिताः।

स्वरूपे नैव दृश्यन्ते, दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः।

सूक्ष्मावस्था हि सा तेषां सर्वभावानुगामिनी।

इदन्तया विधातुं सा न निषेदुं च शक्यते—

सर्वभावानुगा शक्तिज्योत्स्नेव हिमदीधतेः अहि० पृ० २०, जित्ब १

२ जयाख्य संहिता - ६-७८

३ अहि० पृ० २१

कारण 'कमला', काल से परे होने से 'पद्मा', विष्णु की सामर्थ्य रूपिणी होने से 'विष्णुशक्ति' और अपने कार्यों से पति को प्रसन्न करने के कारण वह 'विष्णुपत्नी' है। वह जगत् को अपने भीतर संकुचित करती है, अतः 'कुण्डलिनी' है। शुद्धसत्वाश्रया होने से वह 'गौरी' है। गायकों की रक्षिका होने से वह 'गायत्री' है। जगत् का सृजन करने के कारण वह 'प्रकृति' है तथा माता, शिवा, तारुणी, तारा, मोहिनी, इडा, रति, सरस्वती, महाभासा और वैष्णवी भी उसी के नाम हैं।^१

शक्ति के स्वरूप को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्र तंत्रों में शैवों की ही तरह शक्तिमान की एकता स्वीकृत है।

सृष्टि विकास—शैवों की ही तरह यहाँ ब्रह्म में सर्व प्रथम सृष्टि संकल्प माना गया है।^२ यह संकल्प ब्रह्म अपनी क्रीड़ा के लिए करता है।^३ यह संकल्प ब्रह्म की शक्ति लक्ष्मी द्वारा पूरा होता है। लक्ष्मी क्रिया शक्ति के रूप में व्यक्त होकर सुदर्शन कहलाती है। यह सुदर्शन शक्ति देशकाल से परे है। भूति शक्ति लक्ष्मी का दूसरा अंश है जो उपादान कारण है और क्रियाशक्ति निमित्त कारण है। भूतिशक्ति द्वारा सृष्टि की रचना होती है और क्रियाशक्ति सृष्टि की प्रेरिका और शासिका बनती है।

व्यूह सृष्टि—उपर्युक्त ज्ञान-बल आदि छः गुणों के द्वन्द्वों से शुद्ध सृष्टि इस प्रकार होती है—

संकर्षण (बलराम)	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
ज्ञान + बल	ऐश्वर्य + बल	शक्ति + तेज
वासुदेव के अग्रज	पुत्र	पोत्र
बलराम की शक्ति = शांति	सरस्वती	रति

वासुदेव को ब्रह्म माना गया है जो बलराम और उनकी शक्ति शांति को उत्पन्न करने है। बलराम को शिव भी माना गया है। प्रद्युम्न को ब्रह्म और अनिरुद्ध को पुरुषोत्तम माना गया है। क्रमशः उनकी शक्तियाँ सरस्वती

१ अहि० संहिता पृ० २१, २२, २३

२ वही पृ० १२

३ वही पृ० १२४

और रति हैं। इसे शुद्ध सृष्टि कहा गया है। इसमें विकार नहीं आता। इसी प्रकार अलौकिक गुणों के उपादान से वैकुण्ठ या विधाम-भूमि की रचना होती है। इसी विधाम-भूमि को प्राप्त करने के लिए भक्त लोग आराधना करते हैं।

काल का विवेचन करते हुए बारह मासों के अधिदेवताओं के रूप में वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के तीन-तीन रूप कल्पित किये गए। इन देवताओं के वेश, वस्त्र, अस्त्र आदि का अन्य तंत्रों की तरह ही वर्णन किया गया है। वैष्णव जो मस्तक पर तीन खड़ी रेखाएँ खींचते हैं वे इन्हीं देवताओं के प्रतीक हैं।

अवतार—शुद्ध सृष्टि में अवतार या विभव की भी गणना होती है। अहि० मंहिता में ऐसे ३२ अवतार बताए गए हैं जिनमें कल्कि अवतार भी शामिल है किन्तु बुद्ध या ऋषभ को स्वीकार नहीं किया गया है जैसा कि परवर्ती पुराण श्रीमद्भागवत में किया गया है।

जिस प्रकार दीपशिखा में ज्योति का प्रवाह उत्पन्न होता है उसी प्रकार अवतारों का समूह विष्णु ज्योति का प्रवाह है। इन ज्योतियों में से किसी एक की साधना से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। कुछ पवित्र जीवात्माओं को 'आवेशावतार' कहा जाता है जैसे बुद्ध, व्यास, अर्जुन, परशुराम आदि। पाँचरात्र विधि से पूजित होने पर मूर्तियाँ भी अवतार हो जाती हैं क्योंकि उनमें विष्णु शक्ति अवतरित होती है। इन मूर्तियों को 'अर्चावतार' कहा जाता है। इस प्रकार मूर्तिपूजा वस्तुतः शक्तिपूजा है, प्रस्तरपूजा नहीं। सब आत्माओं का शासक और सबमें व्याप्त रहने के कारण अनिरुद्ध को प्रन्तर्यामी अवतार माना गया है। योग द्वारा इसी अन्तर्यामी रहस्यात्मक शक्ति को जाग्रत किया जाता है।^१

स्वर्ग-सिद्धान्त—शुद्ध सृष्टि में अवतारों के अतिरिक्त वैकुण्ठ का भी वर्णन है। इसे परमव्योम कहा गया है। आनन्द, भोग, वैभव सब कुछ यहाँ प्राप्त है परन्तु यह सब अलौकिक होने के कारण विकार रहित है।^२ यह परमव्योम ब्रह्मांड से परे है। अन्य स्वर्ग विष्णु की एक-चौथाई शक्ति से बनते हैं जबकि परमव्योम विष्णु की तीन-चौथाई शक्ति से बनता है।

१ श्रेष्ठर—पृ० ४८

२ अहि० पृ० ५२, ५३

परमव्योम में पदार्थ व मुक्त प्राणी दोनों रहते हैं। पदार्थों में पुष्पमाला, चन्दन, मोती, जवाहर, वस्त्रादि है। इस परमव्योम या बैकुण्ठ में वासुदेव अपने व्यूहों, अवतारों तथा मुक्त जीवों के साथ आनन्द क्रीड़ा में तल्लीन रहते हैं।^१ इस परमव्योम में मुक्तजीव लक्ष्मीयुक्त भगवान के दर्शन का लाभ उठाते हैं। भगवान् का पङ्गुणधारी अप्राकृत रूप केवल मुक्त जीवों को ही सुलभ है। महाप्रलय का भी इस परमव्योम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वहाँ अप्रतिहत रूप से, सृष्टि व लय से अप्रभावित होकर भगवान की लीला चलती रहती है। परमव्योमवासी वासुदेव, कौस्तुभ, श्रीवत्स, गदा, शंख, धनुष, असि, असिकोप, चक्र, बाण, हार आदि पदार्थ धारण करते हैं। तांत्रिकों की तरह इनके पारमार्थिक अर्थ भी दिए गए हैं जिससे लगता है कि परमव्योम का मतलब भी उच्चतम् सत्ता की प्राप्ति के लिए एक प्रेरणा के रूप में ही गृहीत हुआ है।

कौस्तुभ = आत्मा

श्रीवत्स = प्रकृति

गदा = महत्

शंख = सात्विक अहंकार

असि = ज्ञान

असिकोप = अज्ञान

चक्र = मन

बाण = इन्द्रियाँ

हार = तत्त्व

इस परमव्योम या बैकुण्ठ में स्थित वासुदेव को व्यूह-वासुदेव से अलग 'परवासुदेव' कहा गया है।^२ शैव भी सर्वातीत तत्त्व को 'परमशिव' कहते हैं। व्यूहवासुदेव (शैवों का शिव) परवासुदेव से ही उत्पन्न होता है। यह परवासुदेव परमव्योम में कभी लक्ष्मी के साथ और कभी-कभी तीन या आठ शक्तियों के साथ विहार करता है। इनमें श्री, भूमि और नीला जैसी देवियाँ हैं। अहि० संहिता में कहा गया है कि परवासुदेव के साथ-साथ अन्य देवताओं व शक्तियों की उपासना भी करनी चाहिए। इनके अस्त्र, शस्त्र, वेष,

१ श्रेडर—पृ० ५० से ५२ तक।

२ श्रेडर पृ० ५३

भूषादि का ध्यान व मंत्र-साधना का विधान भी मिलता है।^१ सीतोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि श्री, भूमि, नीला, इच्छा, क्रिया व माक्षात् शक्ति के साथ सम्बन्धित हैं।^२ श्री को मौभाग्य, भूमि की प्रभाव तथा नीला को सूर्य, चन्द्र व अग्नि का प्रतीक भी माना गया है। श्री शक्ति के तीन रूप बताए गए हैं—

१ योग, २ भोग, ३ वीर्य शक्ति। इनका सम्बन्ध क्रमशः योग, गार्हस्थिक तथा मन्दिर-पूजा के साथ स्थापित किया गया है। अतः परमव्योम का सम्बन्ध केवल ब्रह्मांड के बाहर स्थित कल्पित स्वर्ग से ही नहीं है अपितु वह आंतरिक व बाह्य साधना का भी प्रतीक है। परमव्योम में वर्णित आठ शक्तियों में कीर्ति, श्री, विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति व क्षमा की भी गणना की गई है। स्पष्ट है कि ये देवियाँ पिंड-स्थित भी हैं और स्वर्गस्थित भी अतः स्वर्ग भीतर भी हैं और बाहर भी।

इस परमव्योम में निम्न प्रकार के जीव रहते हैं—पहला नित्य या सूरि जीव—ये परवासुदेव की आज्ञा में रहस्यमय कार्य करते हैं। चंड, प्रचंड, भद्र, समुद्र आदि ऐसे ही नित्य जीव हैं। इनमें वासुदेव के 'पारिपद' भी हैं यथा अनन्त और गरुड़ ये नित्य जीव भी अवतार धारण कर सकते हैं।^३ दूसरा मुक्त जीव ये त्रसरेणु के आकार के हैं। इनका शरीर आध्यात्मिक है, ये सूक्ष्म शरीर धारण कर सकते हैं और जगत् में विचर सकते हैं। परन्तु जगत् के विधान में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। वासुदेव की सेवा व क्रीड़ा में ये जीव भाग ले सकते हैं।

आगे चलकर रामानुजी वैष्णवों ने बताया है कि भक्ति द्वारा वासुदेव का उपासना करने पर परम व्योम प्राप्त होता है। परन्तु कोरे ज्ञानी ब्रह्मांड व स्वर्ग के बाहर कहीं किसी कोने में उस स्त्री के समान पड़े रहते हैं जिसका पति खो गया है।^४ इस प्रकार बौद्धों का सुखावती स्वर्ग, शैवों का कैलास तथा पाँचरात्रों का परम व्योम अदभुत सादृश्य रखते हैं।

• शुद्धेतरसृष्टि—भूतशक्ति का विकास कूटस्थ तथा माया शक्ति के रूप में

१ अहि० संहिता पृ० २६८

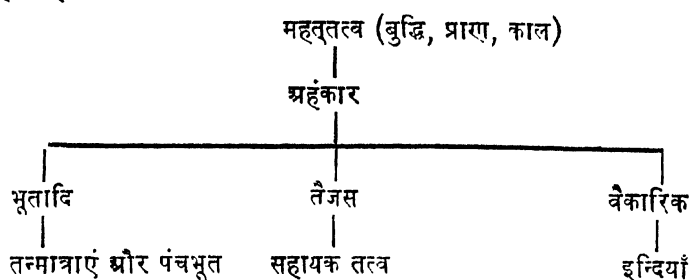
२ श्रेडर पृ० ५४

३ श्रेडर पृ० ५६

४ वही पृ० ५८, ५९

होता है। कूटस्थ व माया शक्ति के द्वारा निर्मित सृष्टि शुद्ध व अशुद्ध तत्वों से युक्त होती है। इनमें कूटस्थ “जीवों की समष्टि” है जिससे जीव उत्पन्न होते हैं। माया शक्ति को प्रकृति के पदार्थों का समष्टि रूप माना गया है। पुरुष या कूटस्थ के साथ इस माया शक्ति का संयोग होने पर भौतिक शरीर वाले जीवों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यहाँ सांख्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। शक्ति से नियति व नियति से काल की उत्पत्ति होती है। काल से ‘गुण’ उत्पन्न होते हैं। नियति सूक्ष्म नियामक शक्ति है जो विष्णु के संकल्प (सुदर्शन = शक्ति) से उत्पन्न होती है। काल कलनात्मक शक्ति है। कलना का अर्थ है “गगना”। काल पदार्थों का पाचन भी करता है। काल में तत्व गुण, उसमें रज और रज से तमस् की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार जीव के भौतिक शरीर की रचना पूर्ण होती है।^१ विद्या (माया) नियति व काल नामक शक्तियों का यह वर्णन शैवागमों में अद्भुत सादृश्य रखता है। शैवागमों में इन्हें कंचुक कहा गया है। कंचुक जीव की पूर्णता को सीमित करने वाली शक्तियाँ हैं। शैवागमों में कंचुकों की संख्या छः है—माया, कला, विद्या, राग, नियति और काल। श्री श्रेडर भी इस तथ्य से सहमत हैं कि आगे चलकर शैवों के आगमों में पांचरात्रों के तीन कंचुकों का या कोशों का ही विस्तार किया गया है। उत्पलाचार्य ने इसीलिए पांचरात्र संहिताओं की अनेक बार चर्चा की है।^२

अशुद्ध सृष्टि—अशुद्ध सृष्टि के विकास में पांचरात्रमत सांख्य से अधिक सहायता लेता है। पुरुष प्रकृति व काल के संयोग से इस प्रकार विकास होता है—



साधना—ब्रह्म की सृष्टि, रक्षा व नाश—उन तीन शक्तियों के अतिरिक्त

१ अहि० संहिता पृ० ५६

२ स्पन्द प्रदीपिका—उत्पलाचार्य

दो शक्तियाँ और है—निग्रह और अनुग्रह । निग्रह शक्ति से ब्रह्म क्रीडार्थ अपने अंश को (जीव) बन्धन में डालता है और अनुग्रह शक्ति से मुक्त कर देता है । अपनी शक्ति द्वारा जीव को बन्धन ग्रस्त करना और मुक्त कर देना—यह सिद्धान्त शैवों में भी मिलता है ।^१ जीव को पाँचरात्र मत में 'अणु' कहा गया है, इसका अर्थ यह है कि जीव ब्रह्म के समान सर्व-व्यापक तथा सर्व शक्तिमान् नहीं है । जीव साधना द्वारा मुक्तावस्था को प्राप्त करता है तब वह परवासुदेव के साथ विभिन्न रूपों अभिन्नता प्राप्त करता है, परन्तु यह स्मरणीय है कि इस एकता में भी जीव का व्यक्तित्व गुरक्षित रहता है । यह पाँचरात्र मत की विशेषता है परन्तु आगे के शैव, शक्त इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं । वे ब्रह्म के साथ पूर्ण अभेद चाहते हैं । अणु रूप जीव को पूर्ण विभुता प्राप्त करना ही साधना का लक्ष्य है परन्तु विभुता का अर्थ भिन्न समझते हैं । उनके अनुसार जीव मुक्त हो जाने के पश्चात् विभुता प्राप्त कर लेने पर भी परवासुदेव के समान 'पूर्णाविभु' नहीं हो सकता ।

जीव की अणुता का कारण है भगवान की निग्रहशक्ति । यह शक्ति ईश्वरीय गुणों का तिरोधान करती है । आकार के तिरोधान से अणुत्व, ऐश्वर्य के तिरोधान से अकिञ्चिक्करता और विज्ञान के संकोच से 'अज्ञता' प्राप्त होती है । इस तिरोधान शक्ति से जीव गणों को आर्त देखकर भगवान में, बौद्धों के अवलोकितेश्वर की तरह 'अनुग्रह शक्ति' जाग्रत हो जाती है । उनके हृदय में कृपा उत्पन्न हो जाती है ।^२ इस कृपा से जीव के अणुत्व का पूर्ण नाश हो जाता है । अनुग्रह शक्ति के बिना जीव अनादि वासना से जन्य जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता । विष्णु की जिस जीव पर कल्याण उत्पन्न होती है उस पर उनका शक्तिपात या शक्तिपाक या शक्तिभाव होता है । शक्तिपात ही जीव को इस संसार से पार उतारता है ।^३ इसकी पहिचान यह है कि इसके पश्चात् जीव मोक्षसमीक्षा से मुक्त हो जाता है । वह सांख्य, योग तथा उग्रव्रत अर्थात् पाशुपत मत धारण करता हुआ क्रमशः अन्त में वैष्णव मत की ओर अग्रसर होता है और अनाविल वैष्णवमत को प्राप्त होता है ।

१ श्रेष्ठर पृ० ६०

२ एवं संसृतिचक्रस्थे प्राप्त्यमाणे स्वकर्मभिः

जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काष्प्युपजायते । अहि० पृ० १२६

३ शक्तिपाकः स वै जीवमुत्तारयति संसृते—अहि० संहिता पृ० १२७

मनुष्य जीवन का उद्देश्य है दुःख संतति से बचकर अविनाशी आनन्द प्राप्त करना ।^१ आनन्द या नित्य सुख भगवन्मयता से ही सम्भव है, अर्थात् ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति से ही जीव नित्य सुख का अधिकारी बनता है ।^२ इस भगवन्मयता को ज्ञान व धर्म से प्राप्त किया जा सकता है । उनमें भी धर्म का प्रथम सोपान है । धर्म के दो भेद हैं—(१) व्यवधान धर्म और (२) साक्षात् आराधना धर्म । प्रथम में वासुदेव के किसी प्रतिनिधि देवता या अवतार की आराधना की जाती है यथा विष्णु, ब्रह्मा, महेश, इन्द्र आदि । साक्षात् आराधना का तात्पर्य है वासुदेव उपासना । इसमें अन्य देवताओं की उपासना नहीं की जाती । पांचरात्र उपासना साक्षात् उपासना है जबकि वैदिक व पाशुपत उपासना व्यवधान उपासना है ।^३ इसी प्रकार सांख्य परोक्ष ज्ञान है और वेदान्त साक्षात्कारमय ज्ञान है । 'योग' भी साक्षात्कारमय ज्ञान के लिए गोपान के रूप में स्वीकार किया गया है । योग दो प्रकार का है—निरोध योग और कर्मयोग । निरोध योग में चित्तवृत्ति का निरोध व्येय है । इसके भी बाह्य व आभ्यन्तरिक दो भाग किए गए हैं । कर्मयोग में अनेक कर्मों व धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार किया गया है और इसमें भी बाह्य व आन्तरिक दो भेद किए गए हैं ।^४

दीक्षा—साधना का अधिकारी कौन है, इस विषय में पांचरात्र मत वैदिकमत से सादृश्य रखता है । पांचरात्र सवर्णों को ही साधना का अधिकारी मानता है । शूद्र के लिए ब्राह्मणों की सेवा ही धर्म है ।^५ वर्णव्यवस्था का पूर्ण समर्थन पांचरात्र संहिताओं में किया गया है । केवल ब्राह्मण व क्षत्रियों के लिए ही सन्यास धर्म का विधान है । संन्यासियों को निर्वाण प्राप्त होता है, परमव्योम प्राप्त नहीं होता । निर्वाण का अर्थ है दीपज्योति के समान शान्त हो जाना ।^६

इस मत के दीक्षागुरु को अन्य सभी गुणों के साथ योग स्वाध्यायतत्पर

१ अहि० पृ० ११५

२ वही पृ० ११६

३ वही पृ० ११७

४ श्रेडर पृ० १११

५ शूद्रः शुश्रूषया तेषां, भगवत्कर्मसाधनात् ।

आरागरोषलोभः संछनैर्याति हरेः पद्य—अहि० पृ० १३०

६ वही पृ० १४०

तन्त्रान्तरविचक्षण, तन्त्रअंतरज्ञ, मंत्रज्ञ और यन्त्रविचक्षण भी कहा गया है।^१ स्पष्ट है कि पांचरात्र गुरु कोरा भक्त नहीं, अपितु वह योगी व मन्त्र-यन्त्र विशेषज्ञ भी होता है। शिष्य का 'द्विजाति' होना आवश्यक है।^२ शिष्य ने तुम्हारी शरण आया हूँ, ऐसी वृत्ति वाला होना चाहिए। शिष्य को शपथ लेनी पड़ती है कि वह साधना रहस्य को गुप्त रखेगा।^३ इस मत में शैव, शाक्त तंत्रों की तरह ही 'अंगन्यास' अर्थात् मंत्रोच्चारण द्वारा शिष्य के विभिन्न अंगों पर स्वर, व्यंजनों व देवता की प्रतिष्ठा की जाती है।^४ पुनः सुदर्शन मन्त्र दिया जाता है। शरीर के भी मन्त्र की ही तरह कई रूप बताए गए हैं। मन्त्र-दीक्षा के समय इस बात पर बल दिया गया है कि मन्त्र का प्रयोग शुद्ध कार्यों के लिए नहीं किया जाय। कहा गया है कि एक लाख बार मन्त्र जप करने से मन्त्रनाथ प्रसन्न होते हैं।^५

योग—पांचरात्रमत में योग साधना पर भक्ति से अधिक बल दिया गया है। वस्तुतः भक्ति, योग के ही एक रूप में यहाँ स्वीकृत है। शैवों और शाक्तों के यहाँ भी भक्ति व योग दोनों को योग ही कहा गया है परन्तु फिर भी पांचरात्र मत में भक्ति के लिए अधिक स्थान है। यहाँ योग को 'आत्महविष्' अर्थात् देवता को पूर्ण आत्मसमर्पण कहा गया है। यह आत्महविष् तभी सम्भव है जब जीव अपने को प्रकृति के आकर्षणों से मुक्त कर लेता है।^६ प्रकृति के बन्धनों से रहित जीव 'आत्महविषावस्था' में सर्वज्ञ, विकाररहित, सर्वभूतस्थ और शान्त हो जाता है।^७ अतः योग का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा के संयोग का नाम है। प्रत्येक क्षण परमात्मा के साथ एकता की अनुभूति का नाम ही योग है। इस एकता की अनुभूति के बिना बाह्य क्रियाएँ फल नहीं देती। इस योग के आठ अंग हैं जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

१ शूद्रः शुभ्रया तेषा, भगवत्कर्म साधनात्। अरागरोष लोभः संछर्नैर्याति हरेः पद्म-अहि० पृ० १८४-१८५

२ वही पृ० १८५

३ वही

४ वही

५ वही पृ० १६२

६ अहि० संहिता पृ० २६०, जिल्द २

७ वही पृ० १६२

प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि को स्वीकार कर लिया गया है। समाधि द्वारा सभी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं, यह भी कहा गया है।^१

सत्य को प्राप्त करने के दो उपाय हैं—१—समाधि और २ मन्त्र ध्यान। अन्यत्र योग के तीन प्रकार बताए गए हैं—प्राकृत, पौरुष और एश्वर्य। प्रथम में मूल प्रकृति का, द्वितीय में पुरुष का और तृतीय में सिद्धि प्राप्त करने के लिए देवताओं का ध्यान किया जाता है। अन्यत्र सकल, निष्कल और विष्णु इन तीन योगों का उल्लेख है। शब्द, व्योम और सविग्रह यह एक और विभाजन मिलता है। सविग्रह योग में मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। उसके पश्चात् चक्रों का ध्यान किया जाता है। अन्त में साधक का ब्रह्मरन्ध्र खुल जाता है। निष्कल योग में साधक सूक्ष्म सत्ता पर ध्यान केन्द्रित करता है। फलतः उसकी आत्मा का ब्रह्म के रूप में उसके लिए उद्घाटन हो जाता है। योग के तृतीय रूप में मन्त्र पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। योग क्रिया द्वारा ब्रह्मरन्ध्र भेदकर जीवात्मा अन्त में वासुदेव को प्राप्त करता है।^२

नाड़ी योग—ध्यान की एकाग्रता के लिए नाड़ी योग को अनिवार्य माना गया है। पांचरात्र के नाड़ी योग में कुछ नवीनता प्राप्त होती है। नाड़ियों का केन्द्र 'नाभिस्थल' है। इन नाभिचक्र में १२ अर है। कुंडलिनी इस नाभिचक्र को आवृत किए हुए स्थित है। यह कुंडलिनी अष्टमुखवाली है और सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द किए हुए है।^३ नाभिचक्र के केन्द्र में अलम्बुषा व सुषुम्ना नाड़ियाँ हैं, सुषुम्ना के पाश्वों पर कुहू, वरुणा, यशस्विनी पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखिनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा तथा विश्वोदरा ये बारह नाड़ियाँ स्थित है। पूरे शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार मकड़ी जाल में रहती है उसी प्रकार प्राण शक्ति से साथ जीवात्मा इस नाभिचक्र में भ्रमण करता है।^४ इन नाड़ियों में अन्य तांत्रिकों की तरह इडा, पिंगला व सुषुम्ना को ही मुख्य कहा गया है किन्तु

१ अहि० संहिता २६० पृ० ३०८ जिल्द २

२ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसफी—एस० एन० दास गुप्ता पृ० ३०, ३१

३ अहि० संहिता पृ० २६६

४ प्राणारूढो भवेज्जीवश्चक्रे स्मिन्भ्रमते सदा ।

ऊर्णनाभिर्यथा, तन्तु पंजरान्तर्व्यवस्थितः—अहि० पृ० ३०१ जिल्द २

शैव शान्त तन्त्रों में नाभिचक्र का ऐसा वर्णन नहीं मिलता । वहाँ कुंडलिनी का स्थान मूलाधार चक्र में बताया गया है ।

प्राणायाम द्वारा नाडी शोधन विधि उस मत में अन्य तन्त्रों की तरह ही मिलती है । ध्यानयोग में अन्य तांत्रिक देवताओं की तरह विष्णु के रूप का वर्णन किया गया है । इस रूप में भयंकरता, मनोहरता, बल, वीर्य, ऐश्वर्य सभी का सम्मिलन है । आगे के वैष्णव धर्म में मृदुल रूप का अधिक विकास हुआ है । किन्तु यहाँ विष्णु पिंगकेश, दंष्ट्राकरालवदन, भीमभ्रुकुटिवान, अष्टभुज, आयुधावान्, आयुप्रद रूप में ध्यान के विषय हैं ।^१

मन्त्रयोग—यह कहा जा चुका है कि सृष्टि ब्रह्म की संकल्प शक्ति या मुद्राशक्ति का परिणाम है । मुद्राशक्ति का एक रूप 'क्रियाशक्ति' भी है । शक्ति स्पन्द तत्त्व है, इसीलिए मुद्राशक्ति तत्त्व को चलनचक्र कहा गया है ।^२ संकल्प का यह चलन ही 'नाद' के रूप में प्रकट होता है । नाद एक दीर्घ घंटाघोष के रूप में प्रकट होता है ।^३ इसे केवल योगी ही सुन सकते हैं । यही नाद बिन्दु के रूप में भी व्यक्त होता है । जिस प्रकार प्रशान्त समुद्र में प्रथम कुछ उन्मेष या स्पन्द होता है और फिर बुदबुद के रूप में वह उन्मेष लक्षित भी होता है उसी प्रकार नाद बिन्दु का रूप धारण करता है । यह बिन्दु ओउम् में अनुस्वार के समान प्रकट होता है । यह बिन्दु दो प्रकार का होता है—शब्द ब्रह्म और भूति । भूति की स्थिति में नाम का उदय हो जाता है और तब बिन्दु स्वर व व्यंजन के रूप में क्रमशः व्यक्त हो जाता है ।^४ स्वरों में 'अ' को शैवों की तरह ही 'अनुत्तर' कहा गया है । अ, इ और उ के संयोग से अन्य स्वर और व्यंजन व्यक्त होते हैं । वर्णोदय की यह प्रक्रिया अन्य तन्त्रों की तरह परा पश्यन्ती, मध्यमा, व वैखरी के रूपों में ही पांचरात्रमत में वर्णित है ।^५ भृंग के निनाद के समान मूलाधार से नाभि और नाभि से हृदय देश के पश्चात् यह लक्ष्मीरूप नादशक्ति कंठ देश से वैखरी रूप में प्रकट होती है । इस मानृका

१ अहि० जिल्द २ पृ० ३०७

२ अहि० जिल्द १ पृ० ८७

३ अहि० संहिता जिल्द १ पृ० १४७

४ वही पृ० १४८

५ मलाधारात्समुद्यन्ती सा शान्ता सा निरंजना । अहि० जिल्द १ पृ० १५१

देवी को मन्त्रयोगि कहा गया है ।^१ उस प्रकार निष्णु मङ्कल-शक्ति का बाह्य शरीर ही वर्ण है ।

प्रत्येक देवता के लिए उसके स्वभाव और शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों की योजना करनी पड़ती है । शक्तियों की भिन्नता के कारण ही मन्त्रों में भिन्नता मानी गई है । साधक की रुचि के अनुसार निष्णु, रुद्र या शक्ति के अलग अलग मन्त्र इसीलिए प्रचलित हैं ।

यद्यपि पांचरात्र मत में उग्र साधनाओं का ज़रफ़्त नही है परन्तु इसमें वाममार्ग को स्वीकार नही किया गया है ।

रक्षा या यन्त्र—अन्य तंत्रों की तरह पांचरात्र मत में यंत्रस्थित देवताओं का ध्यान भी स्वीकृत है । यंत्रसाधना में ध्यान की ही प्रभुता है । 'रक्षा' के दो प्रकार हैं—ज्योतिर्गयी और मंत्रगयी । प्रथम में अक्ष, नाभि, नेत्र तथा सुदर्शन-चक्र के अन्य अवयवों का ध्यान किया जाता है और दूसरे में मंत्रों पर विशेष बल दिया गया है । यंत्र-रचना में सुदर्शन चक्र को किसी वस्त्र या धातु पर अंकित किया जाता है । इससे विघ्नों पर विजय, शत्रुनाश, बल आदि की वृद्धि होती है । यंत्र में जिस प्रकार के देवता का ध्यान किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है । केवल ब्राह्मणों को ही यंत्रों के वितरण का अधिकार दिया गया है ।^२ इस साधना में अथर्ववेद की परम्परा स्वीकार की गई है । रोगों के नाश के लिए अथर्ववेद की ही तरह आध्यात्मिक उपाय बताये गये हैं । यंत्र साधना में प्रयुक्त मंत्रों के लिए स्पष्ट कहा गया है कि वे अथर्ववेद में लिए गए हैं—आथर्वणात्मया वेदान्महामन्त्र परिष्कृतात् ।^३

इस प्रकार पांचरात्र मत और शैव, शाक्त तांत्रिक मतों में केवल शब्दों का ही अन्तर दिखाई पड़ता है । वर्णाश्रम-धर्म पर अधिक बल देने के कारण तथा वामाचार को न स्वीकार करने के कारण आगे चलकर वैष्णव-साधना को शीघ्र ही वैदिक स्वीकार कर लिया गया और दसवीं शताब्दी के पश्चात् उत्तरी भारत में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का विकास हुआ वे यद्यपि पांचरात्र तंत्रों की परम्परा में ही विकसित हुए फिर भी अपने को पूर्ण वैदिक मानते हैं । इससे यह पता चलता है कि दसवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय धर्म-साधना में कितना अधिक समीकरण हो चुका था ।

१ मन्त्रयोनिरियं देवी मातृका घिष्ठिता सदा-वही , पृ० १५८

२ अहि० संहिता, जिल्द १ पृ० १६३, २०४, २२५

३ वही जिल्द २, पृ० ४१६

तांत्रिक शैव मत

पाशुपत शैव-सम्प्रदायः—पाशुपत शैव-मत का आदि रूप क्या था, यह अस्पष्ट है। किन्तु पांचरात्र मत की तरह यह मत महत्वपूर्ण है क्योंकि वैदिक यज्ञयाग से समानान्तर इस मत का प्रचार सर्वसाधारण में भी था और प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति इस मत में स्वीकृत हो सकता था। हमने महाभारत में पशुपति रुद्र और पाशुपतव्रत पर कुछ प्रकाश डाला है जिससे पता चलता है कि शिव सामान्य जनों में प्रचलित विचित्र और भयंकर उपासनाओं के विषय भी थे।

कठोर व्रत और तपस्या पर पाशुपत मत का बल अधिक था। उपमन्यु आख्यान में कहा गया है कि कुछ लोग केवल जल, वायु का आहार करते थे। अग्निहोत्र का धुआँ, सूर्य किरणें तथा दूध ही कुछ योगियों का आधार था। जप व ध्यान में कष्टसाध्य-तप द्वारा योगी निमग्न रहते थे।^१ शिव के भयंकर व सौम्य दोनों रूपों का वर्णन उपमन्यु उपाख्यान में मिलता है। उपमन्यु के द्वारा कहे गये शिवसहस्रनाम में परवर्ती तत्त्व हैं, तथापि इससे पाशुपतमत पर यह प्रकाश पड़ता है कि कपाल व कनेर की माला पहिनने वाले,

श्मशानों में बिचरने वाले, अनेक सिद्धियों के अभ्यासी तथा वामाचारी साधक इस पाशुपत मत में थे। इसीलिए इसे 'अतिआश्रम' अर्थात् सब आश्रमों से ऊपर कहा गया है। अतः रामदास गौड़ का यह अनुमान निराधार प्रतीत होता है कि पाशुपत केवल द्विजों की मुक्ति सम्भव मानता है।^१

श्मशानसाधना, कठोर सामाजिक नियमों की अवहेलना, यज्ञ की जगह जप, ध्यान और तप की स्वीकृति, सिद्धि-प्राप्ति पर बल, प्रत्येक प्रकार की सासारिक इच्छापूर्ति के लिए नाना विचित्र उपाय, भक्तिभाव और लिगउपासना ये ही इस मत का मुख्य लक्षण हैं। पाशुपत-तत्त्वज्ञान महाभारत में नहीं मिलता किन्तु रुद्र शिव की परम्परा में गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा जनता के सामान्य स्तरों में प्रचलित उपासना-रूपों को वैदिक यज्ञयाग के साथ शामिल किया जा रहा था, यह स्पष्ट है। यही कारण है कि पाशुपतमत की निन्दा पांचरात्र मत भी नहीं करता जिसे बहुत समय तक वेदबाह्य माना जाता रहा और जिसके आदि प्रवक्ता रुद्र ही थे। गीता में भी रुद्र की स्वीकृति है।

पाशुपतमत के ही विकसित रूप में वीर शैवमत, लकुलीशपाशुपत आदि सम्प्रदाय दिखाई पड़ते हैं। पाशुपतमत आगे माहेश्वर मत कहलाया और रुद्रशिव का प्रभाव बढ़ता ही गया और उसका शुद्ध वैदिक रूप भी प्रचलित हो गया। वैशेषिक सूत्रकार कणाद माहेश्वर थे। न्यायभाष्यकार उद्योतकार पाशुपताचार्य कहे गए हैं। कुशनवंश के सिक्को पर माहेश्वर सम्प्रदाय का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कुशनवंश के बाद भारशिव (१५० ई०) राजा शैव थे। वाकाटक राज्यवंश (२८४ से ३८८ ई०) पर शैवमत का प्रभाव था। उत्तर में गुप्त शासकों ने वैष्णव मत के साथ शैव मत को भी प्रोत्साहित किया। संस्कृत के कवि व नाटककारों में अधिकतर शैव थे। दक्षिण में पल्लव राज्य (२६५-३६० ई०) शैव था। तिरुमूलर (४०० ई० से ६०० ई० के बीच में कभी प्रादुर्भूत) अप्पर (६५० ई०) सुन्दर (८०० ई०) शैवमत के प्रचारक थे। समबन्दार, अप्पर, सुन्दर तथा माणिक्यवाशगर आदि ने शैव धर्म व शिव भक्ति का बहुत प्रचार किया। प्राचीन पाशुपतमत का ही यह विकास था। शिव की भक्ति के प्रति दक्षिण में इतना आग्रह था कि उसमें बाधा पड़ने पर शैव साधक मरने मारने पर उतारू हो जाते थे।

प्राचीन पाशुपत की परम्परा में ही दक्षिण में ६२ 'नायनमार' शिवभक्त

हुए। इनमें सभी वर्णों के लोग शामिल थे। शुद्ध वैदिक रूप ग्रहण करने पर भी शैव लोग वर्णाश्रम प्रथा को बहुत लचीले रूप में ही स्वीकार करते थे। सुन्दर नामक शैव ने ब्राह्मण होकर नर्तकी से विवाह किया था।^१ स्त्रियों को समानता का अधिकार शैव ही देते थे। ११ वीं शताब्दी तक शैवधर्म के अवैदिक प्रभाव को पर्याप्त अनुशासित कर लिया गया।

शैवागमों के रचना-काल के विषय में एम० आर० सकहरे ने लिखा है कि शैवागम महाभारत काल में ही लिखे जा चुके थे। उनके अनुसार मैत्रायणी उपनिषद् में आगमों का उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वतर को वह आगमिक उपनिषद् मानते हैं। गीता पर भी इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि प्रसाद या अनुग्रह का सिद्धान्त आगमों में ही विकसित हुआ था। 'परमेश्वरागम' व गीता में अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है।^२ परन्तु इन तर्कों से यह सिद्ध नहीं होता कि शैवागम साहित्य की रचना महाभारत-युद्धकाल में ही हो चुकी थी। क्योंकि महाभारत में पाशुपत मत भी अधिक विवरण नहीं मिलता। यह सही है कि शैवमत वैदिक मत से प्राचीनतर है परन्तु आगम साहित्य की रचना ई० सन् के बाद ही हुई है। पांचरात्र संहिताओं के विषय में भी यही तत्व स्वीकृत होना चाहिए। श्री सकहरे शैवमत को प्राचीनतर सिद्ध कर सके हैं, शैवागमों को नहीं। शैवागम आदिम यौनपूजा को ग्रहण करके चले हैं किन्तु इसमें यह सिद्ध नहीं होता कि आगम साहित्य भी आदिम यौनपूजा के समय ही लिख लिया गया था।

अधिकतर शैवागमों की रचना चतुर्थ शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक हुई है। काश्मीरी शैवों ने इन शैवागमों की साधना का विवरण दिया है जिसे हम काश्मीरी शैवमत के प्रसंग में देखेंगे। दार्शनिक दृष्टि से कश्मीरी शैवों ने शैवागमों के द्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार शङ्कराचार्य ने उपनिषद्-गीता व वेदान्त सूत्रों की अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है, उसी प्रकार शैवागमों के द्वैतवाद को उत्पल, अभिनवगुप्त आदि ने अद्वैतवादी रूप दिया परन्तु साधना को यथावत् स्वीकार किया जो पंचमकार व कुंडलिनी-योग पर आधारित थी।

माहेश्वर मत का विकास—प्राचीन पाशुपत मत को ही माहेश्वर या

१ लिंगसिद्धान्त—चन्द्रिका : एम० आर० सकहरे, बेसगाँव, १९४२ पृ० २२०

२ वही पृ० २६६

शैवमत कहा जाता है। हिन्दुत्व में रामदास गौड़ ने पुराणों से उद्धरण देकर यह बताया है कि पुराणकाल में इस मत का विशेष विकास हुआ और शैवों को यह समझाया गया कि वैदिक पाशुपत मत का ही अनुसरण करना चाहिए, तांत्रिक व मिश्र पाशुपत मत का नहीं।^१ इससे स्पष्ट है कि वैदिक परम्परा शैवमत को वैदिक रूप दे रही थी। वामनपुराण में शैव, पाशुपत, कालवदन, कापालिक आदि मतों का उल्लेख है। इनमें चारों वर्णों के लोग शैव दीक्षा लेते थे। इस पुराण में शैवों का एक अलग ही वर्ण मान लिया गया है। इस प्रकार पुराण-काल में सभी प्रकार के अवैदिक मतों को पाशुपतमत की शाखा के रूप में समेट लिया गया था। इनमें आगे चलकर काश्मीरी शैव मत, रसेश्वर तथा लकुलीशपाशुमत सम्प्रदायों ने दार्शनिक रूप में अच्छा विकास किया। सर्वदर्शन-संग्रह में इसीलिए इसका उल्लेख मिलता है। दक्षिण में शैव-सिद्धान्त मत का अधिक प्रचार हुआ जो पाशुपत मत ही की तरह द्वैतवादी है। इसमें उपनिषद् के ब्रह्मवाद की जगह ईश्वरवाद (थोइज्म) की ओर अधिक प्रवृत्ति है।

लिगायत या वीरशैवमत—लिगपुराण से वीरशैवमत पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसमें वीर, नन्दी, भ्रङ्गी, वृषभ तथा स्कन्ध की उपासना होती थी। इस मत में लिग धारण व शिव के प्रति भक्ति-भाव पर अधिक बल दिया गया है। अवन्ती, केदारनाथ, श्रीशैलानन्द काशी, कोल्हापुर आदि इस मत के मठ हैं। हिमालय पर केदार में इसी मत का मठ है जिसमें इसी मत के पुरोहित जो जंगम कहलाते हैं, अब तक पूजा करते आ रहे हैं। रामदास गौड़ वसव के वीरशैवमत से उक्त प्राचीन वीरशैवमत या लिगायतमत को भिन्न समझते हैं। डा० भंडारकर तथा फर्कुअर ने प्राचीन वीरशैवमत तथा वसनमत को एक कर दिया है जो उनके अनुसार गलत है।^२ यह स्मरणीय है कि उक्त लिगायतमत वर्णाश्रम-धर्म को पूर्ण रूप से मानता है, निश्चित रूप से यह मान्यता क्रमशः विकसित हुई है क्योंकि सभी शैवमत मूलतः वैदिक वर्णाश्रम-धर्म के विरोध में आये हैं। इसका यह भी प्रमाण है कि वीर-शैवमत के ब्राह्मणों की विशेष संज्ञाएँ हैं। ये ब्राह्मण भूख, माहेश्वर तथा जंगम कहलाते हैं।

१ हिन्दुत्व पृ० ६६०

२ हिन्दुत्व पृ० ६६७

वसवमत या वासवलिगायतमत—१२ वीं शताब्दी में 'कल्याण' (दक्षिण) के कलचुरी वंश के राजा विज्जल (११६२ से ११६७ ई०) के वसव नामक मंत्री ने प्राचीन वीर शैवमत को क्रान्तिकारी रूप दिया। वराहमिथ्या का घोर विरोध ही इसका उद्देश्य था। भक्ति व लिंग-धारण को इस मत ने पूर्णरूप से स्वीकार किया किन्तु सामाजिक सुधार इस मत की विशेषता है। वसव ने अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचार किया। एक चमार व ब्राह्मण में विवाह-सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। इस मत में वराहमिथ्या-धर्म का खंडन ब्राह्मणों का विरोध, वेदों की अमान्यता, जन्मान्तरवाद का खंडन, तीर्थयात्रा की व्यर्थता, सगोत्रविवाह का समर्थन, शौचाशौचविधान का खंडन, विधवा-विवाह का प्रचार तथा शारीरिक-श्रम पर बल आदि प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से पाई जाती हैं।

बारहवीं शताब्दी के पूर्व कर्नाटक में शाक्तमत, नाथपंथ, कापालिक और कालामुख मतों का प्रचार था। १२ वीं शताब्दी के बाद कालामुख सम्प्रदाय के मठों पर वीरशैवमत का अधिकार हुआ।^१

यह वीरशैवमत शिव को निराकार मानता है। उसे बोद्धो की तरह शून्य कहा गया है। सृष्टि-विज्ञान में शक्तिवाद अपनाया गया है जिस पर आगे हम विस्तार से विचार करेंगे। इस मत में गुरु, लिंग, जंगम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, भस्म, रुद्राक्ष, तथा मंत्र—इन आठ आवरणों द्वारा जीव पाशों से मुक्त होता है। इस मत के आचार में वामाचार को स्वीकार नहीं किया गया किन्तु एक पत्नीव्रत की बड़ी प्रशंसा की गई है। बिना इन्द्रिय-दमन किए हुए शिव-भक्ति व शिव-साधना ही विधेय मानी गई है। लिंग को शुद्ध चैतन्य तत्त्व का रूप दिया गया है, इसलिए लिंगोपासना इस मत में बहुत गूढ़ और गम्भीर है। इस मत में भक्ति-भाव पर बहुत बल दिया गया है और ज्ञानलक्षणा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ भक्ति माना गया है।

वीरशैवमत की विशेषता है वामाचार और वैदिक सम्प्रदायों का विरोध तथा शिवभक्ति। ब्रह्म को निर्गुण मानकर ज्ञान-लक्षणा भक्ति का प्रचार कर्नाटक में उत्तरी भारत के निर्गुण मत के पूर्व ही हो चुका था। कबीर, दादू, नानक आदि सन्त वीरशैवों की ही तरह इन्द्रिय-दमन के विरोधी हैं और ज्ञान व भक्ति द्वारा मुक्ति के विश्वासी हैं। ये लोग संयम का अर्थ इन्द्रियों और मन

का नाश नहीं मानते । वीरशैव कबीर, दादू आदि की तरह ही समाज में भेद-भाव के कठोर आलोचक थे ।

श्रीकण्ठमत या शिवाद्वैतवाद—दक्षिण में श्रीकण्ठाचार्य जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह भी शैव मतों में एक विशेष दृष्टि (शिवाद्वैतमत) का पोषक एवं प्रचारक था । इसकी प्रवृत्ति वैदिक मत की ओर अधिक थी, श्रीकण्ठ व रामानुज ने शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में भक्तिवादी मतों का प्रचार किया था । श्रीकण्ठपरम्परा में अधोर शिवाचार्य (११ वीं, १२ वीं शताब्दी) तथा अप्पयदीक्षित १७ वीं शताब्दी ने इस मत का विशेष प्रचार किया । आचार की दृष्टि से यह मत मर्यादावादी है । शैवसिद्धान्त मत के आचार्यों ने श्रीकण्ठाचार्य के ग्रंथों को सबसे अधिक आदर दिया है ।

नाथशैवमत—अभिनवगुप्त ने मत्स्येन्द्रनाथ को तंत्रालोक में स्वीकार किया है । कुण्डलिनीयोग की स्वीकृति तथा समाज के कठोर नियमों को चुनौती देने की प्रवृत्ति के कारण कश्मीरी शैव-परम्परा में नाथपंथ का सम्मान है । हम आगे नाथपंथ में तांत्रिकयोग के स्वरूप पर विचार करेंगे ।

कालमुख या कारुणिक शैव सम्प्रदाय—यह मत शक्तिविशिष्टाद्वैतवादी है और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से सादृश्य रखता है । उपर्युक्त वीरशैव व लिंगायतों में भी इस सिद्धान्त के मानने वाले अनेक हैं ।

लकुलीश पाशुपत मत—इस मत में पशु, पशुपति व पाश का विवेचन किया गया है । इसमें शिव की दास्यभाव की भक्ति पर अधिक बल दिया गया है । यज्ञ-याग के स्थान पर भस्मस्नान; भस्मशयन, जप, मन्दिर-प्रदक्षिणा आदि का प्रचार इस मत में अधिक है । कुछ विचित्र प्रकार की चेष्टाएं इस मत में करनी पड़ती हैं यथा शिव की तरह हाहा कर हंसना, गाल बजाना आदि । आरोपित उत्पत्तता, कामुकता के अभाव में भी कामुकता-प्रदर्शन, विधिनिषेध की अमान्यता इस मत की विशेषताएं हैं ।

कापालिक—भयंकरतम शैवसाधक यही हैं । नरबलि, शवसाधना कपालधारण आदि इनमें प्रचलित हैं । गुह्य होने से इनका तत्वज्ञान अप्रकाशित है । कापालिक कुण्डलिनीयोग का प्रचार करते थे जो सभी शैवमतों में समान रूप में मिलता है । ये वर्णाश्रम विरोधी थे । कापालिक मत आगे चलकर नाथपंथियों में अन्तर्भुक्त होगया ।^१

उक्त सम्पूर्ण शैव सम्प्रदायों में शक्तिवाद सबमें समान रूप से स्वीकृत है। वीरशैवमत को छोड़कर अन्य शैव सम्प्रदायों में वामाचार भी स्वीकृत है। योग तो शैवों की प्रधान विशेषता है ही। उक्त तत्त्वों का विस्तृतविवेचन शैवागमों में हुआ है और शैवागमों की विस्तृत व्याख्या कश्मीरी शैवमत में मिलती है। दार्शनिक दृष्टि से तमिलनाडु के शैव सिद्धान्तमत पर भी कश्मीरी शैवमत का प्रभाव रहा है।^१ अतः कश्मीरी शैव मत पर हम विस्तार से विचार करना आवश्यक समझने है। इससे नाथपंथियों और सन्तकवियों द्वारा स्वीकृत कुंडलिनी योग पर भी प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। सन्तकवियों ने योग की विस्तृत व्याख्या नहीं की है केवल उसका संकेत-मात्र किया है। अतः कश्मीरी शैवागमों के अध्ययन से ही हम सन्तों के कुंडलिनीयोग को ठीक ठीक समझ सकते हैं। वैष्णव कवियों के विशिष्ट शक्तिवाद पर भी यह साधना प्रकाश डालती है।

कश्मीरी शैवमत—शैव सम्प्रदायों में कश्मीरी शैव मत अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ८५० ई० में आचार्य वसुगुप्त द्वारा शिवसूत्रों का उद्घाटन हुआ। वसुगुप्त (स्पन्दकारिका) सोमानन्द (९०० ई०, शिव दृष्टि) उत्पल (१० वी शताब्दी, प्रतिभिज्ञाकारिका), रामकंठाचार्य (१० वी शताब्दी), उत्पल वैष्णव (१० वी शताब्दी), तथा अभिनवगुप्त (१००० ई० तंत्रालोक, प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी) ने कश्मीरी शैव मत को दार्शनिक आधार दिया। भास्कर (११ वी शताब्दी शिवसूत्रवार्तिक) तथा क्षेमराज (११ वी शताब्दी, शिवसूत्र-विमर्शिनी) ने इस मत के प्रचार में विशेष योग दिया।

वसुगुप्त के पूर्व अनेक शैवागमों का निर्माण हो चुका था। अभिनवगुप्त ने मृगेन्द्र, मातंग, स्वच्छन्द, विज्ञान भैरव, देवीयामल, कुलिशदामिनी, कुलोत्तर, कुलसार, मालिनी विजय, ब्रह्मयामल, कुब्जिका, वामकेश्वर आदि तन्त्रों का उल्लेख किया है। अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि प्रसिद्ध ६४ तन्त्रों और अनेक अप्रसिद्ध तन्त्रों का निश्चित रचना-समय क्या है। किन्तु यह निश्चित है कि अभिनव द्वारा उद्धृत उपर्युक्त तन्त्रों का निर्माण १० वी शताब्दी के पूर्व हो चुका था। वसुगुप्त के पूर्व शैवागमों में प्राप्त द्वैतवादी या अनेक तत्त्ववादी दृष्टि को कश्मीरी शैवों ने स्वीकार नहीं किया^२ किन्तु साधना को यथावत् स्वीकार किया है।

१ डा० हिरण्यमय-पृ० ६६

२ स्वच्छन्द तंत्र—भूमिका भाग, पृ० ६ जिल्द १, रिसर्च विभाग श्रीनगर, १९२१

अभिनव गुप्त ने तांत्रिक परम्परा को प्रसिद्धि पर आधारित माना है। वेद का प्रामाण्य उन्हें स्वीकृत नहीं है। उनके अनुसार ऋषियों के वाक्य क्लेशकर हैं और अल्पफलदाता हैं। लोकव्यवहार की रक्षा के लिए विधि-निषेध में ही संलग्न रहने के कारण ऋषि-शास्त्र तत्त्वज्ञान से पूर्ण नहीं हो पाये, ऐसा उनका विचार है।^१ उनके अनुसार तन्त्र अनिन्दनीय हैं और वेदमार्ग से श्रेष्ठ है। ये तंत्र शिव के सद्योजात मुख से प्रकट हुए हैं। शिव के वामदेव मुख से वैदिक मार्ग तथा अधोरमुख से आध्यात्मिक मार्ग प्रकट हुए हैं। पांचरात्र मत व वैदिक मार्ग में धर्म और ज्ञान, बौद्ध मार्ग में वैराग्य, सांख्य में ज्ञान व वैराग्य, योग में ज्ञान, वैराग्य व ऐश्वर्य तथा शैव मार्ग में बुद्धि, भावना व लोक सभी गृहीत है। इसलिए यही मार्ग सबसे श्रेष्ठ है। शिव के मुख से प्रकट होने के कारण अन्य सम्प्रदाय भी सम्मान के योग्य हैं।^२

यह शास्त्र अनुभूति पर आधारित है। इसमें भैरव, भैरवी, लाकुल, अनन्त, गहनेश, ब्रह्मा, इन्द्र तथा बृहस्पति को प्रथम परम्परा के अनुसार आदि आविष्कारक माना गया है। नौ गुरु और नौ करोड़ मन्त्र इस परम्परा में माने गये हैं। द्वितीय परम्परा में दक्ष, वामन, भार्गव, वासुकि, रावण, विभीषण, लक्ष्मण तथा तृतीय परम्परा के अनुसार चंड, हरिश्चन्द्र, प्रमथ, भीम शकुनि, सुमति, नन्द, तथा कृष्ण को तंत्रमार्ग का आविष्कारक माना गया है। इस परम्परा से स्पष्ट है कि इसमें बहुत से अवैदिक मनावलम्बी आचार्यों को भी माना गया है।

दर्शन—इस मत में सत्ता शुद्ध चित्स्वरूप, देशकाल, कारण से परे, पूर्ण स्वातन्त्र्य से युक्त और निष्कल है। इसे परम-शिव या परात्परब्रह्म कहा गया है। यह स्वतन्त्र संकल्पशक्ति से युक्त है। स्वतंत्रता का अर्थ है कि चैतन्य जड़-तत्त्व के रूप में अभिव्यक्ति के लिए बिना किसी बाह्य पदार्थ की सहायता के ही समर्थ है। सृष्टि व लय रूप में वह व्यक्त होती है। शांकर वेदान्त में भी सत्ता को शुद्ध चैतन्य माना गया है। किन्तु वेदान्त में ब्रह्म स्वयं क्रिया

१ तंत्रालोक, जित्व १२, आन्धिक ३७, पृ० ३६५, श्रीनगर, कश्मीर

२ तंत्रा०

"

"

३५, पृ० ३७५,

रहित है। अतः माया नामक एक रहस्यमय शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। यह माया ब्रह्म के साथ एकीभूत नहीं है परन्तु फिर भी इसे जगत् का कारण माना गया है। शांकर वेदान्त इसे जड़ शक्ति मानता है। इसीलिए वह शुद्ध चैतन्य के साथ एकीभूत नहीं हो सकती। इस अनिवर्चनीय सत्त्वसत् से विलक्षण माया की कल्पना को यह मत स्वीकार नहीं करता। यहाँ स्वच्छन्द शक्ति चैतन्य की ही शक्ति मानी गई है, जो अजड़ है। इसीलिए वह चित् शक्ति कहलाती है।^१

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता ने भी शांकर वेदान्त और कश्मीरी शैव मत में यह अन्तर बताया है कि तन्त्रों में माया शांकर वेदान्त की तरह अनिवर्चनीय नहीं है अपितु वह ब्रह्म की तरह सत्य है। शक्ति और सर्वशक्तिमान दोनों सत् पदार्थ हैं। जगत् भी शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य है, विवर्त नहीं। एक अर्थ में उसे यथार्थ भी कहा जा सकता है क्योंकि वह ब्रह्म से एकीभूत शक्ति का आभासित रूप है।^२

शुद्ध चैतन्य की स्वच्छन्दशक्ति को ही शक्ति या देवी कहा गया है। काली, पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा, आदि की उपासना वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न उसकी स्वच्छन्द शक्ति की ही उपासना है। यह शक्ति कई सोपानों में प्रकट होती है—१ प्रलय में विकल्पयुक्त चैतन्य में शक्ति, चित्-शक्ति, या चित्-प्रकृति के रूप में रहती है। २—विकल्प की ओर उन्मुख होने पर यही शक्ति माया शक्ति या जड़ प्रकृति कहलाती है। ३—विकल्प का जन्म हो जाने पर इसी शक्ति को अविद्या कहते हैं। इस प्रकार चित् शक्ति की अभिव्यक्ति के बाद सृष्टि या प्रतीति प्रारम्भ हो जाती है। जगत् चैतन्य का बाह्यमास है। देश, काल आदि के रूप में जगत्शक्ति के कारण आत्मा से भिन्न प्रतीत होने लगता है जैसे दर्पण में बिम्ब और प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। यह आभास की प्रक्रिया इस प्रकार होती है—

१—सृष्टि के पूर्व चैतन्य में सूक्ष्म रूप से शक्ति का अवस्थित रूप।

२—सृष्टि की इच्छा होने पर परमशिव की संज्ञा शिव हो जाती है और उससे शक्ति संभ्रविष्ट रहती है। “मैं हूँ” ऐसा अनुभव होने लगता है। जगत्

१ त्रिपुरा रहस्य—सरस्वती भवन सीरोज, गोपीनाथ कविराज, भूमिका भाग १।

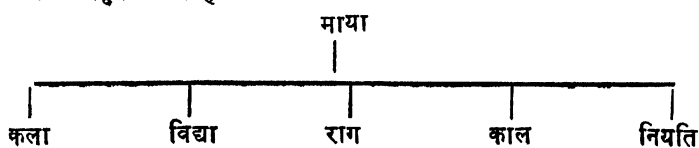
२ फिलोसफीकल एसेज, पृ० १५६, कलकत्ता, १९४१

का अनुभव नहीं होता । इसीलिए शक्ति और शक्तिमान की पूर्ण एकता को साधक प्राप्त करना चाहता है ।

३— इस स्थिति में महाशून्य या आकाश का अनुभव होता है और शिव की संज्ञा सदाशिव हो जाती है । “मैं ही यह हूँ” । अहमेव इदम् । ऐसा ज्ञान इस स्थिति में होता है ।

४— जड़ तत्व का प्रभाव बढ़ने पर चैतन्य को यह अनुभव होता है—“यह मैं हूँ (इदं अहम्) इस स्थिति में “यह” अर्थात् जगत् प्रधान होने लगता है और “मैं”, गौण । चैतन्य की यह स्थिति ईश्वर कहलाती है ।

५— जब चेतन तत्व और जड़ तत्व (शक्ति) बराबर हो जाते हैं तो चेतना को इस स्थिति में शुद्ध विद्या कहते हैं । इसके बाद अविद्या का विकास होता है । चैतन्य और जड़ तत्व दोनों के मिश्रित रूप, माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक शक्ति के रूपों में व्यक्त होते हैं । शुद्ध विद्या के पश्चात् जब जड़ तत्व का प्रभाव बढ़ जाता है तब शक्ति का यह रूप माया कहलाता है । माया के पांच भेद हैं जिनमें उपर्युक्त कला, विद्या, राग आदि कंचुकों की गणना होती है । ये शिव की शक्तियाँ हैं जो चैतन्य को आवृत करती हैं ।



इनके पश्चात् स्थूल सृष्टि के रूप में शक्ति परिणत हो जाती है । इसमें प्रकृति + मन + बुद्धि + अहंकार + दस इन्द्रियाँ + दस पंचतन्मात्राएँ + पंचमहाभूत = २४ तत्व हैं जो सांख्य द्वारा भी स्वीकृत हैं । इनमें जीव को मिला देने से ये २५ तत्व हो जाते हैं । इनमें शिव-शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, अविद्या, कला, राग, काल, और नियति ये ग्यारह तत्व मिला देने पर कुल तत्वों की संख्या ३६ हो जाती है । परमशिव तत्वातीत सत्ता के रूप में माना जाता है । इस प्रकार “स्वच्छन्द शक्ति” की कल्पना के द्वारा शंकर की माया का परिहार करते हुए जगत् को सत्य मानकर भी पूर्ण अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गई है । स्वच्छन्द शक्ति की कल्पना द्वारा ही, जो पांचरात्र-आगमों में भी मिलती है, रामानुज, रामानन्द, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य नन्ददास, सूरदास, हितहरिवंश, हरिदास आदि वैष्णव दार्शनिक और

कवि भी मायावाद का परिहार कर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। शंकराचार्य ने इसीलिए पांचरात्रमत का खंडन किया था और पांचरात्रों की व्यूह कल्पना को, जो इसी शक्तिवाद पर आधारित है, अवैदिक घोषित कर दिया था। मध्यकाल में आगमों के इसी शक्तिवाद को लेकर शंकर के विरुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे।

शक्ति की अभिव्यक्ति तथा नाद और बिन्दु—अज्ञेय तत्त्व जब अपने को संकुचित करके प्रकाश रूप में व्यक्त होता है, तब उसे बिन्दु कहते हैं। जो विदि या वेदनक्रिया में स्वतन्त्र है उसका अविभक्त प्रकाश ही बिन्दु है अतः इच्छा, ज्ञान, क्रिया के उदित होने पर सोम, सूर्य और अग्नि नामक प्रकाश प्रकट होते हैं, इनका मूल अविभक्त रूप ही बिन्दु है। बिन्दु को स्वच्छन्द तंत्र में 'ईश्वर' कहा गया है।^१ ईश्वर मूलसत्ता या परमशिव के बहिर्उन्मेष का नाम है। परमशिव स्वतः सर्व प्रथम प्रकाश के रूप में ही व्यक्त होता है, यह प्रथम बिन्दु कहलाता है, शक्ति (विमर्श शक्ति) को द्वितीय बिन्दु और दोनों को एकता को तृतीय बिन्दु कहते हैं—

प्रकाश — प्रथम बिन्दु—श्वेत बिन्दु (वीर्य)

विमर्श — द्वितीय „ — रक्त बिन्दु (रज)

प्रकाश + विमर्श—तृतीय „ — असित बिन्दु (ऐक्य)

प्रथम बिन्दु, द्वितीय में प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् शिव शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर स्वरूप को जानता है। सूक्ष्म (एक्सट्रेमेट) विचार अपने स्वभाव को नहीं जान सकता अतः विचार की अभिव्यक्ति जैसे क्रिया द्वारा होती है, वैसे ही मूल सत्ता अपनी शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही स्वभाव को जान पाती है तभी बिन्दु को सृष्टि का कारण कहा गया है।^२

नाद—बिन्दु नादात्मक शब्द के रूप में व्यक्त होता है। शब्द का अर्थ है “स्व से अभेद पूर्वक विश्व का परामर्श।” सन्त कवि इसी को शब्द-साधना कहते हैं। यह शब्द नादात्मक है। सम्पूर्ण विश्व में नाद स्फुरित होकर ध्वनित हो रहा है। यही नाद वर्णों का रूप धारण कर लेता है। ‘अ’ से लेकर ‘ह’ तक आकर वर्ण स्थूलता को प्राप्त होते जाते हैं। उधर नाद आकाश का रूप धारण करने के पश्चात् क्रमशः अन्य चार भूतों के रूप में

बदल जाता है, सागर जिस प्रकार उर्मियों को उत्पन्न करके भी शान्त रहता है और उर्मि व सागर भिन्न प्रतीत होने पर भी अभिन्न रहते हैं, उसी प्रकार सृष्टि व शिव एक और अभिन्न है।^१ नाद की इस महिमा के कारण ही योगी नादानुसंधान करके सूक्ष्मतम 'बिन्दु' को प्राप्त करते हैं और शिव-शक्ति की ऐक्यरूपिणी 'बैन्दव' अवस्था को प्राप्त करते हैं।

शांकर वेदान्त में जागृत स्वप्नादि चार अवस्थाओं का जो महत्व है, वही महत्व तन्त्रों में नाद का है। नाद जिस प्रक्रिया से स्थूल पंचभूतों का रूप धारण करता है, उस प्रक्रिया को पिंड में भी देखा जा सकता है। जब बिन्दु विभक्त होता है तो 'अहम्' की अव्यक्त ध्वनि होती है, यही "शब्द ब्रह्म" है, इसके भीतर इच्छा, क्रिया व ज्ञान अवस्थित हैं। इच्छा-क्रिया, ज्ञानात्मक नाद, पिंड में भी ध्वनित हो रहा है। पिंड में यह नाद, परा, पश्चन्ती, मध्यमा व वैखरी-इन चार सोपानों में विकसित होकर वैखरी-स्थिति में शब्द रूप धारण करता है। इस सूक्ष्म नाद का ही कुंडलिनी योग द्वारा अनुसंधान किया जाता है।

कुंडलिनी शक्ति—कुंडलिनी चित्शक्ति का ही दूसरा नाम है। यह सम्पूर्ण को गर्भकृत करने के कारण ही कुंडलिनी या जगत् की योनि कहलाती है।^२ चित्शक्ति ही नाद रूप में वर्णमाला में प्रकट होती है। इस चित्शक्ति के परामर्श के बिना मंत्र फल नहीं देते क्योंकि मंत्र शक्ति के ही स्थूल रूप हैं। भैरवीचक्र या श्रीचक्र में इसी चित्रूपा शक्ति का ही ध्यान किया जाता है। वर्णमाला में व्यक्त होने पर कुंडलिनी शक्ति को मालिनी कहा गया है। अतः वर्णों में ब्रह्मांड की सारी शक्ति अवस्थित है, तन्त्रों का यह अखंड विश्वास है।

सहज—सृष्टि परमशिव के 'काम' का परिणाम है। पिंड में इसीलिए सम्पूर्ण क्रियाओं का कारण काम ही है। 'कामकला' अप्रतिहत रूप से संचरित होने से 'सहज' या 'स्वयंभू' कहलाती है, यही कामकला नाद और बिन्दु का भी कारण है। बिना इच्छा के मूल सत्ता बिन्दु का रूप धारण कर ही नहीं सकती। प्राकृत रति के समय इस 'काम' का स्थूल रूप अनुभव में आता है।

१ तंत्रालोक-जिल्द २, भा० पृ० १४७।

२ या सा कुंडलिनी सात्र, जगद्योनि : प्रकृतिता-तन्त्रा० जिल्द २, भा० ३ पृ० २०७

स्थूलता में यह उदित और अस्त होती हुई प्रतीत होती है, जिस प्रकार प्राकृत रति-क्रीड़ा के समय कामिनी के 'हा हा' आदि शब्दों द्वारा यह कामेच्छा प्रकट होती है, उसी प्रकार सृष्टि के मूल में व्याप्त नाद भगवान् की चितशक्ति द्वारा व्यक्त होता है। प्रियाकंठ से सहज और सुखकर रूप में प्रकट होने के कारण जैसे लोक में इसे 'सहज' ही कहा जाता है, वैसे ही मूलसत्ता की सृष्टि-इच्छा को सहज ही कहा जाता है। नाद को भी इसीलिए सहज कहा गया है।^१ क्योंकि वह काम का ही व्यक्तरूप मात्र है। माधक तभी शिव-शक्ति की दिव्य कामेच्छा या शृंगार लीला का ध्यान करते हैं और भावुक भक्त उसे विभोर होकर गाते हैं। योगी नादानुसंधान द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। द्वन्द्वातीत होने पर ही 'सहजावस्था' प्राप्त होती है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया स्वतः साधक के सम्मुख स्पष्ट हो जाती है।

पाश—शक्ति शिव को नाना पाशों से बाँधती है। कंचुक ही पाश हैं। शिव जीव रूप में स्थित होकर अल्पज्ञता के कारण दुःख उठाता है। ज्ञान होने पर इसी शक्ति की सहायता से वह अपने रूप को पहचान सकता है, यही 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। यह वस्तु ऐसी है, इसमें अन्यथा नहीं है; इस प्रकार का ज्ञापन कराने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है।^२ जीव को अपने रूप का ज्ञान केवल इसी शक्ति द्वारा हो सकता है। ज्ञान के अतिरिक्त शक्ति के दो रूप और हैं—इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति। शिव का त्रिशूल इन्हीं तीन शक्तियों का प्रतीक है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया अलग अलग रहकर भेद उत्पन्न करते हैं और भेद ही 'पाश' है। शिव स्वरूप के गोपन होने से अज्ञान या पाश उत्पन्न होता है। इसी को आणवमल कहा गया है।

साधना के लिए शिव के ६ रूप स्वीकृत किये गए हैं—भुवन, विग्रह, ज्योति, खं, शब्द और मन्त्र। इनमें से किसी एक को साध्य बनाकर साधना की जाती है। भुवन शब्द का अर्थ है 'भोगाधार रूप', लोकादि। विग्रह = रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि शिव के अनेक रूप हैं। ख = शून्य। शब्द = नाद साधना। मन्त्र = अकार, मकार आदि। ज्योति = प्रकाश।

शक्ति के भेद—पदार्थ अनेक हैं अतः उन्हें देखकर भिन्न-भिन्न शक्तियों

१ तंत्रा जिल्द २, आ० ३, पृ० १५१

२ " " १, आ० १, पृ० १८, १९

की कल्पना की जाती है। मूलतः शक्ति एक है।^१ जगत् शक्तिरूप है। यही शक्ति उपाय के रूप में स्वीकृत है। शक्ति के द्वारा ही शिव का ध्यान होता है। शक्ति उपाय है और मन उपायकर्ता है। जिस प्रकार मन से बाह्य-पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार शक्ति द्वारा शिव का मानस प्रत्यक्ष होता है। अतः शक्तिरूप जगत् के पदार्थ शिवामृत से परिप्लुत है। पदार्थों को इसीलिए अमृतमय कहा गया है।

वृत्ति—मन की वृत्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। भाव, अभाव। ध्यान के समय इन दोनों के मध्य में शून्यावस्था की झलक मिलती है। मन की लहर या तो भावमय होती है, या अभावमय, इन दोनों के बीच में आत्मा की झलक मिल जाती है, अतः इसी मध्यम मार्ग को साधना के समय अपनाया जाता है। इसी को बौद्ध दार्शनिक “मध्यमा प्रतिपदा” कहते हैं। शून्यावस्था भी यही है। इस अवस्था के पश्चात् ‘उन्मनावस्था’ आती है और उसके पश्चात् साक्षात् ब्रह्म प्राप्त होता है।^२ इसीलिए कहा गया है कि ऊर्ध्व-पथ तथा अधो-गति को छोड़कर अथवा प्राण व अपान वायु को छोड़कर मध्यदेश गामी बनकर रामस्थ हो जाना चाहिए।^३ रामस्थ करने वाला मार्ग तभी सुषुम्ना मार्ग को ही ठहराया गया है।

राम—अभिनवगुप्त ने राम शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जड़ व अजड़ विश्व-वैचित्र्य द्वारा क्रीड़ा करने वाला तत्त्व राम है।^४ राम या शिव एक ही तत्त्व है। आभासरूप विश्व में वह राम क्रीड़ासक्त रहता है। तन्त्रों का यह क्रीड़ासक्त या लीलासक्त रूप ही सूर, तुलसी आदि वैष्णवों में भी स्वीकृत है। विकल्प के नाश से ही यह ‘राम’ प्राप्त हो सकता है।

निरंजन—इसी प्रकार अभिनव ने ‘निरंजन’ की भी व्याख्या की है।

१ फलभेदावारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः

तंत्रा० जिल्द १, आ १, पृ० ११०

२ उन्मना तु ततोऽतीता, तदतीतं निरामयम् : तंत्रा० जिल्द १ आ० १, पृ० १२८

३ ऊर्ध्वं त्यक्त्वा विशेषतः रामस्थो मध्यदेशगः तंत्रा० जिल्द १, आ० १, पृ० १३०

४ तत्तज्जड़ाजड़ात्मना विद्वद् वैचित्र्यात्मना क्रीडति इति रामः आ० १, पृ० १३१

निरंजन का अर्थ है—जिससे शक्तिमान पूर्णता के साथ प्रकट किया जाय, वही तत्त्व निरंजन है। शक्ति द्वारा ही तत्त्व पूर्णता के साथ व्यक्त होता है। अतः शक्ति को ही तन्त्र में निरंजन कहा गया है। शिव और शक्ति की एकता के कारण शिव की संज्ञा भी निरंजन ही है। इच्छा, ज्ञान व क्रिया द्वारा ब्रह्म अंजित या प्रकट होता है। अतः शक्ति के तीन रूपों में सामरस्य लाकर योगी निरंजन हो जाता है^१ साधना को भी अभिनव निरंजन ही कहते हैं।^२

साकार ब्रह्म—साकार-ब्रह्म, साधना की सुविधा के लिए है। निश्चला-बुद्धि की ओर यह एक सोपान मात्र है। निश्चला-बुद्धि में निराकार व निराश्रय राम या शिव ही साध्य बनता है, साकार नहीं किन्तु वैष्णवादि साधक साकार ब्रह्म का ध्यान करते हैं।

ज्ञान व क्रिया—क्रिया व ज्ञान में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।^३ योग व क्रिया एक है। तत्त्व में आसक्त मति ही क्रिया है। इससे वासना की शान्ति होती है।^४ तत्त्व में चित्त का लय हो जाना ही योग है। क्योंकि चेतना से भिन्न तत्त्व नहीं है अतः ज्ञान, योग व क्रिया एक तत्त्व है।^५ अतः साकार—निराकार उपासना के भेद व्यावहारिक है। जैसे घट का ध्वंस चाहे प्रस्तर से हो या दंड से, परन्तु ध्वंस तो होता ही है। अतः मोक्ष रूप कार्य (वासना का नाश) किसी भी उपाय से हो सकता है।

साधना के भेद—अधिकारी की मानसिक क्षमता या रुचि के अनुसार साधना के भेद करने पड़ते हैं इन्हें आगमों में 'उपाय' कहा गया है। शाम्भव, शाक्त और आणव ये तीन उपाय हैं।

१ लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तन्त्रिशूलकम्

यस्मिन्नांशु समावेशाद् भवेद्योगी निरंजनः तंत्रा० आ० ३ पृ० ११५

२ क्रियादेवी निरंजनाम्—वही पृ० ११४

३ यतो नान्या क्रिया नाम—ज्ञानमेव हि तत्तथा।

रूढेर्योगन्ततां प्राप्तिमिति—श्रीगमशासने - तंत्रा० जिल्द १, आ०

१ पृ० १८८

४ योगो नान्यः क्रिया नान्या, तत्त्वारूढा हि या मतिः

स्वचित्त वासना शांतो - सा क्रिया इति अभिधीयते - वही पृ० १८६

५ वही पृ० वही

शाम्भव उपाय—विकल्परहित स्थिति शाम्भवावस्था है। जड़ या परिमित तत्त्व के निमज्जन से सहसा बोध प्राप्त हो जाने पर जो तादात्म्य प्राप्त हो जाता है वह शाम्भवआवेश कहा गया है।^१ यह एक प्रकार का आम्यन्तर ध्यान है, जिसमें सहसा ही चैतन्य जाग्रत हो जाता है। इसे प्रातिभ या स्वयं प्रकाश्यज्ञान भी कहा जा सकता है। इस ज्ञान के जाग्रत हो जाने पर किसी प्रकार की बाह्य साधना की आवश्यकता नहीं रहती। हिन्दा के सन्तकवि बाह्य साधनाओं का खंडन करते समय इसी अवस्था की ओर संकेत करते हैं।

शाक्त उपाय—सभी साधकों में प्रातिभ ज्ञान सहसा नहीं जगता। चित्त, बुद्धि और अहंकार चेतना को क्षुब्धित करते रहते हैं, इसलिए शाक्त उपाय के द्वारा भेद से अभेद की ओर बढ़ा जाता है। इसमें अन्तःकरण का संस्कार गुरु की सहायता से किया जाता है। बारम्बार चैतन्य के विमर्श से आध्यात्मिक प्रकाश स्फुटित हो जाता है।^२ इसलिए माया के नाश के लिए तत्त्व का पुनः पुनः संपरामर्श आवश्यक है। यह स्मरणीय है कि इस साधना में संन्यास मार्ग की तरह अन्तःकरण का नाश नहीं किया जाता, संस्कार किया जाता है।

आणव उपाय—शाक्त उपाय मध्यम प्रकार के साधकों के लिए है और आणव उपाय प्रारम्भिक उपासकों के लिए। इसलिए पहले आणव उपाय का ही विवरण यहाँ दिया जाता है क्योंकि शाक्त उपाय में भी दीक्षादि अनिवार्य है। हम यहाँ केवल तंत्रालोक में वर्णित साधना के उन्हीं पक्षों को प्रस्तुत करेंगे जिनका अध्ययन सन्त वैष्णव सम्प्रदायों को समझने के लिए आवश्यक है।

इस उपाय में प्रथम “स्थान-कल्पना” का वर्णन मिलता है। इसके तीन भेद हैं—प्राण, देह और जगत्। देह के दो भेद हैं—बाह्य और आन्तरिक। मंडल, पात्र, पुस्तक, प्रतिमा, मूर्ति आदि स्थूल देह के ११ भेद माने गए हैं।^३ सूक्ष्म देह प्राणों में प्रातिष्ठित मानी गई है।

इस प्रकार भक्तों की उपासना और अर्चा इस प्रारम्भिक सोपान में ही आती है। इसमें योग को भी स्वीकार किया गया है।

१ योगो नान्यः क्रिया नान्या, तत्वारूढा हि या मतिः स्वधित वासना शातो-- सा क्रिया इति अमिधीयते आ० १ पृ० २०६, २१०

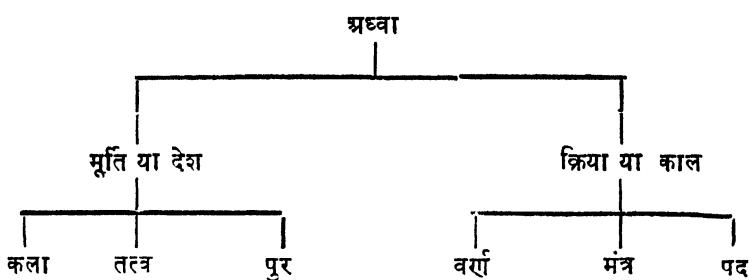
२ तंत्रालोक, जिल्द ३, आ० ४ पृ० ७

३ बही जिल्द ४, आ० ६, पृ० १ से ४ तक

साधना के लिए ६ मार्गों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

प्राणध्वा या प्राणमार्ग—प्राण कालात्मक है अतः काल का ज्ञान 'कालध्वा' कहलाता है। क्रम-क्रम से काल का ज्ञान हो तो उसे क्रम कालध्वा अथवा अकस्मात् ज्ञान हो तो उसे अक्रमकालध्वा कहते हैं। परमतत्त्व का काल से योग ही शक्ति है। अर्थात् ब्रह्म जब अपने को सीमित करता है तब उसकी संज्ञा शक्ति होती है, इसी को कालो कहा गया है। यही काली काल के साथ संयुक्त होकर प्राण के रूप में स्फुरित होती है। स्वात्मा का स्वेच्छा से बहिर्मुख होकर स्पन्दित होना ही प्राण है। प्राण काल में सीमित चैतन्य का नाम है अतः काल का सूक्ष्म वर्णन शैव साधकों ने किया है। दिन-रात में कुल २१६०० श्वास चलते हैं। प्राणशक्ति का अवधारण कर पुनः पुनः तत्त्व का परामर्श ही ध्यान है। यही प्राण का शिखा-बन्धन कहलाता है। प्रत्येक श्वास के साथ सहजगति से सोऽहं, सोऽहं अप्रतिहत रूप से चलना चाहिए। यही 'सहज जप' है। इसी को कालध्वा या प्राणध्वा कहा गया है। जब प्राण को मध्यमार्ग में प्रविष्ट किया जाता है, तब देवता जाग्रत हो जाते हैं और शक्तियाँ अपना फल दिखाने लगती हैं।

वेशाध्वा या मूर्तिअध्वा—मूर्ति के रूप में तत्त्व का आभास देशाध्वा है। यह तीन प्रकार का है—कला, तत्त्व और पुर। इस प्रकार मूर्ति व क्रिया के रूप में देश व काल, ये दो प्रकार के अध्वा होते हैं और प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—



उक्त कला, तत्त्व, पुर, वर्ण, मंत्र तथा पद के स्थूल और सूक्ष्म ये दो दो भेद और होते हैं।

कालविजय—यद्यपि प्राण सर्व व्यापी है, तथापि प्राण को अस्फुट रूप में अवस्थित माना गया है। हृदय देश में वह स्फुट होता है। कन्द (लिंग व गुर्दा के मध्य) में स्थित प्राण को 'संवेद्य' कहा गया है। यह प्राण हृदय

तक अस्फुट रहता है। हृदय से प्राण स्फुट होने लगता है। तन्त्रालोक में सम्पूर्णा विश्व को प्राणों में अवस्थित माना गया है।^१ 'तुटि' को काल का सबसे सूक्ष्म अंश माना गया है। तुटि से लेकर कल्पादि तक का ज्ञान प्राणानुशासन द्वारा होता है। योगी सहज ही तुटि से लेकर १२ वर्ष तक की तिथि, मास, वर्षादि को ध्यान में ला सकता है परन्तु सहसा दीर्घकाल का ध्यान फल नहीं देता। जो योगी दीर्घकाल का भी ध्यान कर सकता है, वह महाकाल कहलाता है। महाकालावस्था में नियति, काल, राग आदि कंचुकों का लय हो जाता है। प्राण को सुषुम्णा में स्थिर करने पर जब अन्य तत्व लय हो जाते हैं तब संवित् शेष रहती है, परन्तु आगे वह भी चैतन्य में लीन हो जाती है। शिव, शक्ति एक हो जाते हैं। इसी को 'सामनस पद' या महाप्रलय कहते हैं।

वर्णोदय तथा अजपा जाप—वर्णों के पीछे एक अनाहत वर्ण है जो अनवरत रूप से नादात्मक है। मंत्र पर, स्थूल व सूक्ष्म तीन प्रकार के होते हैं। वर्णात्मक मन्त्रों में सर्वदा अनाहत नाद संचरित होता रहता है। जैसे अर्धट्ट के चक्र में यदि एक बाल्टी को ठीक कर दिया जाय तो सब ठीक काम करने लगती है, उसी तरह अनुसंधान बल ले यत्नपूर्वक देवता रूप होने से मंत्र द्वारा तादात्म्य प्राप्त होता है। मंत्र जप के समय उपर्युक्त प्राण-साम्य आवश्यक है। चूंकि भेद स्पन्द के अधीन है और प्राण स्पन्द के, अतः प्राणानुशासन मन्त्र के लिए आवश्यक है क्योंकि मन्त्र में भी स्पन्द ही स्फुरित होता है। प्राण-साम्य से मन्त्र सिद्ध हो जाता है अर्थात् भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे उच्च स्थान से देखने पर नीचे के प्रदेश एकाकार दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही संवित् या चैतन्य की प्राप्ति होने पर भेद समाप्त हो जाते हैं। मानस जप ही अद्वैत स्थिति का साधन है। इसमें मौन जप चलता रहता है। सन्त कवियों का अजपा जप यही है।

सुषुम्णा में प्राण के संचार व निर्गमन के साथ मानस जप ही सृष्टि के लय व प्रलय का कारण है, सारे चमत्कारों का कारण यही क्रिया है। मानस जप में प्राण-शक्ति के उदय, संगम और शांति में जप किया जाता है अर्थात् प्राणशक्ति के उदय स्थान कुंडलिनी स्थान में, संगमस्थल हृदयदेश में तथा प्राण शक्ति जहाँ शान्त होती है, उस ऊर्ध्वप्रदेश में जप होता है। जप में

प्राण दो बार चक्कर काटता है । प्राण का विकास व आकुंचन दोनों होते हैं । प्राणों की साम्यावस्था सुषुम्णा में ही सम्भव है ।

वेशाध्या—शैव-शासन में सारा ध्यान चेतना पर केन्द्रित किया गया है । सारी साधनाएँ चैतन्य से रहित होकर निष्फला मानी गई हैं । अतः शैवों का यह दृढ़ मत है कि भुवनों का वर्णन कल्पित है । शिष्यों को समझाने के लिए ही केवल लोकादि की कल्पना है । भुवन, स्वर्ग आदि के वर्णन का विस्तार करके शिष्य को वस्तुतः चैतन्य का ज्ञान ही कराया जाता है अतः 'ध्यान' के लिए ही लोकादि की कल्पना को उपयोगी माना गया है ।^१ यह भी कहा गया है कि आचार्यों को शिष्यों को आश्वस्त करने के लिए विभिन्न लोकों की कल्पनाएँ कर लेनी चाहिए ।^२ इससे 'सालोक्य' मुक्ति प्राप्त होती है । और अन्त में निराकार ब्रह्म की ओर शिष्य की गति हो जाती है । परवर्ती सन्त मत में जो विभिन्न लोकों की और पुरुषों की कल्पनाएँ हुई हैं उन सब का मनोवैज्ञानिक कारण ऊपर बतलाया गया है । शिवदयाल के राधास्वामी सम्प्रदाय में जिन नये लोकों की कल्पनाएँ मिलती हैं वे सब वस्तुतः केवल साधना के लिए ही उपयोगी हैं ।

तत्त्व विजय—काल तथा पुरो (देश) के वर्णन के पश्चात् प्रारम्भिक साधकों के लिए तत्त्वों का ज्ञान भी आवश्यक बताया गया है । हम ३६ तत्त्वों की चर्चा कर चुके हैं । यह सब तत्त्व-ज्ञान केवल अभेद-बुद्धि जाग्रत करने के लिए ही है । यह स्पष्ट कहा गया है कि चित्त का अनुसंधान ही फल देता है ।^३ प्रतिमा, तत्त्व, लोक आदि फल नहीं देते । पंचभूतों के साथ तादात्म्य भावना द्वारा तत्त्वों पर विजय प्राप्त की जाती है । तत्त्व गुण का नाम है अतः पृथ्वी, जल और अग्नि आदि के गुण का ही ध्यान किया जाता है । इनके ध्यान से समाधि भी प्राप्त होती है । ऐसे योगी को पिंडस्थ योगी कहते हैं ।

कलाध्या—भुवनों में व्याप्त होकर भी जो तत्त्व भिन्न रहे वह कलातत्त्व कहलाता है । जैसे गीत गायों में व्याप्त है । उसी तरह कला सब भुवनों में

१ यद्यप्यमुष्य नाथस्य, संवित्यनतिरेकिणः

पूर्णस्योर्ध्वादिमध्यन्त-व्यवस्था नास्ति वास्तवो-तंत्रा० जि० ५, आ० ८, पृ० १३

२ अन्येऽपि बहु विकल्पाः स्वधियाचार्यः समम्पूह्याः " " पृ० २७६

३ तंत्रा० जिल्द ७ आ० १० पृ० ८८

व्याप्त है। कुछ साधक तत्त्वों में व्याप्त सूक्ष्म शक्ति को कला मानते हैं जैसे घरणी में धारिका शक्ति। कहा गया है कि शक्ति का भेदन करके देवी आती है और स्पर्श नष्ट हो जाने के बाद व्याप्त हो जाती है। इस समय 'पिपीलिका—दंशन' जैसा अनुभव होता है। इस साधना में प्रकृति के गुणों के साथ तादात्म्य किया जाता है परन्तु योगी स्पर्श को विशेष महत्त्व देते हैं क्योंकि स्पर्श क्षोभक कम होता है। स्पर्श का अनुभव शान्त हो जाने के बाद योगी का चित्त आकाशवत् शान्त हो जाता है। इसी को 'गगनोपम' अवस्था कहा गया है जो क्रमशः तत्त्वों पर विजय पाने से भी प्राप्ति होती है।^१

पद और मंत्र—जिससे ज्ञान होता है, उसे 'पद' कहते हैं। ज्ञान पाकर साधक अक्षुब्ध होता है, यही मंत्रमय स्थिति है। मंत्रमय का अर्थ 'गुप्तभाषी' होना है। पद व मंत्र के अभिन्न होने से मंत्रत्व और भी सूक्ष्म हो जाता है, इसे 'पद-मंत्र' कहते हैं।

शक्तिपात का सिद्धांत—शैव-शासन में शक्तिपात की बड़ी महिमा है। मल के नाश के लिए शक्तिपात ही समर्थ है। भगवान् स्वयं लीलार्थ अपना गोपन करता है और स्वतः जब जिसे चाहता है, अपनी ओर उन्मुख करने के लिए अनुग्रह करता है, यही अनुग्रह शक्तिपात कहलाता है। शक्तिपात नियत व अनियत दो प्रकार का होता है। क्रम से भी शक्तिपात होता है और अकस्मात् भी। सब हरि इच्छा है। इस शक्तिपात की प्राप्ति में आत्म-परामर्श के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कारण नहीं है। कुल, जाति, कर्म आदि किसी से भी भगवान् का अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता।^२ शक्तिपात का प्रथम चिह्न है शिव में भक्ति।^३ भक्ति दो प्रकार की है—सफल और निष्काम। प्रथम भक्ति में कर्म की अपेक्षा है, दूसरी में नहीं।^४ शैवों ने शक्तिपात के अनेक रूपों का वर्णन किया है।

१ तत्स्पर्शान्ते तु संवित्तिः, शुद्ध चिद्वयोमरूपिणी।

यस्यां लुब्धः समभ्येति, स्वप्रकाशात्मिका पराम्।—तंत्रा० आ० ११ पृ० २७

२ कुलजाति वपुष्कर्म वयोनुष्ठानसंपदः

अनपेक्षय शिवेभक्तिं, शक्तिपातो फलार्थिनाम्। तंत्रा० जिल्द ८, आ० १३, पृष्ठ संख्या ७६

३ भक्तिर्हि नाम अस्य प्राथमिकं चिह्नं—वही पृ० ७६, ८०

४ वही पृ० ८०

वैष्णवों व शैवों का शक्तिपात—वैष्णवों के यहाँ शक्तिपात से वैष्णवत्व मात्र प्राप्त होता है। शिवत्व या मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मा, विष्णु आदि शिव की माया से ग्रस्त है। शिव सम्राट है। अतः वैष्णव पूर्ण अभेद को प्राप्त नहीं कर सकता, अतः वैष्णव शक्तिपात मोक्ष नहीं दे सकता।

पुराण और शक्तिपात—शैवों ने पुराणों से भी शक्तिपात को पुष्ट किया है।^१ क्योंकि उनमें भगवान् के 'प्रसाद' का वर्णन है। ईश्वर स्वातंत्र्य से संकोच के अवभास से स्वयं अगुता को धारण करता है।^२ और पुनः जब वह निर्मल रूप दिखाता है तो उसे 'प्रसाद' कहते हैं। ईश्वर की प्रसन्नता ही मल का नाश करती है।

इस प्रसाद की प्राप्ति के लिए शैवागमों में भी वैष्णवों की तरह प्रार्थनाएँ और स्तोत्र हैं। यह प्रसाद सर्वाधिक रूप में शैवों को मिलता है क्योंकि वे सबसे अधिक प्रतिभाशाली हैं। वेदों से अधिक यह शक्तिपात वाममार्गियों को, उनसे अधिक दक्षिणपंथियों को, पुनः कौलों को और सबसे अधिक त्रिक शासन के विश्वासियों को मिलता है।

हरि-प्रसाद से ३ प्रकार का ज्ञान मिलता है—१ वैदिक ज्ञान, २ चिन्तामय ज्ञान और ३ भावनामय ज्ञान। विधि-निषेधमय ज्ञान वैदिक ज्ञान है। शास्त्रालोचन चिन्तामयज्ञान है। इसके पश्चात् भावमय ज्ञान उत्पन्न होता है। शैव मत में ज्ञान व भाव दोनों की सत्ता मानी गई है। जो यह समझते हैं कि तंत्रों में भक्ति नहीं है उन्हें उक्त व्याख्या ध्यान से पढ़नी चाहिए। अभिनव के अनुसार स्वपरामर्शरूप विवेक के जाग्रत होने के पूर्व इन्द्रियो व मन की वासना से 'जड़ता' रहता है जो मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाती है। किन्तु विवेक के जाग्रत हो जाने पर वही मन और इन्द्रियों स्व, स्व के तिरस्कार से ज्ञान को जन्म देती है। अतः मन व बुद्धि व इन्द्रियों के बिना ज्ञान का अधिगम नहीं हो सकता। इसीलिए शैवों में ज्ञान के बाद भी भक्ति रहती है।

दीक्षा—तांत्रिक मतों में दीक्षा का विशेष महत्त्व है। क्योंकि मायामल का नाश दीक्षा से ही होता है। तंत्रालोक में मंत्रवेध, नादवेध, बिन्दुवेध, भुजंगवेध, शक्ति वेध, परवेध आदि अनेक प्रकार की दीक्षा-प्रक्रियाओं का

वर्णन है। इनमें शिष्य को अनेक प्रकार के ध्यान कराये जाते हैं। जैसे मंत्रवेध में आठ अर वाले चक्र का, नादवेध में सूक्ष्म नाद का, शाक्तवेध के साथ संयुक्त होकर कुण्डलिनी का और भुजंगवेध में पाँच फण वाली देवी का ध्यान कराया जाता है।^१ गुरु का रूप जब तक शिष्य की चेतना में प्रविष्ट नहीं होता तब तक दीक्षा अधूरी है। भोग द्वारा योग चाहने वाले शिष्यों को गुरु पंचमकार का रहस्य भी समझाता है। दीक्षा के समय स्नान, आचमन आदि को आन्तरिक ही माना गया है। बाह्य स्नान आदि का कोई महत्व नहीं माना गया है।^२

पीठ—दीक्षा के समय पीठ का रहस्य भी समझाया जाता है। बिन्दु और नाद को आन्तरिक पीठ कहा गया है। बाईं ओर बिन्दु और दाईं ओर नाद है। ऊपर अग्रपीठ है जो कामरूप भी कहलाता है। नाद को पूर्वागिरिपीठ कहा जाता है। उड्डियान भी नाद की उत्तर दशा को व्यक्त करता है। प्राण मे संवित् का दर्शन ही मुख्य माना गया है। बाहरी तीर्थों और पीठों को व्यर्थ कहा गया है।^३ मुक्ति स्थान जन्य नहीं है। जिस स्थान पर हृदय-अंभोज विकसित हो वही स्थान श्रेष्ठ है।^४ इसी परम्परा को मानने के कारण कबीर काशी छोड़कर मगहर चले गये थे। यह स्मरणीय है कि तंत्रालोक मे कलिंगपीठ को विशेष उपयुक्त माना गया है। अर्थात् वैदिक परम्परा मे जिन स्थानों की निन्दा की गई है, तन्त्रो में उन्ही को पवित्र माना गया है।

न्यास—शैव वर्णमाला में शक्ति की पूर्ण अवस्थिति मानते हैं। इसलिए शरीर पर उनकी स्थापना की जाती है। इससे आवेश उत्पन्न होता है।^५ वैष्णवभक्त भी अपने शरीर पर वर्ण स्थापित करते हैं।

मूर्ति—मूर्ति का वास्तविक अर्थ तन्त्रो मे ही मिलता है। अहंकार के नाश से देहाध्यास नष्ट हो जाने के पश्चात् जब चेतना निस्तरंग हो जाती है तब इस स्थिति के पश्चात् जो स्वतः स्फूर्तिरूपधारिणी तरंग उत्पन्न होती है,

१ तंत्रा० जिल्द ११, आ० २६, पृ० १५२ से १५६

२ ,, जिल्द ६, आ० १५, पृ० ४२

३ तन्त्रालोक जिल्द ६, आ० १५, पृ० ४२

४ वही

५ वही

उपे मूर्ति कहते हैं । अतः मूर्ति चेतना का प्रथम स्फुरण है ।^१ क्योंकि संवित् का कार्य सृष्टि करना है अतः चैतन्य अपने एक अंश से जिस रूप की सृष्टि करता है वही वास्तविक मूर्ति है । बाह्यमूर्तियाँ केवल तादात्म्य प्राप्ति के लिए हैं । वैष्णव साधकों की मूर्तिउपासना का मनोवैज्ञानिक रूप इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है । शैव साधक प्रणव, बिन्दु और नाद को भी मूर्ति ही कहते हैं ।

मुद्रा—शिव की स्फूर्ति शरीर में जो एक विशेष तनाव उत्पन्न कर देती है वही मुद्रा है । पराशक्ति की मदिरा से मत्त शरीर में जो उत्थान आदि चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, वे ही मुद्राएँ हैं ।^२ शाम्भवी, मनोजा, मंत्रजा, खेचरी, आदि इसके अनेक भेद हैं । देवाध्य-यामल में मुद्रा को बिम्ब या चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना गया है ।^३ एक अन्य अर्थ मुद्रा का यह है—जिससे देवता द्रवित हो, वह मुद्रा है । देवता मुद्राओं से प्रसन्न होता है ।^४ अथवा अशेष पाशजालों से जो मोचन कराती है, वह मुद्रा है ।^५

मुद्रा में मानसिक स्थिति—मूलाधार से शक्ति को उठाकर योगी नाभि-देश में मन का निवेश करते हैं और वही मन को बार बार रोक कर, इडा, पिंगला की वायु का मध्यम-मार्ग में समावेश करते हैं । बिन्दु, नाद और ब्रह्मरंध्र नामक तीनों आकाशों तक प्राण को ले जाते हैं और वही कुम्भक द्वारा प्राण को रोकते हैं । पुनः व्यापिनी व समना तथा शक्ति नामक तीन आकाशों को पार करते हैं और फिर 'उन्मत्तावस्था' की ओर बढ़ कर परम-शिव में लीन हो जाते हैं । यही गगन-चारित्व है । परमव्योम और खेचरी मुद्रा भी यही है । कबीर बार-बार इसी स्थिति की ओर संकेत करते हैं । तंत्रालोक

१ तस्मिन् ध्रुवे निस्तरंगे, समापत्तिमुपागतः संविदः सृष्टिर्धर्मित्वादाद्वा
भेति तरंगिताम् । सैव मूर्तिरिति ख्याता—तन्त्रा० आ० १५, पृ०
११८, ११९

२ कुले योगिनि उद्विक्तः भैरवीयपरासवात्
धूणितस्य स्थितिदेहे मुद्रा या काचिदेव सा । तन्त्रा० जि० ३, आ० ४,
पृ० २१०

३ तन्त्रा० जिल्ब १२, आ० ३२, पृ० ३०४

४ " " पृ० ३०५

५ वही

में खेचरी मुद्रा को निष्कला मुद्रा कहा गया है। अन्य मुद्रायें इसी की भेद-मात्र हैं। प्रारम्भिक साधकों को इन मुद्राओं का अभ्यास कराया जाता है किन्तु द्वन्द्वातीत हो जाने पर ये मुद्रायें स्वतः प्रकट होती हैं।

पूजा—इन्द्रिय विशेष में स्थित मन को जो आह्लाद वृत्ति है उसे ब्रह्म से जोड़देनी ही पूजा है।^१ स्वतन्त्र संविति ही बाह्य विषयों से स्फुरित हो रही है। यह अनुभव ही सर्वस्व है। अन्य साधनाएँ कृत्रिम हैं। पूजा की इस व्याख्या से वैष्णव भाव साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है।

मंत्र—मंत्र या चैतन्य में अन्तर नहीं है। चैतन्य परामर्श से जो स्वतः ध्वनि स्फुरित होती है, यही जप है। इसी अनवरत ध्वनि को सन्त कवि अजपा जाप कहते हैं और शैव स्पन्द। आत्मा का उच्छ्वसन ही स्पन्द है। यही परावाक् है। इस अनुभव के अभाव में कर में माला लेकर मंत्र का कोलाहल करना व्यर्थ है। इस ज्ञान से योगी जो कुछ कहता है वह जप हो जाता है। इसे सहज जप भी कहा जा सकता है।

ध्यान—धन की आकांक्षा करने वाले साकार का ध्यान करते हैं। धन के लिए लक्ष्मी और रक्षा के लिए दशभुज देवी का ध्यान किया जाता है। साधक की इच्छा के अनुरूप देवताओं का रूप कल्पित किया जाता है।

होम—तत्त्वबोध की अग्नि से ही सप्त इन्द्रियों की लपटें निकलती हैं। इसमें भाव वर्ग का हवि देने को ही शैवों ने वास्तविक होम माना है।^२

प्रारम्भिक और मध्यम दोनों प्रकार के उपासकों के लिए शैव तन्त्र में वामाचार को स्वीकार किया गया है। दोनों में क्रम-साधना स्वीकृत है। तांत्रिक योग में वामाचार और कुण्डिलिनी योग साथ साथ ही वर्णित मिलता है। क्योंकि तांत्रिक काम-क्रीड़ा द्वारा भी शक्ति जागरण में विश्वास करने हैं। मध्यम प्रकार के साधकों के लिए इस प्रकार के शक्ति जागरण को अनिवार्य माना गया है।

तांत्रिक योग—साधना का उद्देश्य शैवों के अनुसार अमृत-तत्त्व की प्राप्ति

१ यत्किंचन्मानसाल्हावि, यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ ।

योज्यते ब्रह्म सद्ब्रह्मिन्, पूजोपकरणं हित त् । तंत्रा० जि० ३, आ० ४, पृ० १२२

२ महाशून्यालये बन्ही, भूताक्षविषयादिकम्, हृयते मनसा सार्धं, स होमः
स्रुक् चेतना, स्वच्छन्द तंत्र, जि० १ पृ० ८७

है। पिंड में यह अमृत सूर्य नाड़ी व चन्द्र नाड़ी के संयोग से उत्पन्न होता है। सूर्याग्नि को पुरुष और चन्द्र नाड़ी को स्त्री माना गया है। अतः जैसे पुरुष-स्त्री के समागम से अमृत उत्पन्न होता है, वैसे ही सूर्य व चन्द्र की एकता में अमृत प्राप्त करना ही साधना है।^१ शैवा के अनुसार प्राकृति रति को समझ लेने पर सारो सृष्टि का रहस्य समझ में आ जाता है। इसीलिए चक्रपूजा में सम्भोग को इतना अधिक महत्व दिया गया है। परन्तु साथ ही यह समागम तत्त्व ज्ञान के रहस्य को समझने के लिये ही विधेय ठहराया गया है। केवल इन्द्रियों को तृप्त करना इसका उद्देश्य नहीं है।

अमृत का अर्थ है ब्रह्मानन्द, जिसके आभास की एक झलक विषयानन्द द्वारा ही मिल सकती है। विषयानन्दरत साधक जब 'मैं वह हूँ, 'वह मैं हूँ', यह सब मेरा ही विस्तार है—इस प्रकार पुनः पुनः परामर्श करते हुए स्वरूप-स्थित हो जाता है। साधक की यह स्थिति परमहंस-स्थिति कहलाती है। क्योंकि वह 'सोऽहं' 'हंसः' की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। साधक परमहंस होकर पुनः पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता।^२ वह निरर्गल होकर विचरण करता है। बाह्य-साधनायें केवल द्वैतनाश के लिए हैं। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब देखकर एकात्म्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विकल्प रूपी मुकुर में अर्थात् ध्यान, पूजा, अर्चना आदि में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर भैरव (साधक) तन्मय हो जाता है। इस स्थिति में शुद्धि, अशुद्धि, भक्ष, अभक्ष, द्वैत, अद्वैत, आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। यही कौलावस्था है। लोक व्यवहार की रक्षा के लिए आचार-विचार का पालन आवश्यक बताया गया है किन्तु मन से कौल निर्वन्द रहता है। वह आन्तरिक रूप से कौलमार्ग, बाह्य रूप से शैव मार्ग तथा लोकाचार के लिए वैदिक आचार को मानता है—

अन्तः कौलो बहिः शैवो; लोकाचारे तु वैदिकः

सारमावाय तिष्ठेत, नारिकेलफलं यथा।^३

पंचमकार साधना तथा उसका वास्तविक तात्पर्य—शैव शासन में विषय

१ यथायोनिश्चालिगम च, संयोगात्स्ववतो अमृतम्

तथामृताग्निसंयोगाद्, द्रवतस्ते न संशयः। तन्त्रा० चतुर्थ आ० पृ० १४०

२ तत्पुनः पिबति प्रीत्या, हंसो हंस इति स्फुरन्।

सङ्कुक्षस्य तु संश्रुत्या, पुण्यपापेर्न लिप्यते। बही पृ० १४६

३ तन्त्रा० आ० ४, पृ० २७८

रस का त्याग नहीं है क्योंकि जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ आसक्त होती हैं, उन सब वस्तुओं में शिव का प्रकाश है।^१ शिव का ज्ञान हो जाने पर विषय-वासना को पूर्ति करते हुए भी अयत्न से (सहज) सुख पूर्वक परमपद प्राप्त हो जाता है। क्योंकि तादात्म्य ज्ञान ही सारे कष्ट-प्रद साधनों का उद्देश्य है।^२ इस सहज, यत्नरहित, अभेद प्रधान साधना का आनन्द सभी नहीं ले सकते। शिव के तीव्र शक्तिपात के बिना साधक इसका अधिकारी नहीं बनता है। इस मार्ग में आडम्बर नहीं है। ग्रीष्म में हिम के समान दम्भ स्वयं नष्ट हो जाता है।^३ यहाँ पूर्ण साम्य की स्थिति मानी गई है—

समता सर्वभावानां, वृत्तीनां चैव सर्वशः ।

समता सर्वदृष्टीनां, द्रव्याणां चैव सर्वशः ।^४

इस कौल-मार्ग के अनुसार शब्दादि विषयों में पतित होकर स्व स्व विषय का भोग करके इन्द्रियों को चैतन्य में लय कर दिया जाता है। सार्वभौम सम्राट जैसे अन्य राष्ट्रों का भी शासक होता है तथैव अन्य सहायक राजाओं की भाँति अनेक वृत्तियों का विलय एक ही चैतन्य में होता है, अतः इन्द्रियों की तृप्ति आवश्यक है क्योंकि वे चैतन्य में बाधक नहीं हैं। वे अज्ञान के कारण ही बन्धन बनती हैं। ज्ञान होने पर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का भोग करती हुई चेतना को सन्तुष्ट करती हैं। अतः स्वरूपस्थिति और भोग दोनों एक ही समय में सम्भव है। दोनों में विरोध नहीं है जैसा कि संन्यास-प्रधान मार्ग समझते हैं। अतः इन्द्रियाँ जहाँ-जहाँ ले जाँय, वहीं-वही मन को स्थिर करना चाहिए क्योंकि इन्द्रियाँ चैतन्य के बाहर जा ही नहीं सकती। स्थिरता बढ़ने पर मन वश में होता जाता है और क्रमशः चेतना का संस्कार होता चलता है। अन्त में वह कौल-स्थिति आ जाती है जब भोग व योग दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिस भोग से बन्धन होता है, उसी को मोक्ष का

१ यत्र-यत्र मिलिता मरीचयस्तत्रतत्रविभूरेव जृम्भते । वही पृ० २८८

२ वही पृ० २८६

३ वही पृ० ३०५

४ वही पृ० ३०५

साधन बनाना तंत्रों की विशेषता है।^१ इसलिए कहा गया है कि आकंठ गद्य का पान करना चाहिए,^२ और शक्ति को क्षुभित करना चाहिए।

चक्रपूजा—इसे शक्तियोग भी कहा गया है। चक्रपूजा में स्त्री को योगिनी कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है हठतः और प्रियतः। किसी प्रकार किसी स्त्री को साधना के लिए तैयार कर लेना प्रियतः प्रयोग है और बलात् किसी को पकड़ लेना हठतः प्रयोग है। चूँकि परस्पर मिलन से चेतना विकसित होती है, इसीलिए चक्रसाधना में साधको को एकत्र किया जाता है। चक्रोत्सव में प्रत्येक साधक की उच्छलित चेतना का प्रतिबिम्ब दूसरे की चेतना में पड़ता है इसलिए वह भी आनन्दित हो उठता है।^३ इसीलिए सभा और उत्सवों में हम हर्षित होते हैं क्योंकि गीत, नृत्य आदि से सबको तन्मयता प्राप्त होती है। और तन्मयता प्राप्ति के लिए ही चक्र साधना की जाती है। चक्र का अर्थ ही यह है कि जिससे चित्त का विकास हो, तृप्ति हो, पाश का छेदन हो।^४ चक्र पर देवियों का शासन माना जाता है इसलिए अनेक देवियों की पूजा की जाती है। इसमें आन्तरिक और बाह्य यज्ञ का भी विधान किया गया है जिसमें मदिरा का अधिक प्रयोग होता है। मदिरा को शिव-रस कहा गया है। यज्ञ के समय धी, तेल के दीपक भी जलाये जाते हैं और पुष्प, क्षार, नाड़ी के पत्ते, घृत, छाग, मत्स्य, पक्षी का मांस, प्याज, लहसुन आदि वस्तुओं को भी एकत्रित किया जाता है।^५ पूजन के पश्चात् सुरा द्वारा शरीर को पवित्र किया जाता है। रक्तपट पर सिद्धर से मंडल बनाया जाता है। सिद्धर का तिलक लगाकर, रक्त वस्त्र पहन कर, कपाल में सुरा भर कर, देवताओं की पूजा की जाती है। मुद्राओं का प्रकाशन किया जाता है। उसके पश्चात् 'योगिनी-मेलन' प्रारम्भ होता है। निम्न जातियों की योगिनियों को विशेष महत्व दिया जाता है। कौलयाग में स्तोत्र पढ़ते हुए

१ येन-येन निबध्यन्ते, जन्तवो रौद्र कर्मणा ।

सोपायेन तेनैव मुच्यते, भव बन्धनात् ।—तंत्रा० जित्व ३, आ० ५ पृ० ३३८

२ आकंठतः पिबेन्मद्यम्—वही, आ० ४, पृ० २७८

३ तंत्रालोक—जि० १२, आ० २८ पृ० १५६

४ तंत्रा० जित्व १२; आ० २६ पृ० ७६

५ " आ० २६ पृ० १६

सुरा का पान किया जाता है और फिर यामल-साधना होती है। इस साधना में स्त्री सहित रात में जप किया जाता है। स्त्री रहित साधक को अवधूत कहते हैं और शक्तिसहित साधक को यामल। अवधूत तीन लाख बार और यामल साधक छः लाख बार जप करता है।

इस चक्र साधना में दूतियों का भी विधान किया गया है। इनके अनेक भेद तंत्रलोक में बताये गए हैं। धर्मपत्नी को लौकिक दूती कहा गया है किन्तु चूँकि उससे आवेश उत्पन्न नहीं होता अतः वह साधना में ग्राह्य नहीं है। अतः परकीयाओं का ही चक्र साधना में विशेष महत्व है। केवल सिद्धि के लिए दूतियों के साथ रमण विधेय माना गया है, लोभ के लिए नहीं।^१ बंगाल में राधा को परकीया ही माना गया है। वैष्णवों के परकीया भाव में निश्चित रूप से चक्रसाधना से प्रेरणा ली गई है। दूती के साथ मेलक के समय दूती तथा साधक को स्वरूप विश्रान्ति का अनुभव करना चाहिए, तभी विकल्प का नाश होता है। संघट्ट बेल में शक्ति व शक्तिमान की परस्पर उन्मुखता से आनन्द में विश्रान्ति होने से “सृष्टि-संहार” होता है। अतः इस अवस्था में स्थित होकर साधक तुरीयावस्था का अनुभव करता है। कहा गया है कि इससे आनन्द सन्दोह की प्राप्ति होती है।^२ तंत्रों का विश्वास है कि शून्य से वायु का जन्म होता है और वायु से पुरुष-तत्त्व (लिंग) का उत्थापन होता है अतः वायु व पुरुषशक्ति के योग से शून्य अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।^३ इसलिए पूज्य, पूजक, आह्वान, पुष्प, धूप, चरु, मंत्र, कुरण्ड, काष्ठ, आज्य आदि सब कुछ शक्ति व शक्तिमान की पूजा अर्थात् सम्भोग में केन्द्रित है।^४ कहा गया है कि जिस-जिस इन्द्रिय से जो-जो आभासित होता है उसी में योगी को तन्मय हो जाना चाहिए क्योंकि इन्द्रियों से प्रकट होने वाला आनन्द ही परमानन्द का साधन है। इसी से ‘अति भावना’ विकसित होती है और अतियोग सिद्ध होता है। परमानन्द को ही कुल कहा गया है और जिसे यह प्राप्त होता है उसी को कोल कहा गया है।^५ शैवों ने

१ स्थित्यर्थं रमयेत्कान्तां न लौल्येन कदाचन

तंत्रा० आ० २६, पृ० ७३

२ तंत्रा० आ० २६, पृ० ७६

३ तंत्रालोक आ० २६, पृ० ७८

४ ” ” पृ० ७९

५ ” ” पृ० ४

ऐन्द्रिय आनन्द को परमानन्द का साधन मान कर उसे अत्यधिक प्रशंसा का पात्र माना है। कहा गया है कि जब सारी नदियों में मदिरा प्रवाहित नहीं होती, न सभी पर्वत माँस खंड के रूप में प्राप्त होते हैं और जब सारा संसार स्त्रीमय नहीं है, तो कुल-साधना कैसे सम्भव हो सकती है।^१ चक्र साधना द्वारा इन्द्रियगण अपनी-अपनी रश्मियों का रस वीर्य-विसर्ग के समय मुख्य आनन्द में समर्पित कर देते हैं।^२ इसलिये चक्रपूजा से सभी देवता (इन्द्रियों) सन्तुष्ट होते हैं और सिद्धि देते हैं। जिस प्रकार नदियों के जल से समुद्र प्रसन्न होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा प्राप्त आनन्द जब चेतना में गिरता है तब वह सन्तुष्ट होती है।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भ्रष्टाचार को ही यहाँ दार्शनिक आवरण पहनाया गया है और यह भी सही है कि अनधिकारियों द्वारा इस साधना का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है किन्तु शैवों ने इसको एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकार किया है जिससे अन्तःकरण का (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) नाश किये बिना ही द्वन्द्वातीत अवस्था-प्राप्ति हो सके। चूँकि शिव का कार्य सृष्टि और संहार करना है, इसलिए उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा भाव और अभाव नामक वृत्तियों के मध्य शून्य-अवस्था को प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य बताया गया है। भाव, सृष्टि की अवस्था है और अभाव, संहार की। वीर्य-विसर्ग के समय ही दो वृत्तियों के मध्य जो चैतन्य-प्रकाश का अनुभव होता है, उसी को प्राप्त करना उद्देश्य माना गया है।^३

चक्र साधना और हठयोग—उपर्युक्त चक्र साधना और हठयोग में लक्ष्य की दृष्टि से कोई अन्तर दिखाई नहीं देता केवल प्रक्रिया की दृष्टि से अन्तर दिखाई पड़ता है। हठयोग में इन्द्रियों द्वारा और चक्रसाधना में इन्द्रियों के माध्यम द्वारा एक ही लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। दोनों में कुण्डलिनी

१ न नद्यो मधु बाहिन्यो, न पलं पर्वतोपम्

स्त्रीमयं न जगतसर्वं, कुतः सिद्धिः कुलागमे ।

तंत्रा० आ० १५, पृ० ८६

२ तंत्रालोक आ० २६, पृ० ६७

३ वही पृ० १०३

रणरणकरसानिनिजरसभरित, बहिर्भावि-
चर्चणवशेव विभ्रान्तिधाम किञ्चित्,
लब्ध्वा, स्वात्मन्यथार्ययते ।

शक्ति अर्थात् चित्त-शक्ति के जागरण को आवश्यक माना जाता है। हठयोगी चक्रसाधना के निन्दक है जबकि चक्रसाधक हठयोग को सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं।

कहा गया है कि पिंड में प्राण का तिर्यक प्रवाह चल रहा है। नाड़ियाँ तो अनेक हैं परन्तु उनमें इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा मुख्य है। सामान्यतः इड़ा, पिंगलादि नाड़ियों में प्राण-प्रवाह चलता है। परन्तु सुषुम्णा के नीचे के भाग को कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन वलयों में लपेट कर पड़ी हुई है। जैसे दंड-प्रहार से सर्प सीधा हो जाता है उसी प्रकार गुरु द्वारा ज्ञान-शक्ति का उदय होता है^१।

ब्रह्मरन्ध्र के नीचे एक चौआहा है, इसे शैव “चिन्तामणि” कहते हैं। उसके ऊपर “सुधाधार” नामक स्थान है इसे ‘सौध’ कहते हैं। प्राणवायु को मध्यम मार्ग में प्रविष्ट कर इस स्थान तक पहुँचना होता है। सौध स्थान का भी इच्छा, ज्ञान, क्रिया के संघट्ट द्वारा अतिक्रमण कर ‘समना’ नामक स्थान तक योगी पहुँचते हैं। इस स्थान को ‘सुन्दर’ कहा गया है। शिव का बहिर्उल्लास ही ‘क्षेप’ है, जिससे उद्बोध होता है उसे ‘दीपन’ कहा गया है। बहिर्उल्लास-मय विश्व का क्रोड़ीकरण या अन्तराक्रमण ही ‘आक्रान्ति’ है। इस अवस्था में ‘यह है’ इस प्रकार का भाव अहं में निमज्जित हो जाता है और शुद्ध बोध हो जाता है। चैतन्य की यह उद्रेकावस्था “व्यापिनी” कहलाती है। यह अवस्था ‘समना’ व ‘उन्मनावस्था’ में परिणत हो जाती है। चैतन्य उद्रिक्त हो कर इदन्ता के निमज्जन के बाद जब स्थिर हो जाता है। तब वह स्थिर अवस्था ही ‘व्यापिनी’ कहलाती है। किन्तु इसमें चैतन्य का कुछ अंश ही उद्रेक पाता है। समनापद में तत्त्व का साक्षात्कार होता है परन्तु तादात्म्य तो केवल उन्मनावस्था में ही होता है। क्षेप को बिन्दु तथा आक्रान्ति को नाद भी कहा गया है। चित्-बोध को परावस्था व दीपन को शक्ति भी कहा गया है। इस प्रकार क्षेप, आक्रमण, चित्बोध, दीपन, स्थापन, सम्बित् और तदापत्ति—इन सात भूमिकाओं के द्वारा योग सिद्ध होता है। इन्हें शिव की सात मूर्तियाँ कहा गया है। प्राणवायु को वश में करके ६ भूमियों का अतिक्रमण करने के बाद सप्तम उन्मनावस्था प्राप्त होती है। यहाँ आत्मा का सहज उच्छलन होने लगता है। यही उच्छलन स्पन्द है। योगी यहाँ पहुँचकर

‘स्पन्ददशाशायी’ कहलाता है ।^१ जिस प्रकार रासभी मूत्रविसर्जनान्त में योनि का संकोच—विकास करके तृप्त होती है, उसी प्रकार इस दशा में वृत्तियों की सृष्टि व संहार चला करता है और योगी स्वरूपस्थ रहता है । जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं और समुद्र अपने में मग्न रहता है, वैसे ही दशा योगी की चेतना की होती है । इस अवस्था को साधारण मनुष्य केवल शृंगारिक भाषा में ही समझ सकता है । नाड़ी युगल (इड़ा, पिंगला) ही योनि है, रमण की इच्छा से उन्मुखता ही स्पन्दन है । विसर्ग की इच्छा या वीर्य को ही चरम धातु कहा गया है । ‘सौघ’ वह स्थान है जहाँ रति होती है और तृप्ति ही सम्भोग-समय का सुख है ।^२

यदि वामाचार को छोड़कर उपर्युक्त योग की व्याख्या पर ही ध्यान दिया जाय तो नाथ सिद्धों और सन्त कवियों के योग का वास्तविक रूप यहाँ स्पष्ट हो जाता है । सन्त कवि बार-बार उन्मनावस्था की चर्चा करते हैं जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है ।

उन्मनावस्था के पश्चात्—उन्मनावस्था के परे भी उच्चतर अवस्था मानी गई है । यहाँ चेतना का संकोच-विकास नहीं होता, तथापि योगी को सृष्टि का आभास होता है ।^३ क्योंकि योगी की दृष्टि तत्त्व के साथ एकाकार होकर अन्तर्मुखी रहती है, और सांसारिक कार्य उसकी बाह्य इन्द्रियां करती रहती है ।^४ अतः घट, पटादि के ज्ञान के समय दृष्टि अन्तरस्थ भी रहती है और बाह्य पदार्थों का ज्ञान भी होता रहता है । इसे ‘भैरव-मुद्रा’ कहा जाता है । गोपनीय होने से इसे ‘खस्थं’ या ‘गगनोपम’ अवस्था भी कहते हैं ।

कथन-पद्धति—शैव, शाक्त तन्त्रों में प्रत्येक तथ्य को प्रतीकात्मक शैली में ही कहा गया है । सम्पूर्ण सम्भोगपरक शब्दावली योगपरक अर्थ भी देती है । इसीलिए तन्त्रों की कथन-पद्धति गुह्य कहलाती है । गगनोपम अवस्था को एक स्थान पर इस प्रकार कहा गया है ।

१ तंत्रा० आ० ५, पृ० ३६१ तथा उक्त सप्त भूमियों के लिए द्रष्टव्य तंत्रा० जि० १२, आ० ३, पृ० १८०

२ तंत्रा० आ० ५, पृ० ३७७, ३७८

३ असंकोच विकासोपि, तवाभासनस्तथा-आ० ५, पृ० ३८६

४ अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि परमपदमश्नुते-वही पृ० ३८६

खं खं त्वक्त्वा खमारुह्य खस्थं खं चोच्चरेदिति ।

खमध्यास्याधिकारेण, पदस्थादिचन्मरीचयः ।^१

अर्थात् मध्य नाडी में स्थित होकर खं खं—प्रमाण, प्रमेय का छोड़कर खं अर्थात् तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है । इस अवस्था की प्राप्ति इन्द्रिय-वृत्तियो (मरीचयः) की बाह्य उन्मुखता के अभाव द्वारा होती है ।

इस प्रकार कश्मीरी शैव मत द्वारा सन्त वैष्णव काव्य में व्यक्त साधना के स्वप्न को समझने में सहायता मिलती है और साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि शैव परम्पराओं ने सन्तों और वैष्णवों को प्रभावित किया है ।

तांत्रिक शाक्त मत

फकुअर ने ५०० ई० से ६०० ई० तक के युग को शाक्त-युग कहा है।^१ और यह नामकरण प्रमाणों से पुष्ट भी होता है। इसी युग में शाक्त दर्शन व साधना का रूप निश्चित होता है और उसका अन्य साधनाओं पर व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी युग में 'चंडीमहात्म्य' लिखा गया,^२ आगे बाणभट्ट ने चंडीशतक इसी युग में लिखा। इसी युग में तांत्रिक बौद्धमत शैवागमों और पुराणों पर शाक्तों का विपुल प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः उपर्युक्त युग को हम शाक्त युग कह सकते हैं।

फकुअर ने इस युग की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—

- १ देवी या शक्ति की महत्व वृद्धि
- २ मंत्र-प्रयोग-वृद्धि
- ३ कुंडलिनी योग में विश्वास वृद्धि
- ४ पञ्चमकारोपासना की प्रभाव वृद्धि

यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य बात है कि इन तीन विशेषताओं में प्रथम तीन

१ व रिलीजस विवस्ट आफ इंडिया: पृ० १६७

२ वही पृ० १५०

सन्त वैष्णव काव्य में भी मिलती हैं। सन्तों में मंत्र और कुंडलिनी योग तथा वैष्णवों में शक्ति और मन्त्र-प्रयोग में विश्वास प्रकट किया गया है।

शाक्तों में अनेक सम्प्रदाय हैं। प्रत्येक एक एक उपनिषद्, एक एक क्रिया-शिक्षा की पुस्तक (मैनुअल) को लेकर प्रचार करता है, प्रत्येक में गुरु तथा दीक्षा का अमित महात्म्य माना जाता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना अलग मन्त्र है।

शाक्तों के धर्मग्रन्थ हैं—तंत्र। इन तंत्रों का निर्माण शाक्तयुग में ही अधिक हुआ है, यद्यपि 'गुह्यसम्प्रदाय' के रूप में ये शाक्तसम्प्रदायों के विभिन्न रूप प्राचीनतम सम्प्रदायों में से हैं। तंत्रों की बहुत सी सामग्री पुराणों में भी पाई जाती है।

शाक्त तंत्रों के विषय में सब कुछ अनिश्चित है। फर्कुअर के अनुसार कुब्जिकातंत्र (७ वीं शताब्दी) परमेश्वरमततंत्र तथा महाकौल ज्ञानविनिर्णय तंत्र प्राचीन तंत्र माने जाते हैं।^१ कश्मीरी शैवदर्शन में शाक्तमत भी स्वीकृत है, अर्थात् कश्मीरी शैव शाक्त भी हैं और शैव भी। शाक्त दर्शन के विकास में कश्मीरी शैवों का ही मुख्य योगदान रहा है।

अभिनवगुप्त ने जिन देवीयामल, मालिनी विजय आदि तंत्रों का उल्लेख किया है, वे उनसे पूर्ववर्ती हैं, यह हम कह चुके हैं।

फर्कुअर के अनुसार ६०० से १३५० ई० के बीच 'यामल' साहित्य बहुत लिखा गया। ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गरुडयामल आदि आदि। इनमें देवता शक्तियों के साथ 'रतिनिमग्न' दिखाए गए हैं—बौद्धतंत्रों व शैवतंत्रों में भी—इस युग में यही विशेषता दिखाई पड़ती है। इसी युग में 'कौलउपनिषद्' व 'परशुरामकल्पसूत्र' की रचना हुई है। परशुरामकल्पतंत्र कौलमार्ग का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।

त्रिपुरतापिनीय, त्रिपुरषट्चक्र, भावना तथा देवी उपनिषद् भी इसी युग की हैं। शारदातिलक मंत्रशास्त्र की दृष्टि में श्रेष्ठ तंत्र है, यह भी इसी युग का है।

इसी युग में दक्षिणपंथी शाक्त धर्म की ओर (पंचमकार का प्रयोग न करने वाले) प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। आज अधिक मंदिरों में दक्षिण पंथी

शाक्तधर्म का ही प्रभाव अधिक है। वैदिक आचारों की ओर उन्मुखता १३ वीं शताब्दी के बाद बढ़ती जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि १३ वीं शताब्दी के बाद शाक्तधर्म में सुधार होता जाता है। परम्परा कहती है कि शंकराचार्य ने वाममार्ग की जगह दक्षिणपंथी साधना प्रचलित की; इससे भी उक्त सुधारवाद पुष्ट ही होता है। इस सुधारवाद के प्रवर्तक उमरी युग में (१२६८ ई० से १३७९ ई०) सम्भवतः लक्ष्मीधर या विद्यानाथ थे। लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी की टीका में ६४ तन्त्रों के नाम दिए हैं।^१ लक्ष्मीधर में कौल, मिश्र, समय-इन तीन मार्गों का उल्लेख है।

समयमत के तंत्र 'शुद्धतंत्र' कहलाते हैं, इनमें केवल मुक्ति प्राप्ति का उपाय-वर्णन ही प्रमुख है। इस मत के आचार्यों में वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन तथा सनत्कुमार की गणना की जाती है।

१ रामदास गौड़ ने आगम-तत्त्व-विलास से ६४ तन्त्रों के नाम दिए हैं—
हिन्दुत्व-रामदास गौड़-पृ० ४८५। गौड़ महाशय ने 'कुछ और तन्त्र' शीर्षक से ८३ अन्य तन्त्रों (६४ तन्त्रों के अतिरिक्त) के नाम दिए हैं (पृ० ४८५ से ४८६) 'महा-सिद्धिसारस्वत' के आधार पर गौड़जी ने सिद्धीश्वर-नित्यतंत्र, राधातंत्र, कामाख्यातंत्र आदि का उल्लेख किया है (पृ० ४८६) कुछ अन्य 'प्रचलिततंत्र' शीर्षक से गौड़जी ने अनेक तन्त्रों का उल्लेख किया है (पृ० ४८६) तथा वाराहीतंत्र से भी एक सूची दी है जिसमें श्लोक संख्या भी दी गई है। वाराहीतंत्र के मत से अन्य लोकों के तंत्रों के श्लोकों की संख्या ८ लाख है। (पृ० ४८४) भारतवर्ष में तंत्रों की श्लोक संख्या १ लाख है। पृ० ४८४।

इस प्रकार तंत्रसाहित्य एक विराट साहित्य है, इनमें अभी बहुत कम तंत्र प्रकाशित हुए हैं। 'तांत्रिकटैक्स सीरीज' कलकत्ता, तथा गायक-वाड़ औरि० सीरीज व आड्यार (मद्रास), तथा श्रीनगर से कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। तांत्रिक आर्डर न्यूयार्क में 'तांत्रिकटैक्स्ट बुक्स' में प्रायः सभी तंत्रों के अंग्रेजी अनुवाद प्राप्त हैं परन्तु मुझे पत्र व्यवहार द्वारा यह पता चला है कि न्यूयार्क या अन्यत्र 'तांत्रिक आर्डर' जैसी संस्था का अब अस्तित्व ही शेष नहीं रह गया है। पाठकों को "एक्सटरनल इश्यू इंटरनेशनल जर्नल आफ तांत्रिक आर्डर" वोल्यूम ५ संख्या १ कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी में प्राप्त हो सकता है।

कौलमार्गी वामाचारी तांत्रिक हैं, भोग के द्वारा मुक्ति प्राप्ति ही इनमें वर्णित है। मिश्रमार्ग में भोग व मुक्ति दोनों का विधान है अर्थात् लौकिक सिद्धि व मुक्ति दोनों पर बल देने वाले तंत्र मिश्रमार्गी हैं—इनमें चन्द्रकला, ज्योत्स्नावर्ता, कलानिधि, कुलार्णव आदि प्रसिद्ध आठ मार्ग हैं।

भिन्न-भिन्न आचार्यों के नाम से भी अनेक तंत्र मिलते हैं। उदाहरण के लिए परशुरामकल्पसूत्र आचार्य दत्तात्रेय का तंत्र माना जाता है। अगस्त्य के “शक्तिसूत्र” कविराज गोपीनाथ ने प्रकाशित कराए हैं। गौड़पाद के सुभगोदय तंत्र तथा विद्यारत्नसूत्रतंत्र प्रसिद्ध तंत्र हैं, शंकराचार्य की “सौन्दर्यलहरी” का उल्लेख ऊपर हो चुका है। फर्कुअर इसे शंकर कृत नहीं मानते। सौन्दर्य लहरी की टीका में भावनात्मक भक्ति का लक्ष्मीधर (१३ वीं शताब्दी) द्वारा सुन्दर विवेचन हुआ है। फर्कुअर का अनुमान है कि श्रीमद्भागवत पुराण के प्रभाव से शक्तों में भक्ति का प्रचार बढ़ा है। उनके अनुसार देवी भागवत एक उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत के पश्चात् तथा भागवत के टीकाकार श्रीधर (१४ वीं शताब्दी) के बीच कभी लिखा गया है, इस पुराण में नारद व शाङ्खिल्य सूत्रों की तरह भक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है, स्वयं श्रीमद्भागवत शाक्त प्रभाव से ओतप्रोत है।

श्रीत, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-साहित्य के अंतर्गत शक्तिवाद पर मायणाचार्य (१३०० ई०) उपनिषद् ब्रह्म (१७५० ई०) भास्करराय (१७२४ ई०) तथा कौलाचार्य सदानन्द के भाष्य हैं। इनमें केवल भास्करराय के भाष्य शाक्त-मत के अनुकूल लिखे गए हैं। अण्णयदीक्षित (शिवाद्वैत मतावलम्बी) द्वारा ‘आनन्दलहरी’ की व्याख्या मार्मिक है। भास्करराय ने बहुत से तंत्रों पर टीकाएँ लिखी हैं उनका वरिचस्यारहस्य ग्रन्थ मन्त्रों के महत्व को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। भास्कर के शिष्यों में “नित्योत्सव” तथा परशुराम कल्पसूत्र पर टीकाकारों के नाम प्रसिद्ध हैं। इनके नाम हैं—उमानन्द नाथ व रामेश्वर।

वैष्णवों की भक्ति सम्बन्धी प्रार्थनाओं के समान शक्तियों ने भी स्तोत्र लिखे। गौड़पादाचार्य का ‘सुभगोदय’, शंकर की सौन्दर्य लहरी, आनन्द लहरी, अण्णयदीक्षित की आनन्दलहरी, दुर्वासा का “त्रिपुरमहिम्न” तथा आर्यपंचाशत् आदि प्रसिद्ध स्तोत्र हैं। विनयपत्रिका में तुलसीदास ने भी स्तोत्र परम्परा को स्वीकार किया है।

शाक्तदर्शन, कश्मीरी शैवों के आगमों में मिलता है। कश्मीरी शैवों ने

ही शाक्तदर्शन का भी प्रतिपादन किया है। कामकलाविलास, मालिनीविजय, तन्त्रालोक आदि को शाक्तदर्शन का भी ग्रन्थ माना जाता है। इसे त्रिपुरमुन्दरी व श्रीविद्या सम्प्रदाय कहा गया है। पूरणानन्द (१४४८ ई० से १५२६ तक) का 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि, प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका पष्ठ प्रकरण 'षट्चक्रनिरूपण' के नाम से प्रसिद्ध है। कुण्डलिनी योग के लिए यह ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाता है।

१६१३ ई० के बाद योरोप में सर जान बुडरफ के शाक्त तंत्रों पर अंग्रेजी में लिखित ग्रन्थों का प्रचार हुआ। पाइने के अनुसार आर्थर एवेलोन तथा सर जान बुडरफ दो भिन्न व्यक्ति हैं, अतः उनके अनुसार इन दोनों को अलग अलग मानकर इनकी रचनाओं को पढ़ना चाहिए। इनकी रचनाएँ परम्परावादी दृष्टिकोण से लिखी गई है।^१ कुछ जर्मन लेखकों ने भी शाक्तमत पर लिखा है। पाश्चात्य लेखकों ने हार्पिकिस, विलियम बार्ड, विलसन, मोनियर विलियम्स, वार्थ, विलियम क्रुक आदि ने जो शाक्तमत की निन्दा की है, उसका कारण यह है कि इन्होंने प्रचलित (पाप्यूलर) रूप का ही अध्ययन किया था। शाक्तमत का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यधिक उच्चकोटि का है और उससे सभी सम्प्रदाय विशेष रूप से दसवीं शताब्दी के बाद, बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं।

शाक्तों ने भारतवर्ष तथा आस-पास के प्रदेशों को तीन भागों में बाँटा है— इन्हें क्रान्ता कहते हैं। इनमें प्रत्येक क्रान्ता के अलग अलग ६४ तंत्र हैं। कामाख्या, कश्मीर व कांची शाक्तपूजा के गढ़ माने जाते हैं। इनमें कामाख्या कौलमत का तथा कश्मीर व कांची श्रीविद्या के उपासक माने जाते हैं। इनमें भयंकर साधनाओं का प्रयोग कम मिलता है। काशी को इन तीनों पीठों का मध्य बिन्दु माना जाता है।^२ कश्मीर में त्रिपुरा, केरल में तारा तथा बंगाल में काली का विशेष महत्व दिखाई पड़ता है।

शैव मत की तरह ही शाक्त मत का प्रकाशन भी शिव के मुख से माना जाता है। परशुराम कल्पतंत्र में कहा गया है कि वेद न जानने वालों के लिए तंत्र प्रकट किया गया है।^३ परम्परा के अनुसार शाक्त सम्प्रदाय निम्न-लिखित हैं—

१ व साक्ताज - अरनेस्ट ए० पाइने, कलकत्ता, १९३३ पृ० २, ३

२ भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, शाक्ततंत्र, १९४८ ई० काशी

३ परशुराम कल्पतंत्र : गायकवाड़ ओरि० सीरीज, १९२३ पृ० २०

मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव तथा दुर्वासा सम्प्रदाय । शाक्तमत के उद्भव के विषय में कहा गया है कि सती के मृतक शरीर को लेकर शिव विश्व में जब भ्रमण करने लगे तो विष्णु ने सती के शरीर को काट डाला । जहाँ जो अंग गिरा वहीं उसकी पूजा होने लगी । कामाख्या में योनि तथा ज्वालामुखी (पंजाब) में जीभ गिरी अतः वहाँ इन्हीं अंगों को पूजा होती है ।

दर्शन—शाक्त-दर्शन का विकास सर्वाधिक रूप में कश्मीरी शैवों द्वारा हुआ । हम 'काश्मीरी-शैवमत' का विवेचन करते समय त्रिपुरारहस्य के आधार पर शाक्तमत पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं । शैव परमशिव को अधिक महत्त्व देते हैं और शाक्त पराशक्ति को । इसके अतिरिक्त शैव और शाक्त-दर्शन में विशेष अन्तर नहीं है । पराशक्ति को शैवों की ही तरह शिव की स्वतन्त्र शक्ति कहा गया है । गोपीनाथ कविराज ने शाक्त-दर्शन पर विशेष प्रकाश डाला है ।^१ तथा शक्ति अंक (कल्याण) में भी शाक्त-दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया है ।

पराशक्ति ब्रह्म की स्वतः स्फूर्ति का नाम है । यह दो रूपों में प्रगट होती है—अहम् और इदम् । शाक्त दार्शनिक चेतना के समष्टि रूप को पूर्णाहन्ता कहते हैं । आवरणों से परे चैतन्य का अनुभूति में जब व्यक्तिगत अहंकार लीन हो जाता है तब इस पूर्णाहन्ता की अनुभूति होती है । यही पूर्णाहन्ता सृष्टि के आदि में सृष्टि की इच्छा करती है । क्योंकि वह सृष्टि करने में स्वतन्त्र है अतः उसे मायाशक्ति भी कहते हैं । यह पूर्णाहन्ता चेतना का ही एक रूप है, इसलिए 'शुद्धचिति' कहलाती है । जगत के रूप में यही परिवर्तित हो जाती है । अतः जगत सत्य है, विवर्त नहीं । यह शक्ति ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीन रूप धारण करती है और आगे स्थूल सृष्टि का विकास होता है । जब शक्ति जगत के रूप में परिवर्तित हो जाती है तब भी ब्रह्म स्थिर और तटस्थ रहता है । वह जगत् रूपी लीला का साक्षी बनता है । इस प्रकार ब्रह्म द्रष्टा है और शक्ति दृश्य । तंत्रों में शक्ति को इसीलिए

१ त्रिपुरा रहस्य-जिल्द ४, भूमिकाभाग, गोपीनाथ कविराज तथा सम अस्पेंक्ट्स आफ द फिलोसफी आफ शाक्त तन्त्र-जिल्द २, प्रिंसेस आफ वेल्स सीरीज

विमर्शशक्ति अर्थात् क्रिया शक्ति तथा शिव को प्रकाश कहा गया है । प्रकाश और विमर्श के संयोग से ही जगत की उत्पत्ति होती है । जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है, उसी प्रकार प्रकाश व विमर्श की संयोगावस्था से बिन्दु का जन्म होता है । यह दोनों की एकता का द्योतक है । बिन्दु की अवस्था में शक्ति व शिव दोनों का सामरस्य रहता है, इसे 'स्वयंभूलिंग' भी कहा गया है । इसी को कामरूप-पीठ भी कहा जाता है । प्रकाश व विमर्श सर्वातीत सत्ता के ही दो रूप हैं । जिस प्रकार शैव सर्वातीत सत्ता को परब्रह्म या परमशिव कहते हैं उसी तरह शाक्त सर्वातीत सत्ता को भी शक्ति ही कहते हैं । अतः प्रकाश और विमर्श को भी शक्ति ही कहा गया है । ऐसा समझना गलत है कि ब्रह्म में लिंगभेद हो सकता है । शाक्त केवल उस सर्वातीत सत्ता को शक्ति ही कहना चाहते हैं, बस यही स्मरणीय है । इसीलिए शाक्त प्रकाश को अम्बिका शक्ति और विमर्श को शान्ता शक्ति कहते हैं । इनके सामरस्य के बाद वामा (इच्छा) ज्येष्ठा (ज्ञान) तथा रौद्री (क्रिया) नामक शक्तियों का विकास होता है । पूर्णगिरि-पीठ, जालन्धरपीठ तथा उड्डियानपीठ इन्हीं तीन शक्तियों के प्रतीक माने जाते हैं । इन्हें पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी भी माना गया है और इन तीनों के उपरि परावाक् या सर्वातीत शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है । इच्छा-शक्ति उत्पन्न होते ही चैतन्य में स्थित सूक्ष्म ब्रह्मांड के एक अंश को शक्ति उदभासित करने लगती है । इस आभास को ही सृष्टि कहा गया है । यह आभास देश व काल में होता है । प्रलयकाल में यह आभास रूप सृष्टि चैतन्य में उसी प्रकार समा जाती है, जैसे दर्पण में आभास उत्पन्न होता है और फिर उसी दर्पण में समा जाता है । जिस प्रकार दर्पण व आभास भिन्न भिन्न प्रतीत होने पर भी एक हैं उसी प्रकार सृष्टि शक्तिरूप ही है और शक्ति व शक्तिमान एक और अभिन्न हैं ।

परा-शक्ति की उक्त तीन अवस्थाओं को एक त्रिकोण द्वारा समझाया जाता है ।^१



१ सम अस्पष्टतम भाषा व फिलोसफी भाषा शाक्त तन्त्र से उद्ध.

शिव अपने ही अंश द्वारा अपने को आवरण में बाँध कर (जीव रूप धारण कर) सृष्टि का खेल रचता है और क्योंकि यह सृष्टि रूपी क्रीड़ा शिव या परावाक् के भीतर ही होती है अतः इसे आत्मानुभूति कहा गया है। जैसे दर्पण में हम अपना ही रूप देखकर आनन्दित होते हैं उसी प्रकार शक्ति जगत् के रूप में शिव को अवभासित कर देती है (रिफ्लेक्टिड) और जगत् रूपी अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर शिव आनन्दित होता है। इसलिए सृष्टि शिव की आनन्दमय लीला है। जब शिव के साथ तादात्म्य स्थापित कर हम भी अपने को शिव समझते हैं तब सारा जगत् हमारे लिए भी आनन्दमय लीला बन जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं, कंकु कट जाते हैं, “यह सब मैं ही हूँ,” यह अनुभव होने लगता है।

शक्ति द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार सम्भव होने के कारण शक्ति के बिना शिव को “शिव” कहा गया है। अपनी शक्ति का दर्शन ही आत्म-साक्षात्कार है, अपने को जानना है। यही “पूर्णाहन्ताचमत्कार” कहलाता है।^१ इस तथ्य को वर्णमाला द्वारा भी समझाया है। तत्वातीत पदार्थ के लिए ‘अकार’ का प्रयोग होता है। यह प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में शिव व शक्ति का सामरस्य होता है। इसमें शिव को अकार या प्रकाश तथा शक्ति को हकार या विमर्श कहते हैं। शिव अग्नि रूप है और शक्ति सोमरूपा है, इन दोनों की बिन्दु रूप में परिणति (रज+वीर्य) ही “अहम्” है। साम्य भंग होने पर यह बिन्दु शुक्ल व रक्त बिन्दु रूप में व्यक्त होता है। जैसे अग्नि के स्पर्श से घृत द्रवित होता है वैसे ही प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्शरूपा शक्ति द्रवित होती है और उससे परमानन्द अमृतधारा का स्रव होता है, यही धारा चित्कला या ब्रह्मानन्द का स्वरूप है।^२

नाद—जब प्रकाश बिन्दु विमर्श बिन्दु में प्रविष्ट होता है तब बिन्दु में उच्छ्वनता (स्वेलिंग) उत्पन्न होती है, तब इस बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है। इस नाद में समस्त तत्व रहते हैं। यही नाद व्यक्त होकर त्रिकोण का रूप धारण करता है जैसा कि ऊपर हम अंकित कर चुके हैं।

कामकला—शाक्त विचारक सृष्टि के विकास को समझाने के लिए अनेक

१ सम आस्पेक्ट्स आफ द फिलौसफी ऑफ शाक्त तंत्र

२ शक्ति अंक—गोपीनाथ कविराज के लेख पर आधारित (कल्याण गोरखपुर)

त्रिकोणों से श्रीचक्र बनाते हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त त्रिकोण में एक बिन्दु प्रकाश है और एक विमर्श है। इन दोनों के संयोग से काम या रवि नामक मिश्रबिन्दु व्यक्त होता है। अग्नि व सोम इसी काम के कला रूप में माने जाते हैं अतः कामकला कहने से—प्रकाश, विमर्श तथा काम या रवि इन तीनों का बोध होता है। पिंड में भी रज, वीर्य के संयोग से ही सृष्टि होती है।

उन्मनावस्था—प्रपंच के लय हो जाने के बाद अर्थात् वृत्तिनाश हो जाने के बाद एक कला जाग्रत रहती है। निर्वाण के बाद यही कला जीव की उन्मनी अवस्था में रहती है। इसकी भी निवृत्ति के बाद जिस निष्काम अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे “महावेन्दवावस्था” कहा गया है। साधक इन्द्रियों के प्रत्याहार द्वारा दीपकलिका के समान विकसित होने वाले स्थूल अनुभवों को समेट कर इस अवस्था को प्राप्त करते हैं।

दिव्य शृंगार—उपर्युक्त कामकला की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि त्रिकोणात्मक अभिव्यक्ति के बीच मध्य-बिन्दु में दिव्य-मिथुन अर्थात् शिव-शक्ति का शृंगारादि विलास चलता रहता है। श्री कविराज जी के अनुसार राधाकृष्ण का युगलमिलन तथा आदि बुद्ध व ज्ञानापरमिता का युगनद्धरूप यही है। यही त्रिकोण ही प्रणव है। सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति भी यही है। कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होने पर शिव-शक्ति का भेद विगलित हो जाता है और जीवशक्ति व शिवशक्ति एकाकार हो जाते हैं। बिन्दु व त्रिकोणात्मक का भेद दूर हो जाने के कारण बिन्दु का बिन्दुत्व तथा त्रिकोण का त्रिकोणात्मक भी नष्ट हो जाता है, केवल आदि सत्ता ही शेष रह जाती है, जो शुद्ध चैतन्य का ही दूसरा नाम है।^१

इस प्रकार उपर्युक्त दार्शनिक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव शक्ति की एकता ही शाक्त-साधना का विषय है।^२ इस दर्शन को कौल-दर्शन कहा गया है क्योंकि शिव को अकुल और शक्ति को कुल माना जाता है। दोनों की एकता ही कौल-साधना में अभिप्रेत है।

शाक्त-कौल-दर्शन में कश्मीरी शैवों की तरह ही ३६ तत्त्व माने गए हैं जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं।

१ शक्ति श्रृंगार।

२ हंसविलास, गायकवाड़ औरि० सोरीख पृ० ११४, १६३७ ई०

साधना-दीक्षा—शाक्तों में भी शैवों की तरह, शाक्ती शाम्भवी व मांत्री दीक्षा प्रचलित है। शाक्ती दीक्षा में गुरु, शिष्य में शक्ति का प्रवेश कराता है, शाम्भवी दीक्षा में शिव और शक्ति के रक्त शुक्ल चरणों की भावना करके दीक्षा दी जाती है। तथा मांत्री दीक्षा में शिष्य के कान में गुरु मंत्र पढ़ता है। वस्तुतः इन तीनों दीक्षाओं में ध्यान योग ही स्वीकृत है। उदाहरण के लिए शाक्ती दीक्षा में शिष्य से कहा जाता है कि वह यह ध्यान करे कि उसके मूलाधार चक्र से ब्रह्मबिल तक अग्नि प्रज्वलित हो रही है।^१ इस प्रकार के ध्यान से शिष्य की कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है परन्तु यह गुरु कृपा से ही सम्भव है। दीक्षा में गुरु का महत्व सर्वोपरि है। गुरु, देवता और मंत्र इन तीनों की एकता प्रतिपादित की गई है। जब शिष्य इन तीनों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

शक्तिपात—शैव, बौद्ध तथा वैष्णवों की तरह शाक्तों ने भी शक्तिपात पर बहुत जोर दिया है। ब्रह्म और गुरु के अनुग्रह से ही दिव्य शक्तियाँ जाग्रत होती हैं।^२

शाक्त साधना—शाक्तों के अनुसार स्वविमर्श ही पुरुषार्थ है।^३ अर्थात् साधक जब यह अनुभव करे कि मैं ही परशिव हूँ, तब उसे सिद्धि प्राप्त होती है। जैसे कंठस्थ आभूषण का विस्मरण हो जाने पर उसके अन्वेषण के लिए इधर उधर भटकते हैं और जैसे उसका पुनः स्मरण हो जाता है, उसी प्रकार जीव व्यवस्था में हम यह भूल जाते हैं कि हम परशिव ही हैं। यह ज्ञान हमें भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है।

मंत्र—शाक्त साधना में मंत्रों का विशेष महत्व है। मंत्रों में अचिन्त्य शक्ति मानी गई है^४। अतः मंत्रों द्वारा सर्वातीत सत्ता की अनुभूति सहज हो सकती है। मंत्र-साधना में गुरु, मंत्र, देवता, आत्मा, मन तथा पवन की एकता

१ तस्यामूलमाब्रह्मबिलं प्रज्वलन्तीं प्रकाशलहरों ज्वलदनलनिभां

ध्यात्वा—परशु० कल्प सूत्र-सूत्र संख्या ३६

२ शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति ।

यत्र शक्तिर्न पतित, तत्र सिद्धिर्न जायते - हंसविलास पृ० १०२

३ स्वविमर्शः पुरुषार्थः - परशुराम कल्पसूत्र - सूत्र ६

४ मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता - यही, सूत्र ८

स्थापित करनी पड़ती है, इसी ऐक्य की अवस्था में मंत्र का उच्चारण होता है। अतः मंत्र के साथ ध्यान मिला रहता है। ध्यान-रहित मंत्र का जाप निष्फल होता है। पुरुष देवताओं के मंत्रों को मंत्र तथा देवियों के मंत्रों को विद्या कहा गया है। शिव शक्ति की एकता के लिए विद्या का प्रयोग मंत्र के साथ किया जाता है।^१ साधक की चित्तवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न देवियों के अनेक मंत्रों या विद्याओं का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए बालादेवी का मंत्र इस प्रकार है—

ऐं क्लीं सौः बालायै नमः

तंत्रों का विश्वास है कि मंत्र जप से ही सिद्ध होती है। वैष्णवों का भी यही विश्वास है। दक्षिणपंथी शाक्तों और वैष्णवों के मंत्र-जाप में कोई अन्तर नहीं है किन्तु वाममार्ग के अनुसार मंत्रजप का यह विधान है कि साधक को 'मधुपान परायण' बनकर किसी नग्न परकीया के साथ समागम अवस्था में ही मंत्र का एक लाख बार जप करना चाहिए। इसे आशुसिद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया गया है। सिद्धि का अर्थ शक्ति-प्राप्ति कहा गया है—शक्ति का अर्थ यह है जप के अन्त में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहारक जो मति उत्पन्न होती है उसी को शक्ति कहते हैं।^२ मन्त्रों को नादात्मक माना गया है। इस नाद का असुसंधान ही शाक्त-साधना का मुख्य विषय है।

कुंडलिनी योग—पट्चक्रभेद द्वारा नादानुसंधान ही शाक्तयोग का मुख्य विषय है। आज्ञाचक्र के भेदन के बाद ज्ञान का उदय होता है। इसके बाद बिन्दु स्थान है जो योगियों का तृतीय नेत्र है। इसमें स्थित होकर द्रष्टा प्रपंच को तटस्थ होकर देख सकता है अतः यह समझना कि हठयोग केवल सिद्धि के लिए है, गलत है। यद्यपि बहुत से योगी हठयोग को केवल सिद्धिदाता ही मानते हैं।

बिन्दु के बाद अर्द्धचन्द्र चक्र है। बिन्दु को चद्रबिन्दु तथा अर्द्धबिन्दु को अर्द्धचन्द्र कहते हैं। इसी में अष्टकला शक्ति का विकास होता है। इसके बाद घोर अवरोधकारी अवस्था का उदय होता है। यह 'रोधिनी' कहलाती

१ ललितासहस्रनाम - अनन्तकृष्ण शास्त्री द्वारा अंग्रेजी में अनूदित संस्करण २, भूमिका भाग ओटकमण्ड, १९२५

२ देवी रहस्य - रामचन्द्र काक-१९४१, श्रीनगर, कश्मीर, पटल १४, पृष्ठ १३ तथा आशुसिद्धि के लिए द्रष्टव्य, पटल १० पृ० २५

है। इसे भेदकर साधक नाद-भूमि में प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मरन्ध्र में नाद का लय होता है। इसके बाद चित्शक्ति का उदय होता है। तत्पश्चात् त्रिकोण स्वरूपा व्यापिका है, वह बिन्दु के विलास स्वरूप वामादि शक्तित्रय से संघटित है। इसके पश्चात् 'समना' शक्ति का उदय होता है। यह शिव से संयुक्त रहती है। 'समनावस्था' में आकर मन स्पन्दनहीन होकर समाप्त हो जाता है। इसके बाद चिद्रूपा एक कला रहती है। इसे निर्वाणकाला रूप कहा गया है। यही उन्मनाभूमि है। सांख्य इसे ही 'कैवल्य' कहते हैं। इसके पश्चात् बिन्दु भी लय हो जाता है। महाशक्ति का आविर्भाव हो जाता है। यही पूर्णता की अवस्था है।^१

बिन्दु का जब लय होता है तो एक रिक्त दशा उत्पन्न होती है। इसी को योगी अमावस्या कहते हैं। इसके बाद महाशक्ति के आविर्भाव के बाद पूर्णदशा को ही पूर्णिमा कहा जाता है। महाशक्ति की अमावस्या की ओर जो स्फूर्ति है वही कालीरूप है और पूर्णिमा के रूप में षोडशी, त्रिपुरा-सुन्दरी या श्रीविद्या व्यक्त होती है, भयंकर व कोमल देवियों के रूप का रहस्य यही है, इसी को कालीकुल या श्रीकुल भी कहा जाता है। इन दोनों के मध्य में तारा या तारिणी विद्या है।^२ कुण्डलिनी जाग्रत होने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

शक्ति-साधना में सकल, निष्कल व मिश्र शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ हैं। क्रम का ध्यान रखने से सकलभाव की उपासना निवृष्ट है, मिश्रभाव की उपासना मध्यम है, तथा निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है।

षट्चक्र निरूपण—७२ हजार नाड़ियों के इस शरीर का आधार मेरुदंड है। इस मेरुदंड को आधार बना कर जो नाड़ी जाल फैला हुआ है, उसमें सुषुम्णा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी में ६ चक्रों की स्थिति मानी गई है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१ शक्ति अंक - कल्याण गोरखपुर-शक्तिसाधना शीर्षक लेख।

२ शक्तिअंक-शक्तिसाधना

स्थान	चक्रः मूलाधार	स्वाधिष्ठान	मणिपूरक	अनाहत	विशुद्ध	आज्ञा	सहस्रार
कमलदल	मेरुदंड के नीचे	लिगस्थान के सम्मुख	नाभि	हृदय	कंठ	भ्रूमध्य	ब्रह्मरन्ध्र
दलवर्णा	४	६	१०	१२	१६	२	१०००
बीजाक्षर	रक्त	सिन्दूर	नील	अरुण	धूम्र	श्वेत	श्वेत
	वं शं षं	वं मं मं	डं से फं	कं मे ङं	अं मे	हं झं	स्वर व्यंजन
तत्त्व	सं	यं रं लं	तक	तक	अंः तक		
यंत्र	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश	महत्तत्त्व	
यंत्ररंग	चतुष्कोण	अर्द्धचन्द्र	त्रिकोण	पट्कोण	पूर्वाचन्द्र	लिंगयंत्र	
यंत्रबीज	पीत	चन्द्रवत्	बालरवि	धूम्र	आकाश	विद्युत्	
बीजवाहन	लं	वं	रं	यं	हं	प्रणव	
	ऐरावतहस्ती	मकर	मेघ	मृग	हस्ती	बिन्दु स्थित	
यंत्र देव	ब्रह्मा	विष्णु	वृद्धरुद्र	ईशान रुद्र	पंचमुख	नाद	परमशिव
						“इतर”	
शक्ति	डांकिनी	शाकिनी	लाकिनी	काकिनी	मदाशिव	लिंग	हाकिनी
यंत्रमध्य	स्वयंमूलिग को			शक्ति त्रिकोण है ।	सदाशिव		
देव	वलपित करके			इस चक्र मे ‘बाण’			
	कुंडलिनीशक्ति			नामक एक लिंग भी			
	पूछ मुख में दबा			है, एक अष्टदल कमल			
	कर स्थित है ।			है । “हृत्पुंडरीक”			
				यही है ।			

उपर्युक्त विवरण षट्चक्रनिरूपण के आधार पर “शक्ति अंक” से दिया गया है। अन्य ग्रंथों में कुछ भिन्नता भी पाई जाती है, जैसे ‘बाला-पद्धति’ में गरुड, सरस्वती, लक्ष्मी, नारायण आदि देवी-देवताओं का उल्लेख है।

कुछ योगी कुंडलिनी को नाभिस्थल में मानते हैं। कुछ कुंडलिनी को “अनाहतचक्र” में मानते हैं।^१ जर्मनी के गिखतेल (१७ वीं शताब्दी) महाशय ने कुछ मौलिक चक्र-चित्र बनाए हैं, जो शक्तिअंक में दिए गए हैं। गिखतेल के अनुसार चक्रों का सम्बन्ध सोम, बुध, शनि आदि नक्षत्रों से है।^२ ललितासहस्रनाम में “बैन्दव” नाम से एक नवम् चक्र का भी उल्लेख मिलता है। इसे बिन्दुओं का समूह कहा गया है। यथा ह + बिन्दु = ब्रह्म (हं), स + बिन्दु = सं = सर्ग।^३

कुंडलिनी योग का वर्णन शाक्ततन्त्रों में स्त्री-पुरुष-रति-रहस्य के माध्यम से वर्णित हुआ है। जिस प्रकार कोई स्त्री राजमार्ग पर चलती हुई किसी गुप्त स्थान में अपने पति या प्रेमी से मिलती है और आलिंगन के बाद अमृत (वीर्य) गिराती है उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति सुषुम्ना-मार्ग (राजमार्ग) पर चलकर, गुप्त स्थानों में (चक्रों में) निवास करती हुई महानपति (शिव) का आलिंगन करती है, और अमृत गिराती है। यह कुंडलिनी, सदा ही सर्प की तरह शब्द किया करती है, कान बन्द कर इस शब्द को सुना जा सकता है। देवीपुराण के अनुसार इसका रूप शृंगाटक की तरह होता है। जिस प्रकार स्त्री के मिलने पर पुरुष के भीतर अग्नि जाग्रत हो जाती है, उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति के मिलने पर अग्नि से चन्द्रमा द्रवित होता है।^४

वाणी की अभिव्यक्ति को भी कुंडलिनी योग से समझाया गया है। बीज के समान वाणी का अव्यवृत्त (पराशक्ति) मूलधार में स्थित रहता है। पश्यन्ती अवस्था में यह बीज अंकुरित होने की ओर उन्मुख होता है। मध्यमा वाणी की वह अवस्था है जब दो पत्तियाँ प्रकट होती हैं किन्तु परस्पर संयुक्त रहती हैं, वैखरी वाणी की वह अवस्था है जब अलग अलग

१ शक्ति अंक-शक्ति साधना

२ शक्ति अंक-शक्तिसाधना

३ ललिता सहस्रनाम-अंग्रेजी अनुवाद बैन्दव शब्द की व्याख्या

४ " " -अंग्रेजी अनुवाद में द्रष्टव्य कुंडलिनी की व्याख्या

पत्तियों की तरह वाणी प्रकट होती है किन्तु मूल में वह मूलाधार से संयुक्त रहती है । नित्यतन्त्र के अनुसार वायु के द्वारा परावाणी सर्वप्रथम मूलाधार में जाग्रत होती है, तत्पश्चात् वह वायु ऊपर उठती है और स्वाधिष्ठान चक्र में व्यक्त होती है, यह अवस्था पश्यन्ती कहलाती है । अनाहत चक्र में आकर बुद्धि के संयोग से यही वाणी मध्यमा कहलाती है और तत्पश्चात् वह विशुद्धि-चक्र में व्यक्त होकर जब कंठ से प्रकट होती है तब वह वैखरी कहलाती है ।^१

शक्तियाँ—शक्तिपूजा की अनेक देवियाँ हैं । इनमें दस महाविद्याएँ, दुर्गा आदि हैं । शक्तिपूजा में इनमें से कोई एक देवी उस पूजा की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है, उसी के सम्मुख सारी क्रियाएँ की जाती हैं । इनका विवरण इस प्रकार है —

दस महाकविद्याओं में महाकाली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता भैरवी, बल्लगामुखी, मातंगी, कमला व धूमावती की गणना होती है । इन शक्तियों की इनके पतियों के साथ पूजा होती है, केवल धूमावती को विधवा माना गया है ।

यह विभाजन महाभारत में नहीं मिलता, इसलिए यह तांत्रिक युग की सृष्टि है ।

दस महाविद्याओं के अतिरिक्त सात माताएँ—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्राणी तथा चामुंडा हैं । इनके अतिरिक्त शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघन्टा, कूष्मांडा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री—ये नव दुर्गाएँ हैं । आयु की दृष्टि से देवियों का विभाजन मिलता है । १ वर्ष की देवी, 'सन्ध्या', २ वर्ष की 'सरस्वती' ७ वर्ष की 'चंडिका', ८ वर्ष की 'साम्भवी' ९ वर्ष की 'दुर्गा' या 'बाला' १० वर्ष की 'गौरी' १३ वर्ष की 'लक्ष्मी' तथा १६ वर्ष की देवी 'ललिता' कहलाती है ।^२

राधा के साथ बल्लभ-सम्प्रदाय में उनकी समवयस्का सखी ललिता ही कही गई है । देश की दृष्टि से भी देवियों के विभाजन मिलते हैं—कांचीपुर

१ ललितासहस्रनाम - अंग्रेजी अनुवाद में दृष्टव्य उपयुक्त शब्दों की व्याख्या

२ एलीमेंट्स आफ हिन्दू इकनोमी—गोपीनाथ राव, जि० १, भाग २

में कामाक्षी, केरल में कुमारी, बंगाल में सुन्दरी, नेपाल में गुह्यकेश्वरी, मलाया में भ्रमरी; आनर्त में अम्बा, किरवीर में महालक्ष्मी, मालवा में कालिका प्रयाग में ललिता, विन्ध्याचल में विद्यवासिनी, काशी में विशालाक्षी तथा गया में मंगलवती की पूजा होती है ।^१

शक्ति-पूजा—उपर्युक्त देवियों में प्रत्येक का रूप, वेष, अस्त्र-शस्त्र, बाहन, मंत्र, आदि अलग-अलग है । इन देवियों के साथ साधक तादात्म्य स्थापित करते हैं । साधक यह भावना करता है कि मैं देवी ही हूँ । शाक्तों, शैवों और वैष्णवों के अनुसार सार्वभौमिक सत्ता का सहसा साक्षात्कार साधक नहीं सह सकता । अतः उसके एक अंश अर्थात् एक देश में अभिव्यक्त रूप की ही साधना की जाती है । इसीलिए नाना देवी-देवताओं का विधान किया जाता है । देवता की मूर्ति का वास्तविक अर्थ साधक की चेतना में स्फुरति दिव्य-सत्ता का रूप किया गया है ।^२ बाह्य मूर्तियाँ केवल आंतरिक मूर्ति को जाग्रत करने की साधन मात्र हैं । वैष्णव कवियों की मूर्ति-उपासना का विचार करते समय यह सिद्धान्त स्मरणीय है ।

पूजा-पद्धति—शाक्त साधना में पंचमकार स्वीकृत है । पंचमकार दुर्बल इन्द्रिय वालों के लिए बिनाशकर और स्थिर-चित्तवान साधकों के लिए हितकर बताया गया है ।^३ जो लम्पटता के लिए पंचमकार सेवन करते हैं उनकी घोर निन्दा की गई है । पंचमकार का वास्तविक तात्पर्य इस प्रकार है । सहसार चक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है । द्वैतभाव ही मांस है । इन्द्रिय चांचल्य ही मत्स्य है, मैथुन का तात्पर्य है कुण्डलिनी शक्ति और परशिव की एकता । परशुराम कल्पतन्त्र में लम्पट साधकों की घोर निन्दा की गई है ।^४ इस तन्त्र में मदिरापान के जो सात सोपान बताये गये हैं उनसे योग पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । इन सोपानों को उल्लास कहा गया है ।

१ ग्लीनिंग्स फ्रोम द तन्त्राज्ञ-गोपीनाथ कविराज

२ यदा जप्तो मनुर्वेचि मयाभक्तितः प्रादुर्बभूव मे सद्यो या सा प्रोक्तेति देवता, देवी रहस्य-रामचन्द्र काक, श्रीनगर कश्मीर, १९४१, पृष्ठ १४ पृ० ८, १०

३ परशुराम कल्पसूत्र

४ वही भाग १ पृ० १५१

आरम्भोल्लास—यह प्रारम्भिक साधना है, इसमें पंचमकार का अनुशासित प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था में साधक में उपामनाविषयक इच्छा जाग्रत हो जाती है।

तरणोल्लास—इसमें गणपति की उपासना होती है। मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है। तंत्रशास्त्र का पठन-पाठन पूरा हो जाता है।

यौवनोल्लास—इसमें अजपाजाय (हंसस्पोऽहं) किया जाता है, मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है तथा शास्त्रों का वास्तविक मर्म समझ में आ जाता है।

प्रौढोल्लास—इसमें मानस जप पर बल दिया गया है। ध्यानयोग का अभ्यास इस स्थिति में होता है। तदुपरान्त साधक का चित्त स्थिर हो जाता है।

तदन्तोल्लास—इसमें वाराही मंत्र का जप होता है और मैथुन का विधान किया गया है। मदिरा की मात्रा बढ़ जाती है। इस अवस्था में ब्रह्मानन्द अभिव्यंजित हो जाता है।

उन्मनोल्लास—यही “उन्मन” अवस्था है। इसमें सर्व तत्त्वों का लय हो जाता है। इसी स्थिति को बताने के लिए साधक मदिरा पीकर बेसुध हो जाते हैं। कहा गया है कि उन्मनावस्था के पूर्व मदिरा चांचल्य उत्पन्न करती है, परन्तु उन्मनावस्था में यत्न बिना ही मन स्थिर हो जाता है। हंसविलास में कहा गया है^१ कि उन्मनावस्था योग की उच्चतर अवस्था है। इसमें दुंदुभी आदि का भी बाह्य शब्द नहीं सुनाई पड़ता और शरीर काष्ठवत् हो जाता है। अन्यत्र उन्मनावस्था को “मनोन्मनी” कहा गया है। यह ब्रह्मरन्ध्र से किंचित् नीचे का स्थान है जहाँ प्राणवायु स्थिर हो जाने पर यह अवस्था प्राप्त होती है। इसे रुद्रमुख भी कहा गया है। यहाँ काल, देश, तत्त्व, देवतादि का अस्तित्व नहीं रह जाता और पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। योगशास्त्रानुसार उन्मनी को एक मुद्रा भी माना गया, जिसमें न नेत्र बन्द होते हैं, न खुलते हैं, न सांस आती है, न रुकती है, ध्यान व ध्येय सब समाप्त हो जाता है।^२

कबीर ने इसी स्थिति की ओर संकेत किया है। शाक्तों की मनोन्मनी और

१ हंसविलास पृ० ४६

२ ललितासहस्रनाम के अंग्रेजी अनुवाद में द्रष्टव्य मनोन्मनी की व्याख्या

कबीर की उन्मना अवस्था में केवल अन्तर यह है कि कबीर वामाचार को स्वीकार नहीं करते ।

अनवस्थोल्लास—यह अन्तिम स्थिति है, इसमें मदिरा की मात्रा सबसे अधिक हो जाती है । योग की उन्मनावस्था को प्राप्त साधक ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है ।^१

शाक्ततंत्रों में साधना के तीन भेद माने गये हैं—पशु, दिव्य और वीर । पशु साधक मर्यादावादी होते हैं । उनके लिए दक्षिणपंथ है । चूँकि वैष्णव मर्यादावादी होते हैं इसलिए शाक्तों के अनुसार वे पशु श्रेणी में ही आते हैं । दिव्य साधक मुद्रा, मंत्र, मंडल आदि को नहीं छोड़ता तथा वामाचार का सेवी होता है । वीर साधक के लिए कोई विधि निषेध नहीं है ।

वीर साधना ही कौल साधना है । इसमें श्मशान साधना सबसे भयंकर है । कौलावली निर्णय के अनुशीलन से पता चलता है कि कभी वैष्णवों और गणपति के उपासकों में भी “शिवसाधना” का प्रचार था ।^२ सम्भव है वैष्णवों में भी यह भयंकर क्रियाएँ रही हों किन्तु परवर्ती वैष्णव मत में इनका विधान नहीं मिलता । कौलसाधना का उद्देश्य घृणा, भय, लज्जा आदि पर विजय प्राप्त करना है । शाक्त साधक जानबूझकर अपने को उन स्थितियों में डालते हैं जिनमें मन ‘क्षुभित’ हो और ऐसी स्थितियों में वे अपने चित्त को निराकूल रखने का अभ्यास करते हैं । चूँकि श्मशान में विघ्न सबसे अधिक होते हैं, इसलिए उसी को उचित स्थान माना गया है । इसमें शिव के अंक में लेटी हुई देवी का ध्यान किया जाता है । स्तोत्र पढ़े जाते हैं और किसी लाश की पीठ पर बैठकर मंत्रजप किया जाता है । उस लाश को शिव रूप माना जाता है और उसकी प्रार्थना की जाती है । इन प्रार्थनाओं में अद्भुत भाव विभोरता मालूम पड़ती है । वस्तुतः भावना विशेष की अपने मन में सृष्टि

१ नित्योत्सव (परशुराम कल्पसूत्र)—उमानन्दनाथ के आधार पर उपर्युक्त सात उल्लासों का वर्णन किया गया है ।

२ वैष्णवे गणपत्ये - शंवे चैवान्यमग्रके, शाक्ते चैव विशेषेण साधयेत साधकोत्तमः, कौलावली निर्णय—तांत्रिक टैक्स्ट्स सीरीज कलकत्ता, उल्लास १४ श्लोक १ से ५

करके ये साधनाएँ की जाती हैं। यह बार-बार कहा गया है कि भाव से ही पूजन होता है।^१

कुमारी पूजा—इस प्रकार की पूजा में पूर्ण उच्छृंखलता दिखाई पड़ती है। बलात्कार को भी जायज माना गया है। स्त्री मात्र के प्रति असौम श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया गया है। जाति-पांति का पूर्ण निषेध किया गया है। नीच जाति की स्त्रियों को श्रीचक्र में स्थापित कर उनके गुप्तांगों की पूजा की जाती है। इस साधना में भी भावना विशेष ही दिखाई पड़ती है। साधक यह भावना करता है कि वह सुषुम्णा के मार्ग से आत्मा की अग्नि में मन रूपी स्रुवा से धर्मधर्म रूपी हवि को अर्पित कर रहा है। कुलार्णव तंत्र में कहा गया है कि कुमारी पूजा में साधिकाएँ और साधक सिरों पर मदिरा घट रखकर नृत्य करते हैं, इसे चक्र नृत्य कहा गया है। सिर पर की मदिरा को कुलार्णवतंत्र कुण्डलिनीयोग से प्राप्त अमृत कहता है और उल्लास का अर्थ आत्मानन्द किया गया है।^२

इस साधना में स्तम्भन, मोहन, मारण, आकर्षण, वशीकरण आदि का भी वर्णन मिलता है। इन सिद्धियों की प्राप्ति में भी मंत्र जपते समय साधक के चित्त की जैसी अवस्था होती है वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा विश्वास प्रकट किया गया है।

चक्रपूजा—कुहू, पूर्णिमा, संक्रान्ति, चतुर्दशी या अष्टमी की रात्रि में शाक्त साधक सामूहिक रूप से चक्र पूजा करते हैं। गुरु की देखरेख में पंचमकार का शोधन किया जाता है।^३ हम शैव साधना का वर्णन करते समय इस पर विस्तार से विचार कर चुके हैं।

आचार—शाक्त साधना में दक्षिणाचार, वामाचार और कुलाचार—इन तीन आचारों का अलग-अलग वर्णन मिलता है। मुख्य रूप से दो ही आचार माने जाते हैं—दक्षिणाचार और कुलाचार। वामाचार की भी कुलाचार में ही गणना होती है। दक्षिणाचार में प्रभातस्नान, सन्ध्या, मध्याह्न में जप, खीर, शंकर आदि का सात्विक भोजन तथा अपनी स्त्री के साथ भोग ही विधेय

१ भक्तिःत पूजयित्वा चरात्री तावत् सहस्रकम्—कौलावली निर्णय, उल्लास १४, श्लोक २४५ से २५० तक।

२ वही-भूमिका पृ० १७

३ वही रहस्य-पटल ५८

माना गया है। इसमें मदिरादि का निषेध है। इसमें देवी के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा भी हो सकती है। उदाहरण के लिए आज के शाक्त मन्दिरों में मध्य में देवी की मूर्ति रहती है तथा आसपास विष्णु, गणेश, शिव आदि की मूर्तियाँ रहती हैं। दक्षिणमार्गीय शाक्त ऋषि, देव, पितर मनुष्य आदि के लिए पंचयज्ञ का सम्पादन करते हैं, विधि निषेध मानते हैं। दक्षिणाचारी शाक्तों और वैष्णवों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। वाममार्ग में विधि निषेध का त्याग किया जाता है। वह सम्पत्ति, स्त्री व अन्य भोगों को जीतता है और जानबूझ कर मर्यादा का उल्लंघन करता है। वामाचार में और कापालिक शैवों में समता दिखाई पड़ती है।

कुलाचार में कुलस्त्री, कुलगुरु तथा कुलदेवी की उपासना व पूजा होती है, सभी हिन्दू घरों में शुद्ध रूप में कुलाचार ही आज प्रचलित है। किन्तु बामाचारी साधक कुलस्त्री को देवी मानकर उसे बलपूर्वक लाकर उसकी पूजा करते हैं और पंचमकार विधि अपनाते हैं।^१

वामाचार में भोग व योग के विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया है। कौलरहस्य में कहा गया है कि कौल योग व भोग दोनों से युक्त है अतः कौल साधना ही प्रिय साधना है।^२

भाव की दृष्टि से पशुभाव सामान्य जन के लिए तथा वीर भाव और दिव्यभाव उच्च साधकों के लिए माना जाता है।

शाक्त साधना द्वारा निरूपति सभी आचारों और क्रियाओं में भाव को ही मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इस भाव को या तो प्रेरणा देने के लिए है अथवा इस भाव को उच्चतर मानसिक स्थितियों में रूपान्तरित करने के लिए है अथवा इस परीक्षा के लिए है कि दिव्यता की ओर किस सीमा तक रूपान्तरण हो चुका है। इसी दृष्टि से शवसाधना, कुमारीपूजा चक्रपूजा आदि को देखना चाहिए। कौलावली निर्णय में यह स्पष्ट कहा गया है कि भाव के बिना यंत्र, मंत्र, वीर साधना, अष्टकुल, अकुल, पीठ-पूजन, कन्याभोजन, स्वकुल में प्रीति, दान, कौलाचार आदि कोई कुछ भी फल नहीं देते। अतः मन्त्रजप आदि में साधक भावविशेष द्वारा ही तादात्म्य

१ देवी रहस्य—पटल ५८ तथा ५९

२ भोगयोगात्मक कौलं, तस्मात्सर्वाधिकं प्रिये

हंसबिलास—पृ० १०४

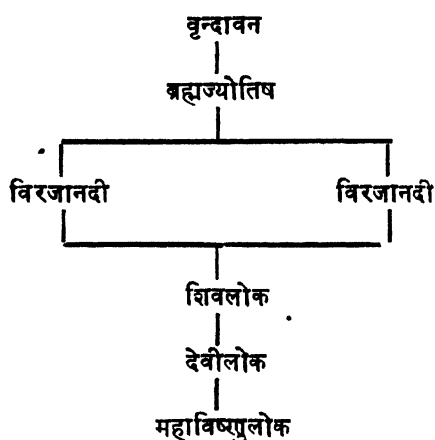
प्राप्त करता है जो सिद्धिदायक है।^१ भयंकर क्रियाओं को छोड़कर शाक्त साधना का आधारभूत सिद्धान्त भाव विशेष का विकास है। शैव, बौद्ध और वैष्णव तन्त्रों में भी यही सिद्धान्त दिखाई पड़ता है। देवता का ध्यान तथा उसके साथ भावात्मक एकता इन सम्प्रदायों की साधना का मर्म है। शाक्त व शैव मूलप्रवृत्ति काम को भोग द्वारा वश में लाते हैं, इसमें विरोधाभास दिखाई पड़ता है परन्तु है नहीं, क्योंकि भोग के समय भावना ही मन को क्लुषित करती है, यह तन्त्रों का कथन है। 'मैं कुछ अनुचित कर रहा हूँ— इस भावना के निकल जाने पर प्रवृत्तियों का भोग ग्लानि उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए कुमारी पूजा आदि में स्त्री को देवी रूप में स्वीकार कर सम्पूर्ण विलासमय परिस्थिति को एक सर्वथा पवित्र और दिव्य भाव में बदलने का प्रयत्न किया जाता है। यही कारण है कि वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधा कृष्ण की अश्लील से अश्लील रति-क्रीड़ा को देखकर लज्जित नहीं होते। वे उसे देवरति मानकर प्रसन्न हो होकर देखते हैं और जन्म जन्मान्तर देखते रहना चाहते हैं और इसके लिए वे जानियों की मुक्ति की निन्दा करते हैं, इससे आत्मा का परमात्मा में पूर्ण विलयन हो जाता है। अतः प्रवृत्ति से प्रेरित कर्म में सामाजिक कारणों से भय, लज्जा, ग्लानि आदि भाव संयुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार काम-प्रवृत्ति जो मूल प्रवृत्ति है उसे भी दिव्य कर्म समझ कर करने से—काम को सन्तुष्ट करते समय यह भावना करने से कि यह मिलन ब्रह्मांडव्यापी शक्ति और शिव का मिलन है, साधक के मन में लज्जा और ग्लानि नहीं रहती और अन्त में मन शान्त हो जाता है, ऐसा तन्त्रों का कथन है। वैष्णव इस क्रिया का केवल ध्यान करते हैं। इससे साधक की वासना का दिव्य स्तरों पर प्रक्षेपण हो जाने से वासना दिव्यभाव में बदल जाती है। गंधर्वतन्त्र में कहा गया है कि वेद द्वारा बहिष्कृत वस्तुओं का इस प्रकार उपयोग करो कि साधना में सफलता मिले। उपयोग की विधि तथा भावना से वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है। वह

- १ न भावेन विना चैव यन्त्र मन्त्र फलप्रदाः किं वीरसाधनैर्लक्षैः किम्वा-
 आकृष्टकुलाकुलैः किं पीठपूजनेनैव किं कन्याभोजनादिभिः, स्वकुले प्रीति-
 दानेन किं परेषान्तथैव च । भावेन लभते मुक्ति भावेन कुलवर्धनम्,
 भावेन गोत्रवृद्धिः स्यात् भावेन काय शोधनम् ।

कौलावलीनिर्णय-उल्लास ११, श्लोक ५ से १० तक

स्वयं में न पवित्र है, न अपवित्र ।^१ अतः अद्वैत भावना से शक्ति पूजा ब्रह्म में मन को स्थिर करती है और द्वैतभाव से नर्क में डालती है ।^२ भंडारकर ने लिखा है कि शाक्त सम्प्रदाय में प्रत्येक पवित्र साधक देवता को स्त्री समझकर यह अनुभव करता है कि 'मैं भी स्त्री हूँ' । त्रिपुरा की उपासना में एक सम्प्रदाय इसी विधि का अनुगमन करता है । यहाँ भी भावना की विशेषता ही दिखाई पड़ती है ।^३ ब्रह्मयामल में चित्तवृत्ति को ही मुख्य माना गया है । यन्त्रवत्तन्त्राचार पालन से कोई लाभ नहीं है ।^४ शक्ति व शक्तिमान का सिद्धान्त ही शाक्त, शैव, वैष्णव तथा तांत्रिक बौद्ध तंत्र का मर्म है । दस महाविद्याओं में कमला, तथा दस महाभैरवों में इसीलिए विष्णु की गणना शाक्त तन्त्रों में की गई है । श्रीकृष्णयामल तन्त्र में कहा गया है कि विष्णु के अवतार अपनी शक्ति सहित अवतार लेते हैं । वृन्दावन दो प्रकार का है—१ भौम वृन्दावन जो पृथ्वी पर है तथा दिव्य वृन्दावन । दिव्य वृन्दावन लिंग व योनि पर आधारित है ।^५ लिंग व योनि ही प्रकृति व पुरुष है । राधा शक्ति है । राधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियों के साथ भी पुरुष क्रीड़ा करता है यही गोप लीला है । इससे जो 'रस' प्राप्त होता है वह शक्ति व शक्तिमान की लीला का ही प्रतिमान है ।^६ राधिकोपनिषद् में जीव को स्त्री तथा कृष्ण को 'यति' कहा गया है । राधा ही ह्लादिनी शक्ति है, अर्थात् ब्रह्म, जो आनन्दस्वरूप है, वही राधा के रूप में व्यक्त होता है ।^७ श्रीकृष्णयामल तन्त्र में विष्णुलोक का वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

-
- १ गंधर्वतन्त्र-सम्पादक रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री, श्रीनगर, कश्मीर, पटल ३१, १९३४ ई०
 - २ व मवर गोडेस आफ कामाल्या-बैनीकान्त काकती, गोहाटी, १९४८ ई० पृ० ५२ से उद्धृत ।
 - ३ ग्लोनिंग्स फ्रीम व तंत्राज-पृ० १६४
 - ४ ग्लोनिंग्स फ्रीम व तंत्राज पृ० १६४ से उद्धृत
 - ५ वही पृ० १८५
 - ६ वही
 - ७ वही पृ० १८५, १८६.



एक कथा है कि ब्रह्मा इस लोक में गए । महाहरि ने पथप्रदर्शन किया । यह महाहरि नीले रंग का था, वह कमलनयन और अष्टभुजधारी था । ब्रह्मा जब शिवलोक गये तो देखा कि लिंग महायोनि को स्पर्श कर रहा था, इससे “अर्धनारीश्वर प्रकट हुआ” । अर्धनारीश्वर ने कहा कि मैं कृष्ण व दुर्गारूपी राधा का तेज हूँ । कृष्ण का मंत्र प्रकट हुआ—

क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन बल्लभाय स्वाहा

तत्पश्चात् ब्रह्मा विरजा नदी पर गए, यह ज्योतिर्मयी है, यहाँ विष्णु की वंशी बजती है और गोविन्द का कीर्तन होता है । ब्रह्मा ने देखा कि नदी में कदम्ब का प्रतिबिम्ब था, उसमें स्थित एक कल्पवृक्ष पर मयूरपंखधारी पीताम्बरधारी एक बालक आसीन था, उसकी गोद में राधा थी । देवताओं ने वहाँ पहुँचने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें रोक दिया गया ।^१

इसी प्रकार एक परवर्ती तंत्र हंसविलास में तंत्र व वैष्णव मत की आधारभूत एकता बताई गई है । हंसविलास में जो परम्परा दी गई है उसमें महेश और पार्वती के साथ राधा कृष्ण का भी उल्लेख है ।^२ हंसविलास में राधा कृष्ण लीला को ‘राजयोग’ कहा गया है ।^३ क्योंकि यह मानसिक भावना पर ही आधारित है, बाह्य क्रियाकांड पर नहीं । भक्ति की परिभाषा में कहा

१ ग्लीनिंगस फ्रीम द तंत्राज गोपीनाथ कविराज पृ० १८७

२ हंसविलास—दीक्षाप्रसंग

३ ” पृ० १०५

गया है कि इससे भवदुःख का शमन होता है, मोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है । इसमें न योग है, न तप है, न अर्चा है केवल भक्ति ही इसमें सर्वस्व है ।^१

कृष्ण-भक्तों के रासमंडल व चक्र में सादृश्य दिखाई पड़ता है । इसमें पंक्तिवद्ध या चक्रवद्ध साधक खड़े होते हैं ।^२ रासमंडल में पंचमकार को वास्तविक अर्थ में ही प्रयुक्त कर सकते हैं । जैसे व्योमपंकज से लवित सुधा ही सुरा है । पलाशी या मांसभोजी वह है जिसका चित्त 'पर' में लीन हो जाता है । मैथुन का तात्पर्य है परशक्ति के साथ आत्मा के मैथुन से उत्पन्न आनन्द, न कि दुराचार ।^३ इसी प्रकार "रास" का वास्तविक अर्थ किया गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है, वह आनन्द इस शरीर में प्रतिष्ठित है, उस आनन्द का अभिव्यंजक होने से यह "रास" है और इस रास में तत्पर व्यक्ति ही रसिक कहलाता है ।^४ स्पष्ट ही यह रास की तांत्रिक व्याख्या है परन्तु यह वैष्णव सिद्धान्त से दूर नहीं है क्योंकि रास मंडल का प्रतीकात्मक अर्थ ही वैष्णव परम्पराओं में भी स्वीकृत है । ऐसा प्रतीत होता है कि रास सम्प्रदाय एक अलग सम्प्रदाय था जो वैष्णवों व तांत्रिकों के सिद्धांतों में समानता देखकर दोनों का समन्वय करता हुआ प्रचलित हुआ था क्योंकि हंसविलास में वेद से वैष्णव मत को, वैष्णवमत से दक्षिणमार्ग को, उससे वाममार्ग को, वाम से सिद्धान्त मत को तथा सिद्धान्त मत से रास सम्प्रदाय को श्रेष्ठ कहा गया है ।^५ हंसविलास तंत्रमार्ग में शैव शाक्तों के अतिरिक्त वैष्णवों को भी स्वीकृत करता है ।^६ कहा गया है कि गणेश लोक, सूर्य लोक, विष्णुलोक, शिवलोक व शक्तिलोक ही श्रेष्ठ लोक हैं । इनमें अलग अलग मंत्र व शास्त्र प्रचलित हैं । विष्णुमूर्तियों में गोलोकविलासिनी मूर्ति को तभी श्रेष्ठ माना गया है ।^७ वैष्णवों के गोलोक वर्णन और तांत्रिकों के लोकवर्णन में अदभुत सादृश्य

१ हंस विलास—दीक्षा प्रसंग पृ० ११६

२ पङ्क्त्याकारेण व सम्यक्—चक्राकारेण वा श्रिये । हंसविलास पृ० १२३

३ हंसविलास पृ० १२५

४ आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्चवेहे व्यवस्थितम् ।

तस्यामि व्यंजको रासो, रसिकस्तत्परायणः । हंसविलास पृ० १३६

५ वही पृ० १३६

६ वही पृ० १४८

७ वही पृ० १५१

है। हंसविलाप तंत्र “शुष्क वैरागियों” का घोर खंडन करता है। आनन्द रहित होने के कारण ही इन्हें शुष्क कहा गया है।^१

इनमें दंडी, जटिल, मुंड, नग्न आदि अनेक रूप वाले संन्यासी हैं जिनकी निन्दा की गई है।^२ गृहस्थधर्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है। संन्यासी इसकी भी निन्दा करते हैं। इसीलिए संन्यास मार्ग अग्रहणीय है।^३ अतः आनन्दवादी साधक को राधा या लक्ष्मी का स्मरण करना चाहिए यह “स्त्री तत्व” अत्यधिक रहस्यमय और गम्भीर है।^४ “तन्वीतत्व” को न समझ कर ही लोग निन्दा करते हैं, क्योंकि स्त्री संसार से तारने के लिए है, डुबा कर मारने के लिए नहीं।^५ अतः कलियुग में भक्तियोग को श्रेष्ठ माना गया है। इसमें मिथुन रूप का ध्यान किया जाता है।^६ शिवशक्ति या राधाकृष्ण की समरसता या विलासावस्था ही ध्येय है। इसी सामरस्य को छंदों में बाँधा जाता है। भगवान के स्नान, अलंकरण, नीराजना, पुष्पांजलि आदि का विधान भी इसीलिए है। नायिकाभेद, हावभाव अलंकारादि के काव्यमय वर्णन भी इसी “युगलउपासना” के मर्म के उद्घाटन के लिए है।^७

इस युगल रस का चमत्कार रास में प्रकट होता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

रसमयः कश्चित् चमत्कारविशेषो रासः स च सर्वत्र व्याप्तः ।

सामरस्यात् “रसो वै सः”, रस सच्चिदानन्दलक्षणं शक्तिशिवैक्यरूपं
तस्य विलासो रासः अनिर्वचनीयलीला चमत्कृतिः^८

अर्थात् ब्रह्मानन्द ही रास है, वह सर्वत्र ही व्याप्त है। यह रस शक्ति व

१ शून्यवैराग्यसंशुष्का भ्रमन्तिभुवि केचन—

हंसविलास पृ० १७२

२ हंसविलास पृ० १७२

३ वही पृ० १७३

४ वही पृ० १७४

५ वही पृ० १७५

६ वही पृ० २६८

७ वही

८ वही पृ० २७२

शिव की एकता के रूप वाला है। उसी ब्रह्मानन्द की क्रीड़ा रास है। यह ऐसी अप्राकृतिक लीला है कि जिसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता।

वैष्णवों के रास की प्रामाणिक व्याख्या से यह व्याख्या पूर्णतः मिलती है। वृन्दावन के कृष्ण को तंत्र आद्यललिता कहते हैं, वही पराशक्ति पुरुष रूप धारण कर राधा आदि शक्तियों के साथ क्रीड़ा करती है। इस क्रीड़ा के दो रूप हैं—एक क्रीड़ा बाह्य है जो जगत् के रूप में हमारे सम्मुख है और दूसरी आन्तरिक है जो ब्रह्मांड से परे गोलोक में होती रहती है।^१

हंसविलास में गोपी का अर्थ पराशक्ति किया गया है और गोपाल का परमशिव। अतः गोपी साधारण गोप जाति नहीं है बल्कि वह पराशक्ति का ही रूप है।^२

स्त्री पुरुष की यह जो बाह्य रति है यह आध्यात्मिक दृष्टि होने पर सिद्धि देती है। यदि यह सम्भव न हो तो कीर्तन करना चाहिए। अर्थात् कीर्तन में भगवान की आनन्दमयी लीला का ध्यान करना चाहिए।^३ इसीलिए वैष्णव रासलीला का ध्यान या कीर्तन करते हैं। हंसविलास स्पष्ट कहता है कि तंत्रों में साधक रतिक्रीड़ा करते हैं, वैष्णव उसका गायन करते हैं और गायन भी सुरति ही है—

गायनमात्रमेव सुरतम्^४

यहाँ वैष्णव व तांत्रिक मत की एकता स्पष्ट हो जाती है। विशेषकर कृष्ण भक्तों पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

१ हंसविलास पृ० २७३

२ वही पृ० २७५

३ तवभावेअधिबैवतरासः कीर्तनीयः—वही पृ० ३०८

४ वही पृ० ३१६

नाथ सम्प्रदाय पर तांत्रिक प्रभाव

कश्मीर शैव सम्प्रदाय में नाथ सिद्धों के उल्लेख मिलते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, जो परम्परा से गोरखनाथ के गुरु कहलाते हैं, तंत्रालोक में उल्लिखित हैं।^१ क्योंकि योग क्रियाएँ प्राचीन है अतः जैन-विद्वान नाथसम्प्रदाय को जैनमत का ही एक रूप मानते हैं, यह एक संयोग है कि जैन तीर्थंकरों में 'आदिनाथ' भी एक है और नवनाथों की परम्परा 'आदिनाथ' से मानी जाती है, यद्यपि आदिनाथ का अर्थ नाथपंथी शिव करते हैं। यह प्रमाणित हो चुका है कि नाथपंथ पर बौद्धप्रभाव पर्याप्त है, महायान का शून्यवाद व बौद्धयोग नाथपंथ में पुष्कल मात्रा में मिलता है।

नाथपंथ वस्तुतः सिद्धमार्ग है, इसे अवधूत या योगमार्ग भी कह सकते हैं। शबरतंत्र में कई नाम नाथ सिद्धों के मिलते हैं, आदिनाथ, अनादिनाथ, कालनाथ, अतिकालनाथ, करालनाथ, विकरालनाथ, महाकालनाथ, कालभैरवनाथ, बटुकनाथ, भूतनाथ, वीरनाथ, तथा श्रीकण्ठनाथ। इन १२ शिक्षक सिद्धों के नाम शबरतंत्र से मिलते हैं, इसमें स्पष्ट ही कई नाम नाथसिद्धों के हैं, इनके शिष्यों

१ कश्मीर शैव दर्शन में हम इसकी चर्चा कर चुके हैं - द्रष्टव्य तंत्रालोक, जिल्द १, भा० १

में नागार्जुन, जड़भरत हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, अवध्यनाथ, वैराग्यनाथ, कंठाधारी, जालंधर तथा मलयार्जुन—ये १२ शिष्य कहे गये हैं ।^१

गोपीनाथ कविराज के अनुसार गोरखनाथ का समय १२वीं शताब्दी है क्योंकि ज्ञानदेव ने (१३ वीं शताब्दी) गीताभाष्य में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गोहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञाननाथ का उल्लेख किया है । तारानाथ व हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार गोरख प्रथम बौद्ध थे । शास्त्रीजी ने इनका बौद्ध नाम 'रमणवज्र' बताया है । जो हो, यहाँ केवल यह स्मरणीय है कि हठयोग का स्वर १० वीं शताब्दी के बाद ही प्रबल होता है और इस मत पर पतंजलि के 'राजयोग' के अतिरिक्त बौद्ध व शैव प्रभाव बहुत अधिक है ।

कविराजजी का अनुमान है कि 'हठयोग' यद्यपि अपेक्षाकृत नवीन है, तथापि 'मार्कण्डेय मुनि' सम्भवतः हठयोग से परिचित थे । योग का दूसरा रूप 'हिरण्यगर्भ' द्वारा प्रचारित हुआ जिसे 'राजयोग' कहते हैं और जिसका पल्लवन पतंजलि के योगशास्त्र में हुआ । कहा गया है कि हठयोग दो प्रकार का है, एक गोरखनाथ आदि द्वारा प्रचारित तथा द्वितीय मार्कण्डेय आदि द्वारा प्रचारित ।^२

प्रश्न यह है कि जब पतंजलि का राजयोग प्रचलित था अथवा जैन व बौद्ध साधक भी राजयोग के ही अभ्यासी थे, तब इस हठयोग के प्रचार की आवश्यकता क्या थी ?

राजयोग में चित्त (मन, बुद्धि अहंकार या अंतःकरण) के निरोध का प्रयत्न किया जाता है, चित्तवृत्तियों का सर्वथा दाह ही इसका उद्देश्य है । चैतन्य के प्रतिबिम्ब से चित्तप्रतियों का प्रवाह चल पड़ता है । इस चित्तवृत्ति के प्रवाह को समाप्त कर शुद्ध चैतन्य में स्थित हो जाना ही कैवल्य अवस्था है । यह केवल शारीरिक क्रियाओं-व्यसनियमादि से सम्भव नहीं है, उसमें ज्ञान की अनिवार्य स्वीकृति है । अतएव हठयोग व मंत्रयोग को इस राजयोग का सोपान

१ सम आसपंक्तस आफ द हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ द नाथाज - सरस्वती भवन सीरीज-जिल्द ६

२ द्विधा हठः स्यादेकस्तु, गोरक्षाविसुसाधितः ।

अन्योभूकं पुत्रार्घ्यं साधितो हठसंज्ञकः—सम आसपंक्तस आफ द हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ द नाथाज - गोपीनाथ कविराज

माना गया है। पतंजलि के राजयोग में ब्राह्म शारीरिक क्रियाओं की स्थिति गौण है, 'ज्ञान' की स्थिति मुख्य है किन्तु यह सर्वसाधारण के लिए दुष्कर कार्य है अतः हठयोग की आवश्यकता है। मूर्ख भी इसे प्रारम्भ कर सकता है। हठयोग की उत्पत्ति का ऐतिहासिक कारण तांत्रिकों द्वारा प्रचारित भ्रष्टाचार का विरोध है। वज्रयान, सहजान, शैव, शाक्त-सभी तांत्रिक सम्प्रदायों में प्रवृत्तियों के माध्यम से ही साधना का जाती थी, हठयोग ने इसके विरुद्ध ब्रह्मचर्य को साधना का आधार बनाया, क्योंकि हठयोगी के अनुसार कामवामना को सहायक बनाकर ऊपर उठने में खतरा अधिक है जबकि हठयोग में खतरा नहीं है।

बौद्धमिद्ध तथा शैव, शाक्त साधक कुण्डलिनी योग की साधना करते थे, यह कुण्डलिनीयोग यथावत् हठयोग में स्वीकृत है, जबकि तांत्रिकों द्वारा 'भोग-द्वारायोग' की प्रवृत्ति को उसने पूर्णतः छोड़ दिया, यही तांत्रिक 'कुण्डलिनीयोग' व हठयोग में अन्तर है।

कुण्डलिनीयोग तांत्रिकों का अपना आविष्कार है। शक्ति व शिव की एकता ही इसका ध्येय है। यह कुण्डलिनीयोग पतंजलि के योगशास्त्र में अनुपस्थित है।

योगी हरिहरानन्द आरण्य प्रसिद्ध सांख्याचार्य व योगी थे। उनके अनुसार हठयोग में वर्णित रेचक, पूरक व कुम्भक आदि प्राणायामविधि में तथा पतंजलियोग के प्राणायाम-विधान में भी भिन्नता है^१। जिस कुम्भक के अन्त में श्वास छोड़ी जाय, वह तांत्रिक विधि है और जिसमें श्वास लेकर यानी पूरक के बाद कुम्भक किया जाय, यह विधि वैदिक प्राणायाम विधि है।^२

हठयोग में बलपूर्वक प्राणरोध किया जाता है, मूल बंध, (गुदासंकोचन), उड्डीयानबंध (उदर संकोचन), जालंधरबंध (कंठदेश-संकोचन), में बलपूर्वक वायु रोकी जा सकती है। खेचरीमुद्रा में जिह्वा को खींचकर क्रमशः बढ़ाया जाता है। फिर उसे ब्रह्मतालु में प्रविष्ट कर प्राण-रोध किया जाता है। नाना मुद्रादि क्रियाओं द्वारा हठयोगी शरीर के स्नायु व मांसपेशियों को पुष्ट बनाते

१ पतंजलि योगदर्शन-बंगलामाध्यानुवाद और टीका का हिन्दी अनुवाद-भाष्यकार हरिहरानन्द आरण्य, लखनऊ, पृ० १६४

२ पूरणादि रेचनान्तः प्राणायामस्तु वैदिकः।

रेचनादि पूरणान्तः प्राणायामस्तु तांत्रिकः - वही पृ० १६६

है तभी बलपूर्वक प्राण को रोका जा सकता है। आरण्यजी के अनुसार इससे चित्त निरोध अर्थात् वृत्तियों के पूर्ण लय में सहायता मिलती है परन्तु उनके अनुसार यह विधि अधिक कठिन है। हठयोग द्वारा रुद्ध प्राण रहने के लिए धोति, वस्ति आदि क्रियाओं से आंतों का मल निकालना पड़ता है और जल या दूध पीकर रहना पड़ता है। यह सब वैदिक पातंजलयोग में आवश्यक नहीं है, वहाँ युक्त साहित्य आहार से काम चल जाता है अतः हठयोग अधिक कष्टकारक और कम फलदायक विधि है।

आरण्यजी के अनुसार वैदिक विधि में योग साधना में केवल 'हृदयपुं'डरीक' की ही 'धारणा' होती थी, अर्थात् प्राणायाम करते समय हृदयकमल और उसके ऊपर स्थिर 'सौषुम्न ज्योति' का ध्यान किया जाता था और उसमें चित्त को एकाग्र रखा जाता था। इसके बाद षट्चक्र या द्वादशचक्र की धारणा का प्रचलन हुआ।^१ स्पष्ट है कि तांत्रिकों की चक्रधारणा अवैदिक विधि है। "इसमें कुण्डलिनी नामक ऊर्ध्वगामिनी ज्योतिर्मय धारा की धारणा की जाती है और क्रमशः चक्र प्रतिचक्र के बाद सहस्रार चक्र में परमपद प्राप्त किया जाता है; इसे सत्यलोक ब्रह्मलोक भी कहा जाता है।"^२ कविराज जी के अनुसार प्राचीन ऋषि मूलाधार, नाभि, हृदय व भ्रुकुटिचक्र से भी परिचित थे, किन्तु वह भी यह मानते हैं कि वैदिक ऋषि 'हृदयग्रन्थि' को अधिक महत्व देते थे जबकि नाथसिद्ध मूलाधार व नाभिचक्र को अधिक महत्व देते हैं। अतः हठयोगको पातंजलयोग का विकास समझना चाहिए।

वस्तुतः हठयोग में तांत्रिक विधि व वैदिक विधियाँ मिल गई हैं। अथर्ववेद में हम योग का प्रारम्भिक रूप देख चुके हैं। उपनिषदों में भी इसी योग का विकास दिखाई पड़ता है। यज्ञवादी आर्यों में यह योग विधि निश्चित रूप से बाहर से ही आई है अतः जिसे वैदिक योग कहा जाता है, उसका अर्थ है आर्यों द्वारा स्वीकृत योगविधान। पातंजलयोग को जो वैदिक कहा जाता है उसका वास्तविक तात्पर्य यही है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शैव शाक्त व तांत्रिक बौद्ध अनार्थ थे। इसका तात्पर्य यह है कि तांत्रिक युग (६०० ई० से ६०० ई०) के पूर्व जिस

योग को 'वैदिक' कहा जाता है, उससे भिन्न बहुत सी पद्धतियाँ तांत्रिक युग में विकसित हुई हैं, अतः इन्हें अवैदिक कहा जा सकता है।

हठयोग के अनुसार बिन्दु, वायु तथा मन ये तीनों परस्पर सम्पृक्त हैं, इनमें से एक को वश में कर लेने से शेष भी वश में हो जाते हैं। हठयोगी ब्रह्मचर्य रहकर वायु को वश में करते हैं, अतः आसन, मुद्रा, तथा नादानुसन्धान भी उपाय के रूप में काम में लाए जाते हैं। इस प्रकार हठयोग के चार भाग हो जाते हैं। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, और नादानुसन्धान। पातंजलयोग के यमनियम; धारणा, ध्यान आदि भी हठयोग में स्वीकृत है।

आसन से शरीर वश में होता है। मुद्रा से कुण्डलिनी जाग्रत होती है जो तांत्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से मन शान्त हो जाता है, यह भी तांत्रिक उपाय है। नादानुसन्धान से वायु सहस्रार में स्थिर की जाती है और तब लययोग सफल होता है। तन्त्रों में वर्णित मनोन्मनी या सहजावस्था प्राप्त हो जाती है। हमारे ऐन्द्रिक जगत् के भीतर विश्वव्यापी नाद व्याप्त है। सुषुम्णा में वायु प्रविष्ट होते ही यह नाद व्यक्त होने लगता है। इसके लिए नाडीशोधन अनिवार्य है। कविराज जी के अनुसार नाथों को जड़तत्व के स्तर ज्ञात थे—जाग्रत अवस्था में दृश्यमान जड़तत्व से लेकर संप्रज्ञात या सस्मिता समाधि में दृष्टि तत्व के सभी स्तरों का ज्ञान नाथ साधकों को हो चुका था।^१

अतः आरण्य जी के इस कथन में साम्प्रदायिकता की गंध आती है कि हठयोग केवल प्राणरोध ही है, हठयोग विकसित साधना है; उसकी पृष्ठभूमि में वैदिक तांत्रिक सभी विधियाँ स्वीकृत हैं। हठयोग की विशेषता शारीरिक अनुशासन पर बल देने में है। हठयोगी तांत्रिकों के रतियोग को नहीं मानते। उनका विश्वास है कि आत्मा मन व भूततत्त्व के बन्धन में है; भूत तत्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं। पंचतन्मात्राओं के केन्द्र शरीर में अवस्थित हैं। इन्हीं के नीचे शक्ति दबी रहती है। क्योंकि चेतना जड़ तत्वों में विकसित होकर मन, बुद्धि व इन्द्रियों में बदल जाती है अतः इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय तत्व को नहीं समझ पाती। परन्तु मन जाग्रत होने पर उन्हें समझ सकता है। इसीलिए उसे "दिव्यचक्षु" कहा जाता है।

अशुद्ध मन के समय वायु तिरछी चलती है। वायु की यह वक्रगति ही

नाड़ीचक्र है। सुषुम्णा में वक्रता नहीं है। जब भौतिक मन की वृत्तियाँ (चित्तवृत्तियाँ) तथा वायु एक ही बिन्दु पर पहुँच जाती हैं तो दमित आत्म-प्रकाश जग पड़ता है। यही कुण्डलिनी जागरण है।^१ यह जाग्रत आत्मशक्ति सीधी ऊर्ध्वगति पकड़ती है और अन्त में परमात्मतत्त्व में मिलकर एक हो जाती है। यह चेतना का नाश नहीं है, विलयन है। इसे एकता भी कहा जा सकता है।

चेतन्य को हठयोगी निर्गुण, सगुण से परे शून्यवादियों की तरह अनिर्वचनीय रूप देते हैं। अतः अद्वैतवाद व द्वैतवाद से परे वे अपने को सर्वातीतवादी कहते हैं। यह सर्वातीत तत्त्व जड़ प्रकृति में छिपा हुआ है, इसे प्रकाशित कर सकना ही योग है। जब शक्ति छिपी रहती है, तब पिंड में वायु विषम रहती है। मन विषम रहता है, इनका सारा कार्य विषम रहता है। इसे सम करना ही योगी का लक्ष्य है। कभी कभी यह समता आ जाती है तब इसे “संधिक्षण” कहते हैं। इसी संधिक्षण को बढ़ाते चलना ही पुरुषार्थ है। प्राण दक्षिणधारा व वामधारा ये दो विषम गतियाँ अपनाता है। वामगति सोम व पिगला मे है, दक्षिणधारा सूर्य व इडा में। इनसे तटस्थ शक्ति ही पुरुष और प्रकृति है। बिन्दु, वायु व मन की शुद्धि हो जाने पर-क्रिया योग के द्वारा प्राण सुषुम्णा में दौड़ने लगता है। तब प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है।

पातंजल व तांत्रिक योग में पंचभूतों पर धारणा-ध्यान द्वारा विजय वर्णित है। हठयोग में भी यह स्वीकृत है अतः भूतविजय द्वारा नाथसिद्ध नाना चमत्कार दिखाते थे। नाथसिद्ध शरीर को पाप का मूल मानते हैं। बिन्दु शोधन से यह सिद्ध हो जाता है। नाथों का विश्वास है कि जैसे लोहे को स्वर्ण में बदलते हैं, वैसे ही इस शरीर को अमरशरीर में बदला जा सकता है। अतः शैवों का रसेश्वर सम्प्रदाय भी हठयोग में स्वीकृत है। पारे को शुद्ध करके उसके मेवन से हठयोगी ‘कंचनशरीर’ प्राप्त करते हैं। पारे को शिव का वीर्य व अभ्रक को गौरी की रज माना जाता है, शक्ति व शिव के मिलने का मिढान्त इस प्रकार रस सिद्धान्त में भी मिलता है। रसायनाचार्य नागार्जुन से हठयोगी प्रभावित थे फिर भी हठयोगी वायुरोध को भी अमरत्व प्राप्ति के लिये सक्षम मानते हैं।

किन्तु हठयोग का अन्तिम लक्ष्य केवल सिद्धि प्राप्त करना नहीं है, यद्यपि हठयोग इस पक्ष पर बहुत बल देता है, उसका अन्तिम लक्ष्य वैयक्तिक चेतना को महाचेतना में लय कर देना है और यही राजयोग का लक्ष्य है। हठयोग का विश्वास है कि इस अन्तिम स्थिति को केवल 'सिद्धदेह' ही सँहाल सकती है और सिद्धदेह बिना हठयोग के प्राप्त हो नहीं सकती।

हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार हठयोग में तत्त्वज्ञानमयधारणा की जगह वैपयिक धारणा की ही प्रधानता है। तत्त्वज्ञान की धारणा यह है—'मैं पुरुष हूँ', 'प्रकृति से परे हूँ' आदि। वैपयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा की जाती है। ज्योति धारणा में हृदयस्थित ज्योति की धारणा की जाती है। शब्दधारणा में 'अनाहतनाद' की धारणा प्रधान है। प्राणायामादि से पिंडस्थित नाद सुनाई पड़ते हैं, इनमें शंख, घण्टा, करतल, मेघ आदि नाद है, ये नाना चक्रों में सुने जाते हैं। अन्त में शैवयोगियों की पद्धति पर हठयोगी बिन्दुस्थान तक पहुँचते हैं। सर्वत्रव्यापी नाद का अन्तिम केन्द्र ही बिन्दु है, बिन्दु ही नाद के रूप में चारों ओर फैलता है, अतः योग द्वारा इस अनाहतनाद के ग्रहण कर लेने के बाद बिन्दु तक पहुँचना पड़ता है। बिन्दु के भी परे की स्थिति 'विष्णु का परमपद' कहलाती है। चक्रभेदन के पश्चात् सप्तमचक्र या सहस्रार में सत्यलोक या ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा भी कहा जाता है। कबीर व राधास्वामी योगी इस सत्यलोक की बहुत चर्चा करते हैं।

स्पष्ट है कि कुण्डलिनी योग में कुण्डलिनी नाम से अभिहित शक्ति की ही धारणा की जाती है, ज्योति या शब्द के रूप में इसका ध्यान करने से शक्ति जाग्रत हो जाती है। इसे 'नादशक्ति' भी कहा गया है।^१ अतः कुण्डलिनी के जाग्रत होने के पश्चात् अनाहतनाद सुनाई पड़ता है। इस 'नाद' के श्रवण में धारणा या ध्यान तथा प्राणायाम ही कारण है। धारणा में चक्रों में नाना देवी, देवता, कमल, लोक, वर्ण आदि का ध्यान किया जाता है। हठयोगी इस ध्यान के साथ-साथ मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध आदि द्वारा पेशी व स्नायु के संकोच द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करने में अन्य योगियों से अधिक विश्वास करते हैं। लययोगी नादधारणा पर अधिक बल देते हैं।

नाद आहत व अनाहत दो प्रकार का होता है। जब हम बोलते हैं तो "आहत"

नाद सुनते हैं, जबकि योग द्वारा अनाहतनाद सुना जाता है। कुण्डलिनी-केन्द्र में परावाणी का सूक्ष्म रूप रहता है, यही परावाणी जब वैखरी रूप में व्यक्त होती है, तो 'आहतनाद' कहलाती है, शाक्तयोग में हम इसका वर्णन कर चुके हैं। शैव शाक्त योग के नादानुसंधान को यथावत् हठयोग में स्वीकार कर लिया गया।

अनाहतनाद भी द्विविध है। प्रथम जो दक्षिण श्रवणेन्द्रिय से सुनाई पड़ता है, द्वितीय सम्पूर्ण शरीर में धारा-रूप में ऊर्ध्ववर्ती प्रतीत होता है। द्वितीय नाद-धारा की धारणा से कुण्डलिनी शक्ति को मस्तक पर ले जाकर उसे बिन्दु रूप में परिणत करना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि नाद ही घनीभूत होकर बिन्दुता को प्राप्त होता है।^१ यह बैन्दव अवस्था देश से परे की स्थिति है। केश के कोटिभाग का एक भाग रूप सूक्ष्म तेज या ज्ञानरूप अंश ही बिन्दु कहलाता है।^२ इस नाद के घनीभूत सूक्ष्म रूप अर्थात् बिन्दु में मन विलीन हो जाता है, जिस प्रकार दुग्ध में जल विलीन हो जाता है। तांत्रिक नाद को शक्ति तथा बिन्दु को शिव कहते हैं क्योंकि नाद बिन्दु का ही आत्मविस्तार मात्र है, कुण्डलिनीयोग में यह 'नादानुसंधान' स्वीकृत है।

इस प्रकार हठयोग में शैव-शाक्त योग स्वीकृत है। ब्रह्मचर्य व मासपेशियो व स्नायुसंकोचन पर अधिक बल देना ही उसकी अपनी विशेषता है, अन्यथा वह तांत्रिकों का ऋणी है। बौद्धयोग में भी कुण्डलिनीयोग ही स्वीकृत है। हठयोगियों के माध्यम से यही कुण्डलिनीयोग सन्त कवियों तक पहुँचा है।

१ नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येता बिन्दुताम् - हरिहरानंद, पृ० २१२

२ केशाग्र कोटिमार्गकमगरूप सूक्ष्मतेजोऽक्षः - वही

तृतीय अध्याय

सन्त काव्य का विकास और विवरण

सन्त काव्य का विकास और विवरण

विकास—हिन्दी का सन्तकाव्य तांत्रिक परम्परा का अंतिम विकसित रूप है । इस काव्य के स्रष्टाओं में कबीर, दादू, नानक, जगजीवनदास, बुल्ला, यारी, दरिया आदि कवि और साधक हैं, जिनका विवरण हम आगे दे रहे हैं ।

सर्व प्रथम यह स्मरणीय है कि सन्तकाव्य साधनात्मक काव्य है । वह शुद्धकला की दृष्टि से नहीं लिखा गया । इसीलिए उसमें प्रतिबिम्बित साधना को समझने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि बिना इस साधना को समझे हुए न तो इस काव्य का अर्थ ही स्पष्ट होता है और न इस काव्य का स्वरूप ही समझ में आता है । दूसरे काव्य चाहे वह साधनात्मक हो अथवा कलात्मक, व्यापक संस्कृति का ही एक अंग होता है अतः सम्पूर्ण सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के साथ उसे समझने पर ही उसके सौन्दर्य और मर्म का पूर्ण उद्घाटन हो सकता है । केवल अलंकार, छन्द, शब्दशक्ति और गिनेचुने रसों की स्थूल व्याख्या करने वाले आचार्य कविता को बहुत संकुचित बना देते हैं । कविता समाज की सुन्दरतम और सूक्ष्मतम सांकेतिक अभिव्यक्ति है । अतः उसमें समाज की आशा, आकांक्षा, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति

होती है। हम समाज के स्वरूप को देखकर ही, काव्य में व्यक्त भावनाओं का स्वरूप समझ सकते हैं। अतः काव्य के स्वरूप को समझने के लिए समाज को भी समझना पड़ता है।

समाज का अध्ययन आदर्शवादी व यथार्थवादी दृष्टि से होता है। आदर्शवादी विचारक साहित्य तथा समाज के सम्बन्ध को या तो स्वीकार नहीं करते और यदि स्वीकार करते हैं तो साहित्य व समाज के बीच केवल “परस्पर प्रभाव” (इण्टर एक्शन) को स्वीकार करते हैं। “साहित्य ने समाज को प्रभावित किया और समाज ने साहित्य को।” यह समस्या का अत्यधिक सरलीकरण है। हम सन्तकाव्य को समझना चाहते हैं इसके लिए हम चाहते हैं कि इस काव्य के पूर्ववर्ती आन्दोलनों को देखें।

इन धार्मिक आन्दोलनों को देखने पर पता चलता है कि अथर्ववेद के समय से ही तप, योग व गुह्य साधनाओं की एक परम्परा थी जो विजेता आर्यों के यज्ञ-धर्म के समानान्तर सामान्य जनता में प्रचलित थी। यह अथर्ववेदी परम्परा परवर्ती वैदिकसंहिताओं यजुर्वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों को भी प्रभावित करती है। परन्तु यह अपनी स्वतन्त्र धारा के रूप में आगे आगमों व पुराणों में समाहित हुई जिसे तांत्रिकों ने पूर्ण रूप से स्वीकार किया। हर्षवर्धन के पश्चात् भारतीय धर्म-साधना का स्वरूप ही तांत्रिक होने लगा। १३ वीं शताब्दी तक नाना सम्प्रदायों के द्वारा विपुल साहित्य की रचना हुई जिनमें तांत्रिक बौद्धसिद्ध तथा नाथ शैव देशी भाषा को भी अपनाते हैं। ये सम्पूर्ण गुह्य साधनाओं को प्रतीकात्मक भाषा में व्यक्त करते हैं और जो कुछ भी शास्त्रीय है, उसका विरोध करते हैं।

मुसलमानों के आक्रमण के समय एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। शूद्र जनता, जिसमें नये बने हुए मुसलमान भी शामिल हैं, उन्हें न हिन्दू अपना पाते हैं, न उच्चवर्गीय मुसलमान। यह योग व भक्ति के सहारे हिन्दू बर्णाश्रमधर्म, आचारवाद, भेदभाव तथा मुल्लावाद के विरुद्ध अभियान करती है, यही सन्तकविता है। छठी शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक तांत्रिक शैव, बौद्ध, शाक्त तथा एक सीमा तक पाचरात्रमतावलम्बी वैष्णव हिन्दू समाज की असंगतियों के विरुद्ध जिस प्रकार लड़ते हैं, उसी प्रकार सन्तकाव्यकर्ता भी लड़ते हैं। अतः शक्ति-योग (कुण्डलिनीयोग) के सहारे लड़ने वाले तांत्रिकों व सन्तों में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।

अब “परस्परप्रभाववादी” लेखक इस तथ्य की व्याख्या करते समय

केवल इतना कह देना काफी समझते हैं कि समाज से असंतुष्ट व्यक्तियों ने तांत्रिक कविता व सन्तकविता की सृष्टि की है। इस घोषणा से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। इसी मत के मानने वाले दूसरे लेखकों ने बताया है कि सन्तकवि निरक्षर थे, कविता का इन्हें ज्ञान नहीं था, स्वभाव से उद्धत तथा हीन भावना के शिकार होने के कारण इन्होंने आलोचनात्मक और अटपटी कविता को जन्म दिया।

इतिहास के प्रति हमारी धारणा गलत होने पर साहित्य की व्याख्या व सौन्दर्य-उद्घाटन का कार्य विकृत हो जाता है अतः सर्व प्रथम हमें इतिहास के प्रति अपनी धारणा स्वच्छ करने की आवश्यकता है।

विज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक पदार्थ का विकास उस पदार्थ में निहित असंगतियों द्वारा होता है। “परस्परप्रभाववादी” दृष्टिकोण इसे नहीं मानता, तभी वह आदर्शवाद कहलाता है। किसी पदार्थ के विकास को समझने का अर्थ है, उस वस्तु में निहित असंगतियों का समझना। मार्क्स-एंगेल्स ने भूत-विज्ञान के इस सिद्धान्त को समाज पर लागू किया था। समाज का विकास भी उसमें निहित असंगतियों द्वारा ही होता है। आदिम-साम्यवादी व्यवस्था में मनुष्य शिकार पर निर्भर था, तब सामूहिक रूप से जीवन विवश होकर व्यतीत करना पड़ता था, वह अनिवार्य था। पशुचारणयुग में भी सामूहिकता दिखाई पड़ती है परन्तु कृषि का विकास होते ही, सामूहिक जीवन अलग अलग परिवारों के रूप में विकसित हो गया, क्यों? क्योंकि सामूहिक उत्पादन व वितरण नए उत्पादनप्रकार के आ जाने से सम्भव नहीं था। अतः उत्पादन के तरीके में नवीनता आने पर पुराना सामूहिक जीवन, कबीलारूप छिन्नभिन्न हो गया और अनेक कबीलों ने परस्पर युद्ध की जगह शांति से एक ही प्रदेश में रहना प्रारम्भ कर दिया। कृषि आने पर राजनीति, धर्म, संस्कृति, काव्य सब कुछ परिवर्तित हो गया। अतः कृषि धुमंतू कबीला जीवन के लिए एक असंगति के रूप में आई और उसे दूर करने के लिए मनुष्य को सामंतवाद अपनाना पड़ा, स्थायी रूप से एक जगह बसना पड़ा, विग्रह और लूटखसोट के स्थान पर शांति व एकही ‘आत्मा’ का सिद्धान्त प्रचारित करना पड़ा।

कृषि व्यवस्था आते ही एक नवीन असंगति ने जन्म लिया, कुछ खेतों पर काम करें, व्यापार करें और कुछ शासन करें तथा पढ़ें लिखें। फलतः समाज वर्गों में बँट गया और उच्च वर्गों की संस्कृति व निम्नवर्गों की संस्कृति

अलग होगई । निम्नवर्गों पर अर्थात् उत्पादन का वास्तविक भार जिन पर था, उन पर उच्च वर्गों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा परन्तु साथ ही इन निम्नवर्गों में अपनी विशिष्ट संस्कृति भी विकसित होती रही । दूसरे, इन वर्गों में उच्चवर्ग के प्रति घृणा या उपेक्षा का भाव भी बढ़ना आवश्यक था । कृषि व व्यापार पर आधारित समाज में वर्ग अनिवार्य थे । इतिहास के विकास के लिए वर्गों की रचना करनी पड़ी किन्तु उच्चवर्गों के प्रति निम्न वर्गों की घृणा भी अनिवार्य थी अतः निम्नवर्गों का धर्म व साहित्य, आशा, आकांक्षा का प्रतीक बन गया । मार्क्स ने लिखा है कि धर्म दुःख की अभिव्यक्ति है और साथ ही दुःख के विरुद्ध विद्रोह भी है । अतः धार्मिक आन्दोलनों को इसी दृष्टि से देखना चाहिए । धर्म के रूप में मनुष्य अपने दुःख को प्रकट करता है और धर्म के आवरण में वह उस दुःख से लड़ता भी है किन्तु यह तै है कि जब तक औद्योगिक विकास नहीं होता, और औद्योगिक साधनों पर उत्पादनकर्ताओं का अधिकार नहीं होता, तब तक वर्ग अवश्य रहते हैं और दुःख भी रहता है । वर्गवादी समाज में जिस साहित्य की सृष्टि होती है, उसकी वर्गवादी भूमिका भी इसीलिए स्वीकार करनी पड़ती है क्योंकि इसे माने बिना हम यह नहीं समझ सकते कि युगविशेष में समाज किस प्रकार का है, उसका आर्थिक आधार क्या है, कौन-कौन से वर्ग उत्पादन में भाग लेते हैं, उनके उत्पादन पर कौन-कौन से वर्ग जीवित है, इन वर्गों के परस्पर सम्बन्ध क्या हैं, क्या उत्पादन के सम्बन्धों व अन्य सामाजिक सम्बन्धों में एकरूपता है ? आदि ।

साहित्य व धर्म के अध्ययन में भी वर्गों की भूमिका को समझे बिना आप समाज की असंगतियों को नहीं समझ सकते और बिना असंगतियों को समझे समन्वयवाद, सामंजस्यवाद, विश्वात्मवाद, ब्रह्मवाद, लोकमर्यादावाद, लोकसंग्रह आदि के स्वरूप को नहीं समझाया जा सकता । क्योंकि धर्म, दर्शन व साहित्य का सम्बन्ध उन सामाजिक शक्तियों से दिखाये बिना, जो उस धर्म, दर्शन या साहित्य के मूल में काम कर रही है, हमारे निर्णायक कृत्रिम व अशुद्ध होंगे । डा० कोशाम्बी ने यह ठीक लिखा है कि धर्म, अन्धविश्वास तथा आचारों आदि के अध्ययन पर आधारित धारणाएँ वास्तविक इतिहास से हमें बहुत दूर खींच ले जाती है । किन्तु साथ ही उनके अध्ययन की उपेक्षा करने पर हम संस्कृति व साहित्य आदि के विषय में उन तत्त्वों से अपरिचित रह जाते हैं जो समाज के मूल आधार में परिवर्तन की और

संकेत करते हैं ।^१

भारतीय साहित्य में तांत्रिक तत्वों के विकास का अध्ययन करते समय पीछे हमने दिखाया है कि तन्त्रों में बहुत से आदिमकालीन विश्वासों को स्वीकार किया गया है, तांत्रिक युग में आकर उसे उदात्त दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। इन आदिमकालीन विश्वासों के समान्तर वैदिक विश्वास है। वैदिक विश्वास एक विजेता जाति के विश्वास है, अतः वैदिक साहित्य में अन्य जातियों, दस्युओं, राक्षसों, किन्नरों, नागों आदि के विश्वासों के प्रति घृणा का भाव मिलता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन आर्य अनार्य के द्वन्द्व को माने बिना अवैज्ञानिक ही रहता है। यह जातिवादी दृष्टिकोण नहीं है, अपितु यह एक तथ्य है कि चाहे आर्य बाहर से आये हों अथवा इसी देश के निवासी हों, उनके साहित्य में अनार्य जातियों के प्रति घृणा के भाव अवश्य मिलते हैं। अथर्ववेद तक आते-आते आर्य कबीलों का सम्पर्क अनार्य जातियों से बढ़ जाता है अतः अथर्ववेद में आर्य अनार्यों के सभी विश्वासों को अपना लेते हैं और उन्हें वेद की संज्ञा भी दे देते हैं। बहुत समय तक अथर्ववेद को वेद ही नहीं माना गया किन्तु बाद में उसे वेद स्वीकार कर लिया गया, उसमें बहुत से आर्य विश्वासों को भी शामिल कर लिया गया।

वैदिक युग में कबीला व्यवस्था दिखाई पड़ती है किन्तु यह विकसित कबीला पद्धति है। पशुचारण के साथ-साथ कृषि व्यवस्था भी वैदिक साहित्य में मिलती है। साथ ही अन्य कबीलों व जातियों पर आर्य कबीले विजय भी प्राप्त करते हैं। यह प्रक्रिया जैसे-जैसे पूर्णता की ओर बढ़ी है, वैसे-वैसे आर्य धर्म व साहित्य में समन्वय की प्रवृत्ति बलवती होती हुई दिखाई पड़ती है। उपनिषदों में एक आत्मा व एक ब्रह्म का सिद्धान्त मिलता है, इससे स्पष्ट है कि उपनिषदों तक आते-आते आर्य विजेता कबीलों की जगह नाना जातियों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने में सफल होते हैं।

-
- १ कंसेशन अपोन व स्टडी आफ रिलीजन, सुपरस्टिशन, रिचुअल कैन लीड अस बंदरी फार अवे फ्रीम हिस्ट्री, दू निगलैक्ट देयर स्टडी आलदूगंबर थोज अवे बेल्युऐबिल फीचर्स आफ व सुपरस्ट्रक्चर बंट इंडीकेट रियल चैन्जिज इन व बेसिस। एन इंट्रोडक्शन दू व स्टडी आफ इंडियन हिस्ट्री—
डी० डी० कोशाम्बी, बम्बई, १९५६

अतः अब अपने-अपने कबीलों के अनेक देवताओं के ऊपर एक ही सत्ता में विश्वास के प्रचार की भौतिक आवश्यकता भी दिखाई पड़ती है ।

यद्यपि विजेता-संस्कृति विजित जातियों के बहुत से विश्वासों को अपनाती है परन्तु अपने विश्वास को ही वह मूर्धन्य स्थान देती है, यही कारण है कि समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ने पर वैदिक धर्म को ही मूर्धन्य स्थान दिया गया है ।

दूसरी ओर शामिलवर्गों में वैदिक यज्ञयाग के समानान्तर व्रत, तप, योग व नाना स्थानीय देवताओं की पूजा उपासना का प्रचार अधिक मिलता है ।

पौराणिक युग में विजित जातियों के बहुत से विश्वास विजेता-संस्कृति द्वारा सम्मान के साथ स्वीकृत होते हैं किन्तु पुराणों में भी वैदिक धर्म को ही मूर्धन्य स्थान दिया गया है । दूसरी ओर बौद्ध व जैन जैसे स्वतन्त्र सम्प्रदायों के रूप में वैदिक विश्वासों के विरुद्ध विद्रोह होता है, नए विश्वासों का प्रचार होता है । वैदिक समाज अब अनार्यों के साथ इतना अधिक घुलमिल गया है कि अब अधिक अलगव सम्भव नहीं है अतः वैदिक परम्परा में भी पांचरात्र, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय उत्पन्न हो जाते हैं जो आदिम विश्वासों को अपनाकर उन्हें वैदिक सिद्ध करते हैं और कर्मकांड का घोर विरोध करते हैं । यह प्रवृत्ति ईसा की छठी शताब्दी के बाद तीव्रतर हो जाती है क्योंकि देश महाभारत के युद्ध के बाद तथा विशेष रूप में मौर्य व गुप्त शासन में राजनैतिक दृष्टि से भी एक हो जाता है । अतः विश्वासों व धारणाओं में अन्तर्भुक्ति वेग के साथ बढ़ने लगती है ।

सांस्कृतिक अन्तर्भुक्ति की चिन्ता किए बिना, स्मृतियों के निर्माणकर्त्ता ब्राह्मण वैदिक युग में आविष्कृत 'वर्णधर्म' के चौखटे में ही समूचे समाज को चाहते हैं और 'वर्णसंकरता' के सिद्धान्त द्वारा नाना जातियों व उपजातियों के ऊपर ब्राह्मण श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करते हैं । फलतः तांत्रिक युग में बुद्ध और महावीर की तरह सिद्ध और नाथ इसका विरोध करते हैं । शैवों और शाक्तों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । भेदभाव, जातिपांति तथा वर्णवाद का व्यावहारिक जीवन में औचित्य न देखकर ये साधक कठोर रख अपनाते हैं । तंत्रधर्म इसी विरोध को व्यक्त करने का आवरण मात्र है । आगे सन्त कवियों में भी यही परम्परा विकसित होती है ।

वह कौन सा कारण है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ही नास्तिक-

सम्प्रदाय बढ़ने लगते हैं ? और नास्तिकता अर्थात् वेद में अविश्वास के द्वारा जातिवाद का विरोध होने लगता है । फिर यह भी विचार का विषय है कि बौद्ध-जैन युग में ब्राह्मण धर्म अधिक उदारता क्यों दिखाता है, वह उन विश्वासों को भी क्यों वैदिक सिद्ध करता है जो वैदिक नहीं हैं । इसी युग में पांचरात्र, शैव, शाक्त तथा वैष्णव मत प्रबलतर होते जाते हैं और पौराणिक धर्म का प्रचार बढ़ता जाता है । क्या कारण है कि पौराणिक धर्म में तथा तांत्रिक मतों में अनेक नये देवता अपनाये जाते हैं । इन्द्र, वरुण, यम आदि पुराने देवताओं का महत्व कम होता जाता है और यज्ञ की जगह योग और इन नये देवताओं के प्रति भक्ति का प्रचार बढ़ता जाता है । विजयी आर्यों के वैदिक साहित्य में व्यक्त दर्प और महत्वाकांक्षा की जगह भक्ति के रूप में दैन्य क्यों बढ़ता जाता है ? यह भी विचार का विषय है ।

निश्चित रूप से इसका कारण भारतीय समाज का विकास है, इस विकास में अनेक अंतर्विरोध हैं । इनमें मुख्य अन्तर्विरोध है, चातुर वर्ण व्यवस्था, जो नाना जातियों को चार में ही समेटना चाहती है । आचार्य या पुरोहित, रक्षक क्षत्रिय, व्यापारी तथा सेवक—इनके बिना समाज चल नहीं सकता था परन्तु इसी घेरे में जन्म से जातिवाद को मानकर जो अनेक जातियों को 'फिट' करने का प्रयत्न किया गया उससे समाज के भीतर अन्तर्विरोध तीव्र हुआ क्योंकि सामाजिक सम्मान के वितरण में जन्म से जातिवाद के सिद्धान्त के कारण निम्न जातियों पर अन्याय करना पड़ा । महाभारत में ही हम वर्णों को 'जन्म से वर्ण' के सिद्धान्त में परिणत होता हुआ देखते हैं । जन्म से जाति का सिद्धान्त मान लेने का मतलब था, ब्राह्मणोत्तर जातियों से इच्छानुसार कार्य चुनने की स्वतंत्रता छीन लेना तथा अनेक उपजातियों की सृष्टि करना । इस जन्म से जातिवाद के सिद्धान्त ने ही शूद्रों को शिक्षा के क्षेत्र से बाहर कर दिया । सामान्य सामाजिक जीवन में भी इस संकीर्ण सिद्धान्त के मानने के कारण क्षत्रिय व वैश्यों को भी समय-समय पर अपमान का सामना करना पड़ता था । क्या जन्म से जातिवाद को माने बिना, ऐतिहासिक विकास में बाधा पड़ सकती थी ? नहीं, अनेक देशों में जन्म से जातिवाद नहीं था परन्तु उनका ऐतिहासिक विकास रुका नहीं । मौर्ययुग में केन्द्रीय शासन की स्थापना होने के बाद सारा देश एक इकाई के रूप में परिणत हुआ । मौर्य युग के पूर्व महाभारत काल में ही ब्राह्मण अनेक पेशे अपनाते थे, राजाओं से प्राप्त दान की भूमि पर वे स्वयं खेती करते थे । भीष्म कहते हैं कि ब्राह्मणों में जन्मकर्मविहीन ब्राह्मण भी

होते हैं। इनमें बहुत से न्यायालयों में लोगों को बुलाकर लाने वाले हैं। वैतनिक पुजारी हैं, नक्षत्रविद्या द्वारा जीविका कमाने वाले हैं, गाँवों के पुरोहित हैं तथा महापथिक हैं अर्थात् वाणिज्य के लिए दूर-दूर देशों की यात्रा करते हैं। इन्हें भीष्म चांडालवत् कहते हैं।^१ किन्तु ऐसे चांडाल समझे जाने वाले ब्राह्मणों की संख्या महाभारत काल में भी कम न थी। ब्राह्मणों में राजपुरोहित, मंत्री, राजदूत, संदेशवाहक, इन्हें क्षत्रियवत् माना गया है। अश्वारोही, हाथीसवार, रथी तथा पैदल सिपाही भी होते थे, इन्हें शूद्रवत् माना गया है। ऐसे कर्म-भ्रष्ट ब्राह्मणों से कर भी वसूल करना चाहिए, यह भी भीष्म स्वीकार करते हैं।^२

मौर्य युग में महाभारत कालीन इन कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणों की संख्या और बढ़ी होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इतिहास के विकास के लिए यह आवश्यक भी था। मौर्य युग के अन्त में तो ब्राह्मणों के विराट् राज्य भी स्थापित हुए। गुप्तवंश के शासनकाल के विवरणों से भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में सभी वेदपाठी ही नहीं होते थे, वे अनेक पेशों में भाग लेते थे। बौद्ध-जातक कथाओं से भी यही पुष्ट होता है, अतः यह कैसे सम्भव था कि जन्म से जातिवाद के विरुद्ध आवाज नहीं उठती? जब ब्राह्मणों में अध्यापक, चिकित्सक, सोमरसविक्रेता, अभिनेता, पहलवान, ग्रामणी, शठ, सूदखोर, अन्न के व्यापारी, स्त्री की कमाई खाने वाले, वेश्यापति, चोर, दुष्ट कर्मचारी सभी पेशों के ब्राह्मण महाभारत काल में भी थे,^३ फिर आगे के ब्राह्मणों के विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वे केवल वेदपाठी आचार्य ही होते थे? अतः सभी पेशों में काम करने वाले ब्राह्मणों को भी एक ऐसी पवित्र इकाई में शास्त्रों ने प्रतिष्ठित किया कि ब्राह्मण मात्र जन्म से ही श्रेष्ठ मान लिया जाता था। इस प्रवृत्ति का विरोध इसीलिए अवेदिक परम्पराओं में बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है।

१ ब्राह्मणका बेवलका नाक्षात्रा ग्रामयाजकाः ।

एते ब्राह्मण चांडाला, महापथिक पंचमाः—शान्तिपर्व—अध्याय ७६

२ जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धकः ।

एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।

.....कलि विष्टिं च कारयेत्-शान्तिपर्व, अध्याय ७६

३ अनुशासनपर्व—अध्याय २३ तथा ३३

क्या सूत्रों व स्मृतियों के युग में जातिवाद का कोई उपयोग था ? मैं समझता हूँ कि जन्म से जातिवाद की कोई आवश्यकता तब भी नहीं थी और अनावश्यक होने के कारण ही इसका विरोध हुआ । चूँकि जन्म से जातिवादियों के साथ वेद, शास्त्र, स्मृतियों आदि का सम्बन्ध था, अतः शास्त्रीय सम्प्रदायों के समानान्तर स्वानुभूति पर आधारित सम्प्रदायों का विकास बौद्ध युग के बाद बड़ी तेजी से हुआ, भक्ति व सन्त आन्दोलनों की यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्मरणीय है ।

डा० कोशाम्बी ने यह सही लिखा है कि ब्राह्मणों द्वारा निरूपित यज्ञवाद व वर्ग व्यवस्था प्रारम्भ में प्रगतिशील थी, क्योंकि उनके द्वारा अलग-अलग रहने वाले कबीले टूट कर एक व्यवस्थित समाज के भाग बन गये किन्तु वैदिक युग के बाद जब समाज व्यवस्थित हो गया और जब मानवीय स्वतन्त्रता को जन्म से जातिवाद ने सीमित किया तब उसका विरोध बौद्ध, जैन, आजीवक आदि मतों के द्वारा हुआ ।^१ फलतः ब्राह्मणवाद को भी अपना रूप बदलना पड़ा । वैदिक देवताओं के स्थान पर स्थानीय देवताओं रुद्र, विष्णु आदि की महत्ता बढ़ी और इनकी भक्ति का अधिकार भी सबको दिया जाने लगा । यद्यपि सामाजिक जीवन में भेदभाव को कम नहीं किया गया ।

शैव, शाक्त, तांत्रिक, बौद्ध तथा वैष्णव आगम इस अलग-अलग के विरुद्ध भी लड़ते रहे । क्योंकि इन मतों में नये आचार, नए देवता तथा नई विचारधारा थी अतः इनकी स्वीकृति न तो वेदपाठी के द्वारा हो सकती थी और न स्मृतिकार के द्वारा । अतः शिव, शक्ति तथा गौतमबुद्ध को आदि स्रोत मानकर आगमों की रचना हुई । पुराणों ने भी इस मांग को पूरा किया और इस प्रकार अनार्य-प्रथाओं और विश्वासों को शास्त्रीय आधार दिया गया जो सम्पूर्ण देश की एकता के लिए आवश्यक था ।

संस्कृत साहित्य के लेखकों में अधिकतर शैव लेखक थे अतः उनमें स्मृतियों जैसी संकीर्णता नहीं मिलती फिर भी संस्कृत साहित्य के लक्षात् शैव “वैदिक परम्परा” के शैव थे और इसीलिए कालिदास, भारवि, माघ आदि वैदिक धर्म के प्रचार में पूरी शक्ति लगाते हैं ।

१. लेटर ब्राह्मनिज्म ग्रेटली रिस्ट्रिक्टेड बोथ ह्यूमन फ्रीडम, इ रिकोगनीशन आफ नैसेसिटी एन्ड द प्रोडक्शन आफ वेल्यू, ह्विच इज मेजर्ड बाई सोशियली नैसेसरी लेबर टाइम - डी० डी० कोशाम्बी, पृ० २३५

संस्कृत साहित्य के समानान्तर आठवीं शताब्दी में वज्रयानी सिद्धों ने लोकभाषा में लिखना प्रारम्भ किया क्योंकि गौतमबुद्ध संस्कृत के विरुद्ध लोक-भाषाओं के प्रचार के समर्थक थे। बाद में नाथ सिद्धों ने देशी भाषा को ही अपनाया। इस साहित्य में वर्णाश्रम धर्म का ही विरोध नहीं है अपितु सम्पूर्ण ब्राह्मणवाद के विरुद्ध चुनौती का भी स्वर है।

वेद के “शब्द प्रामाण्य” के स्थान पर ये सिद्धमत “स्वानुभूति” को अपनाकर चले, इसका तात्पर्य यह है कि रहस्यानुभूति केवल समाज के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने का माध्यम है क्योंकि बिना रहस्यमय अनुभूति का सहारा पकड़े, समाज में शास्त्र पर आधारित वर्गस्वार्थों को वे कैसे ललकार सकते थे ? तमिल में आड़वार भक्तों तथा नायनमारों (शैवभक्त) द्वारा भक्ति आन्दोलन का भी सामाजिक कारण यही था। इस कार्य में बहुत से उदार ब्राह्मणों ने भी हाथ बटाया, उसी प्रकार, जिस प्रकार समाजवादी आन्दोलनों में जमींदार व श्रेष्ठीवर्ग से भी कार्यकर्ता आ जाते हैं।

चूँकि ब्राह्मण धर्म शासन का सहायक बन चुका था, अतः उसके विरुद्ध विद्रोह धार्मिक रूप में ही प्रकट हुआ। इसी प्रकार जो साहित्य लिखा गया उसने धार्मिक रूप ही धारण किया।^१ यह ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्य था। अतः सन्तों व सिद्धों के धार्मिक साहित्य को देखकर उसे शुद्ध साहित्य से बाहर निकालने का प्रयत्न वही कर सकता है, जो इतिहास की गति को नहीं समझता। सन्तमत विद्रोही तांत्रिकमतों से इसलिए प्रभावित है क्योंकि तांत्रिक युग में भारतीय समाज के मुख्य अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति सन्तयुग में भी आवश्यक थी। सन्तमत तांत्रिक मत से बहुत सी बातों में इसलिए भिन्न है क्योंकि सन्तयुग में वास्तविक परिस्थितियों में तांत्रिक मत को यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता था, इसीलिए कबीर, शाक्तयोग को अपना कर भी शाक्तों के वामाचार की निन्दा करते हैं।

तांत्रिक युग में धर्म ब्राह्मणों की जीविका थी। ब्राह्मणधर्म दरबारों की सेवा में भी रत था। वह समाज के अतिरिक्त उत्पादन पर अपना अधिकार रखना चाहता था और उसके लिए बौद्ध, जैन पौरोहित्य से भी लड़ता था।

१ रिलीजन हैड विक्रम सो जनरली व टूल आफ स्टेट क्लिच मेंट व क्लिच क्लासिफिकेट एनी प्रोटैस्ट हैड ओटोमेंटीकली टू बी एक्सप्रैसड इन व सेम आइडियोलॉजिकल फ्रेमवर्क—डी० डी० कोशाम्बी, पृ० २७२

उधर बौद्ध, जैन पौरोहित्य की भी यही प्रवृत्ति थी अतः बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन पौरोहित्य के विरुद्ध एक ओर सिद्ध साहित्य उठ खड़ा हुआ तो दूसरी ओर आड़वार व नायनमार भक्तों ने उच्चवर्गों के वर्गस्वार्थ के विरुद्ध अभियान किया। इसलिए ब्राह्मण पौरोहित्य के साथ बौद्ध व जैन पौरोहित्य की भी प्रतिक्रियावादी भूमिका को भूलने की आवश्यकता नहीं है।

स्वयं महाराज हर्ष ने बौद्ध पौरोहित्य को अद्भुत सहायता दी थी। बौद्ध-मठों में अपार सम्पत्ति एकत्र हो गई थी। पुरोहितों में से एक परिवार का शासन मठों पर कायम हो चुका था। पीठस्थविर का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी मान लिया जाता था। संघ अब उच्चवर्गों तथा उच्चवंशों पर आधारित हो गया था और जन-सम्पर्क कम हो गया था। बुद्ध के एक दात के दर्शन के लिए एक स्वर्ण मुदा देनी पड़ती थी।^१ हर्षवर्द्धन के पश्चात् इस खर्चीले बौद्ध पौरोहित्य की अवनति अवश्यम्भावी थी। पालवंश के राजाओं को छोड़कर राजाश्रय न मिलने पर वह अन्य प्रदेशों में अपना प्रभाव खो रहा था। उधर नालन्दा का आचार्यत्व छोड़कर विचरने वाले, खर्चीले आचार्यों के विरुद्ध बोलने वाले व सभी प्रकार के भेद भावों और विषमता के विरुद्ध आवाज उठाने वाले सिद्धों का प्रभाव बढ़ने लगा था। हर्ष के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमण के बीच की अवधि को भारतीय इतिहास में ह्रासकाल माना जाता है। इसी युग में तान्त्रिकमत प्रबल हुआ। तथा इसी युग में सन्तमत की नींव पड़ी अतः इस युग की छानबीन आवश्यक है।

इस युग को सामन्तवादी युग कहा गया है। इस युग के पूर्व मौर्य युग से लेकर हर्ष युग तक की शासन व्यवस्था को भी सामन्तवाद कहा जा सकता है। अन्तर यह है कि हर्ष के पश्चात् सामन्तवाद की गति नीचे से ऊपर की ओर है जबकि हर्ष के पूर्व सामन्तवाद की गति ऊपर से नीचे की ओर की थी।

मौर्ययुग व हर्षयुग के मध्य की व्यवस्था में एक प्रबल शासक अन्य अनेक जनपदों के राजाओं पर कर लगाता था किन्तु सम्राट को निश्चित कर देकर छोटे छोटे राजा अपने राज्य में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होते थे किन्तु एक बड़े भूभाग

१ द संघ नाउ डिपेडिड अपोन हाइर क्लासिस, बिदाउट द मिनिमम कान्ट्रेक्ट विद द कोमन पीपुल व्हिच वाज नीडिड ईविन द सर्व दोज हाइर क्लासिस वेल-डी० डी० कोशाम्बी, पृ० २६१

पर सम्राट अपने कर्मचारियों द्वारा जनता से कर बसूल करता था और सम्पूर्ण देश की रक्षा का उत्तरदायित्व लेता था ।

सम्राट राज्य कर्मचारियों के शोषण से जनता की रक्षा के लिए जासूसों की एक बड़ी संख्या को नियुक्त करता था । इसलिए इस व्यवस्था को ऊपर से नीचे की ओर गतिवान् सामन्तवाद कहा जाता है ।

नीचे से ऊपर की ओर वाले सामन्तवाद में ग्रामों में ऐसे भूमिपति उत्पन्न हो जाते थे जो किसानों व राजा के बीच मध्यस्थ का काम करते थे । वे सेना रखते थे और राजा को निश्चित कर अदा करने के बाद मनचाहा कर बसूल कर सकते थे । धीरे-धीरे वे जनता पर अपनी सेना द्वारा बहुत अधिक प्रभाव बढ़ा लेते थे । इसलिए हर्ष के पश्चात् स्थानीय सामन्तों द्वारा ग्रामों का शोषण अधिक बढ़ा । राजपूतों में भूमि सरदारों की सेना में काम करने के बदले में मिला करती थी । ये सरदार अपने भू-भागों में जनता के लिए सम्राटों से अधिक कष्टकर बन जाते थे । प्रारम्भिक लुटेरे मुसलमानों ने भी जागीरदारी की प्रथा कायम रखी । जागीरदार जनता के न्याय में भी मनमानी कर सकते थे, करते थे । इस द्वितीय सामन्तवाद में अलाउद्दीन खिलजी तथा फीरोज तुगलक जैसे बादशाहों ने दास प्रथा का पुनः प्रचलन किया । जातिप्रथा ने 'चर्च' का काम हमारे देश के सामन्तवाद में पूरा किया और पिछड़ी उत्पादन व्यवस्था को कायम रखा । हमारे यहाँ नई 'टैक्नीक' का योरोप की तरह विकास नहीं हो सका । मार्कोपोलो ने लिखा है कि मालावार के राजदरबार में दार्शनिक बाल की खाल निकाल सकते थे, परन्तु राजा के पास अच्छे अश्वरक्षक नहीं थे और इसलिए हर वर्ष राजा को २० हजार घोड़े इसलिए खरीदने पड़ते थे क्योंकि देखभाल के अभाव में वे हर वर्ष मर जाते थे ! आन्ध्रदेश में वस्त्र के उत्पादन की वृद्धि को छोड़ कर उत्पादन के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई । अश्वारोही सेना के कम होने, बारूद से अनभिज्ञ रहने, तथा राष्ट्रीय एकता के अभाव में मुसलमानों की विजय हुई । यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी ने पुनः ऊपर से नीचे की ओर गतिमान सामन्तवाद कायम किया किन्तु शोषण और भी अधिक बढ़ गया । एक प्रबल सेना रखने के लिए जनता को निचोड़ने के लिए शोषण के सब रूप अपनाये गए । फीरोज तुगलक ने पुनः नीचे से ऊपर वाले सामन्तवाद को स्वीकार कर लिया और सामन्तों को शोषण के लिए खुली छूट दे दी । इस युग में दासों द्वारा काम कराया गया । अलाउद्दीन के पास ५० हजार दास थे और फीरोज तुगलक के यहाँ लाखों दास थे । दस्तकारी

इस युग में अवश्य बढ़ी परन्तु उसकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी क्योंकि दस्त-कार को हाकिमों और महाजनों पर पूँजी के लिए निर्भर रहना पड़ता था जो बहुत अधिक व्याज लेते थे ।^१

इस व्यवस्थायान्य अत्याचार के विरुद्ध भी सन्त कवियों ने बहुत कुछ लिखा है क्योंकि अत्याचार का विरोध करने की प्रवृत्ति उन्हें तान्त्रिकों से विरासत में मिली थी ।

यह सही है कि महाराज हर्ष के बाद सम्पूर्ण देश की स्थिति एकसी नहीं थी तथापि समग्र रूप से देखने पर तुर्कों के हमलों के पूर्व का सामन्तवाद मौर्य-गुप्त व हर्ष के समय के सामन्तवाद की तुलना में ह्रास की स्थिति में था ।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित हिन्दी साहित्य के इतिहास से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है और यह भी पुष्ट होता है कि तुर्कों का सामन्तवाद हिन्दू सामन्तवाद से भी गया बीता था । तुर्क काल में शोषण और दमन बहुत अधिक बढ़ गया था । महाराज हर्ष के बाद राजनैतिक शक्तियों का विघटन एक प्रमाणित तथ्य है । इस युग में गण तान्त्रिक परम्परायें भी पूर्णतः नष्ट हो चुकी थी । गणतान्त्रिक परम्परा से हमारा तात्पर्य उन छोटे-छोटे गणों से है जो गुप्तकाल तक जीवित रहे और जिनमें अपनी स्वतन्त्रता के प्रति अद्भुत प्रेम था । समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ पर मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्राजुन, सनकानीक, काक तथा खरपरिक इन नौ गणों का उल्लेख मिलता है । ये दिग्विजयी सम्राटों की अधीनता में रह सकते थे, रह रहे थे और देश पर हमले के समय मर मिटने को तैयार हो जाते थे । युद्ध में सिकन्दर के दांत खट्टे करने वाले यही गण थे । चन्द्रगुप्त द्वितीय 'गणारि' ने इनका समूल विनाश कर दिया । इस घटना के बाद गुप्त व पुष्य-भूति साम्राज्य के समय गणतान्त्रिक विचारों को प्रश्रय नहीं मिला और जन-साधारण की राजनैतिक चेतना और स्वतन्त्रता की भावना पर बुरा प्रभाव पड़ा ।^२ उधर राजा प्रबल मन्त्रि-मण्डलों की जगह केवल एक दो मन्त्रियों से काम चलाने लगे । राजबली पाण्डेय भी महाराज हर्ष के बाद सामन्तवाद की

१ जी० डी० कोशाम्बी—पृ० २६४, २७५, ३२८, ३२९, ३३० तथा ३४५ से ३५५ तक

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, संवत् २०१४ वि०, काशी, पृ० ३७

उत्पत्ति मानते हैं । उनका कथन है कि यद्यपि विजयी सम्राट के नीचे पहले भी सामन्त रहते थे तथापि राजनैतिक विशुद्धता, अनिश्चयता और अरक्षा के कारण इस सामन्ती व्यवस्था को प्रोत्साहन मिला ।^१ अरक्षा के कारण जो भी रक्षक आगया उसे ही राजा मान कर, उसे ही कर देना और उसके प्रति ही भक्ति इस युग की विशेषता हो गई । सम्पूर्ण देश के प्रति निष्ठा का भाव इस युग में नहीं मिलता । इसलिए जयपाल, आनन्दपाल तथा जयचन्द के सैनिकसंघ भी मुसलमानों के सम्मुख अशक्त साबित हुए । राजनीति के प्रति उदासीनता इस युग की विशेषता है । 'कोउ नृप होइ हमें का हानी' की परिस्थिति आगई थी ।^२ सार्वदेशिकता की जगह स्थानीयता व प्रान्तीयराज्यवंशों के प्रति भक्ति इतनी बढ़ी कि ब्राह्मण पंचगौड़ो तथा पंच द्रविड़ों में बंट गए और एक दूसरे से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने लगे । कौटिल्य के समय राष्ट्र शत्रु-द्वेषी था, अब वह तेजहत दिखाई पड़ने लगा क्योंकि जैसे पहले यवन, शक, कुषण, हूण आदि विदेशियों के आक्रमण सफल हो जाने पर भी भारतीय जनता आक्रान्ताओं का देश में रहना मुश्किल कर देती थी । वैसा तुर्क काल में नहीं हो सका और बर्बर तुर्क यहाँ जम गए ।

ऐसा समझना ग़लत होगा कि लड़ाकू प्रवृत्ति देश से लुप्त हो गई थी, प्रतिरोध होता रहा । परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो पूर्व के आक्रमणों के समय जो देश की स्थिति थी, वह तुर्कों के हमलों के समय न थी, यह सही है । फिर भी भारतवर्ष में विदेशियों को सतत संघर्ष का सामना करना पड़ा । इस प्रतिरोध का कारण आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तीनों कारणों से था । भारतीय हिन्दू सामन्तवाद तुर्कों के सामन्तवाद से कहीं अधिक उदार और सहिष्णु था । यहाँ परम्पराएँ ऐसी थी कि युद्ध होते रहते थे और जनता अपना काम करती रहती थी । किन्तु ये परम्पराएँ विदेशी नहीं मानते थे । तुर्कों के शासन के समय दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य से तुलना करके देखें तो पता चलता है कि वर्णाश्रम प्रथा पर आधारित अन्तर्विरोध ग्रस्त समाज के बावजूद दक्षिण की जनता सुखी और सम्पन्न थी, जबकि उसी समय उत्तर भारत की दशा विपन्न थी अतः हिन्दुओं के द्वारा प्रतिरोध स्वाभाविक था । फलतः हिन्दू शिविर के परम्परागत भेदभावों को नापसन्द किया जाने

लगा । वैष्णव, शैव, शाक्त, लिंगायत आदि सम्प्रदायों के आपस के द्वेष कम होने लगे । आचार्य बल्लभ ने अपने समय की स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है ।

स्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापेकनिलयेषु च
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव गतिर्मम ।
गंगावि तीथे वर्येषु, दुष्टेरेवावृतेष्वहि ।
तिरोहिताधिबेषु, कृष्ण एव गतिर्मम ।^१

अर्थात् देश स्लेच्छों से आक्रान्त है, उनसे दबा हुआ देश पाप का स्थान बन गया है । सत्पुरुषों को पीड़ा दी जाती है । सम्पूर्ण लोक इस पीड़ा से पीड़ित है । गंगा आदि उत्तम तीर्थ दुष्टों से आक्रान्त हो रहे हैं, इसलिए इन आधिदैविक तीर्थों का महत्व भी तिरोहित हो गया है ।

कोई देश अपनी परम्पराओं पर प्रहार को सहन नहीं करता । उसकी प्रतिक्रिया होती है । अकबर के समय में जब शांति और सहानुभूति का वातावरण बना, तब इस प्रतिक्रिया का स्वरूप भी बदला ।

हिन्दू सामन्तवाद में जनता पर कर कम था । तुर्ककाल में यह कर बहुत अधिक बढ़ गया । हिन्दू राज्यों में व्यापार, कम से कम आंतरिक प्रान्तों में बेरोकटोक चलता था परन्तु तुर्ककाल में इसका ह्रास हुआ । हिन्दू राज्य में धार्मिक उदारता थी, तुर्ककाल में धार्मिक और सांस्कृतिक अनुदारता चरमसोमा पर थी अतः इतिहास को देखते समय हम हिन्दू हैं या मुसलमान, इस जह्नियत से ऊपर उठकर सोचना चाहिए । व्यवस्था की दृष्टि से निश्चित रूप से हिन्दू सामन्तवाद तुर्क सामान्तवाद से अधिक कल्याणकर था । किन्तु यह तसवीर का एक पहलू है जिसने वैदिक परम्परावादिश्यों को प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्रेरित किया । तसवीर का दूसरा पहलू यह है कि मुसलमान चाहे बर्बर रहे हों या सभ्य, धर्मान्ध हो या उदार, वे यही बस गए और यहाँ बस जाने पर हिन्दू जनता का एक भाग बलात् या स्वेच्छा से मुसलमान बना । कबीर ऐसे ही नवमुस्लिम थे । इसके सिवा मुसलमान दस्तकारी, नौकरी आदि द्वारा अपना मरणपोषण करते हुए हिन्दू जनता के सम्पर्क में आए अतः एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई । यह सम्भव नहीं था कि इस सम्पर्क को समाप्त कर

दिया जाता । यह भी सम्भव नहीं था कि हिन्दुओं में निम्नवर्गों के सदस्यों पर इस्लाम की बराबरी के नारे का प्रभाव न पड़ता और वे हिन्दू समाज के प्रति आलोचनात्मक रुख न अपनाते अतः एक नई असंगति उत्पन्न हुई । सम्पर्क और एकता ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक थी, इसमें मुल्ला और वैदिक आचार्य बाधक बनते गये । पूर्व युगों के यवनों, शकों और हूणों आदि की तरह मुसलमानों ने हिन्दू संस्कृति को स्वीकार नहीं किया और हिन्दुओं के लिए भी यह सम्भव न था कि बलात्धर्मपरिवर्तन में असहिष्णु इस्लाम को वे अपना लेते । हिन्दूमत अधिक सहिष्णु था, उसके अनुसार निमित्त राजनीति भी अपेक्षाकृत कम शोषण और कम दमन पर आधारित थी अतः यही सम्भव था कि दोनों अपनी जड़ता छोड़कर निकट आते और एक दूसरे के दृष्टिकोण का आदर करते । मुसलमानों के साथ आये हुए सूफियों का तथा हिन्दू शिविर के वैष्णवों का दृष्टिकोण यही था । संत इस एकता के प्रबलतर समर्थक बने किन्तु तुर्कों के आक्रमण के समय वैदिक आचार्यों ने जो देशी परम्पराओं की रक्षा के लिए नियम बनाए, वे आगे चलकर सामाजिक मिलन में बाधक साबित होने लगे अतः हम सर्वप्रथम यह देखें कि यह नियम क्या थे और किस प्रकार वे सामाजिक मिलन में बाधक हो रहे थे ?

हम कह चुके हैं कि तुर्कों के आक्रमण के पूर्व चार वर्गों के चौखटे में ही सारी जातियों को कसने के परिणामस्वरूप नाना उपजातियाँ बन चुकी थीं और वे ब्राह्मणवाद के विरुद्ध कठोर रुख अपनाती थीं, इनकी अपनी पंचायतें और अपने रीतिरिवाज थे, जिनका वे दृढ़ता के साथ पालन करती थीं ।

शुक्रनीति में लिखा है कि जाति पुरातनकाल में ब्रह्मा द्वारा कर्म के आधार पर चार भागों में विभाजित थी, परन्तु अनुलोम और प्रतिलोमक्रम से पुनः पुनः संकर के कारण अनन्त जातियाँ हो गई जिनका वर्णन करना शक्य नहीं है ।^१ राजबली पांडेय का कथन है कि ये वचन वास्तव में उस सामाजिक प्रवृत्ति के द्योतक हैं जिसके कारण समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार कर्मात्मक वर्गों के अतिरिक्त संकर वर्गों, जातियों, उपजातियों और उप उपजातियों में बँटता जा रहा था । इसका अर्थ है कि वर्णव्यवस्था का पाचन अब खराब हो गया था और अब वह मानव जातियों और वंशों को कर्मात्मक चार वर्गों में पचा नहीं पा रही थी ।^२

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०१

२ वही

यह अवस्था तुर्कों से पहले की थी, यह स्मरणीय है। तुर्क काल में ब्राह्मण दस भागों में बँट गये, उनमें परस्पर सम्बन्ध और भोजनादि भी बन्द हो गए। क्षत्रिय, वैश्यों व शूद्रों में भी परस्पर वर्जन और संकीर्णता बढ़ी। क्षत्रियों में ३६ कुल माने गए। वैश्यों में १०० से अधिक जातियाँ बन गईं और शूद्रों में भी अनेक जातियों की रचना हो गई। तुर्क काल में अस्पृश्यता अधिक बढ़ी। इससे सम्बन्धित अनेक उल्लेख धर्मशास्त्रों में मिलते हैं। केवट, आखेटक, व्याध, कसाई, रजक, म्लेच्छ (मुसलमान) आदि ही नहीं, अलबरूनी के अनुसार मध्ययुग में धोबी, चमार, जादूगर, डोम, केवट, मल्लाह, पासी तथा जुलाहों को भी अस्पृश्य माना गया था। जुलाहे आदि गाँवों व नगरों के बाहर बसते थे।^१

वर्ण-व्यवस्थापकों ने रक्षात्मक प्रवृत्ति के कारण ही सही, परन्तु ये नियम कठोर अवश्य किए, फलतः ये नियम सामाजिक सम्मिलन में बाधक होते रहे। राजबली पाण्डेय जैसे लेखक भी स्वीकार करते हैं कि वर्णव्यवस्था मध्ययुग में विकृत हो गई थी।^२

हिन्दुओं में ही नहीं, मुसलमानों में भी आर्थिक और सामाजिक विषमता थी। यद्यपि इस्लाम में चातुर्वर्ण व्यवस्था नहीं थी, फिर भी उनमें आपस में शेर, सैयद, मुगल, पठान जैसे भेदभाव थे, क्योंकि मुसलमानों में भिन्न-भिन्न उत्पत्तियों के लोग थे जो आपस में लड़ते थे फिर नवमुस्लिमों के साथ खान-पान हो जाने पर भी विवाह सम्बन्ध नहीं होते थे और उनके प्रति शासकवर्ग का दृष्टिकोण कठोर था। अतः नवमुस्लिम मध्यकालीन इतिहास में एक समस्या बन गए, उन्हें हिन्दूमत या इस्लाम कोई नहीं अपनाता था, यही कारण है कि जुलाहा कबीर दोनों के प्रति कठोर रूख अपनाते हैं और अपने को “ना हिन्दू ना मुसलमान” कहते हैं। ये कबीर जैसे नवमुस्लिम संभवतः हठ-योगियों के अवशेष थे, इसलिए सामाजिक विषमता की आलोचना उन्हें विरासत में मिली थी।^३ मुसलमान बन जाने पर इस्लाम द्वारा भी उपेक्षा पाकर नव-मुस्लिमों से कबीर, यारी, दरिया, रज्जब जैसे व्यक्तित्व आये और इन्होंने योग

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १११

२ वही पृ० ११२

३ कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १०

के द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था तथा इस्लाम के वैषम्यमूलक व्यवहार की कठोर आलोचना की। भारतवर्ष में योगियों ने हमेशा वर्णाश्रम प्रथा की आलोचना की है। गौतम बुद्ध और महावीर ही नहीं, अन्य नास्तिक सम्प्रदायों में भी योग ही स्वीकृत था। भक्ति ने भी उदारता लाने में बहुत काम किया है किन्तु योगियों जैसा भोज और क्रान्तिकारिता भक्तों में नहीं मिलती।

इस्लाम के आने पर अब विराट् यज्ञों का आयोजन सम्भव नहीं था। आक्रान्ता मुसलमान एकेश्वरवादी थे अतः योगियों और वेदान्तियों के अद्वैतवाद को ही कबीर आदि ने स्वीकार किया परन्तु वेदान्तियों की शब्दावली अपनाते को संत तैयार नहीं थे क्योंकि वेदान्ती वैदिक संस्कारों तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के भी प्रबल प्रचारक थे अतः कबीर आदि सन्तों ने बौद्ध-सिद्धों व नाथपंथियों की अभिव्यंजना पद्धति अपनाई है, जिसमें सत्य को न भाव कहा जा सकता है, न अभाव' न उसे निर्गुण कह सकते हैं, न सगुण। परम्परावादी हिन्दुओं का ब्रह्म या तो सगुण था या निर्गुण परन्तु कबीर दादू आदि सन्तों ने अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए उसे 'निर्गुण-सगुण' से भी ऊपर प्रतिष्ठित किया और परम्परावादियों द्वारा कल्पित दिव्यलोकों की जगह नए लोक व लोकपतियों की कल्पना की। इस प्रकार सन्तकवि अपनी विशिष्टता प्रदर्शन करते हैं और इस विशिष्टता के सृजन की प्रेरणा उन्हें सामाजिक वैषम्य व भेदभाव के विरोध से मिला करती थी, उसी प्रकार, जिस प्रकार तान्त्रिकों को अपनी विशिष्टता के सृजन की प्रेरणा वैदिकतावाद के विरोध से मिलती थी।

इस्लाम के आगमन के बाद अद्वैतवाद, योग व भक्ति का प्रचार बढ़ता है। क्षितिमोहनसेन ने लिखा है कि आर्य आचारवादी तथा ज्ञानी थे और भक्ति द्राविड़ी थी अर्थात् वह अनार्य स्रोतों से आई थी।^१ मध्य युग में वैष्णवों और वेदान्तियों में ज्ञान व भक्ति का मिश्रण दिखाई पड़ता है किन्तु सामाजिक विधि-निषेध को ये लोग भक्ति के क्षेत्र में न मानकर भी सामान्य व्यावहारिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते थे जबकि सन्त ज्ञान, भक्ति व योग को अपनाकर भी सामाजिक एकता के पूर्ण समर्थक व भेदभाव के निन्दक है। भेदभाव का जो स्वरूप हिन्दू जातिवाद में मिलता था वह ऐतिहासिक दृष्टि से

अवांछनीय था। इसीलिए सन्तों का वर्णाश्रम विरोधी रूप अधिक क्रांतिकारी माना जाता है।

सन्तों व भक्तों में वर्णाश्रम प्रथा व जातिवाद के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर दिखाई पड़ता है। भक्त सुविधा देते हैं, उदारता बरतते हैं, किन्तु साथ ही हिन्दू वर्ण व्यवस्था के कठोर नियमों का पालन सामान्य व्यावहारिक जीवन में अनिवार्य मानते हैं। इन भक्तों में भी भेद है। कृष्ण भक्तों में उदारता अधिक है। तुलसीदास में कृष्णभक्तों की तुलना में उदारता कम है, पर है वहाँ भी और उस युग को देखते हुए इतनी भी उदारता प्रशंसनीय है, फिर भी ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विजयनगर के वीर-शैवसन्तों तथा उत्तरी भारत के सन्त कवियों का कार्य भक्तों की तुलना में अधिक प्रशंसनीय है, क्योंकि समाज की मुख्य असंगति के विरुद्ध विद्रोह कर वे व्यवस्था परिवर्तित न होने पर भी, उस व्यवस्था को अधिक मानवीय और उदार बनाने में सर्वाधिक रूप से सहायक होते हैं।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बताया है कि इस्लाम ने भारतीय सुषुप्त शक्तियों को पदाघात से जाग्रत कर दिया था। इसका अर्थ यह नहीं कि उन दिनों विद्वान न थे, चकित कर देने वाले तार्किक उस समय भी थे परन्तु “सृजनात्मक समन्वय” उनमें नहीं था। यह कार्य यवन सेनाओं के साथ आने वाले सूफियों व सन्तों ने किया। भक्तों ने भी इस कार्य में योग दिया। जो वर्ग हिन्दू वर्णव्यवस्था में अन्तर्भुक्त न हो पाये थे वे नए सन्तों व सूफियों के आसपास एकत्र होने लगे। हिन्दू तीर्थों का स्थान इन सन्त साधकों ने ले लिया।^१

बहुत से विचारक केवल हिन्दुओं के द्वारा ‘यवन विरोध’ का ही गौरव-गायन करते हैं, चाहे परिस्थिति में परिवर्तन भले ही आ गया हो। जब राजनैतिक रूप से हिन्दू शोहत होगए और मुसलमान व हिन्दू जनता के सदस्य एक ही जगह रहने लगे, कई पेशों में साथ-साथ काम करने लगे, तब सृजनात्मक समन्वय की आवश्यकता थी या वर्णाश्रम धर्म के प्रचार की ? यदि यह कहा जाय कि जब हिन्दू सामन्तवाद तुर्क सामन्तवाद से अधिक प्रगतिशील था, तो उसके पुनः अभ्युदय के लिए प्रयत्न भी ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील ही कहा जायगा किन्तु राजनैतिक प्रभुत्व की पुनः प्राप्ति के

लिए भी वर्णाश्रम धर्म तथा जातिवाद की जड़ता को कम करने की आवश्यकता थी। स्वेच्छाचारिता बढ़ने पर जिस तरह हिन्दू राजाओं के विरुद्ध हिन्दू जनता विद्रोह कर देती थी, उसी प्रकार मुसलमान शासकों के स्वेच्छाचार के विरुद्ध सम्पूर्ण हिन्दू-मुस्लिम जनता का संगठन आवश्यक था, तभी समर्थ गुरु रामदास तथा पंजाब के सिक्खों ने बादशाहों के विरोध में मुसलमानों का भी सहयोग लिया था किन्तु ये मुसलमान शासक नहीं थे, ये किसान, दस्तकार या मामूली सिपाही थे। मुसलमान शासकों में शक्ति के लिए आपस में भी युद्ध होते थे। १५ वीं शताब्दी में गुजरात, मालवा, जौनपुर, के मुसलमान शासक केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध हिन्दुओं के सहयोग के बल पर ही उठ खड़े हुए थे और उनकी नीति भी उतनी अनुदार न थी जितनी कि आक्रान्ता प्रारम्भिक तुर्कों की। इसलिए सामाजिक वैषम्य तथा पारस्परिक भेदभाव के विरुद्ध बोलने वाले कवियों व साधकों में सन्तकवि ही अग्रगण्य दिखाई पड़ते हैं। बादशाह व दरबारी अपने को जन्मजात शासक व हिन्दुओं को शासित समझते रहे किन्तु सूफियों व सन्तो ने मुसलमानों की हिंसा के विरुद्ध कम नहीं लिखा है, यह स्मरणीय है।

इस परिस्थिति में सूफियों ने अद्भुत कार्य किया है। उनका इरादा क्या था ? इस्लाम का प्रचार, परन्तु तलवार व तीर द्वारा सूफी इस्लाम का प्रचार न करके, अपने पवित्र जीवन व प्रेम द्वारा प्रचार करते थे। वस्तुतः इस्लाम प्रचार के माध्यम से इतिहास सूफियों के द्वारा सामाजिक समीकरण का कार्य करवा रहा था। यद्यपि सूफी यही समझते थे कि वे इस्लाम का प्रचार कर रहे हैं। इस्लाम को ग्रहण न करने पर कोई सूफी क्रोधित होते हुए नहीं देखा गया, उसी प्रकार जिस प्रकार सन्त और वैष्णवभक्त अपने-अपने मतों का उदारता के साथ प्रचार करते थे। यह स्मरणीय है कि इन सब में बहुत से मानवतावादी तत्वों में समानता थी अतः उनका प्रभाव शासक व शासित दोनों पर पड़ता था, एक सहिष्णुता और परस्पर ज्ञान-विनिमय का वातावरण बनता था इसीलिए सूफियों के प्रति हिन्दू उदार थे और सन्तकवि भी, किन्तु ये दोनों मुल्लाओं का विरोध करते थे। सर्वप्रथम पंजाब व सिन्ध को सूफियों ने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। मखदूमसैयदअली अल हुजवीरी अथवा दातागंज ने ११ वीं शताब्दी में पंजाब में सहिष्णुता व प्रेम का प्रचार किया। यहीं 'मुईउद्दीन', कुतुबउद्दीन काकी तथा फरीदुद्दीन ने काम किया। इनकी दरगाहों पर आज तक हिन्दू व मुसलमान दोनों जाते हैं।

सूफीमत सन्तमत की तरह 'गुरुमत' है। गुरु की शरण ही सूफियों में सर्वस्व मानी जाती है। ईश्वर की कृपा व प्रेम ही इन सूफियों का सन्देश था। पुष्कर क्षेत्र में चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी साधकों ने प्रचार किया। १२ वीं शताब्दी में मुईउद्दीन चिश्ती भारत में आ चुके थे। इन चिश्तियों के प्रभाव से 'हुसैनी ब्राह्मणों' का जन्म हुआ। ये न हिन्दू हैं न मुसलमान। ये अपने को अथर्ववेदी ब्राह्मण कहते हैं।^१ इनका वेष हिन्दू है परन्तु हिन्दू व्रतों के साथ रमजान को भी ये मानते हैं। मलकाना राजपूत भी ऐसी ही मिश्रित जाति है। शाहदुल्ला सम्प्रदायी व हुसैनी ब्राह्मण अपने को अथर्ववेदी क्यों कहते हैं? ऋग्वेदी क्यों नहीं? इसलिए कि अथर्ववेदी परम्परा तांत्रिक परम्परा थी जिसमें सब कुछ स्वीकृत था। ऋग्वेदी परम्परा त्रिधि-निषेधवादी परम्परा थी अतः उसे स्वीकार नहीं किया गया। शाहदुल्ला सम्प्रदाय के लोग अपने को 'निष्कलंक' कहते हैं। क्योंकि विधিনিषेधवादी ब्राह्मणों को वे कलंकित समझते हैं।

निजामुद्दीन औलिया (१३ वीं शताब्दी) का कार्यक्षेत्र 'बदायूँ' प्रदेश था। अमीर खुसरो तथा अमीर हुसैन देहलवी इन्हीं की शिष्य परम्परा में थे। सूफी होने के कारण ही खुसरो का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था, वह भारतीयता का हामी था।

शेख सलीम चिश्ती का कार्यक्षेत्र फतहपुर सीकरी था। चमत्कारों के कारण तथा जनता पर प्रभाव के कारण बादशाह भी उनके पैर चूमते थे। पूर्वी भारत में सुहरावर्दी सम्प्रदाय ने सूफी धर्म का प्रचार किया।

कादिरि सम्प्रदाय के मिर्यामीर हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे, दाराशिकोह उन्हें बहुत मानता था। सूफी साधक उदार दृष्टिकोण अपनाकर चले। भारतीय अद्वैतवेदांत तथा भारतीय योग के वे प्रचारक थे। कुण्डलिनीयोग व अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से सन्तों व सूफियों कोई में अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। सूफियों को कुरानवादियों ने 'अधार्मिक' माना था, इसके जवाब में मुहम्मद फ़ज़लुल्लाह नबी ने सिद्ध किया था कि सूफी धर्म कुरान का विरोधी नहीं है। फ़ज़लुल्लाह की मृत्यु १६२० ई० में हुई, इसका तात्पर्य यह है कि सूफीमत को १७ वीं शताब्दी में भी मुल्लावादी लोग अधार्मिक समझते थे। सूफियों में स्वतन्त्र चिन्तन इतना अधिक था और मुल्लावाद के

वे इतने कठोर आलोचक थे कि गुरु तेगबहादुर के विषय में 'सरमद' ने बादशाह औरंगजेब के व्यवहार की निन्दा की, फलतः उसे कत्ल कर दिया गया ।

सिन्ध देश के सूफियों में स्वतन्त्र चिन्तन और भी अधिक था । अबुलफज़ल तथा फैजी का बाप मुबारक सिंध में रहा था । सूफी विचारधारा के विश्वासियों के लिए, जिनमें फैजी व अबुलफज़ल भी थे, बदायूँ के 'बरूनी' ने लिखा है अबुलफज़ल ने अपने गन्दे विचारों से संसार को जला डालना प्रारम्भ कर दिया ।^१ और दारा तो उदारता का अवतार ही था । औरंगजेब के पुत्र आजम शाह को उसके भारतीयता-प्रेम के कारण महाकवि देव ने अपना 'रसविलास' समर्पित किया था ।

करोमशाह (१६०० ई०) ने सिंध-प्रदेश में फारसी व सिंधी भाषा को मिश्रित करके लिखा । वह 'ओउम्' का जप किया करता था । इसी प्रदेश के 'शाह इनायत' नामक सूफी संत ने, अरबों द्वारा हिन्दुओं के बलात् धर्मपरिवर्तन का विरोध किया था, फलतः उसे कत्ल कर दिया गया । यह आज तक 'बिनशिर' कहलाता है ।^२

सिंध का शाह लतीफ़ (१६८६ ई०) महात् कवि व गायक था । वह कबीर, दादू, नानक व मीराबाई के पद्य गाया करता था । क्या कारण है कि इनमें 'वर्णाश्रम धर्म समर्थक' तथा मुस्लावादी (आचारवादी) साहित्य का प्रचार न था ? इसका कारण यह था कि सूफी भेदभाव को पसंद नहीं करते थे, अतः वे कबीर, दादू आदि संत कवियों को ही अपने अधिक निकट समझते थे । सिंध में मुसलमान गुरु हैं, हिन्दू शिष्य हैं, तथा हिन्दू गुरु हैं और मुसलमान शिष्य हैं । ८ वीं शताब्दी के विजेता अरबों के पुरोहितों तथा हिन्दू वर्णाश्रम प्रथा के प्रचारक पुरोहितों की तुलना में सिंध के सूफी किस धारा की ओर इतिहास को ले जा रहे थे—एकता की ओर और इसीलिए सूफियों में 'काशी व काबा' की एकता की घोषणाएँ आज तक मिलती हैं ।

गुजरात में इमामशाह सूफी संत ने काकापंथ (१५ वीं शताब्दी) चलाया । इनके हिन्दू शिष्य मुसलमानों की तरह शव जमीन में गाड़ते हैं । हिन्दुओं के गुरु मुसलमान ही होते हैं । ये भी निष्कलंक के उपासक हैं । बहादुरपुर (मध्यप्रदेश)

१ क्षितिमोहन सेन, पृ० २४

२ वही, पृ० २८

के शाहदुल्ला सम्प्रदाय के शिष्यों में हिन्दू व इस्लाम का अद्भुत मिश्रण होगया है। ये लोग भी निष्कलंक के उपासक हैं और वैष्णव प्रभाववश ये निष्कलंक का अर्थ करते हैं, विष्णु का दशम अवतार। ब्रजभाषा के कवियों में रसखान (सैयद इब्राहीम, १६१४ ई०), ताज (१७ वीं शताब्दी पूर्वार्ध) तथा कादिर वरूश के नाम प्रसिद्ध ही हैं। खोजा सम्प्रदाय में भी हिन्दू आचारों का मिश्रण मिलता है, वल्लभाचार्य मत की तरह इनके यहाँ शिष्य गुरु के दास होते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी अमेठी के राजपंडित 'गंधर्वराज' के मित्र थे। जायसी पुत्र विहीन थे अतः उन्होंने गंधर्वराज के पुत्रों को स्नेहवश 'मलिक' नाम दिया था, आज तक 'मलिक' उपाधि गंधर्वराज के कुल में स्वीकृत है।^१

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में सूफियों व सन्तों की गति इतिहास के विकास के अधिक अनुकूल थी। दोनों 'ब्राह्म्याचार्य' के विरोधी हैं। क्योंकि भगड़े ब्राह्म्याचार्यों के कारण ही होते हैं। आंतरिक दृष्टि से सभी धर्मों में एकता स्थापित हो सकती है क्योंकि सत्यार्थ एक ही है—मानवमात्र से प्रेम, पेशे और कार्य के कारण किसी को ऊँचा नीचा न समझना, पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर श्रेष्ठता का निर्णय न करना, सदाचार और सहानुभूति आदि। यही सच्चाई है, परन्तु आचारवादी इसका विरोध करते हैं, यों उनकी पुस्तकों में भी यह सच्चाई थी परन्तु व्यवहार में वे भेदभावों को शास्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित करते थे अतः जिस प्रकार शास्त्रीय विधिनिषेध के विरुद्ध तुर्कों के आगमन के पूर्व तांत्रिकों ने विद्रोह किया, उसी प्रकार तांत्रिकों द्वारा आविष्कृत योग व रहस्यवाद तथा भक्ति को लेकर सूफियों व सन्तों ने भी विद्रोह किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सूफीधर्म पर तांत्रिक प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखा है—

द मोस्ट रिमार्कबिल एमंग द हिन्दू इन्फ्लूएन्सिज ऑन इस्लाम इज द एक्सेप्टेंस आफ़ तांत्रिक टीचिंग्स बाई सम मुहम्मडन—साधकाजु^२

अर्थात् इस्लाम पर पड़े हिन्दू प्रभावों में सबसे अधिक लक्ष्य करने योग्य कुछ मुसलमान साधकों द्वारा तांत्रिक उपदेशों की स्वीकृति है।

रसूलशाह (१८ वीं शताब्दी) पर तो यह तांत्रिक प्रभाव पूर्ण रूप से

१ क्षितिमोहन सेन, पृष्ठ ३४

२ क्षितिमोहन सेन, पृ० ३७

था। रसायन क्रियाओं, मदिरापान तथा सिद्धि और चमत्कार-प्रदर्शन सूफियों में प्रारम्भ से ही मिलते हैं। कुछ सम्प्रदायों में तो “पंचमकार सेवन” का हबहू अनुकरण मिलता है।

लाइक द फोलोअर्स आफ द तांत्रिक, दे सिट इन ए सर्किल एंड आबजर्व वीराचार आर द वेज़ आफ द हीरो। एंड दे वलेम टू बी ड्रिंकिंग इन द तांत्रिक फैशन, द नैक्टर आफ द सहस्रार आफ्टर पियसिंग थ्रो द सिक्स सर्किल्स।^१

अर्थात् तांत्रिकमतावलम्बियों की तरह वे चक्राकार बैठकर वीराचार का अनुसरण करते हैं और तांत्रिकों की तरह षट्चक्रवेधन के पश्चात् सहस्रार चक्र के अमृतपान का दावा करते हैं।

सूफियों में इस्लाम के कठोर आचारवाद के विरुद्ध आज तक शराब, साकी, मयख़ाना, मीना और “यार के वल्ल” की बहार मिलती है और तांत्रिकों की ही तरह यह वामाचार प्रतीक के रूप में ग्रहण किया जाता है। सूफियों की अमरदपरस्ती अर्थात् (पुरुष माशूको से प्रेम) तथा सुरापान, एक ऐतिहासिक हकीकत है, “तसव्वुफ और सूफीमत” में चन्द्रवली पांडेय ने सूफियों के वामाचार पर भरपूर प्रकाश डाला है।

सभी सूफी मदिरा और मैथुन के अतिरिक्त तांत्रिकों के कुण्डलिनीयोग में विश्वास करते हैं। मैं कह चुका हूँ कि तुर्कों के पूर्व और पश्चात् भी बाह्याचारों, भेदभाव, पांडित्य आदि के विरुद्ध योग के द्वारा ही चुनौती दी गई थी। रहस्यवाद द्वारा समाज की असंगतियों के विरुद्ध प्राचीन काल से ही असन्तोष प्रकट किया जाता रहा है।

प्राचीनतावादी सुधारकों और क्रान्तिकारी सुधारकों में अर्थात् वैष्णव भक्तों और सन्तों में अन्तर को समझने के लिए हमें सूफियों द्वारा किये गए विभाजन को देखना चाहिए। यह विभाजन सामाजिक दृष्टि से किया गया है। प्राचीनतावादी सूफियों को “बाशिरा” तथा क्रान्तिकारी सुधारकों को जो एक सर्वथा नया सामाजिक विधान चाहते थे, “बेशिरा” कहा जाता है। बाशिरा रस्सी से बंधे हुए पशुओं के समान हैं जो दूर तक चरते तो हैं परन्तु अपनी सीमा से बाहर नहीं जा सकते। परन्तु बेशिरा बंधे हुए नहीं हैं, वे स्वतन्त्र हैं। इसी तरह

हिन्दू वैष्णव भक्त बाशिरा साधक हैं। वे लोकवेदपंथी हैं, वे वेदमार्गी हैं, पुराने संस्कारों के रक्षक हैं, किन्तु अत्यधिक उदार हैं। फिर भी उनकी उदारता की एक सीमा है जिसके बाहर वे नहीं जा सकते, दूसरी ओर सन्तकवि 'बेशिरा' साधक है जो शास्त्र मर्यादा नहीं मानते, अपनी अनुभूति पर अधिक बल देते हैं, जो स्वयंप्रकाश्यज्ञान को सत्य की पहचान में सहायक मानते हैं, पुस्तकों को महत्व नहीं देते, वे संस्कार, वर्ण, जाति, आदि बन्धनों के विरोधी हैं और सहजमानवता के प्रचारक हैं।

यही कारण है कि परम्परावादी सुधारको पर तंत्र के प्रभाव का स्वरूप भिन्न है। भक्तों ने तंत्रों से शक्तिवाद अर्थात् युगल उपासना तंत्रों से ली है। कृष्ण-भक्तों में मर्यादामार्ग के प्रति अवज्ञा अधिक मिलती है और भगवान की गुहारतिलीला का ध्यान किया जाता है। देवता के रूप, मंत्र, मूर्ति, अर्चा आदि पर भी तंत्रों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। तथापि भक्तों ने तंत्रों से समाज की शृंखलाओं का घोर विरोध नहीं किया। किन्तु सन्तों में नाथपंथियों के माध्यम से तंत्रों का योग व ओजस्विता दोनों पहुँचे हैं।

परम्परावादियों में कई प्रकार के सुधारक हैं। इनमें संकीर्णतम वैदिक-कर्मकांडी तथा सूत्रों के भाष्यकार हैं, तुलसी, सूर आदि भक्त इनकी तुलना में बहुत आगे थे। अर्थात् उनके खूँटे की रस्सी वैदिकों से कई गुनी लम्बी थी और उस युग में यह बहुत बड़ी बात थी। दूसरी ओर मेधातिथि, कूलूकभट्ट, विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि तथा रघुनन्दन आदि अपनी टीकाओं द्वारा प्राचीन नियमों का प्रचार कर रहे थे और कुछ नियमों में परिवर्तन भी कर रहे थे। अपनी संकीर्णता के कारण ये लोग केवल हिन्दुओं के उच्च वर्गों में ही सफल हुए, हिन्दू राजाओं ने इनकी सहायता भी की किन्तु भक्तों की तरह ये जनता पर प्रभाव न डाल सके, न उस सम्मिलन का प्रचार कर सके जो आवश्यक था।

इनके पहले शंकराचार्य ने वैदिकता के उद्धार का प्रयत्न किया था और उन्हें सीमित सफलता भी प्राप्त हुई थी परन्तु सामान्य जनता उनसे बहुत कम प्रभावित हुई थी। केवल शिक्षित हिन्दुओं के सीमित वर्ग में ही शंकर का प्रभाव रहा और आज भी वही दशा है।

शंकराचार्य के बाद प्राचीनतावादियों के एक वर्ग ने तंत्रवाद का भी पुनरुद्धार किया। हम कह चुके हैं कि १३ वीं शताब्दी के बाद के शाक्त आचार की शुद्धता पर अधिक ध्यान देते हैं। तंत्रों में बाह्याचार की निन्दा है, धर्म को

जन्म व जाति से ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। महानिर्वाणतंत्र जैसे तंत्र सामान्य जनता के लिए लिखे गये जिनमें साधना को अत्यधिक सरल कर दिया गया है। महानिर्वाणतंत्र में कहा गया है कि कलियुग में तंत्रमार्ग से ही मुक्ति मिल सकती है, वेदमार्ग से नहीं।

जातिवाद, शास्त्रीयता आदि की चिन्ता न करते हुए तांत्रिकों ने आत्मसंस्कार को सबके ऊपर प्रतिष्ठित किया था। तांत्रिकों की परम्परा में होने वाले 'बाउल' सन्तों ने लिखा है कि कृत्रिम धर्मों का ही प्रारम्भ शास्त्रों में खोजा जाता है। "वास्तविकधर्मों का प्रारम्भ नहीं बताया जा सकता।" कबीर, दादू आदि ऐसे ही वास्तविक धर्म के प्रचारक थे जो बंधनों के विरोधी थे।

सन्त कवियों के पूर्व सम्भवतः निरंजन सम्प्रदाय पूर्वी प्रान्तों में प्रचलित था। इस निरंजन सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म के अवशेष मिलते हैं। विशेष रूप से तांत्रिक महायानमत के बहुत से तत्व निरंजन सम्प्रदाय में सुरक्षित हैं। रमाई पंडित ने शून्यपुराण में शून्य या निरंजन की चर्चा की है। उड़ीसा के वैष्णव सम्प्रदाय में, जो वस्तुतः प्रच्छन्न बौद्ध थे, निरंजन को शून्य का पुत्र माना गया है। यहाँ के बौद्ध-वैष्णवों में एक सम्प्रदाय "धर्म या निरंजन" सम्प्रदाय है। राजपूताने में एक निरंजनी सन्त सम्प्रदाय अब भी मिलता है। यह सम्प्रदाय अब साकार ब्रह्म का उपासक है परन्तु मूल रूप में इस सम्प्रदाय के सन्त "निरगुनियाँ" ही रहे होंगे। यह निरंजन सम्प्रदाय कभी झारखंड व रीवाँ तक प्रचलित था और बाद में यह मत कबीरपन्थ में अन्तर्भुक्त हो गया।^२

इस धर्म या निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध तथा उनके संघ से दिखाई पड़ता है। रमाई पंडित ने शून्य को अनिर्वचनीय सत्ता कहा है। रमाई के यहाँ शून्य अभाववाचक नहीं है और वस्तुतः शून्य से अभाववाचक अर्थ शिक्षित बौद्ध-विचारकों ने कभी लिया भी नहीं है। रमाई के अनुसार 'शून्यमूर्ति' की आराधना करनी चाहिए, उस मूर्ति का न आदि है, न मध्य है, न अन्त है, वह आकार, रूप, भय, मरण और जन्म से भी परे है। योगीजन ही उसे ज्ञान द्वारा अनुभव में ला सकते हैं। शून्य सत्ता भक्तों की सारी इच्छाएँ पूर्ण कर

१ क्षितिमोहन सेन, पृ० ६८

२ कबीर-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ ५२

सकती हैं ।^१ रमाई पंडित ने लिखा है कि शून्य, ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के पूर्व विद्यमान था । इस शून्य के केन्द्र में निरंजन रहता है ।

स्पष्ट ही यह शून्य-उपासना निर्गुण-उपासना है । इसके प्रवर्तकों ने इसमें सगुण-उपासना का भी स्पर्श दिया है । यह कोई नवीन आविष्कार नहीं था क्योंकि तांत्रिक बौद्ध साधक एक विराट देव-मंडल का विकास कर चुके थे अतः शून्य को देवता का रूप दे दिया गया । परवर्ती बौद्धमत का मंत्र और गायत्री इस प्रकार है—

मंत्र—ओं शून्य ब्रह्मणे नमः

गायत्री—ओं सिद्धदेवः सिद्धधर्मः वरेण्यमस्यधीमही ।

मगं देवो धीयो यो, न सिद्धध्रुवो प्रचोदयात् ॥^२

यह शून्य उपासना उड़ीसा की बाथुरी जाति द्वारा प्रचारित हुई । इस जाति का भी कबीर की ही तरह दमन हुआ था क्योंकि उड़िया के परम्परावादी वैष्णव पंडित इन बौद्धों के विरुद्ध थे । इन्हें अस्पृश्य माना जाता था किन्तु इन्होंने कबीर की ही तरह बड़े स्वाभिमान के साथ कहा था कि कलियुग में हम लोगो को कोई स्पर्श तक न करेगा किन्तु हमारे शरीर का स्पर्श कर लेने पर सारे पाप दग्ध हो जाएँगे, अतः विष्णु ने हम लोगों को गुप्त कर रखा है ।^३

ये शून्यवादी लोग पहले तांत्रिक थे क्योंकि बाथुरी जाति के पास “अशोकान्त मारीची” तथा “प्रज्ञापारमिता” की मूर्तियाँ मिली है । प्रज्ञापारमिता को ये लोग “वाउरी ठकुरानी” कहते थे । उड़ीसा के प्रच्छन्न बौद्धों का एक ग्रन्थ है “सिद्धान्त—डम्बरतन्त्र”, जिसमें प्रवक्ता शिव हैं । एन० एन० वसु

१ यस्यान्तोनादिमध्यो न च कर चरणौ नास्तिकायो निनादं ।

नाकारो नैव रूपं न च भयमरणे, नास्ति जन्मनि यस्य ।

योगीन्द्रज्ञानगम्यं सकलदलगतं सर्वलोकैकनाथम् ।

भक्तानां कामपूरं सुरनर वन्दितं चिन्तयेत् शून्यमूर्तिम्—माडन बुद्धिस्म

एंड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा-एन० एन० वसु, पृ० १०

२ वही पृ० २० से २२ तक

३ कलियुगे न छुइब, बाउरि छुइले सकल पातक क्षय हव ।

बोलि विष्णुमाया करि गोप्य, कोटि रलि अछन्ति । एन० एन० वसु

पृ० २१ से २२

का अनुमान है कि प्रसिद्ध कौलावलीतंत्र में उल्लिखित वातुलतंत्र का सम्बन्ध भी इस बाथुरीजाति से रहा होगा। बाथुरी लोक अब तक धर्मराज अर्थात् बुद्ध की पूजा करते हैं। बौद्ध मत से प्रभावित सोलहवीं शताब्दी के बौद्ध वैष्णवों में भी धर्म को निरंजन ही माना गया है और उसे ही सृष्टि का कारण माना गया है। इस निरंजन के स्वरूप को शून्य बताया गया है। विचित्र तथ्य यह है कि परवर्ती कबीरपन्थी ग्रन्थ “कबीर मन्सूर” में भी निरंजन को शून्य कहा गया है और निरंजन को ही सृष्टि का कारण माना गया है।

कबीर की ही तरह अत्यधिक कठोर भाषा में उड़िया के प्रच्छन्न बौद्ध, जो अपने को वैष्णव कहते हैं, वर्णाश्रम प्रथा के विरुद्ध लिखते थे। इन प्रच्छन्न बौद्धों में अच्युतानन्द, बलरामदास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशवन्तदास तथा चैतन्यदास—ये महान “वैष्णव” कहलाने वाले कवि हुए। इन वैष्णव कवियों की भक्ति व चैतन्य व बल्लभ की भक्ति में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता परन्तु साथ ही इनकी वैष्णवता के पीछे जो मन था, वह प्राचीन तांत्रिक बौद्ध परम्पराओं को कबीर की ही तरह भूल नहीं पा रहा था।

उड़िया बौद्ध-वैष्णवों के अनुसार ब्रह्म शून्य है। शून्य ही जीवात्मा रूप में बदल जाता है। शून्य पुरुष राजा है। उसके अनेक शत्रु है। वह उनसे बचना चाहता है। उसके पास दया आदि गुण हैं, वह नर्क में घिर गया है और बार बार बाहर आना चाहता है परन्तु शून्य का विरोध होता है। २५ कारण, ५ मन ६ चक्र, ५० अक्षर तथा ७२ नाड़ियाँ, उस शून्य की रक्षक हैं। वह शून्य तटस्थ होकर भोग करता है, वह बहुत तेजवान है। वह शून्य पुरुष एक शून्यगढ़ में रहता है। ३२ अक्षरों की सहायता से वह मूर्ति रहित शून्य राज्य करता है। उस शून्य का लोक १४ भुवनों से भी परे है ?^१

ये शून्य उपासक वैष्णव कबीर की ही तरह अन्तर्मुखता पर बल देते हैं और बाह्य ध्यान; धारणा, न्यास, मुद्रा आदि की निन्दा करते हैं। केवल भीतर देखो, शून्यमंत्र जपो, त्रिकुटी में ध्यान लगाओ, यही उनका उपदेश है। राधा, कृष्ण की उपासना करने पर भी ये वैष्णव गुप्त-वृन्दावन के उपासक हैं जो पिंड में स्थित है। इनके अनुसार राधा और कृष्ण बाह्यदेवता नहीं हैं, वे भी भीतर ही हैं।^२

१ एम० एन० वसु, पृ० ४८, ४९

२ वही पृ० ४९, ५१

इन बौद्ध-वैष्णवों ने गीता और भागवत की निन्दा की है ।^१ इस निन्दा का कारण यह जान पड़ता है कि गीता और भागवत पर उच्च वर्गों का सर्वाधिकार था । बलरामदास ने एक गुप्तगीता लिखी है, इसमें कहा गया है कि कृष्ण का पुत्र अनिरुद्ध राजा प्रतापरुद्र के समय उत्पन्न होगा, उसका नाम होगा बलरामदास । मतलब यह कि राजा के दमन से बचने के लिए ऐसी कथाओं की आवश्यकता थी और राजा ने इसलिए दमन किया क्योंकि नीच जाति का व्यक्ति शास्त्र नहीं लिख सकता । बलरामदास के प्रणव-गीता में एक कथा है—राजा को पता चला कि किसी नीच जाति के व्यक्ति ने शास्त्र लिखा है, राज क्रुद्ध हुआ, ब्राह्मणों ने बहुत क्षोभ प्रकट किया, बलराम को धिक्कारा तब बलराम ने कहा कि भगवान पर किसी का सर्वाधिकार नहीं है, भगवान भक्त का है, चाहे वह ब्राह्मण हो या चांडाल ।^२

बलराम ने आगे राजा से कहा था कि मैं स्वयं वेद से सिद्ध कर सकता हूँ कि मैं ज्ञान का अधिकारी हूँ और बलराम की बात भगवान ने सुन ली, उसकी प्रेरणा से बलराम ने राजा व ब्राह्मणों के सम्मुख 'वेदान्त' (अर्थात् शून्यवाद) सुनाया और तब ब्राह्मण पराजित हो गये ।^३

कबीर क्यों वेदान्त भाड़ते थे, इसका उत्तर उपर्युक्त पंक्तियों में सुरक्षित है । बौद्ध पृष्ठभूमि को भूलकर सन्तमत को नहीं समझाया जा सकता ।

चैतन्यदास ने "विष्णुगर्भ" में लिखा है कि विष्णु एक नहीं पाँच हैं । तत्त्व "अलेख" (अलख) । है । अलेख (शून्य) का माया से उत्पन्न रूप है—निराकार और निराकार से धर्म का विकास हुआ है । तब अलख से ६ रंग

१ गीता भागवत पुराण पढ़िबा, कहिबा चातुरी थिव ।

तत्त्व अनाकार नाम ब्रह्ममेह, न पाई व्यर्थ हेव ।

—अनाकार संहिता—एन० एन० वसु पृ० ५१

२ तहि देखिले विप्र बिगड़े, धिकारे गालि बेले जिते ।

प्रणव वेदवाद्मान, कि अधिकारे शूद्र ज्ञान ।

शुण हे नृप गजपति, काहारि नोहन्ति श्रोपति

भक्त जनकर से हरि, विप्र चांडाल से आवि करि

करुणामय जगन्नाथ, काहारि नोहति एकंत

विप्र जे बोलन्ति आम्बर, गर्व करन्ति नृपवर । एन० एन० वसु पृ० ५१

३ बही

उत्पन्न हुए और इन ६ रंगों से विष्णु उत्पन्न हुए । इसी अलेख ने योगमुद्रा में स्थित होकर ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उसने सृष्टि रची । २१ विश्व तथा २१ ब्रह्मा बनाये गये । इस अलेख को नेपाल में महाविष्णु माना गया है ।

इन बौद्ध-वैष्णवों का नाथसिद्धों में झूट विश्वास था । बलरामदास हठयोग का प्रवर्तक गोरखनाथ को ही मानते थे । सन्तमत को ही तरह ये भी गोरख-योग के विश्वासी थे, सन्तमत भी भक्ति को स्वीकार करता है और उत्कल का बौद्ध-वैष्णव मत भी, परन्तु यह वैष्णवमत शास्त्रीयमत से भिन्न है । यह शुद्ध वैशिराभक्ति है जो शास्त्रीय परम्परा का विरोध करती है क्योंकि शास्त्रीय परम्परा जातिवाद की पोषक थी । इस देश में प्रतापरुद्र जैसे राजाओं का भी शासन रहा है । उत्कल के वैष्णव भी सन्तों की तरह ही पीड़ित थे अतः उत्कल के शास्त्रीय वैष्णवों की तुलना में मध्यदेश के वैष्णव अधिक उदार थे । इसीलिए कबीर ने रामानन्द को गुरु स्वीकार किया था । फिर भी रामानन्द की शास्त्रीय परम्परा जो तुलसीदास में दिखाई पड़ी उससे कबीर भिन्न दिखाई पड़ते हैं क्योंकि कबीर की पृष्ठभूमि में महायान तथा तांत्रिक बौद्धमत था जो शास्त्रीय भेदभाव का विरोध करता था ।

उत्कल के बौद्ध वैष्णवों ने लिखा है कि कलियुग में बौद्धमत गुप्त रहेगा और बुद्ध के बाद उड़ीसा में जगन्नाथ अवतार लेंगे । ज्ञान से भ्रम को दूर करने के लिए, वैदिक पूजा को हटाने के लिए तथा निर्गुण ब्रह्म की आराधना के लिए बुद्ध का अवतार बताया गया है—

प्रबुद्ध बुद्ध अवतारे, ज्ञान विस्तारि च संसारे ।

सकल वर्ण एक ठारे, बसि मुंजिब सुगतरे ॥

करणि न करिबे पुन, एनु ए मायार धेयान ।^१

संतमत की निर्गुणता का उद्देश्य उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है अर्थात् सन्तमत निर्गुण का प्रचार करता है, वैदिक कर्मकांड और वर्णाश्रम धर्म का विरोध करता है, वैष्णव देवताओं, मंदिरों, तीर्थों, व्रत, उपवासादि की निन्दा करता है तथा सकल वर्णों को एक करता है । और उधर श्रीमद् भागवत घोषित करती है—

ततः कलौ संप्रवृत्त, संमोहाय सुरद्विषाम् ।

बुद्ध नाम्नाजनसुत, फीकटेषु भविष्यति ।

अर्थात् आर्य-द्वेषी असुरों को (ब्राह्मण धर्म स्वीकार करने वालों को) मोहने के लिए कीकट देश में (सम्भवतः उत्कल में) बुद्ध अवतार लेंगे ।

कौनसी बात सही मानी जाय ? एक कहता है कि साखी, सब्दी, दोहरा कहने वाले लोग झूठे हैं, नाना सम्प्रदाय पैदा करते हैं, और वेद पुराण की निन्दा करते हैं और दूसरी ओर मध्यप्रदेश का सन्तमत तथा उत्कल का यह बौद्ध-वैष्णव मत है, जो वेद-पुराण को ही झूठा कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा सकल वर्ण एक ठौर नहीं होते, बिखर जाते हैं । “उत्कल के चैतन्यदास इसीलिए १२ अवतारों में केवल बुद्ध को छोड़कर और सबके दोष निकालते हैं । उनका कथन है कि ब्रह्मज्ञान को केवल बुद्ध ही ठीक-ठीक समझते थे और इसीलिए वे बाहरी बखेड़ों का विरोध करते थे ।”

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्कल प्रान्त में १५ वीं १६ वीं शताब्दी में प्रचलित प्रच्छन्न बौद्धमत के साथ कबीर, दादू, नानक आदि का सन्तमत अद्भुत सादृश्य रखता है । सन्तसम्प्रदायों में यह प्रवृत्ति है कि वे शब्द-प्रामाण्य को नहीं मानते, अपनी अनुभूति पर ही अवलम्बित रहते हैं । इस स्वावलम्बन के कारण ही दम्भी और निरक्षर समझे जाने वाले सन्तों ने अपना मार्ग अलग चलाया । परन्तु वे उसे सम्प्रदाय नहीं बनाना चाहते थे, किन्तु प्रत्येक आदर्शवादी महान् पुरुष के पीछे जैसे स्वयं सम्प्रदाय बनते आ रहे थे वैसे ही कबीर, दादू, नानक आदि के अलग-अलग सम्प्रदाय चल पड़े । इस उपर्युक्त विवेचन से यह भी पता चलता है कि सन्तमत में बौद्ध योगियों के अवशिष्ट तत्व मिल गये और उन योगियों के भी, जो हठयोगी कहलाते थे और जो ब्राह्मणवाद के विरोधी थे । इस योग का प्रभाव सूफियों पर भी पड़ा था और इसीलिए वह भी हिन्दू मुसलमानों की संकीर्णताओं का विरोध करते थे ।

वैष्णवों में रामानन्द सबसे अधिक प्रगतिशील विचारक थे । उन्होंने जाति तथा आचारवाद की परवाह नहीं की थी । रामानन्द ने कहा था कि यदि परम्परावादी समाज में ऋषियों के नाम से गोत्र पहचाने जाते हैं तो मनुष्य को उस भगवान के नाम से क्यों नहीं पहचानते जिसकी उपासना ऋषि भी किया करते थे और जहाँ तक मनुष्य के सामाजिक स्थान व सम्मान का प्रश्न

है उसका निर्णय ईश्वर और मनुष्य के प्रति प्रेम द्वारा होना चाहिए न कि किसी जाति विशेष में जन्म लेने के कारण ।^१

रामानन्द ने स्त्रियों, शूद्रों आदि सभो को शिष्य बनाया था । रामानुज ने केवल शूद्रों को 'प्रपत्ति' का अधिकार दिया था परन्तु रामानन्द ने इन्हे भक्ति का पूरा अधिकार दिया । गुरु ग्रन्थसाहब में रामानन्द की इसी स्वच्छन्द मनोवृत्ति के कारण उनके पदों का संकलन किया गया है । निम्नलिखित किंवदन्ती कितनी सारपूर्ण है—

भक्ति ब्रविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द ।

परगट करी कबीर ने, सप्तद्वीप नवलंड ।

यह भक्ति 'बेशिरा' परम्परा की भक्ति है, परम्परावादियों की भक्ति जैसी यह संकीर्ण भक्ति नहीं है । इसमें शोषित जातियाँ बराबरी के स्तर पर भाग ले सकती थीं । उनका खानपान एक हो सकता था । वह ऐसी भक्ति नहीं थी जिसमें परम्परावादियों के राम नीच जातियों से मिलते समय ऐसे प्रतीत होते हैं मानो अहसान कर रहे हों । तुलसीदास के गुह, निषाद व शबरी की भक्ति तथा कबीर की भक्ति की तुलना कीजिये—कबीर की भक्ति में जो स्वाभिमान, आत्मविश्वास और समकक्षता का भाव है, वह तुलसी के नीच जाति के भक्तों में नहीं मिलता । कृष्णभक्त आचार्यों में भी आचार्य इतने ऊँचे दिखाई पड़ते हैं कि उनकी ओर देखना भी सामान्य भक्त के लिए कठिन हो जाता है । मैं कह चुका हूँ कि परम्परावादी भक्त भी शुद्ध कर्मकांडी आचार्यों से बहुत आगे थे, परन्तु फिर भी वे बाशिरा भक्त हैं, बेशिरा नहीं । परम्परावाद के कारण वैष्णवों की भक्ति और विशेषकर तुलसी की भक्ति में वह मानवीय गौरव नहीं है जो तांत्रिक परम्परा से अधिक प्रभावित सन्तों में है ।

सिक्खसन्तों की भक्ति के अध्ययन से भी यह तथ्य पुष्ट होता है । सिक्ख सन्तों के पूर्व पंजाब में नाथपंथ का बहुत प्रचार था । साथ ही बहुत से सूफो सन्त भी गुरु नानक के पूर्व पंजाब में बस चुके थे । इनमें योग, रहस्यानुभूति और सिद्धियों के चमत्कारप्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी । शास्त्र की जगह गुरु, आचार की जगह आत्मशोधन और बहिर्मुखता की जगह अंतर्मुखता का इनमें अधिक प्रचार था । पंजाब में संत नामवेव के चमत्कार भी प्रसिद्ध होगये थे । नानक पर इन्हीं सन्तों का प्रभाव पड़ा था । यह प्राचीनतावादी परम्परा नहीं

थी। कबीर की परम्परा में ही नानक ने सन्तमत का प्रचार किया। नानक की भेंट शेखबरहम या फरीद द्वितीय से भी हुई थी, यह स्मरणीय है। फरीद के चमत्कार महान् थे। उन्होंने आलिफख़ा नामक व्यक्ति को दुआ दी थी कि वह बादशाह हो जायगा और संयोगवश आलिफ़ख़ा ही 'बलबन' नाम से हिन्द का बादशाह हुआ। बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह फरीद से कर दिया था। चमत्कार का इतना अधिक मध्ययुग में प्रभाव था कि सूफी, फकीर, योगी तथा सन्त साधक बड़े-बड़े शासकों को उदार और अच्छा बनाने में भी इस चमत्कार का प्रयोग करते थे।^१

गुरु नानक का पंथ मूर्तिपूजा, वर्णदम्भ, जातिवाद, विधवा विवाह न करना, दुराचार, नशापान, शिशुवध, तीर्थयात्रा तथा भक्ति का अभाव—इन तत्वों का विरोधी था। मैकलिफ़ ने लिखा है कि १५ वीं शताब्दी में न केवल भारत में, अपितु, योरोप में भी नवजागरण हुआ था। जर्मनी में 'लूथर' ने नई जागृति फैलाई थी और भारत में कबीर ने। योरोप में लैटिन व भारत में संस्कृत में धर्म-ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। शिक्षा पुरोहितवर्ग के हाथ में थी और यही लोग भेदभाव फैलाते थे अतः इस वर्ग के विरुद्ध विद्रोह हुआ। लूथर व कालविन की तरह ही कबीर ने क्रान्ति की। इन सन्तों में सबसे अधिक प्रबल और संगठित सिक्खमत था।

गुरु नानक ने देखा था कि विजेता तुर्क नृशंस हैं, अन्यायी हैं, उन पर देशी योद्धाओं का वश न चला। हजारों लोग तलवार के घाट उतार दिए जाते थे। किन्तु ये विजेता तुर्क भी अन्धविश्वासी थे, खुदा के कहर से ये भी डरते थे अतः नानक ने भी चमत्कारों से काम लिया था। अन्य सूफियों की तरह चमत्कारों का प्रयोग करके नृशंस विजेताओं पर वे कुछ नैतिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे। अतः नाथपंथियों व सूफियों जैसे चमत्कार और इलहाम आदि का प्रयोग सिक्ख गुरु भी करते दिखाई देते हैं।

मैकलिफ़ ने विस्मित होकर लिखा है कि बड़े-बड़े सुधार साधारण जनता से आने वाले व्यक्तियों ने ही किये हैं।^२ किन्तु इसमें विस्मय का कोई कारण

१ व सिक्ख रिलीजन—एम० ए० मैकलिफ़, ओक्सफोर्ड, १९०६, जिल्द ६, पृ० २९ तथा ३७७

२ इट इज़ क्यूरियस बेट व ग्रेटेस्ट रिलीजस रिफॉर्मर्स हेव बीन एफ़ेक्टिव बाई व लेटी - वही, जिल्द ५, भूमिका

नहीं है। तांत्रिक युग में जितने वर्णाश्रमविरोधी विचारक हैं, उनमें साधारण जातियों के कम पढ़े-लिखे लोग ही अधिक हैं जबकि पुस्तकीय विद्या के आचार्य पुरानी लकीर ही पीटते दिखाई पड़ते हैं। सिद्ध, नाथ तथा शैव एक ओर हैं और वैदिक ज्ञानी व कर्मकांडी दूसरी ओर हैं। इनमें बौद्धों व जैनियों का पुरोहित वर्ग भी शामिल है। इसी तरह सिद्धों, नाथों और शैवों की परम्परा में कबीर, दादू, नानक आदि साधारण जनता से आये थे और इसीलिए जनता की भावनाओं का सही सही प्रतिनिधित्व करने के कारण वे मुल्लाओं और पंडितों के वर्गस्वार्थों पर प्रहार कर सके।

मैकलिफ़ ने बताया है कि सिक्खमत अत्यधिक मौलिक मत था, वह जनता के बल पर चला। हिन्दूधर्म मैकलिफ़ के अनुसार “घरेलू आचारों” का धर्म था। हिन्दू मत के लिए आवश्यक है किसी जाति में जन्म लेना, बस फिर किसी चीज की आवश्यकता नहीं।^१ किन्तु सामान्य जनता से जो मत आते थे वे इस जातिवाद पर इसीलिए प्रहार करते थे जैसा कि तांत्रिकों ने किया था।

वैष्णवों की तरह सिक्खसंत केवल रक्षात्मक प्रवृत्ति नहीं दिखाते। गुरु नानक के चिल्लाकर कहा था—

लोदी वंश के कुत्तों ने अपनी परम्परा दूषित की थी जब वे मरे तो कोई भी उनकी निन्दा न करेगा।^२

नानक ने सभी बाह्याचारों का विरोध किया। उन्होंने ‘नामजप’ का विशेष प्रचार किया था किन्तु ध्यान से देखने पर यह ‘नामजप’ केवल “राम राम राम” की तोतारटन्ट न थी, बल्कि इस नाम जप के साथ अंतर्मुखी प्रक्रिया काम कर रही थी, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

सिक्खमत वेदों, स्मृतियों, कुरान आदि पर आधारित न होकर सन्तों की परम्परा में विकसित हुआ है। दादू के शब्दों में जिनका यह सिद्धान्त था—

वेद में प्यार नहीं है, स्मृतियों में प्यार नहीं है, संन्यासी पहाड़ों में रहते हैं, दुनिया को बताने वाला कोई नहीं है।^३

१ मैकलिफ़ - जिल्द ५, भूमिका भाग

२ वही, नानक की जीवनी

३ मैकलिफ़, जिल्द ५, भूमिका भाग

पुनरुत्थानवादी कहते हैं कि बिना वर्णाश्रम धर्म के 'यवनों' के विरुद्ध देशी जनता को कैसे संघटित किया जा सकता था, सिक्खमत इस धारण के विरुद्ध था क्योंकि साधारण जनता स्वयं वर्णाश्रम धर्म पर आधारित मतों और उनके अनुसरण करने वालों से घृणा करती थी अतः सिक्खों ने सामान्य पाकशाला का आविष्कार किया था और खानपान और विवाह-सम्बन्ध आदि में किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं माना था । फलतः मुस्लिम सामन्तवाद से वे पूरी दृढ़ता के साथ लड़ सके । शिल्पी, छोटे व्यापारी, किसान तथा अन्य कमकर वर्गों ने इतना संगठित दल बनाया था कि मुगल साम्राज्य भी कांप उठा था । इस संगठन की सफलता के लिए किसानों व कमकरों ने धर्म को वस्तुतः आवरण के रूप में अपनाया था । इलहाम, रहस्यानुभूति, नामजप, ईश्वरीय प्रेम का आवेश तथा चमत्कार आदि तो माध्यम मात्र थे । इनके माध्यम से कमकर वर्गों ने राजनैतिक व सामाजिक संगठन किया था और इस कार्य में शास्त्रीयता और पुनरुत्थानवाद का कही नाम भी नहीं था । यह कार्य शुद्ध तांत्रिक परम्परा में हुआ था । तांत्रिक इस रूप में संगठित नहीं हो सके किन्तु मध्ययुग में आकर उनका शास्त्रीयताविरुद्ध "सहज" जीवन और सभी प्रकार के भेदभावरहित समाज की स्थापना के नारे ने चमत्कार दिखाया ।

सिक्खमत आंतरिकता पर आधारित था, कोरे शारीरिक हठयोगियों को सिक्ख गुरु वैसे ही लताड़ते थे जैसे कि कबीर, यद्यपि हठयोग का आन्तरिक रूप उन्हें ग्राह्य था । गुरुओं का जोगियों को यह उपदेश था—

“कलियुग में जोग (बाह्य) का अभ्यास कठिन है । हम भक्तियोग के विश्वासी हैं, इससे बिना कष्ट उठाये ही मन पवित्र हो जाता है । पवित्र गुरुओं ने कहा है कि सहजयोग का अभ्यास करो इसमें साध्य के साथ तादात्म्य करते हुए ध्यानावस्थित होकर नाम का जप होता है ।”

स्पष्टतः हठयोग का आन्तरिक जप सिक्ख गुरु स्वीकार करते हैं । उपर्युक्त पंक्तियों में केवल बाहरी शारीरिक अनुशासन की निन्दा की गई है ।

तांत्रिकों की तरह सिक्ख गुरुओं का विश्वास था कि केवल गुरु ही सत्य को जानता है । वेद और स्मृतियां नहीं ।

“स्मृति व शास्त्र विभिन्ननिषेध का उपदेश करते हैं परन्तु सत्य को नहीं

जानते, गुरु के बिना वास्तविक सत्य नहीं सूझता, संसार अन्धविश्वास से ग्रस्त हो गया है ।^१”

अकबर से आचारवादियों ने शिकायत की थी—

“गुरु अमरदास ने हिन्दू आचार छोड़ दिए, जातिपांति मिटादी, ऐसा कभी नहीं हुआ था, अब सन्ध्या, गायत्री, पितृपूजा, तीर्थ, श्राद्ध, शालग्राम-पूजा नहीं होती । राम की जगह गुरु ने “बाहगुरु” की उपासना चलादी । वेदस्मृति समाप्त कर दिए । एक पंक्ति में खड़ाकर गुरु सब जातियों को एक साथ भोजन कराता है ।^२

बाह्यगुरु के जप की व्याख्या करते हुए मैकलिफ़ ने लिखा है कि प्रत्येक श्वास के साथ सहजगति से सिक्ख ‘बाहगुरु’ (ब्रह्म) का जप करते हैं ।^३ तात्पर्य यह कि कबीर के अजपाजाप और बाहगुरुजाप में कोई अन्तर नहीं है ।

सिक्खगुरुओं ने आचारवादी उच्च वर्गों और बादशाह के करों से क्लान्त जनता के लिए शासन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया । गुरु हरगोविन्द का नारा था—“गरीब को भोजन और अत्याचारी का नाश” । अपने “इलहाम” और चमत्कार के प्रयोग की सहायता से गुरुओं ने असन्तुष्ट जनता को संगठित किया और अपनी अर्धसज्जित सेनाओं से सामन्तों के छक्के छुड़ाए । जब भी “यह सेना जीत जाती, लोग बादशाह से यह कहते “यह फकीरो का कमाल है ।” गुरु इस प्रकार सामान्य जनता के रक्षक बन गये । संगठन में युद्ध का समावेश होने पर गुरु गोविन्दसिंह ने चंडीमहात्म्य लिखा और एक पर्वत पर देवी का विशाल यज्ञ किया क्योंकि चंडी युद्ध की देवी थी, अतः गुरु गोविन्द सिंह की कविताओं पर शाक्त प्रभाव दिखाई पड़ता है । इस नई परिस्थिति में वामाचार की अति को स्वीकार नहीं किया गया । वस्तुतः वामाचार तक साधक, समाज की श्रृंखलाओं का विरोध करते करते पहुँच जाते थे । गुरु गोविन्द सिंह का शक्तिवाद मार्कंडेय पुराण पर आधारित है जिसमें देवी का युद्धविजयी और असुर नाशक रूप ही प्रधान है ।

भाई गुरुदास ने सिक्खधर्म के सिद्धान्तों का गूढ़ विवेचन करते हुए लिखा

१ मैकलिफ़, जिल्द २, पृ० ६०

२ वही, पृ० १०४

३ मैकलिफ़, जिल्द २, पृ० २५६

है कि सिक्ख सन्त साधना "आन्तरिकसाधना" है। बाहर से सामान्य जन की तरह आचरण करो और भीतर से तत्त्व में लवलीन रहो, यही वास्तविक साधना है। सच्चे गुरु का अर्थ ब्रह्म है, उसीको पहचान करनी चाहिए। इस गुरु शिक्षा से ही जातिवाद का नाश हो सकता है जैसे पान, चूना, कत्था आदि मिलकर एक ही लाल रंग में परिणत हो जाते हैं वैसे ही सभी जातियों को मिलकर एक हो जाना चाहिए। सन्तमत वेद व कुरानमतों से श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि उसमें भेदभाव नहीं है। तीर्थमूर्तिपूजा व बाह्य योग क्रियाएं तथा वेष आदि व्यर्थ हैं। केवल ध्यान या जप ही पर्याप्त है। यह ध्यान व जप तांत्रिक योगियों से ही सन्तों को मिला था।

यद्यपि सिक्खसंत संसार के प्रति वैराग्य जगाते हैं किन्तु स्त्री अर्धांगिनी तथा मुक्तिदात्री मानते हैं। वैराग्य का उपदेश केवल आसक्ति के नाश के लिए है, संन्यास ले लेने के लिए नहीं। कबीर भी यही मानते हैं। गुरुदास ने लिखा है कि संन्यासियों के दस सम्प्रदाय तथा जोगियों के १२ सम्प्रदाय भिक्षा मांगते हुए घूमते हैं। यह लज्जाजनक व्यवहार है। गृहस्थधर्म की श्रेष्ठता ही सिक्ख घोषित करते हैं। सिद्ध सरहपाद की प्राचीन परम्परा यथावत् सन्तों में मिलती है। जिस तरह सरहपाद अपने समय के सभी धर्मों के पाखंडों का खंडन करते हैं वैसे ही गुरुदास कहते हैं—

"सुन्नी, शिया तथा रफजी, प्रपंची हैं, ईसाई, ज्यू आदि घमंडी हैं। योरोपियन, आर्मीनियन तथा तुर्क भी अभिमानी हैं, गुप्तमंत्रदान देने वाले भी झूठे हैं। गुरुहरराय ने कहा था कि वेद से नानक बड़ा है।"^१

गुरुहरराय ने मंत्र के प्रभाव को स्वीकार किया है। जैसे सूर्य की किरण पड़ते ही मक्खन पिघल जाता है उसी प्रकार मंत्र का प्रभाव हृदय पर पड़ता है।^२ गुरु गोविन्दसिंह ने शक्तिपात के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उसके अनुसार बिना ईश्वर की कृपा के जीव मुक्त नहीं हो सकता।^३

गुरु गोविन्दसिंह के विषय में लिखा गया है कि उन्होंने एक नया धर्म चलाया था क्योंकि हिन्दू मुसलमान अन्धविश्वासी और भेदभाव के समर्थक थे।

१ मंकलिफ-गुरुदास का विस्तृत उपदेशा दृष्टव्य, जिल्द, पृ० २४१ से २८६ तक

२ वही, पृ० २८६

३ वही, जिल्द १०, पृ० २७३ से २८६

गुरु व उनके साथियों ने हिन्दू मुस्लिम मन्दिर व मस्जिदों को धरती पर फैला दिया तथा वेद, पुराण, षड्दर्शन व कुरान को रद्द कर दिया ।

इस प्रकार कबीर की तरह सिक्ख सन्त भी समाज की असंगतियों को दूर करना चाहते थे । प्रश्न होगा कि खंडन मंडन के अतिरिक्त भावात्मक रूप में सन्तों का योगदान क्या था ? उत्तर होगा कि व्यवस्था न बदलने पर भी क्या उस व्यवस्था को अधिकाधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न व्यर्थ है ? प्रतिपक्षी उत्तर देगा कि असंगतियाँ तो व्यवस्था बदलने पर ही दूर हो सकती थीं, उदाहरण के लिए बिना औद्योगीकरण के जातिवाद समाप्त नहीं हो सकता, यह सही है परन्तु यह भी सही है कि मध्यकाल में जातिवाद व बाह्याचार-विरोधी आन्दोलनों के कारण उच्च वर्ग के नेताओं को भी अनेकानेक सुविधाएँ देनी पड़ी । वैदिक परम्परा के संन्यासी व भक्त भी भक्ति के क्षेत्र में “हरि को भजे सो हरि को होई” का सिद्धान्त मानने लगे । दूसरी ओर समाज के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि सामान्य मानवतावादी गुणों के विकास के लिए शास्त्रीय विषय आवश्यक नहीं थे । अतः इस युग में ऐसे सन्त सम्प्रदाय मिलते हैं जिनमें हिन्दू मुसलमान सभी शामिल हुए थे । स्पष्ट ही मुसलमानों में सभी नवमुस्लिम नहीं थे और न सन्त सम्प्रदायों में शामिल होने वाले हिन्दुओं में सब शूद्र ही थे । इस प्रकार साम्प्रदायिक दुराग्रह कम होगया और समाज कुल मिलाकर सामाजिक समीकरण की ओर बढ़ा । यदि ऐसा न होता तो १८५७ की राज्यक्रान्ति में जो सभी विश्वासों की एकता व सहिष्णुता दिखाई पड़ती है, वह सम्भव न होती । इस एकता की पृष्ठभूमि के रूप में सन्तों के ऐतिहासिक योगदान का अनुमान लगाया जा सकता है । सन्त परम्परा का साथ पकड़ कर ही उत्तर भारत में सतनामी किसानों और पंजाबी किसानों व व्यापारियों ने सिक्खमत के रूप में संगठित होकर सामन्तवाद के विरुद्ध विद्रोह किए थे । ऐतिहासिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण सन्त आन्दोलन तांत्रिकयोग, अजपाजाप, ध्यानयोग, नामजप, गुरुभक्ति, शास्त्र-विरोध, शक्ति-जागरण, सहजमार्ग आदि तत्वों से बना था ।

सन्त कवियों के पूर्व नायपंथी कवि इन तत्वों को वाणी दे चुके थे । नाथकवि तत्व को ‘अगम’ कहते हैं, वह ऐसा है कि न उसे वस्ती कह सकते हैं और न शून्य । वह आकाश मंडल में बोलने वाला बालक है ।^१ इस पद्धति

पर तत्त्व को तर्क की कोटियों से परे बताने की प्रवृत्ति बौद्ध महायानियों में भी मिलती है, यह हम देख चुके हैं। यही परम्परा नाथ कवियों ने स्वीकार की है।

नाथ कवियों की साधना पद्धति पर कुण्डलिनीयोग या पिंड ब्रह्मांड साधना के रूप में तांत्रिक प्रभाव था। नाथकवि तत्त्व का निवास सहस्रार चक्र में ही मानते हैं। यही वह गुप्त है। तीनों लोकों की रचना यहीं से हुई है।^१ साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने पर नाथकवियों को भी अनहदनाद सुनाई पड़ता है जो सार का भी सार और गम्भीर से भी गम्भीर है।^२ वीर्य की निम्न गति को रोक कर ऊर्ध्वरेतस् साधना का प्रचार नाथ साधकों में मिलता है।^३ अजपाजाप, शून्य में मन को लीन करना, ब्रह्मानुभूति रूपी अग्नि में अपने भौतिक अस्तित्व की आहुती डालना,^४ आदि तांत्रिक प्रक्रियाएँ यहाँ स्वीकृत हैं।

नाथ साधकों ने कहा है “शब्द ही ताला है (नादयोग), वही परमतत्त्व को बन्द किये हुए रहता है, शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमतत्त्व पर स्थूल आवरणों को डालकर सृष्टि का निर्माण करती है। इसलिए मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड़ कर वापस आना पड़ता है। गुरु के शब्द में भी परम तत्त्व रहता है जो उसी के चिन्तन और मनन से खुलता है। आन्तरिक शब्द या नाद का जागरण इसी शब्द के कारण होता है। जब इस प्रकार स्थूल शब्द के द्वारा सूक्ष्म शब्द से परिचय होता है तब स्थूल शब्द सूक्ष्म मूल शब्द में समा जाता है।^५ उन्मनावस्था में लीन रहना चाहिए; किसी से अपना भेद नहीं कहना चाहिए और अमृत के भरने पर अमृत पीना चाहिए।^६ षोडश कला वाली नाड़ी इला में चन्द्रमा का प्रकाश है। और द्वादश नाड़ी वाली पिंगला में भानु का। सहस्रनाड़ी सुषुम्णा में प्राण का मूल है, यहाँ असंख्य कला वाले शिव का स्थान है।^७ परमानुभव

१ गोरखवानी डा० बड़बवाल पृ० २

२ वही पृ० ५

३ वही, पृ० ७

४ वही, पृ० ७ तथा ८

५ वही, पृ० ८

६ वही, पृ० २३

७ वही, पृ० ३३

हो जाने पर न निरति है, न सुरति है, न योग है, न भोग है ।^१ नाद और बिन्दु दोनों को बजा लो, अनाहत रूप बाजे को भरो और उससे संगीत ध्वनि निकालो ।^२ कुण्डलिनी शक्ति जब उलट कर ब्रह्मांड में पहुँच जाती है और नख से शिख तक सर्वांग में वायु भार जाती है तब उलटा सहस्रारस्थित चन्द्रमा राहु को ग्रस लेता है ।^३ आत्मानन्द ही स्वर्ण है, श्वास क्रिया रूप धौंकनी से उसे धोका जाता है, इससे ब्रह्मानन्द रूपी रस जम जाता है । अजपाजाप द्वारा चंचल मन स्थिर हो जाता है ।^४ मूल आंकार के अभिव्यक्त रूप नाम ही में, ब्रह्मा विष्णु और महादेव लीन हैं । सहेजकर अच्छी तरह इस नाम की रक्षा करो । नादानुसंधान ही सबका सार है ।^५ सहज ही जीन है, पवन ही घोड़ा है, लय ही लगाम है और सब उपायों को छोड़कर सवारी करते हुए गुरु ज्ञान तक पहुँचो ।^६ अनाहतनाद सर्वत्र भरा है, अगोचर मूल तत्त्व आकाशमंडल या ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित है, उसे वही ढूँढ़े । शरीर रूप जो नगरकोट है उसमें कई मार्ग हैं किन्तु कुण्डलिनी राजद्वार पर मार्ग को रोके खड़ी हुई है ।^७

उपर्युक्त कतिपय गोरखपंथी पद्यों के सारांश से यह स्पष्ट है कि सन्त कवियों के पूर्व योगी, गुरुतत्व, नादानुसंधान, कुण्डलिनी जागरण, बिन्दु साधना, अजपाजाप, चक्रवेध, उन्मनावस्था की प्राप्ति तथा सहज तत्त्व की उपलब्धि आदि का ही उपदेश देते थे और ये सब तत्त्व तांत्रिक कुण्डलिनीयोग के अनुवाद मात्र हैं । यहाँ लक्ष्य करने योग्य तथ्य यह है कि राग और आध्यात्मिक आनन्द में यहाँ द्वन्द्व स्वीकार किया गया है, जैसा कि संन्यासमत में स्वीकृत था । हठयोगी राग के दमन में विश्वास करते हैं, किन्तु फिर भी यत्रतत्र उनमें आसक्तिरहित होकर सामान्य जीवन बिताने पर जोर दिया गया है—

१ गोरखवानी, पृ० ३८

२ वही, पृ० ६२

३ वही, पृ० ७८

४ वही, पृ० ६१

५ वही, पृ० १०३

६ वही, पृ० १०३

७ वही, पृ० १६७

हसिबा खेलिबा, रहिबा संग, काम क्रोध न करिबा संग ।

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत, दिठ करि राखि आपना चीत ।^१

अन्यत्र सहज जीवन पर भी सन्तकवियों की तरह बल दिया गया है ।

“धाये न खाइबा भूखे न मरिबा, अहिनिसे लेवा ब्रह्म अग्नि का भेषं ।”

हठ न करिबा पड़या न रहिबा, पूं बोलया गोरख देवं ।^२

अर्थात् खाने पर हट नहीं पड़ना चाहिए । रात-दिन ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित रखना चाहिए, शरीर के साथ हठ नहीं करना चाहिए और न पड़ा ही रहना चाहिए । सहजमार्ग निर्देशक इन वचनों से स्पष्ट है कि हठयोग के अतिरिक्त गोरखनाथ पंथ के साधक सहज जीवन को भी अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं । कबीर भी योग का उपदेश देते नहीं थकते और साथ ही अन्त में सहज जीवन को ही आध्यात्मिक जीवन का पर्याय कहने लगते हैं । उच्च मानसिक स्थिति के कारण वह यह सम्भव मानते हैं कि एक स्थिति में आकर जीवन की सामान्य क्रियाएँ ही साधनाएँ बन जाती हैं, अलग से कोई उपाय नहीं करना पड़ता ।

इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिए कि गोरखपंथियों में केवल तान्त्रिकों का कुण्डलिनी योग ही स्वीकृत न था, अपितु कुछ वामाचारी क्रियाएँ भी स्वीकृत थी । उदाहरण के लिए वज्रोली, तथा अमरोली विधियों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वज्रोली करते हुए अमरोली की रक्षा करे और अमरोली करते हुए वायु की रक्षा करे और भोग करते हुए वीर्य की रक्षा करे, योनि मुख में जो बिन्दु की रक्षा करता है तथा अग्नि के ऊपर पारे की रक्षा करता है, वही वास्तविक गुरु है—

बजरी करंतां अमरी राखैं, अमरि करंतां बाई ।

भोग करंतां जे व्यंद राखैं, ते गोरख का गुरुभाई,

भगमुखि व्यंद अग्नि मुखि पारा ।

जो राखैं सो गुरु हमारा ॥

वज्रोली की एक विधि ‘योगतत्त्वोपनिषद्’ में इस प्रकार दी हुई है कि काँस के पात्र में गो के दूध को रखकर वज्रोली तुल्य लिंग नाल द्वारा उसे प्रसित करे और पुनः उसका रेचन कर दे, अभ्यास हो जाने पर स्त्री

१ गोरखबानी, पृ० ३

२ वही, पृ० १२

योनिमण्डल में वीर्य छोड़कर, रज के साथ उस वीर्य को ऊपर खींच ले, यही वज्रोली है ।

अमरोली की विधि और भी भयंकर है । अमरोली में योगी मूत्रपान करते हैं । नासिका द्वारा मूत्र की प्रथम और अन्तिम धारा को छोड़कर मध्यधारा का नासिका द्वारा पान करे ।^१ यहां मध्य धारा से मध्यमार्ग अर्थात् “सत्य मध्य-स्थित है”, यह भी संकेतित है किन्तु अमरोली विधि और वज्रोलीविधि दोनों का एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है—भोग करते समय निलिप्तता ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हठयोगियों में भी कम से कम कुछ साधनाएँ अवश्य वामाचार से सम्बन्धित थी । आगे चलकर सन्त कवियों में अधिकतर योगी गृहस्थ होते गये, फलतः उनमें सिद्धियों का चमत्कार प्रदर्शन उलट वासियों के रूप में कहे गये पदों में ही विशेष रूप से दिखाई पड़ने लगा । वज्रोली विधि के प्रदर्शन द्वारा चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति लुप्त होने लगी । इसीलिए सन्त कवियों में वामाचार को छोड़कर शेष सारी प्रवृत्तियां मिलती है ।

गोरखपंथियों ने भी पाखंड का घोर खंडन किया है । कबीर ने इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधूत को सम्बोधित कर जो पद कहे हैं उससे लगता है कि वह हठयोग के विरोधी थे किन्तु हठयोग के आन्तरिक रूप का खंडन सन्त कवियों में नहो मिलता । स्वयं नाथपंथियों में पाखंड कम नहीं था, इसलिए उनके पाखंड का खंडन सन्तों ने किया है । स्वयं गोरख पंथियों ने पाखंडी हठयोगियों का खंडन किया है—

पाखण्डी सो काया पखालै उलटि पवन अग्नि प्रजालै ।

ध्दं न देई सुपनै जाण, सो पाखण्डी कहिए तत समान ॥^२

अर्थात् वास्तविक योगी पाखंडी नहीं होता, यदि उसे पाखंडी कहते हो, तो उसे ऐसा पाखंडी होना चाहिए कि उसे काया का प्रक्षालन करना चाहिए और पवन को उलट कर अग्नि प्रज्वलित करना चाहिये और वीर्य का नाश कभी नहीं करना चाहिए ।

गोरखवानी में केवल शारीरिक अनुशासन की कठोर निन्दा की गई है—

१ योग उपनिषद् में संकलित, योगतत्त्वउपनिषत्—सम्पा० महादेव शास्त्री, मद्रास, १९२०, पृ० ३८४, ८५

२ गोरखवानी, पृ० १७

पावड़ियां पग फिलसैं, अवधू लोहै छीजंत काया ।
नागा मूनी दूधाधारी, पता जोग न पाया ।
दूधाधारी परधरि चित्त नागा लकड़ी चाहै नित ।
मोनीं करै म्यंत्र की आल, बिन गुर गुवड़ी नहीं बेसास ।

कबीर भी इसी तरह “अवधू” को सम्बोधित कर साधना का आभ्यांतरिक पक्ष ही समझाते हैं। अतः उससे यह समझना कि कबीर हठयोग नहीं मानते थे, गलत है।^१

इस प्रकार गोरखबानी में संकलित पदों के साथ कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि के हठयोग सम्बन्धी पदों को मिलाने पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। संतकवियों में आंतरिक अनुभूति पर-बल अधिक है, यह अन्तर अवश्य दिखाई पड़ता है। सिद्धान्ततः यह आन्तरिक अनुभूति हठयोग में भी स्वीकृत ही है जैसा कि उपर्युक्त पदों में दिखाई पड़ता है।

गोरखबानी में संकलित पदों में जो काव्य का स्वरूप मिलता है, उससे भी सन्त काव्य के हठयोग पर काव्य का अद्भुत सा दृश्य मिलता है। लम्बे-लम्बे रूपकों की परम्परा जिनसे हठयोगपरक अर्थ निकलते हैं, गोरखबानी में मिलते हैं।

कबीर के काव्य में जो हठयोग वर्णित है वह उनके गुरु रामानन्द द्वारा भी स्वीकृत था, ऐसे प्रमाण मिलने लगे हैं। विद्वानों का कहना है कि योगियों ने रामानन्द के नाम से हठयोगपरक पद प्रचलित कर दिये। किन्तु रामानन्द जैसे संगठनकर्त्ता के लिए यह असम्भव नहीं था कि यह योगियों की परम्परा को भी स्वीकार कर लेते। उनके शिष्यों में योगी, वैरागी और वैष्णव भक्त सभी प्रकार के साधक शामिल थे। रामानन्द की रचनाओं में कबीर की रचनाओं के साथ सादृश्य दिखाई पड़ता है—

निरंजन व श्रीराम—ओ३म् सत्य अनादि पुरस सत्य सत्य गुरु

संध्या तारणी सर्व दुःख विदारणी

संध्या उच्चरे, विघ्न टरे

पिंड प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरंजन करे ।^२

१ नाथपन्थी सिद्धों के माध्यम द्वारा शैव तंत्र तथा योग के अनेक मान्य सिद्धान्त सन्तों तक पहुँचने में कृतकार्य हुए हैं—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, अध्याय-तांत्रिक धर्म, बलदेव उपाध्याय।

२ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ भा० बड़धवाल, काशी, फ० २०१२ वि०, पृ० ४

कुंडलिनी योग — बांधिया मूल देखिया अस्थूल
 गगन गरजंत धुनि ध्यान लागा
 त्रिगुण रहित सील सन्तोष में,
 श्रीराम रक्षा लिये ओंकार जागा ।
 उलट सूर गगनभेदन किया
 नवग्रह डंक छेदन किया
 पोषिया चंद जहं कला सारी
 अगनि परगट भई जुरा वेदन जरी
 डंकिनी संकिनी घेरि मारी ।^१

एक विशेष बात यह है कि जिन पदों का साधारणतः प्रेमपरक अर्थ किया जाता है, सन्त-सम्प्रदायों में उनका हठयोगपरक अर्थ भी स्वीकृत है ।

राम नैनों में रम रहे, मरम न जानें कोई
 जिसके मिलिया सतगुरु ताके, पूरा महरम होई ।^२

ये पंक्तियां रामानन्द के “योगचिन्तामणि” से ली गई हैं । इनका अर्थ इस प्रकार किया गया है । “आँखों का योग में अपना ही अलग महत्व है । भूमध्य दृष्टि आँखों का ही अभ्यास है, जिनमें दोनों भवों के बीच के स्थान पर दृष्टि लगानी पड़ती है । रामानन्द ने इसी को दोनों आँखों को बाण बनाकर भीहों को उलट कर धनुष खीचना कहा है । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि राम आँखों में रमता है, किन्तु उसका कोई मर्म नहीं जानता ।^३

रामानन्द ने जो कबीर को उपदेश दिए हैं, उनमें प्राणायाम से ऊर्ध्वरेतस्-योग की भी शिक्षा है, जिसे हम “वज्रोलीविधि” के उपर्युक्त वर्णन में देख चुके हैं । “प्राणायाम आदि से ऊर्ध्वगामी हुए रेतस् को पवन ब्रह्मरन्ध्र में सोख लेता है, ऐसा हो जाने पर नाद बिन्दु की ग्रन्थि में मन बंध जाता है और उसकी चंचलता मिट जाती है, भंवरगुहा में निवास मिल जाता है, इला, पिंगला,

१ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ-डा० बड़वाल, काशी, सं० २०१२
 वि० पृ० ४

२ वही, भूमिका भाग, पृ० ५

३ वही, पृ० ५

सुषुम्ना में, चन्द्र सूर्य का एक घर में मेल हो जाने से मन को उपराम हो जाता है, जगत् के ऊपर विजयलाभ हो जाता है ।^१

रामानन्द ने भी कबीर की तरह बाहरी साधना में लगे हुए हठयोगियों श्रीर रोज़ा, व्रत, तीर्थ, वेद, कुरान आदि में विश्वास करने वालों की भर्त्सना की है । उनका कहना है कि सुषुम्ना की घाटी में होने वाली लड़ाई में तत्व का परामर्श साधना के लिए अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना साधनार्थ फल नहीं देती ।

पछिम बिशा की घाटी, फोज खड़ी है ठाढ़ी ।

सतगुरु साह बिराजै, नौवत नाम की बाजै ।^२

प्रायः लोग समझते हैं कि कबीर का रामनाम जप एक साधारण सी स्मरण प्रक्रिया है, किन्तु ज्ञान लीला में रामानन्द ने सुमिरन का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि यह भीतर का प्रयत्न है । सुरति मन का परमात्मा की ओर उल्टा प्रवाह है । तत्व के ध्यान में रत हो जाने पर अर्थात् सुरति द्वारा तत्व का स्पर्श हो जाने पर उत्पन्न स्थिति का नाम है “निरति” । यहाँ शुद्ध प्रेम का सहारा मिल जाता है ।^३ यह स्थिति हो जाने पर ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है । इस प्रकार ‘रामनाम’ जप योग की आन्तरिक क्रिया से सम्बन्धित है ।

रहस्यवाद—रामानन्द की रचनाओं में कबीर जैसा रहस्यवाद भी मिलता है । वह ऐसे स्थान का वर्णन करते हैं जहाँ बिना दीपक के अखंड ज्योति झिलमिलाती है, जहाँ मोतियों की झालरें और हीरों की चमचमाहट मिलती है

सन्तो बंदगी दीवार, सहज उतरो पार ।

सोहं सब्ब सों कर प्रीत, अनुभव अखंड घर जीत ।

साधू खेले नटकला, दृष्ट बंद का खेल ।

ज्योति अखंडी झिलमिली, बिन बाती बिनु तेल ।

मोती की झालर लगी, हीरों का परगास ।

चन्द्र सूर्य का गम नहीं, जहाँ जू दर्शन पावै दास ।^४

१ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ डा० गङ्गवाल, काशी, से० २०१२
वि० पृ० ५

२ वही, भूमिका पृ० ६

३ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, भूमिका, पृ० ७, ८

४ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पृ० १ से १६ तक

कम से कम रामानन्द की रचनाओं से इतना स्पष्ट है कि सन्त कवियों को कुण्डलिनी योग इष्ट था । .

अन्तर्भुक्ति का स्वरूप—सन्त कवियों की वर्णाश्रम विरोधी तथा योगपरक भूमिका स्पष्ट हो जाने के पश्चात् यह देखें कि उसमें कौन-कौनसी विचार धाराएँ आकर मिली हैं ।

अन्तर्भुक्ति के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि “मुसलमानी धर्म का प्रभाव सूफी मत द्वारा प्रचारित प्रेमकाव्य के अतिरिक्त सन्त काव्य पर भी पड़ा, जिसकी रूपरेखा सूफी मत से बहुत कुछ मिलती जुलती है ।” उसके अनुसार हिन्दू धर्म की मूर्ति पूजा से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्ति तो किसी प्रकार मुसलमानों को सह्य हो ही नहीं सकती थी । “हिन्दू धर्म के उपासकों के सामने यह जटिल प्रश्न था जिसका हल उन्होंने सन्तमत में पाया । इसके प्रवर्तक महात्मा कबीर थे । कबीर ने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धांतों को मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिलाकर एक नये पंथ की कल्पना की थी जिसमें ईश्वर एक था, वह निर्गुण, सगुण से परे था । माया अद्वैतवाद की ही माया थी जिससे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का आभास होता है । गुरु की बड़ी शक्ति थी, वह गोविन्द से बड़ा था आदि । सूफी मत में भी खदा या हक एक है, जीव उसका ही स्वरूप है, वह निराकार है । उसकी व्याप्ति संसार के प्रत्येक भाग में है । साधक को साधना की अनेक स्थितियों को पार करना पड़ता है । इस तरह दोनों धर्मों के मेल से एक नवीन पन्थ का प्रचार हुआ जो सन्तमत के नाम से पुकारा गया ।”^१

डा० वर्मा यह नहीं देख सके कि स्वयं सूफी मत में प्राप्त होने वाले तत्त्व गुरु का महत्त्व, साधना की कठिनाइयाँ तथा एक ही तत्त्व के सर्वत्र दर्शन भारतीय तत्त्व हैं । हम देख चुके हैं कि सूफियों में कुण्डलिनीयोग, नामजप, मादनभाव तथा चमत्कार आदि तत्त्वों का स्वरूप तांत्रिक ही है क्योंकि एक ही स्रोत से सूफियों और सन्तों को यह तत्त्व मिले हैं, अतः उनमें सादृश्य होना स्वाभाविक ही है । ब्रह्मानन्द को प्रेमानुभूति का रूप देकर वर्णन की प्रवृत्ति सूफियों में अवश्य अधिक है, विशेषकर दिव्यप्रिय के विरह में तड़पने की प्रवृत्ति, संतों पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ा है परन्तु अन्य तत्त्वों के लिए संतमत तांत्रिक परम्पराओं का ही ऋणी है, सूफियों का नहीं ।

डा० बड़वाल ने संतमत की भक्ति के स्रोत पर विचार करते हुए प्राचीन नारायणीय भागवत धर्म को ही सबसे अधिक श्रेय दिया है। दक्षिण में भक्ति का प्रचार वैष्णव आलवारों के अतिरिक्त 'नायनमार' कहलाने वाले शैवों तथा कर्नाटक के वीरशैवमतावलम्बी भक्तों ने भी किया है अतः भक्ति का सम्बन्ध विष्णु के साथ जितना रहा है, उतना ही शिव के साथ रहा है। रामानुज ने केवल वैष्णव आलवारों को ही स्वीकृत किया था क्योंकि उनके समय शैव और वैष्णवों में साम्प्रदायिक घृणा थी। वैष्णव भक्ति का रामानुज और रामानन्द तक जो विकास हुआ है, उसमें भक्ति-योग और ज्ञान का अवरोध दिखाई पड़ता है किन्तु निम्बार्क, बल्लभ, चैतन्य, हरिदास तथा हितहरिवंश के सम्प्रदायों में यद्यपि शास्त्र निष्ठा में विश्वास प्रकट किया गया है तथापि भक्ति और सगुणब्रह्म का महत्त्व निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। बल्लभ सम्प्रदाय में तो ज्ञान व कुण्डलिनी योग का उपहास तक किया गया है जबकि शैव भक्ति के साथ योग और ज्ञान का सम्बन्ध शैव सम्प्रदायों में सर्वदा दृढ़ता के साथ माना गया है। दक्षिण में 'नायनमार' शैवों, वीर शैवों तथा उत्तर के शैवों और शक्तों में न कही ज्ञान की निन्दा मिलती है और न योग की क्योंकि शैव शक्त सम्प्रदायों में ज्ञान के बाद भी ब्रह्मभाव की स्थिति स्वीकार की गई है। ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द-इन तीन रूपों में सत् और चित् तत्त्व के साथ आनन्दस्वरूप की अनुभूति ज्ञान के पश्चात् भी हो सकती है ऐसा शैवों का विश्वास था अतः उनके यहाँ भक्ति की प्रशंसा और ज्ञान की निन्दा नहीं है। पांचरात्र आगम में भी योग, भक्ति और ज्ञान में अवरोध स्थापित किया गया है, किन्तु मध्यकाल के सगुण भक्तों में यह एक विशेष प्रवृत्ति विकसित हुई थी कि वे ज्ञान और योग की निन्दा करते हैं। इसके स्थान पर कबीर में भक्ति और योग दोनों स्वीकृत हैं, यही दोनों में अन्तर है। सन्तों की निर्गुण भक्ति वस्तुतः सच्चिदानन्द ब्रह्म की भक्ति है। जिसमें देवता के रूप, वेष, अस्त्र, शस्त्र आदि के ध्यान तथा देवता के साथ तादात्म्य की जगह सूक्ष्म सत्ता का ही ध्यान किया जाता है और इस ध्यान में कुण्डलिनी योग स्वीकृत है। परवर्ती सन्तों में लोकों का ध्यान अवश्य मिलने लगता है। सगुण भक्तों में प्रक्रिया दूसरी है। वहाँ इष्ट देवता है, उसकी शक्ति है, शक्ति की सखियाँ हैं और देवता के सखा, भाई और अनुचर आदि हैं। शक्ति सहित क्रीड़ाशील देवता में रमना सगुण भक्तों की विशेषता है। इसके विपरीत सन्तों में नाद बिन्दु के रूप में व्यक्त होने वाली रूपहीन मूर्तियों

का अनुसन्धान होता है और जैसे जैसे सूक्ष्मता बढ़ती है, तत्त्व का स्पर्श होता जाता है, वैसे वैसे सन्त आनन्द से किलक उठता है, एक मस्ती उस पर छा जाती है, जो लय की स्थिति कहलाती है, अतः सन्तों की भक्ति “ज्ञानयोगलक्षणा भक्ति” है और सगुणों की भक्ति भावरूपा तथा रसरूपा है। इसलिए कबीर की भक्ति के आदि श्रोत के लिए नारायणीय भागवत धर्म के अतिरिक्त आगम की अन्य शाखाओं को भी देखना चाहिए।

वस्तुतः सगुण भक्ति व निगुण भक्ति ये दो धाराएं आगम से ही निःसृत हुई हैं किन्तु साधना की प्रक्रिया में, दोनों में उपर्युक्त अन्तर अवश्य है। सगुण भक्तों पर पाँचरात्र आगम का विशेष प्रभाव है और सन्तों की भक्ति पर शैवागमों का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि कबीर में योग और ज्ञान भक्ति के साथ स्वीकृत है। जहाँ सगुण भक्तों ने आगमों के शक्तिवाद को ‘सृष्टि’ की व्याख्या के लिए अपनाया है वहाँ सन्तों ने शक्तिवाद को शक्ति-साधना के रूप में अपनाया है जिसमें कुण्डलिनी शक्ति का जागरण मुख्य है। उधर शक्तिवादी सगुण भक्त शक्ति सहित देवताओं का ध्यान करते हैं। जहाँ आगमों में रति क्रीड़ा को एक साधनात्मक प्रक्रिया के रूप में अपनाया है, वहाँ सगुणभक्तों ने राम और कृष्ण की विलास क्रीड़ाओं का “मानसी ध्यान” ही अपने लिए पर्याप्त समझा है, किन्तु सन्तों में इस प्रकार का मानसीध्यान स्वीकृत नहीं है। परवर्ती सन्तों में अनेक लोकों और लोकपतियों का ध्यान किया जाता है, उनमें सगुणभक्तों जैसा मानसी ध्यान पुनः प्रवेश पाता है।

यह स्मरणीय है कि यद्यपि तुलसीदास ने विरति, विवेक, योग तथा भक्ति में अविरोध स्थापित किया है परन्तु वहाँ योग में सन्तों जैसा योग स्वीकृत नहीं और ज्ञान की जगह भगवान की कृपा को विशेष महत्व दिया गया है।

कबीर, सुन्दरदास, आदि सन्त शंकराचार्य के मायावाद को मानते हैं, अर्थात् ब्रह्म और आत्मा में अन्तर नहीं मानते और जगत् को मायात्मक कहते हैं, जबकि सगुण भक्तों की प्रवृत्ति ईश्वरवाद की ओर अधिक है। यह स्मरणीय है कि जगत् के सम्बन्ध में शंकराचार्य से दृष्टिकोण ही कबीर आदि ने लिया है। क्योंकि पिंड स्थित शक्ति के जागरण में सन्तकवि शुद्ध तांत्रिक परम्परा में आते हैं।

सन्त कवियों में ‘प्रपत्तिवाद’ अहिंसा, आचार की शुद्धता और ब्रह्म की जगह राम शब्द का प्रयोग, ये तत्त्व उन्हें वैष्णव रामानन्द से प्राप्त हुए थे,

इसीलिए कबीर वैष्णव भक्तों के प्रति अत्यधिक आदर प्रकट करते हैं और शाक्तों की निन्दा करते हैं। यद्यपि वह स्वयं शाक्तयोग के प्रचारक हैं।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि कबीर ने रामानन्द से रामनाम की दीक्षा ली किन्तु 'राम' का अर्थ ही बदल डाला। रामानन्दी वैष्णव मूर्तिपूजक और सगुणउपासक थे, कबीर मूर्तिविरोधी और निर्गुण उपासक। वैष्णव भगवान से प्रेम करते हैं किन्तु भगवान के बनाये हुए मनुष्यों में भक्ति के क्षेत्र को छोड़कर अनावश्यक वर्णवाद व जातिवाद को मानते हैं किन्तु कबीर, सुन्दरदास आदि सन्तकवि वैष्णवों की संकीर्णताओं में से एक को भी नहीं मानते। किन्तु कबीर वैष्णवों के भगवान प्रेम, अहिंसा और सात्विक जीवन को मानते हैं परन्तु वैष्णवों के विराट बाह्याचार को वे हानिकर समझते हैं, इस प्रकार तांत्रिक परम्पराओं के कारण कबीर आदि सन्तों ने सभी वैष्णव तत्व ग्रहण नहीं किये।

कबीर के पूर्व हठयोग का प्रभाव बहुत अधिक था किन्तु कबीर ने, 'योग और भक्ति दोनों को स्वीकार किया और सूफियों से भगवान के विरह में छटपटाहट की प्रवृत्ति ग्रहण की। संन्यासियों के सत्संग से उन्होंने तत्त्वमसि और माया सम्बन्धी दृष्टिकोण भी लिए जो शून्यवाद के अनुकूल पड़ने के कारण ग्रहण किये गये। यह स्मरणीय है कि कबीर ने ऐसा कुछ भी ग्रहण नहीं किया जो उनकी अपनी योग परम्परा के विपरीत जाता, अतः सन्तमत के निर्माण में सबसे अधिक श्रेय तांत्रिक परम्पराओं को है। तांत्रिक परम्पराओं का प्रभाव अधिक होने से सन्तकवि योगमूलक रहस्यवादी, समाज के कठोर आलोचक और अपने विशिष्ट मार्ग के आविष्कर्ता हैं।

सन्तमत एक वृक्ष के समान है, जिसका मूल बौद्ध तथा शैव तंत्रों में अवस्थित है। इस वृक्ष का तना नाथसिद्धमत है जो बौद्ध शैव योग परम्पराओं से पुष्ट हुआ है। इस तने के ऊपर सन्तमत की अनेक शाखाएँ हैं, अनेक पल्लव और पुष्प हैं। इस वृक्ष पर ऊपर से भक्ति की वर्षा होने से उसे एक नया जीवन मिला है, अतः इस वृक्ष के फल के स्वाद में और तांत्रिक सम्प्रदायों की सधाना के आस्वादन में अन्तर आना स्वाभाविक ही है, परन्तु इस स्वाद में अन्तर होने पर भी सादृश्य इतना अधिक है कि सन्तमत को मूलतः तांत्रिक मत ही मानना पड़ता है। सन्तमत में अन्य साधनाओं और धारणाओं की अंतर्भुक्ति का स्वरूप उक्त रूपक से समझा जा सकता है।

निश्चित रूप से राधास्वामी सम्प्रदाय के 'शिवदयाल' जैसे सन्तों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनका सम्प्रदाय सर्वथा मौलिक है, किन्तु इस प्रयत्न में उनको सफलता नहीं मिली है, क्योंकि उन्होंने जो नवीन उद्भावनाएँ की हैं वे भी मूलतः तांत्रिक ही हैं ।

सन्तकवि और साहित्य का कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण

- १ नामदेव—जन्म १२७० ई०, मृत्यु १३५० ई०, सतारा (महाराष्ट्र), जाति-छीपा या दर्जी, ज्ञानदेव^१ के शिष्य, रचनाएँ—स्फुट अभंग ।
- २ त्रिलोचन—जन्म १२६७ ई०, पंढरपुर (महाराष्ट्र), जाति-वैश्य, ज्ञानदेव के शिष्य, रचनाएँ—स्फुट पद
- ३ सदन—नामदेव के समकालीन, जाति कसाई, रचनाएँ स्फुट पद ।
- ४ बेनी—नामदेव का समय, स्थान-उत्तर भारत ।
- ५ धना—जन्म १४१५ ई०, देवली (राजपूताना), जाति—जाट, रचनाएँ—स्फुट पद ।
- ६ पीपा—जन्म १४२५ ई०^१ स्थान - गगरोनगढ़, जाति-क्षत्रिय, गुरु - रामानन्द, रचनाएँ - स्फुट पद ।
- ७ सेन—१५ वीं शताब्दी, जाति-नाई, बांधोगढ़, रीवा, रचनाएँ - स्फुट ।
- ८ रैदास—कबीर के समकालीन, जाति-चमार, गुरु-रामानन्द, रचनाएँ—रविदास की बानी और रविदास के पद, वेल्लेवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
- ९ कबीरदास—१५ वीं शताब्दी-जन्म संवत् १४५५ वि० अथवा १३९७-९८ ई० तथा मृत्युतिथि १५१२-१३ ई०, जाति जुलाहा, काशी, गुरु-रामानन्द, रचनाएँ—६१ रचनाओं का विवरण डा० रामकुमार वर्मा के इतिहास में दिया गया है ।^२
कबीर ग्रंथावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९२८ ई०, बीजक, रामनारायण लाल प्रयाग, २ संस्करण, १९२८ ई०, अनुराग सागर—वेल्लेवेडियर प्रेस, १९२७ ई०

१ ज्ञानेश्वरी का रचना-समय, १२९० ई० हिम्मी सा० का ग्रालो० इतिहास पृ० १९८

२ वही पृ०, २४६

बीजक कबीर साहब - विश्वनाथसिंहजूदेव, खेमराज
श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् १९६१ वि०

१० धरमदास—जन्म लगभग १४०० ई०, मृत्यु - १५४२ ई०, रचनाएँ—
स्फुट पद, धरमदास की शब्दावली—वेल० प्रेस० प्रयाग,
१९४७ ई० तृतीय संस्करण । स्थान बांधोगढ़, जाति-
महाजन, गुरु-कबीरदास

११ नानक—जन्म १४६९ ई० रचनाएँ—स्फुट पद व साखियाँ, मुख्य-ग्रंथ-
साहब में संकलित, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी द्वारा
प्रकाशित, १९५१ ई० स्थान-पंजाब, जाति-खत्री

१२ मल्लूकदास—जन्म १५७४, स्थान-कड़ा (इलाहाबाद), जाति-खत्री, मृत्यु-
१६८२ ई०, सम्प्रदाय केन्द्र—कड़ा, रचनाएँ—ज्ञानबोध,
रामावतार लीला ।

मल्लूकदास की बानी—वेल० प्रेस, प्रयाग ।

१३ सुथरादास—जन्म-१५८३ ई०, स्थान-प्रयाग, गुरु-मल्लूकदास रचनाएँ—
स्फुट पद ।

१४ दादू—१६०१-१७०३ ई० । जाति-धुनियाँ, कुछ ब्राह्मण मानते हैं ।
जन्मस्थान-गुजरात । निवास, नराना, मराना (राजस्थान)
रचनाएँ-स्फुट पद ।

दादूदयाल की बानी—चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी, अजमेर,
१९०७ई०

१५ बीरमान—१५४३ ई०, स्थान-नारनोल-पंजाब
रचनाएँ—स्फुट पद, “पोथी” नामक सतनामी धर्म के पूज्य
ग्रंथ में संकलित ।

१६ लालदास—जन्म-१६४३ ई० । स्थान-अलवर, लालदासी पंथ की
स्थापना । रचनाएँ-स्फुट-“बानी” ।

१७ बाबालाल—जन्म-१६४३ ई० । जाति-क्षत्रिय । स्थान-मालवा ।
(दाराशिकोह के गुरु)
रचनाएँ-स्फुट ।

१८ हरिदास—जन्म-१६४३ ई० डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हें नारायणी
सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा है ।
रचनाएँ-स्फुट पद ।

- १६ स्वामी प्राणनाथ—जन्म-१६१८ ई० (मृत्यु १७१४ ई०) स्थान-
बुंदेलखण्ड । प्रनामी व धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक ।
रचना-बानी ।
- २० रज्जब—१६५३ ई० के आसपास प्रसिद्ध । दादू के शिष्य ।
रचनाएँ—स्फुट (बानी-बम्बई, १९१८ ई०)
- २१ सुन्दरदास जन्म-१६५३ ई०, मृत्यु-१६८९ ई० । जाति-खंडेलवाल
वैश्य । कार्यक्षेत्र—राजस्थान ।
रचनाएँ—सुन्दरदास का बानी-विलास सुन्दरविलास, २ जिल्द,
राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता, १९३६ ई० सम्पा०
पुरोहित हरनारायण ।
- २२ धरनीदास—जन्म-१६५६ ई० स्थान-मामलीगांव (छपरा), जाति-
श्रीवास्तव कायस्थ, रचनाएँ—स्फुट (बानी-बेल० प्रेस, प्रयाग ।
- २३ यारीसाहब—प्रसिद्धितिथि-१६६८ ई०, गुरु-बीरू साहब, शिष्य बुल्लादास
जाति-मुसलमान, स्थान-दिल्ली, रचना-स्फुट यारी साहब की
रत्नावली—प्रकाशित, बेल० प्रेस, प्रयाग ।
- २४ वरिया साहब—(बिहार वाले)—१६७४ ई० प्रसिद्धि काल (स्थान
आरा) जाति, मुसलमान, ग्रन्थ, दरियासागर, ज्ञान दीपक ।
- २५ वरिया साहब—(मारवाड़ वाले)—जन्म १६७६ ई० । (जाति-धुनियाँ)
रचनाएँ—स्फुट, दरिया साहब की बानी, बेल० प्रेस, प्रयाग ।
- २६ बुल्ला साहब—१७०० ई० के आसपास प्रसिद्धि । जाति-कुनबी ।
स्थान भुरकुड़ा (गाजीपुर) ।
रचनाएँ—स्फुट, बुल्लासाहब का शब्दसागर, बेल० प्रेस,
प्रयाग, १९४६ ई० २ य संस्करण ।
- २७ गुलाल—१७०० ई० के लगभग, जाति-क्षत्रिय, स्थान, बसहरि
(गाजीपुर), गुरु-बुल्लासाहब ।
रचनाएँ—स्फुट, गुलाल साहब की बानी, बेल० प्रेस०, प्रयाग,
२य संस्करण ।
- २८ केशवदास—१७०० ई० लगभग प्रसिद्धि (जाति-वैश्य) गुरु-यारी
साहब ।
रचनाएँ—अमीघूंट, बेल० प्रेस, १९५१

- २६ चरनदास—१७०० ई० लगभग—प्रसिद्धिकाल, जाति-वैश्य, स्थान—
अलवर । शिष्य—दयाबाई, सहजोबाई ।
ग्रन्थ—अमरलोक, अखंडधाम, भक्तिपदारथ, ज्ञान सरोदय
तथा शब्द ।
- ३० बालकृष्णनायक—१७०० ई० के लगभग प्रसिद्धि । चरणदास के शिष्य ।
रचनाएँ—ध्यानमंजरी, नेहप्रकाशिका, निर्गुणपंथी होकर
भी सीताराम के उपासक ।
- ३१ अक्षर अनन्य—१७१० ई० प्रसिद्धि काल, जाति-कायस्थ, स्थान-दतिया,
ग्रन्थ—राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग सिद्धान्तबोध,
विवेक दीपिका तथा अनन्य प्रकाश ।
- ३२ मीखासाहब—१७१३ ई० के लगभग—प्रसिद्धि काल, स्थान—बोहना,
आजुमगढ़ जाति—ब्राह्मण, ग्रन्थ—रामजहाज ।
मीखा साहब की बानी—वेल० प्रे० प्रयाग, १९१९ ई०
- ३३ गरीबदास—१७१७ में जन्म (स्थान-छुड़ानी-रोहतक) ।
रचनाएँ—स्फुट पद (वेल० प्रेस०, प्रयाग) ।
- ३४ जगजीवनदास—१७१८ ई० प्रसिद्धि काल (सतनामी पंथ के पुनर्गठन-
कर्त्ता) जाति-चंदेल ठाकुर । स्थान-कोटवा । बाराबंकी व
लखनऊ के बीच ।
ग्रन्थ—ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय, प्रथम ग्रन्थ ।
जगजीवन साहब की बानी, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण,
वेल० प्रेस, प्रयाग, १९२२ ई० ।
जगजीवन साहब की बानी, द्वितीय भाग, वेल० प्रेस, प्रयाग ।
- ३५ रामचरण—१७१८ ई० लगभग-प्रसिद्धि काल । स्थान-जयपुर, मत-
रामसनेही मत के प्रवर्तक ।
रचनाएँ—स्फुट पद ।
- ३६ बूलनदास—१७१८ ई० लगभग, प्रसिद्धि काल । जन्मस्थान-समैसी,
लखनऊ कार्यक्षेत्र-रायबरेली,
रचनाएँ—स्फुट । बानी-वेल० प्रेस, प्रयाग ।
- ३७ नारायणसिंह—१७२४ ई० लगभग, प्रसिद्धि काल । जाति-राजपूत,
मत-शिवनारायणीमत के प्रवर्तक (रामकुमार वर्मा) मुगल
सम्राट मुहम्मदशाह इनका शिष्य ।

- ३८ दयाबाई तथा सहजोबाई—१७४३ ई०, स्थान-मेवात जाति-वैश्य ।
रचनाएँ—साखियां ।
सहजोबाई की बानी-सप्तम संस्करण, वे० प्रेस० प्रयाग
१९४६ ई०, दयाबाई की बानी-वेल० प्रेस, प्रयाग ।
- ३९ रामरूप—१७५० ई० चरणदास के शिष्य ।
ग्रन्थ—बारहमासा ।
- ४० सहजानन्द—१७८० ई० में जन्म । स्वामी नारायणी पंथ के प्रवर्तक ।
स्थान-अयोध्या, कार्य क्षेत्र-गुजरात (बल्लभ-मत के भ्रष्टाचार
का विरोध किया ।
रचनाएँ—स्फुट-सहज प्रकाश- वेल० प्रेस०, प्रयाग ।
- ४१ तुलसीसाहब (हाथरस वाले)—१७८८ ई० में जन्म, जाति-ब्राह्मण,
ग्रन्थ—घटरामायण, शब्दावली, रत्नसागर, वेल०प्रेस-प्रयाग ।
- ४२ पलदूबास—१७९३ ई० लगभग जाति-वैश्य स्थान अयोध्या (कार्यक्षेत्र)
रचनाएँ—पलदू साहब की बानी-वेल० प्रेस, प्रयाग ।
- ४३ गाजीदास—१८२० ई० जाति-चमार
रचनाएँ—स्फुट ।
- ४४ बोनदरवेश—विक्रम की १८ वीं शताब्दी का मध्य भाग । स्थान-पाटन-
गुजरात ।
रचनाएँ—स्फुट ।
- ४५ शिवनारायण—विक्रम की अठारहवीं शताब्दी, स्थान-चन्दवनगाँव,
गाजीपुर । जाति-क्षत्रिय ।
रचनाएँ—लवग्रन्थ, संतविलास, भजनग्रन्थ आदि ।
- ४६ शिवबयाल—जन्म—संवत् १८८५, आगरा, जाति-महाजन, राधास्वामी
सम्प्रदाय प्रवर्तक, इस सम्प्रदाय की रचनाएँ—सारवचन,
गद्यसार, प्रेमबानी ।

अध्याय ४

सन्त काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियां

सन्त काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ

दर्शन—बौद्ध तांत्रिक सिद्ध तथा शैव आध्यात्मिक सत्य को अनिर्वचनीय बताते हैं, वैसे ही कबीर भी उसे “वह जैसा है वैसा ही है, वही अपने को जानता है दूसरा नहीं,” ऐसा कहते हैं।^१ कबीर परमतत्त्व को सगुण-निर्गुण से परे बतलाते हैं अतः नाथपंथियों की तरह उसे उन्होंने अलग ही कहा है।^२ परमतत्त्व के प्रति यह दृष्टि कबीर को बौद्ध व शैव परम्पराओं से प्राप्त हुई थी। अश्वघोष ने ‘तथता’ (दैटनेस) के सिद्धान्त द्वारा परमतत्त्व के अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन किया था। शैव भी परमशिव की यही स्थिति स्वीकार करते हैं। नाथपंथी भी उसे सगुण-निर्गुण से ऊपर उठाकर अलग ही कहना चाहते हैं। यही दृष्टि कबीर की है। परशुराम चतुर्वेदी ने सगुण ब्रह्म व विराटरूप के विषय में कबीर के अनेक उदाहरण एकत्र किये हैं, परन्तु उन्हें भी यह मानना पड़ा है कि कबीर न तो निर्गुणवादी कहे जा सकते हैं, न सगुणवादी।^३

१ वो है तँसा वो ही जानें, ओही आहि-आहि नहि जानें ।

कबीर ग्रन्थावली, छठा संस्करण, संवत् २०१३, काशी, पृ० २४२

२ सन्तो धोखा कासूँ कहिए, अजरा-अमरा कहै सगैं कोई, असल न कथरा जाई—वही, पृ० १४६

३ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा - संवत् २०८, प्रयाग पृ० १६४, ६५

आदि सत्य के स्वरूप के विषय में तो कबीर बौद्ध तांत्रिकों की ही कथन-पद्धति अपनाते हैं, परन्तु शैवों व वेदान्तियों के ब्रह्म के समान वह ब्रह्म के सर्व-व्यापकत्व पर भी बल देते हैं। यही वह बौद्ध तांत्रिकों तथा इस्लाम के ऐकेश्वरवाद से भिन्न हो जाते हैं।^१ सर्व व्यापकत्व, सर्वशक्तिमता आदि को भी कबीर मानते प्रतीत होते हैं, परन्तु वह 'सर्व' क्या है, जिसमें परमतत्त्व व्याप्त हो रहा है ? कबीर निश्चित रूप से जगत् को शांकर वेदान्तियों की तरह मिथ्या कहते हैं। हम कह चुके हैं कि यह दृष्टि शंकर से भी पूर्व बौद्ध सिद्धों में मिलती है। 'जगत् भाव है'—इस भाव या 'है' की सत्ता प्रतीयमान है, इसी तरह 'नही है' यह भी एक प्रकार का भाव ही है और इसीलिए यह भी प्रतीयमान है अतः अस्ति और नास्ति के बीच की स्थिति ही स्वीकृत हो सकती है। इसी स्थिति को--तर्क की कोटियों से अतीत स्थिति को ही बौद्धों ने 'शून्य' कहा था। कबीर भी इसी स्थिति को स्वीकार करते हैं।^२ डा० बड्धवाल ने लिखा है कि कबीर ने भुँभलाकर कह दिया था कि परमात्मा कुछ है भी या नहीं।^३ परन्तु कबीर तो प्रश्न पूछते-पूछते उसके उत्तर में शून्यपद की ओर ही संकेत कर रहे हैं। वह प्रश्न पूछते हैं 'तहाँ किछु आहि कि सून्य' ? अर्थात् जहाँ निरंजन बसता है वहाँ किसी का अस्तित्व है या वहाँ अस्तित्व हीन शून्य ही है ? इसका उत्तर कबीर यह देते हैं कि वहाँ 'शून्य' की सत्ता है जो अनस्तित्व का बोधक नहीं है। निरंजन जहाँ रहता है वह शून्यपद है, वह भाव और अभाव से परे होने के कारण ही शून्य कहलाता है। अतः कबीर भुँभलाकर नहीं कहते बल्कि बड़ी सावधानी से वह उस अनिवर्चनीय तत्त्व की ओर संकेत कर देते हैं।

सुन्दरदास व सहजोबाई की भी यही मान्यता है। उनके अनुसार अस्ति का अर्थ 'है' है। अर्थात् अस्ति का अर्थ है सीमित होना, = किसी पर अपनी सत्ता के लिए निर्भर रहना, नास्ति का अर्थ अभाव है। इनके मध्य की स्थिति ही

- १ खालिक खलक-खलक में खालिक, सब घट रह्या समाई -- कबीर ग्रन्था०, पृ० १०४
- २ कहै कबीर जहँ बसहु निरंजन, तहाँ किछु आहि कि सून्य--कबीर ग्रन्था० पृ० १४३।
- ३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रथम संस्करण, लखनऊ, २००७ वि० पृ० १०३

ग्रहण करनी चाहिए जिसे हम सहज कह सकते हैं ।^१ जो सीमित नहीं है वही 'सहज' है, जो सहज है वही शून्य है क्योंकि वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर निर्भर नहीं है । इस प्रकार कबीर के अनुसार ब्रह्म सहज है, निस्संग है, शून्य है । बोधिचित् या चैतन्य भी ऐसा ही है अतः आत्मा व ब्रह्म का स्वरूप एक है । जगत् अस्ति है अतः माया है, प्रपञ्च है, उसकी सत्ता प्रतीयमान ही हो सकती है, पारमार्थिक नहीं । इसी तथ्य को गोरखनाथ ने "बसती न सून्यं" सून्यं न बसती" कहकर प्रकट किया था ।^२ किन्तु यहाँ गोरखनाथ 'सून्य' का अर्थ 'अभाव' लेते हैं, यह स्मरणीय है । यही कारण है कि सन्तकवि पारमार्थिक सत्ता को विशेषण देना पसन्द नहीं करते ।

"वह जैसा है, वैसा ही है,"^३ यही प्रसिद्ध महायानी 'तथ्यता' का सिद्धान्त है । सत्ता के विषय में यही कहा जा सकता है, अस्ति या नास्ति जैसे प्रयोग भ्रामक है । यह स्मरणीय है कि 'परमतत्त्व' का यह स्वरूप शांकर वेदान्त के भी अनुकूल पड़ता है, क्योंकि महायान की दृष्टि शंकर को मान्य है । शंकराचार्य शून्य की जगह ब्रह्मपद का प्रयोग करते हैं । वह उसे निर्गुण निराकार कहकर वस्तुतः सर्वातीतावस्था या 'नेति-नेति' की ओर संकेत करते हैं ।

कबीर ने कहा है कि वह अनिर्वचनीय तत्त्व मूल प्रणव का भी खट्टा है और मूलप्रणव को वेद भी नहीं जानता । वेद तो स्थूल प्रणव को जानता है अतः मूलप्रणव के भी प्रकटकर्ता सत्य को कौन जान सकता है ? वहाँ न तारागण है, न रवि है और न चन्द्र है, उसका न कोई पिता है, न वहाँ दिवस है न रात्रि, वह सर्वथा निरालम्ब तत्त्व है । सहज शून्य जो ब्रह्माता के मन के स्मरण से ज्योति प्रकट होती है, वह भी सालम्ब होती है, योगोजन उसी का

१ नाहीं-नाहीं कर कहै, है है कहै बखानि । 'नाहीं' 'है' के मध्य में, तो अनुभव करि जानि । ज्ञानसमुद्र, पृ० ४४,
'है' 'नाहीं' सू रहित है, सहजो यों भगवंत

२ गोरखबानी, डा० बड़धवाल, प्रथम संस्करण, १९६६ बि०, पृ० १

३ जस तूँ तस, तोहि कोइ न जान, सोग, कहैं, सब आनहि आन ।

कबीर ग्रन्था० पृ० १०३

जोइ कहूं सोइ, है नहि सुन्वर, है तो सही, पर जंसे को तंसो ।

ज्ञानसमुद्र,

ध्यान ब्रह्मांड में करते हैं। 'जो अनुभव ब्रह्म है', वह भी सालम्ब ही कहा जाएगा, क्योंकि उसका भी अनुभव होता है, अतः कबीर के अनुसार यह दोनों सालम्ब हैं। पुरुष अर्थात् वास्तविक सत्ता, इन सबसे परे निरालम्ब है।^१ विश्वनाथ सिंह ने कबीर बीजक की टीका के अन्त में बीजक का सिद्धांतसार यह बताया है कि सत्य पुरुष सगुण-निर्गुण के परे है।^२

नानक भी कबीर की ही स्थिति स्वीकार करते हैं।^३ डा० बड़वाल ने कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवनदास, भीखा और मलूकदास को अद्वैतवेदान्ती माना है और इन पर बौद्ध प्रभाव स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त नानक व उनके शिष्यों को भेदाभेदवादी तथा शिवदयाल, प्राणनाथ, दरिया द्वय, दीनदरवेश तथा बुल्लेशाह इत्यादि को विशिष्टाद्वैतवादी माना है।^४ शिवदयाल आदि अनेक लोकों की कल्पना करते हैं यह सही है, किन्तु तांत्रिकों के अनुसार लोकादि की कल्पनाएँ समझने समझाने के लिए हैं। यदि इस तांत्रिक सिद्धान्त को न भी स्वीकार किया जाय तो लोकादि साधनावस्था में स्फुरित रूप मात्र है, उनसे रहस्यवाद ही पुष्ट होता है। अतः केवल बाह्य दृष्टि से ही उक्त विभाजन को स्वीकार किया जा सकता है।

बुल्ला यदि विशिष्टाद्वैतवादी है तो अरध, उरध के मध्य में ज्योति है, ऐसा क्यों कहते हैं।^५

नानक बार-बार ब्रह्म को बाजीगर और जगत् को स्वांग कहते हैं।^६

१ कबीर बीजक विश्वनाथ सिंह, पृ० ४६, ४७

२ वही, पृ० ६५७

३ लेखा होइ लिखिये, लेखी होय बिगास ।
नानक बड़ा आखिये, आपे जाणै आप ।

४ डा० बड़वाल, पृ० ११५

५ अधर, उधर के मद्ध निरंतर, जगमग-जगमग जोति जगावन ।
बुल्ला की बानी, पृ० १५

६ बाजीगरि जैसे बाजी पाई, नाना रूप भेख बिलराई ।
सांगु उतारि थंभिहो पसारा, तब एको एककारा—गुरुग्रंथ साहब,
पृ० ७३६

दरिया (बिहार वाले) के अनुशीलनकर्त्ता धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी भी दरिया को अद्वैतवादी ही मानते हैं।^१ यह सत्य है कि प्रायः प्रत्येक सिद्धान्त के समर्थकों को सन्त कवियों में अपने समर्थन के लिए उद्धरण मिल जाते हैं तथापि समग्र दृष्टि से देखने पर सन्तकवि जगत् के सम्बन्ध में बौद्ध सिद्धों और वेदान्तियों की तरह मायावाद को ही मान कर चले हैं। यद्यपि सृष्टि विज्ञान में वह शैवों की ही तरह शक्तिवाद को अपनाते हैं। जगत् को स्वांग समझ कर, भाव और अभाव की स्थिति से परे शून्य या ब्रह्म की स्थिति ही प्रायः सभी सन्तों को मान्य है। कारण कि यह ज्ञान सन्तों को गुरु-शिष्य परम्परा से मिला था। इस्लाम के विश्वासी शासकों के शासन में सन्तकवियों ने इस परमोच्चावस्था को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है कि वह ऐकेश्वरवाद के सदृश प्रतीत होती है, किन्तु सन्त कवि वस्तुतः सर्वातीत सत्ता के विश्वासी हैं।

यारी साहब उसे “सुन्न का मुकाम” कहते हैं। वह “हृद बेहद” के बाहर है।^२ सहजोबाई तो स्पष्ट ही इस हृद व बेहद अर्थात् जगत् और जगत् के अनुभवों को इन्द्रजाल कहती हैं।^३ भीखा साहब भी अरध, उरध के मध्य ही सत्य की सत्ता स्वीकार करते हैं^४ और धरमदास तो स्पष्ट ही कहते हैं कि अरध, उरध के बीच एक बाग है, वहीं सुरति लगाना चाहिए।^५

“कबीर मन्सूर” नामक ग्रंथ में भी स्वामी परमानन्द ने सत्य को हृदबेहद से परे बताया है। उनका कथन है कि ब्रह्म को या तो निराकार कहा जाता है या साकार, यह दोनों स्थितियाँ गलत हैं। यदि ब्रह्म को निर्विकल्प कहा जाय तो वह अन्तःकरण का विषय नहीं रह जाता और यदि उसे सविकल्प कहा जाय तो वह चित्त का विषय बन जाता है। यदि ज्यों का त्यों माना जाय तो बुद्धि का विषय बन जाता है। द्वैत मन का विषय है, देहाभिमान

१ सन्तकवि दरिया - पटना, १९५४, पृ० ७४

२ सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है।

हृद बेहद के बाहर यारी, संतन को उसम ज्ञान। यारी की रत्नावली,
पृ० ६, २

३ सहजो की बानी, पृ० ३८

४ भीखाबानी, पृ० ४

५ अरध उरध बिच बागिया, तहं सुरति लगावो।

धरमदास की बानी - पृ० ३१

अहंकार का विषय है। यदि आनन्द आदि कहेगा तो वायु का विषय है। यदि उसे रूप, प्रकाश ठहराया जाए तो वह अग्नि का विषय है। यदि उसे रस, प्रेम आदि कहा जाय तो वह जल का विषय बन जाएगा। यदि इन सबको ब्रह्म बतलाएगा तो यह सब भूत तत्व आदि तुच्छ हैं। अतः 'न कही (हिन्दुओं का) ब्रह्म है, न कही ईश्वर है, यह सब जीवों के संकल्प हैं। जीव सत्य है और सब भूठ। जैसे-जैसे वह आगे को संकल्प करके बैठ गया, आगे खोज करना शेष न रहा, वहाँ ब्रह्म का संकल्प करके बैठ गया। इसी को ब्रह्म स्वरूप निश्चय करके अपने विचार, विवेक और खोज को पूरा कर दिया और उसी को अन्त पद समझ बैठा, इस प्रकार यह जीव चौरासी में पड़ा।'^१

तात्पर्य यह है कि कबीर के पूर्व तक हिन्दू, मुसलमानों आदि ने 'ब्रह्म' तक ही दौड़ लगाई थी और ब्रह्म मन की कल्पना मात्र है, इससे परे की स्थिति कोई नहीं जानता केवल संत कबीर ही जानने हैं, उस स्थिति को हम 'पारख' कह सकते हैं जिसे न ब्रह्म कहा जा सकता है न अन्य कुछ, यह अनिर्वचनीय है और अनुभवैकगम्य है। इसकी सिद्धि के लिए कबीरमन्सूर में बताया गया है कि "तत् त्वं और असि" ये तीनों पद जो वेदान्त में बताए जाते हैं, ये तीनों भ्रम हैं। इन तीनों से भिन्न चौथा पद "पारख" है। पारख ही गुरु है जो उक्त वेदान्तीभ्रम को दूर कर वास्तविक तत्त्व की पहचान कराता है। अतः पारखगुरु ही तत्त्व का प्रकाश कर सकता है, उसे कहा नहीं जा सकता। पारखतत्त्व व गुरुतत्त्व एक ही है।

हिन्दुओं के ब्रह्म या सच्चिदानन्द ब्रह्म से उत्कृष्टता दिखाने के लिए कहा गया है कि उस परम सत्य में न इच्छा थी न विषय वासना का बंधन, न पशुवृत्ति थी वरन् इसका बड़ा प्रभाव व प्रकाश था। जब इसने अपने प्रकाश को देखा तब यह सोचने लगा कि मेरे सामान कोई दूसरा नहीं, मेरा रूप व गुण अनुपम है। ऐसा संकल्प होते ही इसको परम आनन्द प्राप्त हुआ। उस आनन्द में वह अचेत होगया, अपने आपकी उसे कुछ भी सुध न रही। इसी अचेत अवस्था का नाम लोगों ने ब्रह्म सच्चिदानन्द' रख दिया।^२

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नाथपंथी जोगियों की तरह संतकवि उस

१ कबीरमन्सूर - स्वामी परमानन्द, बम्बई, १९०२, पृ० ११४८

२ कबीरमन्सूर, पृ० ११४२

परमसत्ता को कोई नाम नहीं देना चाहते^१, महायानी अश्वघोष, नागार्जुन तथा अन्य महायानी तांत्रिक बौद्धों की भी यही स्थिति है, इसीलिए परवर्ती सन्तमत में भी “पारख” या सत्यपुरुष को “ब्रह्म” से एक डिगरी और ऊँचे आसीन कर दिया गया है।

राम—सन्तों द्वारा प्रतिपादित परमार्थिक सत्ता के स्वरूप पर उनके द्वारा प्रयुक्त ‘राम’ शब्द से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कबीर कहते हैं कि सब जगत् जिसे दशरथ का पुत्र कहता है, उसका मर्म कुछ और ही है। तात्पर्य यह कि राम का वास्तविक तात्पर्य देश, काल से अतीत पारमार्थिक सत्ता है। अभिनवगुप्त कबीर से बहुत पूर्व ऐसी ही व्याख्या कर चुके थे। उनके अनुसार जड़ व अजड़ विश्ववैचित्र्य द्वारा क्रीड़ा करने वाला तत्त्व राम है।^२ स्पष्ट ही राम से परमशिव या परब्रह्म का तात्पर्य गृहण किया गया है। प्राण व अपान अथवा भाव व अभाव इन दोनों अवस्थाओं को छोड़कर ‘मध्यदेशस्थ’ होने से ही (सुषुम्ना-मार्ग द्वारा) साधक ‘रामस्थ’ होता है, यही स्थिति कबीर के ‘राम’ की है।

स्वयं कबीर के शिष्यों ने जो कबीर को सगुणपरक नाम दिए हैं, उनका अर्थ भी वस्तुतः सर्वातीत सत्ता या सत्यपुरुष ही है। कबीर के कुछ नाम कबीर मन्सूर से यहाँ दिये जाते हैं—ज्ञानी, अजर, अमर, अचिन्त्य, अम्बरपुरवासी, अदली, अमी, पुरुषपुराण, हंसपति, प्राणनाथ, बन्दीछोड़, परिचय, सहोछाप, विहंगम, योगजीत, नौतम, जन्दा, अम्बूद्वीप, अनाजदराता, गंगपुरुष आदि।^३ जिस प्रकार राम से ‘दशरथसुत’ का अभिप्राय नहीं लिया जा सकता, उसी प्रकार कबीर के पर्यायवाची शब्दों से सगुणपरक अर्थ नहीं लिया जा सकता। केवल साधना के लिए सगुणपरक शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

आत्मा—चेतना का वास्तविक रूप प्रपञ्च से रहित है। प्रपञ्च का अर्थ है, वृत्ति। वृत्ति-प्रवाह से रहित चेतना का नाम ही आत्मा है। बौद्ध तांत्रिक तथा शैव-साधक भी इसे मानते हैं। बौद्ध इस चैतन्य के लिए विज्ञान या बोधिचित्त नाम देते हैं। शून्यवादी इस चैतन्य को निष्प्रपञ्च ही मानते हैं किन्तु आत्मा नाम उन्हें स्वीकार्य नहीं है क्योंकि उससे एक स्थिर, अविनाशी सत्ता

१ जोई या सोई ठूषा, वेला मुन्न मंभार-केशवदास - अनीछूँट, पृ० १

२ तंत्रालोक, भा० १, पृ० १२०

३ कबीर मन्सूर, पृ० ३८५

प्रातिभज्ञान उदित हो जाने पर कष्ट सहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, फिर तो प्रत्येक कार्य उस प्रातिभज्ञान को तीव्र ही करता है अतः सुन्दरदास सुख से सोते हुए सहज समाधि लगाने में विश्वास करते हैं, विविध उपाय करने की आवश्यकता वह नहीं अनुभव करते ।^१ सहजज्ञान होने के बाद ज्ञानी व अज्ञानी की क्रिया एक हो सकती है परन्तु अज्ञानी विकल्पपीडित रहता है जबकि ज्ञानी आशा और निराशा से परे रहता है ।^२

जगजीवनदास भी संयोगी व योगी में आन्तरिक चित्त को सहज अवस्था का ही भेद मानते हैं, क्रिया का नहीं । चित्त लक्ष्य पर रहने से उनके अनुसार बाह्य क्रिया कुछ भी हो सकती है ।^३ तांत्रिक भी इसी स्थिति को 'अन्तर्लक्ष्ये बहिर्दृष्टि' कहते हैं । कबीर भी यही कहते हैं कि सहज ज्ञान द्वारा योग व भोग का विरोध मिट जाता है किन्तु भोग में यदि चित्त ज्ञानहीन होगया तो नाश निश्चित है ।^४ गुलाल साहब भी सुरति और अविनासी की एकता के लिए 'सहज सुभाव' को आवश्यक मानते हैं ।^५

इस प्रकार सन्त ज्ञान को महत्त्व देते हैं क्रिया को नहीं । प्रत्यभिज्ञान या 'परचा' हो जाने के बाद संन्यास लेने या गृहस्थ जीवन व्यतीत करने में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता । सहजज्ञान द्वारा ही सन्तकवि तांत्रिकों की पद्धति पर ही मनोवैज्ञानिक गति से क्रमशः ऐन्द्रिक अनुभव को पारमार्थिक अनुभव का सहायक बना लेते हैं ।^६ इसके लिए वैराग्यमूलक चित्त की अवस्था आवश्यक है । राग को परमार्थ का साधक बनाने के लिए संत इसीलिए वैराग्य का उपदेश देते हैं । शैव-तांत्रिकों में इसके विपरीत वैराग्य-

१ विविध उपाय करि जागत जगत् सब, सोवे सुखसुन्दर सहज की समाधि में—बही, पृ० ६१०

२ वही, पृ० ६३७

३ सहज सुभाव रहै कोनउ विधि, अंतर बिसरै नाहि ।

जस जोगी, तस अहै सजोगी, भक्त सोई जग माहि ॥ जगजीवनबानी, प्रथम भाग, पृ० ११५

४ कबीर का बीजक, रामनारायण लाल, पृ० ३०३

५ सहज सुभाव को खेल बन्यो है, फगुआ बरनि न जाय ।

सुरति सुहागिनि उठि उठि लागहि, अविनासी के गात ।—गुलालकी बानी, पृ० ४

निन्दा मिलती है अतः सहजज्ञान की परम्परा तो बौद्ध-शैव तथा शाक्तों में समान है परन्तु वैराग्यमूलकता बौद्ध तांत्रिकों में विशेष मिलती है किन्तु यह वैराग्य राग को संयमित करने के लिए है, राग के नाश के लिए नहीं, यह स्मरणीय है। शैव-शाक्त वैराग्य से इतनी भी सहायता नहीं लेते क्योंकि उनके यहाँ प्रत्येक प्रकार का आनन्द ब्रह्मानन्द का ही एक रूप है अतः ऐन्द्रिक आनन्द का भोग प्रातिभज्ञान के जाग्रत हो जाने पर स्वतः सहायक बन जाता है।

जगत्—बौद्ध तांत्रिकों ने जगत् को सांवृतिक सत्य अथवा पूर्व जन्म के संचित संस्कारों के कारण विज्ञान में स्थित विभिन्न रूपों का प्रक्षेपण कहा है। सन्तकवियों में अधिकांश जगत् को सावृतिक सत्य या मायामय ही कहते हैं। तात्पर्य यह कि शैव-शाक्त व पांचरात्रों का जगत्-विषयक दृष्टिकोण सन्तों में नहीं मिलता। किन्तु सृष्टि-विज्ञान अथवा लोक-कल्पना के पीछे बौद्ध दृष्टिकोण के साथ-साथ शैव दृष्टिकोण भी मिलता है।

सन्तों द्वारा सृष्टि की जो कल्पनाएँ की गई हैं, वे साधना के समय स्वतः स्फुरित अनुभूतियाँ मात्र हैं। बौद्ध तांत्रिकों ने तो स्पष्ट ही कहा था कि देवी देवताओं की कल्पनाएँ मानसिक स्थितियों का मानवीकरण मात्र हैं। शैव भी इसे 'विकल्प-परामर्श' ही कहते हैं। विकल्प परामर्श से विकल्प का नाश होता है और अन्त में चेतना स्वरूप में स्थित हो जाती है। आणव-उपाय में शैव-साधक प्राण, देह तथा अनेक लोकों की कल्पनाएँ करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि भुवनादि का वर्णन चेतना के ज्ञान के लिये है।^१ अतः सन्तों द्वारा लोकों की कल्पनाओं को अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं है। तांत्रिक बौद्ध भी इसी तरह देवतादि को भी कल्पित मानते हैं।^२

कबीर जगत् को विवर्त मानकर भी उक्त परम्परा से प्राप्त दृष्टि के कारण सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्वों को मानते हैं। सुन्दरदास भी सांख्य दर्शन द्वारा ही प्रपञ्च की व्याख्या करते हैं।^३

१ द्रष्टव्य—कश्मीरी शैवमत—देशाध्वा

२ ,, तांत्रिक बौद्धमत-साकार-निराकार अंश (बोधचित् तथा देवता शीर्षकों में ।)

३ ब्रह्मते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई, प्रकृति ते महत्तत्त्व अहंकार है।

ऐसे अनुक्रम से सिध्यन सों कहत सुन्दर, यह सकल मिथ्या संसार है—

—सुन्दरबिलास :

आभासवादी शैव, विवर्तवादी शंकर, अनात्मवादी तांत्रिक बौद्ध तथा पाँचरात्र वैष्णव-सभी सृष्टि-प्रक्रिया में नाद व बिन्दु की धारणाओं को स्वीकार करते हैं। कबीरदास नाद व बिन्दु को नाव तथा रामनाम को कर्णधार कहते हैं।^१ नादानुसंधान को योग-साधना में सभी सन्तकवि स्वीकार करते ही है। अनाहत नाद की खोज सन्तकवियों का मुख्य विषय है।

नाद-बिन्दु के विश्वासी मानते हैं कि सत्ता सर्वप्रथम नाद के रूप में ही व्यक्त होती है जो सर्वप्रथम एक बिन्दु का रूप धारण करता है और तत्पश्चात् उस बिन्दु का विस्तार ही यह जगत् है। शैव तो नाद व बिन्दु को विवर्तन मानकर आभास ही कहते हैं। सन्तकवि मंत्र को नादमय मानते हैं अतः उनका जप नादानुसंधान में सहायक होता है। यह सिद्धान्त सन्तों में तांत्रिकों से आया है। दादू कहते हैं कि प्रथम उत्पत्ति 'ओंकार' रूप में होती है—उससे पंचतत्त्व तथा उससे पिंड की उत्पत्ति होती है।^२ कबीर कहते हैं कि ओंकार से जग उत्पन्न होता है। अनहद की बंशी बजाकर वह गगन-मठ में छा रहा है।^३

शिवदयाल ने अनेक लोकों और लोकपतियों की कल्पना की है। शिवदयाल सृष्टि का कारण राधास्वामी की 'मौज' को मानते हैं। यह शैवों द्वारा प्रतिपादित परमशिव की स्वच्छन्द इच्छाशक्ति का ही दूसरा नाम है। जिस तरह परमशिव की सृष्टि-इच्छा से शिव या ईश्वर सृष्टि करते हैं, उसी तरह शिवदयाल के राधास्वामी की मौज से 'निरंजन' सृष्टि करता है जो राधा-स्वामी के पद से बहुत नीचे का 'धनी' कहलाता है। राधास्वामी अलखपुरुष तथा अगम नामक लोकों को शुद्ध लोक माना गया है, जो माया से परे बताये गये हैं। इनके बाद सत्यपुरुष का लोक है जिसमें शुद्धमाया रहती है। यह शुद्धमाया और अशुद्धमाया का सिद्धान्त पाँचरात्र दर्शन तथा शैव दर्शन में हम देख चुके हैं। सत्यपुरुष के बाद माया का रूप सोहंगपुरुष, परब्रह्म, ब्रह्म आदि लोकों में स्थूल होता हुआ निरंजन लोक में आकर अत्यधिक स्थूल

१ नाद ध्यंद की नाबरी, राम नाम कनिहार ।

कहै कबीर गुण गाइले, गुर गंम उतरी पार ॥ कबीर ग्रन्था० पृ० ६४

२ पहली कीया आप थैं, उत्पत्ती ओंकार ।

ओंकार थैं ऊपजै, पंचतत्त्व आकार ॥

३ कबीर ग्रन्था० पृ० १२६

हो जाता है।^१ निरंजन इस माया से जगत् की सृष्टि करता है। परवर्ती कबीरपन्थ में भी निरंजन का यही रूप स्वीकृत हुआ है। इस मत में निर्गुण ब्रह्म से सत्यपुरुष को दो लोक ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। निर्गुण ब्रह्म के बाद सुन्नलोक तथा भ्रमर गुफा है, फिर उनके ऊपर सत्यपुरुष बिराजते हैं।^२ नानक ने धर्मखण्ड, शरमखण्ड व करमखण्ड मान लिए हैं और इन सबके ऊपर 'सचखंड' को प्रतिष्ठित किया गया है।

स्पष्ट ही इन पुरुषों व लोकों की कल्पनाओं की व्याख्या उक्त तांत्रिक सिद्धान्त के आधार पर ही की जा सकती है कि ये सब कल्पनाएं केवल शिष्य की चेतना जाग्रत करने के लिए ही हैं। साधक को इन विचित्र और विविध लोकों व पुरुषों का 'अनुभव' हो सकता है और उस अनुभव का परिणाम है प्रातिभज्ञान की जागृति। अधिकारीभेद से जन सामान्य को साधना में क्रमसिद्धि के लिए नाना कल्पनाएं अवश्य करनी चाहिए, यह सच्चाई अभिनवगुप्त तंत्रालोक में बार-बार दुहराते हैं। साधना के लिए अभिनवगुप्त भुवन, विग्रह ज्योति, ख (आकाश), शब्द और मंत्र-इन छः के ध्यान को आवश्यक मानते हैं। भुवन का अर्थ भोगाधार रूप, लोकादि है। सन्तकवि भुवनसाधना के लिए ही विभिन्न लोकों और लोकपुरुषों की कल्पना करते हैं। प्रातिभज्ञान उत्पन्न न होने पर, भुवनसाधना आवश्यक है।

परवर्ती कबीर पन्थ में भुवन-साधना के लिए लोकों की कल्पनाएं और निरंजन

परवर्ती कबीरपन्थ में अन्य परवर्ती सन्त सम्प्रदायों की तरह सृष्टि के सम्बन्ध में 'मौलिक' समझी जाने वाली जो कल्पनाएं की गई हैं उनका आधार पुराण और तंत्र हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परवर्ती कबीर पन्थ की मौलिक कल्पनाओं के सम्बन्ध में लिखा है—“यह सारा बखेड़ा असल में एक बड़ी पुरानी परम्परा का विकास मालूम पड़ता है।”^३

यह पुरानी परम्परा निश्चित रूप से “तांत्रिक परम्परा” है। “कबीर मन्सूर” नामक परवर्ती कबीरपंथी ग्रंथ में उसके लेखक ने कबीरपंथ की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विश्व के सभी धर्मों का आदि धर्म कबीरपंथ को ही बताया

१ डा० बड़वाल, पृ० १४३

२ वही, पृ० १०६

३ कबीर, पृ० ६३

है। यहाँ कबीर मत को सूक्ष्मवेद और ऋग्वेद यजुर्वेद आदि को स्थूलवेद कहा गया है।

सूक्ष्मवेद का कर्ता अचिन्त्यसत्ता या शुद्ध चैतन्य है। कबीर मन्सूर इसे सत्य-पुरुष संज्ञा देता है। जिस प्रकार महायान मत में गौतम बुद्ध को अनिर्वचनीय सत्ता के रूप में परिणत कर दिया था और जिस प्रकार अन्य तांत्रिकों ने सांख्य के पुरुष प्रकृति को शिव-शक्ति के रूप में कल्पित कर परमशिव को अनिर्वचनीय सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया था वैसे ही कबीरमन्सूर में कबीर को ब्रह्म का पद दे दिया है। कहा गया है सत्यपुरुष ही संसार का उत्पन्नकर्ता है, वह पवित्र है, वह कभी गर्भ में नहीं आता वह अद्वितीय और अपरिवर्तनीय है—वेद की तो सामर्थ्य ही क्या है—सूक्ष्मवेद भी उसकी प्रशंसा करते करते मौनावलम्बी हो जाता है।^१

सृष्टि की इच्छा उस सत्यपुरुष में उत्पन्न होते ही, वह सत्यपुरुष कबीर को उत्पन्न करते हैं। इन्हीं कबीर ने सूक्ष्मवेद को उत्पन्न किया है। कबीर और सत्यपुरुष एक और अभिन्न है। सर्वप्रथम सहज, अंकुर, इच्छा, सुहंग, अचिन्त और अक्षर नामक छः पुत्र उत्पन्न किये गए। इन छः पुत्रों में अंकुर, इच्छा, सोहम्, अचिन्त्य, तथा अक्षर भारतीय शास्त्रों से उधार ली गई शब्दावली है।

सत्यपुरुष ने एक सातवां कालपुरुष उधार लिया। इन सातों पुत्रों को अलग द्वीपों का राज्य दे दिया गया। यह ब्रह्म सृष्टि अर्थात् शुद्धसृष्टि है।

यह उपर्युक्त “बखेड़ा” पांचरात्र आगम के प्रभाव का परिणाम है क्योंकि पांचरात्र आगम में शुद्ध व अशुद्ध सृष्टि की कल्पना की गई है। सत्यपुरुष के छोटे पुत्र ‘अक्षर’ के “शब्द” से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति बताई गई है। वह हिरण्यगर्भ जल पर तैरता रहता था। इस अंडे से कालपुरुष उत्पन्न हुआ। इस अंडे पर लिखा हुआ था कि काल पुरुष निरंजन दुनिया में असंख्य वर्षों तक राज्य करेगा। फिर कबीर की कृपा से सब मुक्त हो जाएंगे।

यहाँ पुराण, तंत्र तथा बौद्ध महायान मत से कल्पनाएं उधार ले ली हैं। हिरण्यगर्भ पुराणों से, तंत्रों से शब्द या नाद तथा सकल लोकों को कबीर द्वारा मुक्ति दिलाने के संकल्प की कल्पना बौद्ध तंत्रों से ली गई है।

कालपुरुष या निरंजन भगवान के काम में बाधक हैं, इस निरंजन के नाम मनोरंजक हैं—काल, केल, अंकार, ओंकार, निरंकार, निगुण, ब्रह्म, ब्रह्मा,

धर्मराय, खुदा, अल्ला, करीम, ब्रह्म, अद्वैत, केशव, नारायण हरि, हरी, विश्वम्भर, वामुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, जगत्पति, राजेश्वर, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक, रब, रब्विल, आलमी तथा हक । मतलब यह है कि अन्य सभी धर्मों में प्राप्त सभी पवित्र दिव्य पुरुष 'निरंजन' हैं, सत्यपुरुष तो इनसे परे ही है ।^१

स्पष्ट ही निरंजन की इस सृष्टि पर 'शैतानवाद' का प्रभाव है । कबीर-मन्सूर के निरंजन ने कुछ तत्व तो इस्लाम से लिये गए हैं और कुछ भारतीय माया के सिद्धान्त से ।

निरंजन ने ब्रह्माजी की तरह उग्र तप करके सत्यपुरुष से पूछ लिया कि सृष्टि की सामग्री कूर्मजी के पेट में है जिसके १६ सिर और ६४ हाथ हैं । निरंजन ने कूर्मजी पर आक्रमण कर उनके ३ सिर काट डाले, सारी सामग्री कूर्मजी के पेट से बाहर निकल पड़ी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पंचतत्व, तीन गुण आदि सब बाहर आ गये ।^२

सृष्टि रचना के लिए यह पद्धति बड़ी ही अभद्र रही अतः पुनः तंत्रों का आधार लिया गया और साथ ही तंत्रों की निन्दा भी की गई ।

आदिभवानी की उत्पत्ति—सत्यपुरुष ने एक बालिका बनाई, इसका विवरण सूक्ष्मवेद में है । इसका नाम 'आद्या' भी है । निरंजन ने इस आद्या को मुंह में रख कर निगल लिया । तब जोगजीतजी प्रकट हुए और उन्होंने सुरति के तीर से कालपुरुष को मारा तब उसके मुंह से 'आद्या' सकुशल निकल पड़ी । इसी आद्य भवानी के अधीन ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं । वह निरंजन के साथ रहती है अतः उसमें निरंजन की बातें समा गई हैं । क्योंकि आद्या ही 'बीजखेत' है अतः वह महाकाली भी कहलाती है और निरंजन महाकाल । कबीरमन्सूर में इस 'आद्या' के सौन्दर्य का वर्णन शाक्तागमों से यथावत् उधार ले लिया गया है ।

निरंजन ने आद्या से मना कर दिया था कि वह अपने पुत्रों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश को उनके पिता निरंजन का नाम न बताये, तभी वेचारे हिन्दुओं को पता नहीं कि उनके तीनों देवताओं का पिता 'निरंजन' यानी शैतान है !!

यही नहीं वेद भी निरंजन की श्वास से उत्पन्न हुए हैं, उनमें उसने अपने

१ कबीर मन्सूर, पृ० १०, ११

२ कबीर मन्सूर, पृ० ११

विचारों को भी संयुक्त कर दिया है अतः वेदों में कुछ उत्कृष्ट है और कुछ निकृष्ट है—

सूक्ष्मवेद से स्थूल वेदों का जन्म

सूक्ष्मवेद—कबीर की कूट वाणी—ऋग्वेद (स्थूलवेद)

टकसारवाणी — यजुर्वेद (स्थूलवेद)

मूल ज्ञानवाणी — साम्यवेद ,,

बीजक — अथर्ववेद ,,

यह स्मरणीय है कि अभिनवगुप्त ने भी वेदादि शास्त्रों को स्थूल ही कहा है, क्योंकि उनमें सूक्ष्मतम् तत्त्वज्ञान नहीं है। गूढ़ अनुभूतियों पर आधारित सभी अवैदिक मत वैदिक मार्ग के विधि-निषेध तथा भेदभावयुक्त मार्ग की निन्दा के लिए जो तर्क अपनाते थे, वही तर्क यहाँ भी अपनाया गया है।

जिस प्रकार शाक्तों ने सारे देश को क्रान्ताओं में विभाजित किया है, उसी के अनुकरण पर 'कबीर मन्सूर' में भी देश को विभाजित किया गया है—

ऋग्वेद प्रचारक — धर्मदास — भारतखंड (गढ़ बांधो)

यजुर्वेद प्रचारक — चतुर्भुजदास — दक्षिणदेश (कर्नाटक)

सामवेद प्रचारक — राय बंकेजी — पूर्वदेश (दार्भंगा)

अथर्व० प्रचारक — हिरमीरांस — पश्चिमप्रदेश (शाल्मली द्वीप)

यह जो निरंजन द्वारा सृष्टि रचना का उपक्रम कराया गया है, इसकी तांत्रिकों की तरह ही सूक्ष्म व्याख्या भी की गई है—

“वेद का पिता ओउम् है। ओउम् की माता कुंडलिनीशक्ति है और यह कुंडलिनी महामाया जो नाभि के नीचे रहती है, सो यह सांप के सूरत की है और उसके मुँह से सर्प के फुफकार के सदृश जो शब्द निकलता है, उसी से हृदय स्वच्छ होता है और उसका फुफकार ही ओंकार है। यह सांपिनी जो कुंडलिनी मारकर बैठी है, यही हृदय की स्वच्छता तथा निर्मलता का कारण है और यह हृदय ही काल पुरुष निरंजन है और इसी को बड़ा ब्रह्मा कहा गया है। सो इस हृदय की माता कुंडलिनी शक्ति है और कुंडलिनी का पिता वह है जिसका वर्णन सीमा के बाहर है। सो कुंडलिनी प्रत्यक्ष दिखाई देती है कि यह सांपिन है और सांपिन का विष वासना है…… यह विषय जिस हृदय में स्थिर होता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है तथा उसका आवागमन कदापि बन्द नहीं होता। जो विष घातक कुंडलिनी में है वही हलाहल प्राणनाशक ओउम् में है। ओउम् तथा कुंडलिनी केवल कहने को दो हैं पर वस्तुतः यह एक ही हैं और जो विष

ओउम् में है वही वेदों में भी है.....जब वेद की उत्पत्ति विष से है तब फिर वेद विष से पृथक् किसी प्रकार नहीं हो सकता हैकुण्डलिनी तथा विष से जो उत्पन्न हो वह सब विषैला है—इस कुण्डलिनी ने स्त्री और पुरुष होकर समस्त संसार को उत्पन्न किया है ।^१

इस बखेड़े को जो शुद्ध तांत्रिक है, कबीर की इन पंक्तियों से कबीर मन्सूर में पुष्ट किया गया है—

अन्तरजोत शब्द इक नारी, हर ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ।

ताहि तिया भग लिंग अनन्ता, तेउ न जाने आदि व अन्ता ।^२

कबीर मन्सूर से यह भी पता चलता है कि कबीर पन्थियो ने अपनी सृष्टि रचना के विधान में ब्रह्मा व शिव के सम्प्रदायों के आचारों आदि की निन्दा की है । विष्णु को अपेक्षाकृत कबीरपंथियों ने विशेष महत्व दिया है । यद्यपि कबीर-पंथ में शाक्तयोग को स्वीकार किया गया है तथापि वामाचार के कारण शैव सम्प्रदायों की निन्दा है ।^३

मायासृष्टि की कल्पना में 'कबीर मन्सूर' आद्या-निरंजन के साथ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से भो काम लेते हैं और उनके बैकुण्ठों को भी स्वीकार किया गया है । ब्रह्मपुरी, कैलास, अमरावती, बैकुण्ठ आदि का वर्णन कबीर मन्सूर में किया गया है परन्तु साथ ही सारी सृष्टि को 'भानमती का पिटारा' भी कहा गया है ।^४ अर्थात् सारा जगत् कल्पित है वस्तुतः एक ही शुद्ध चैतन्य की सत्ता है ।

इन उपयुक्त लोकों से 'सत्यलोक' को ऊपर रखा गया है । इसे सत्यपुरुष का स्थान कहा गया है । यहीं से कबीर साहब सत्यपुरुष का समाचार लेकर आया करते हैं । सूफी धर्म से श्रेष्ठता दिखाने के लिए इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

१ सत्यलोक	सत्यपुरुष	जाहूत, आहूत से उच्चतर
२ सहजद्वीप	सहजपुरुष	आहूत, राहूत से ,,
२ अंकुर द्वीप	अंकुरपुरुष	राहू, बाहूत से ,,

१ कबीर मन्सूर, पृ० २०, २१

२ वही

३ वही, पृ० ३५ से ३७

४ कबीर मन्सूर, पृ० ३६

३	इच्छाद्वीप	इच्छापुरुष	साहूत, बाहूत से	„
४	सोहंगद्वीप	सोहंगपुरुष	बाहूत, हाहूत से	„
५	अचिन्त्यद्वीप	अचिन्त्यपुरुष	हाहूतलाहूत से	„
६	आरन्यद्वीप	अक्षरस्थान	लाहूत, मलकूत से	„
७	भांभरीद्वीप	निरंजन	जबरूत, मलकूत से	„
८	बैकुंठ	विष्णु	मलकूत से	„
९	दह्य अंशका स्थान	—	नासूत से	„
१०	पृथ्वी व नासूत के मध्य	—	देवताओं की पुरियाँ और	
	यह पृ-वी	—	सिद्धादि ।	

इन लोकों में प्रथम लोकस्थित सत्यपुरुष उच्चतम लोकाधीश है । शेष सब उसके नीचे वाले लोकों में हैं । वेचारे विष्णु को आठवाँ स्थान मिला है और शेष देवताओं को सबसे नीचे डाल दिया गया है ।

किन्तु यह स्मरणीय है कि लोकों की यह कल्पना धर्म की उत्कृष्टता दिखाने के लिए ही नहीं है अपितु साधना का भी यह एक आवश्यक अंग है । विभिन्न लोकों में पहले साधक का ध्यान केन्द्रित कराया जाता है और अन्त में साधक को बताया जाता है कि ये सब लोक मिथ्या है ।

इन लोकों के अतिरिक्त दस स्थान और हैं —

- १ सत्यपुरुष सोहंग
- २ सहज सोहंग
- ३ अंकुर सोहंग
- ४ इच्छा सोहंग
- ५ सोहंग सोहंग
- ६ अचिन्त्य सोहंग
- ७ अक्षर सोहंग
- ८ निरंजन और माया सोहंग
- ९ ब्रह्मा-विष्णु-शिव सोहंग
- १० समस्त जीव सोहंग

इनके विषय में कहा गया है कि गुरु उक्त स्थानों में जिस स्थान की सूचना देगा, उसी स्थान को शिष्य पहुँचेगा ।

उक्त दस स्थानों के निमित्त दस प्रकार की विद्याएँ हैं—

- १ शरीरगत
- २ तरीक़त
- ३ हकीक़त
- ४ मारफ़्त
- ५ मरौवहत
- ६ ध्यान दोरहियत
- ७ जुलकार चन्द्रगी
- ८ हुक्म मरतिद
- ९ देनाका
- १० शब्दसार

इन दस विद्याओं से उपर्युक्त दस स्थान प्राप्त होते हैं। वेद और पुस्तकों द्वारा केवल चार ही प्रकार की विद्याएँ प्राप्त की जा सकती हैं। कर्म की पहुँच नामूत तक, उपासना मलक़ूत तक और योग ज़िब़्त तक शिष्य को पहुँचा सकता है।^१ ज़िब़्तस्थान में सहस्रार चक्र है। यही अलखनिरंजन ज्योतिस्वरूप रहता है। निर्विकल्पसमाधि द्वारा यहाँ पहुँचा जा सकता है। इसके पश्चात् मारफ़्त की स्थिति है, वहाँ 'उरफ़ान' विद्या द्वारा लाहूत तक पहुँचा जा सकता है।

किन्तु वेद इसके आगे नहीं जाता। यहाँ सूफी धर्म के स्थानों और ज्ञान के प्रकारों को भी 'वेद' ही कहा गया है क्योंकि रहस्यवादी कबीरपन्थ अन्य सभी धर्मों को 'स्थूलवेद' को ही अभिव्यक्ति मानता है। परन्तु उक्त चार स्थानों के ऊपर वही जा सकता है जो वेद-मार्ग को छोड़कर सत्य-पुरुष कबीर की शरण में जाता है।

महाप्रलय—जिस प्रकार तांत्रिकों की तरह इस पंथ में ध्यान की सुविधा के लिए लोकों की कल्पना की गई है उसी प्रकार महाप्रलय की भी कल्पना की गई है। "प्रलय के समय जगत् कालपुरुष में सिमित जाएगा और निरंजन के मस्तक में एक अर्ध गोलाकार जो प्रासाद शृंग के समान एक स्थान है, उसमें समस्त रचना सूक्ष्म वेष में होकर प्रविष्ट हो जायगी। निरंजन सारी सृष्टि अपने मस्तक के गुम्बद में समेटकर सत्तर-युग पर्यन्त बराबर शून्य में फिरता

रहेगा । तत्पश्चात् कूर्मजी की पीठ पर सत्यपुरुष की इच्छा से पुनः सृष्टि होती है । प्रलय में केवल सत्यलोक विलुप्त नहीं होता और सब विलुप्त हो जाते हैं ।”^१

यदि ध्यान से देखा जाय तो यह सत्यलोक भी वैष्णवों के बैकुंठ व शैवों के कैलाश की तरह एक लोक विशेष ही है क्योंकि इसमें मुक्त जीवों की स्थिति स्वीकार की गई है, इन्हें हंस कहा गया है । सत्यलोक के सब हंस, प्रलय के समय भी सुरक्षित रहते हैं, ऐसा विश्वास प्रकट किया है, उसी प्रकार जिस प्रकार ‘गोलोक’ में मुक्त जीव सुरक्षित रहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए ही नाना लोकों व लोकपतियों की कल्पनाएं की गई हैं क्योंकि अन्त में कहा गया है कि शब्द से जगत् की सृष्टि हुई है और शब्द माया है । कबीर के मुख से उक्त सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए कहलाया गया है—

झूठ ही नाद है, झूठ ही बुँद है, झूठ ही झूठ को खेल सारा ।
 झूठ मूरत बनी झूठ सूरत बनी, झूठ ही झूठ को स्वांग धारा ॥
 झूठ दर्शन कहे, झूठ परसन कहे, झूठ निराकार और शब्द सोहे ।
 झूठ अंधकार है, झूठ अंधकार है, झूठ ही झूठ को चित्त मोहे ॥
 झूठ ही योग है, झूठ ही भोग है, झूठ के फंद में झूठ परता ।
 झूठ और सत्य वोऊ मिला, यह जगत में, भगत है सोई जो जान सकता ॥^२

इस प्रकार सारी सृष्टि को मिथ्या कह कर भी परवर्ती कबीरपंथ नाद और बिन्दु के तांत्रिक सिद्धान्त द्वारा सृष्टि का विकास समझाता है, जैसा कि हम देख चुके हैं कि सृष्टि का मूल कारण शब्द या नाद को ही माना गया है । बिन्दु की दिलचस्प व्याख्या इस प्रकार की गई है—

“जब सत्यपुरुष की इच्छा हुई और सूक्ष्म से स्थूल हुआ तब शून्य में एक भाँई पड़ी और वह भाँई एक बिन्दी के आकार में खड़ी हुई । इस बिन्दी से ही सर्वसृष्टि उत्पन्न हुई है । ‘गयासुल्लोगात’ नामक ग्रन्थ का उद्धरण दे कर कबीर मन्सूर के लेखक ने बताया है कि उक्त ग्रंथ में कहा गया है कि ‘समस्त संसार में यह नुक्ता फेल गया’ इस बिन्दी को अनुस्वार कहते हैं, इसका दूसरा नाम मकार भी है । इसी को ‘माया’ (शक्ति) भी कहा गया है । यह बिन्दी ही

‘हिरण्यगर्भ’ कहलाती है। इसके फूटने पर एक माया और दूसरा ब्रह्म कहलाया। एक से दो होने पर शब्द ओंकार की उत्पत्ति हुई। सृष्टि को द्वन्द्वज माना गया है अर्थात् ओंकार माया व ब्रह्म (शिव-शक्ति) के संयोग से उत्पन्न होता है।^१

किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जिस प्रकार नागार्जुन व शंकराचार्य इस सृष्टि को असत् कहते हैं, उसी तरह सन्तकवि भी इसे ‘बाजीगर का खेल’ कहते हैं।^२ जगत् गंधर्वनगरवत् है, इसका सबसे मनोरंजक उदाहरण कबीर मंसूर में यह दिया गया है कि कोलम्बस जब नई दुनिया को खोज में निकला तो उसने जैसा संकल्प किया था, वैसा ही अमेरिका देश उसे मिल गया। वस्तुतः कोलम्बस के पूर्व अमेरिका का अस्तित्व था ही नहीं, कोलम्बस के संकल्प ही से वह उत्पन्न हुआ।^३

पिंड-ब्रह्मांड की सृष्टि करने वाली माया शक्ति को कबीर मंसूर ने शंकराचार्य की तरह अचेत और जड़ कहा गया है। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध मनुष्य और छाया का सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार कबीरपंथी सिद्धान्ततः मायावादी भी हैं और पिंड में शक्ति के जागरण को मानने तथा ब्रह्म व माया के मिथुन से सृष्टि को सम्भव बनने से शक्तिवादी भी है। माया के पाच नाम दिए गए हैं—शून्य, शक्ति, माया, आकाश और प्रकृति। स्पष्ट ही सन्तों ने सारग्राही बुद्धि से शक्तिवादी व विवर्तवादी परम्पराओं को अपने में समेट लिया है। अतः दरियासाहब कोरे शून्यवादियों को डाँटते हुए कहते हैं—

सुन्न सुन्न सब करे पुकारा ।

सुन्न न होवहि हंस उबारा ।

सब महं बेखिए सबद का पूरा ।

चिन्हे बिना जम बेत है सूर।^४

अर्थात् केवल जगत् को मायात्मक ही मत समझो, यह जगत् शब्द शक्ति से निर्मित है, उस अव्यक्त शब्द को पहचानने का प्रयत्न करो।

विश्वनार्थसिंहज की कबीर के बीजक की टीका तथा कबीर मंसूर में प्राप्त

१ कबीर मंसूर पृ० १०४१ तथा १०४३

२ वही पृ० ११७१

३ वही पृ० ११७६

४ दरियासागर । बिहारवाले दरियासाहब कृत : पृ० ५७, प्रयाग, १९१६

‘कबीर के आदि मंगल’ पर भी शैव प्रभाव प्रतीत होता है। इस आदि मंगल को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी भी परवर्ती मानते हैं, परन्तु इससे सन्तों के सृष्टिरचना सम्बन्धी दृष्टिकोण पर यह प्रकाश पड़ता है कि सन्त सृष्टि रचना में शैवों की तरह शब्द या नाद की भूमिका स्वीकार करते हैं—

प्रथम समरथ आप रहे बूजा रहा न कोइ ।

बूजा केहि विधि ऊपजा पूछत है गुरु सोइ ।

प्रथम सुरति समरथ कियो घट में सहज उचार ।

ताते जामन दीनिया सात करी विस्तार ।

बूजे घट इच्छा भई, चित्त मन तासों कीन्ह ।

सात रूप निरमाइया अवगत काहे न चीन्ह ।

तब समरथ के श्रवण तें, मूल सुरति भइ सार ।

शब्द कला ताते भई पाँच ब्रह्म अनुहार ।

इस ‘आदिमंगल’ का अर्थ विश्वनाथ सिंह ने अपनी टीका में दिया है। उनके अनुसार जगत् जीव के अज्ञान के कारण है, ज्ञान होते ही वह विलीन हो जाता है, उसे भ्रममय समझने के साथ-साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मूल सुरति से ही शब्द कला भी प्रकट होती है और उससे पाँच ब्रह्म उत्पन्न होते हैं। ये पाँच ब्रह्म इस प्रकार हैं—सोहं, ररंकार, ओंकार, अकार और परा-शक्ति रूप ‘र’।^१ इस अर्थ को प्रमाणित करने के लिए टीकाकार ने कबीर से बहुत ही महत्वपूर्ण उद्धरण दिया है—

प्रथम शब्द सोह जो कीन्हा, सब घट माहीं ताकर चीन्हा ।

ररंकार यक शब्द उचारी, ब्रह्मा विष्णु जपें त्रिपुरारी ॥

ओंकार शब्द जो भयहू, तिन सबही रचना करि लयऊ ।

शब्द स्वरूप निरंजन जाना, जिन यह कियो सकल गंधाना ॥

शब्द स्वरूपी शक्ति सो बोले, पुरुष अडोल कबहु न गोले ।^२

तात्पर्य यह है कि पुरुष तो तटस्थ है सारे ‘बखेडे’ के मूल में शब्द-शक्ति ही है और निरंजन शब्दरूप ही है। टीकाकार ने यह भी बताया है कि राम की मूल सुरति और योगमाया ये भगवान की इच्छाएँ हैं अर्थात् जगत् ब्रह्म-संकल्प से शब्द रूप में व्यक्त हुआ है। टीकाकार ने आदिमंगल के ‘तेज अंड

१ विश्वनाथ सिंहजी की गीजक टीका, पृ० ८

२ वही

आचिन्त्य' का अर्थ शाक्तों की पद्धति पर किया है कि रामनाम आचिन्त्य है, उसकी 'रेफ' अर्थमात्रा ही 'आद्याशक्ति' है, उसी ने सृष्टि की है । उसी ने ज्योति से नीचे के ब्रह्मांडों की सृष्टि की है, तभी योगी लोग ब्रह्मांड में प्राण चढ़ाकर उसी ब्रह्म-ज्योति का ध्यान करते हैं और उसी में जीव को मिला देते हैं ।^१

इस प्रकार सन्तकवि सृष्टि-विज्ञान में शब्द का महत्व स्वीकार करते हैं । तभी उनकी साधना में शब्दानुसंधान पर इतना बल दिया गया है । यहाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि निरंजन को शब्दरूप ही माना गया है और शब्द को भ्रम मानने के कारण अर्थात् सत्य को शब्द से भी अतीत मानने के कारण निरंजन को शैतान का रूप दिया गया है ।

कश्मीरी शैवों ने निरंजन का अर्थ शक्तितत्त्व किया है । इसके अतिरिक्त निरंजन का एक अर्थ 'शिव' भी किया गया है । इसी तरह क्रिया व योगी को भी यहाँ निरंजन कहा गया है, किन्तु जिस प्रकार परवर्ती कबीरपंथ में निरंजन की दुर्दशा की गई है वैसेी तंत्रों में नहीं मिलता । कबीर निरंजन का अर्थ पार-माथिक सत्ता ही करते हैं, अतः जहाँ निरंजन को शैतान के रूप में चित्रित किया गया है वे पद परवर्ती प्रतीत होते हैं । स्वामी रामानन्द के 'योग-चिन्तामणि' में भी निरंजन को परब्रह्म के अर्थ में ही ग्रहण किया गया है ।^२ और इसी परम्परा के अनुसार कबीर को निरंजन का अर्थ 'परब्रह्म' ज्ञात था । सुन्दरदास भी निरंजन का अर्थ परब्रह्म ग्रहण करते हैं ।^३

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि परवर्ती कबीरपंथ में मौलिक कलनाएँ दिखाई पड़ती हैं किन्तु कबीर और सुन्दरदास तक बौद्धसिद्धों^४ और शैवों की परम्परा के अनुसार निरंजन का अर्थ परब्रह्म ही प्रचलित था, बाद में उसे शैतान

१ विश्वनाथसिंह जी की टीका पृ० ८६, १०, विशेष—आदिमंगल कबीरमन्त्र के अतिरिक्त विश्वनाथ सिंह की टीका तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी के कबीर नामक ग्रन्थ में भी उद्धृत किया गया है । विस्तार के लिए वही द्रष्टव्य है ।

२ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पृ० ६

३ सहज नाम निरंजन लीजै, और उपाय कछु नहिं कीजै । सुन्दर ग्रंथा० खंड १ पृ० ३०४

४ सरहपा ने निरंजन का अर्थ परमपद किया है—बोहाकोशगीत राहुल, गिहार राष्ट्रभाषा परिषद पृ० ३६

के रूप में चित्रित किया गया ।^१ यद्यपि इस परवर्ती निरंजन के विकास पर भी शक्तिवाद अथवा शब्द के सिद्धान्त का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

सन्तसाधना पर तांत्रिक प्रभाव—तांत्रिक साधना में जिस प्रकार 'आशु-सिद्धि' या 'शाम्भव अवस्था' तथा 'क्रमसिद्धि' स्वीकृत है, उसी प्रकार सन्त साधना में भी स्वीकृत है । शाम्भव अवस्था^२ में जागतिक परिमित अनुभव गुरु के ज्ञानदान के पश्चात् सहसा ही लुप्त हो जाता है और राख हटा देने पर अग्नि की तरह साधक की चेतना—ज्वाला सहसा धधक उठती है, उसमें सारे संस्कार स्वतः ही जल जाते हैं । यह शाम्भव उपाय एक प्रकार का आन्तरिक ध्यान है जिसमें बाह्य क्रिया अनावश्यक है । सन्तकवि इस उपाय की ओर यत्रतत्र संकेत करते हैं । बौद्ध तांत्रिक जागतिक पदार्थों की निःस्वभावता का प्रतिपादन वस्तुतः इसी आभ्यन्तर ध्यान की जागृति के लिए करते हैं क्योंकि बाह्य पदार्थों में मग्न मन अंतर्मुखी हो ही नहीं सकता । बौद्ध तांत्रिक इसे अभिसम्बोधि कहते हैं ।^३ इसे सहजकाया कहा गया है, इसमें अनवरत और सहसा प्रकाश की प्राप्ति होती है ।

सुन्दरदास कहते हैं कि पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश की उत्पत्ति होते ही वाद-विवाद छूट जाता है ।^४ उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं और सम्पूर्ण शास्त्रों का सार स्वतः स्फुरित हो जाता है ।^५ कबीर कहते हैं कि जीव में आंतरिक ज्योति प्रकाशित हो जाती है ।^६ यह ज्योति सुप्त अथवा सहज के स्मरण मात्र से प्रकट हो जाती है ।^७

क्रमसाधना—सहसा दिव्य प्रकाश की प्राप्ति सबके लिए सम्भव नहीं है अतः संत योग व भक्ति का उपदेश करते हैं ।

क्रमसाधना में अर्थात् योग और भक्ति द्वारा अस्फुट रूप में विद्यमान

- १ विस्तार के लिए द्रष्टव्य—कबीर---ह० प्र० द्विवेदी पृ० ५०-६८
- २ कश्मीरी तांत्रिक शैवमत—द्रष्टव्य शाम्भवउपाय शीर्षक विवरण
- ३ द्रष्टव्य तांत्रिक बौद्धमत—अभिसम्बोधि सिद्धान्त
- ४ पुरन ब्रह्म प्रकासि कियो, पुनि छूटि गयो, यह वाद-विवाद—सुन्दर ग्रंथा० खंड २
- ५ वही पृ० १६५
- ६ जीव रूप एक अन्तर वासा, अन्तर जोति कीन्ह परगासा—बीजक—रामनारायणलाल पृ० १६—२०
- ७ सुन्न सहज मन सुमिरते, प्रगट भई इक ज्योति—वही पृ० २६

तात्त्विक सत्ता को स्फुट किया जाता है ।^१ इसके लिए शैवतांत्रिक 'तर्क' को आवश्यक समझते हैं, तर्क का अर्थ आत्म-साक्षात्कार को ओर उन्मुखता है । इसके लिए वाद-विवाद में रुचि न लेने वाले अनुभूतिवान् गुरु की आवश्यकता है । तंत्रों में गम्भीर 'गुरुत्व' की तरह सन्तों का गुरुत्व भी गम्भीर है ।

गुरु—महात्म्य—साधना रहस्यमय है अतः पोथी नहीं, गुरु का ही महत्व संत मत में मान्य है । तथागतगुह्यक में बुद्ध का गुरु रूप में गायन बार बार किया गया है । गुरु शैक्ष्य साधकों । जिन्हें क्रमसाधना करनी पड़ती है । को पोषधदान देता है । सम्प्रदाय, धर्म व गुरु (बुद्ध) की शरण में जाने से पोषधदान मिलता है । गुरु कृपा के बिना साधक का चित्त विकल्प को जीत नहीं सकता अतः गुरु के महात्म्य के विषय में संतो ने अनेक पद कहे हैं और परवर्ती कबीरपंथ में कबीर या सत्यपुरुष को परब्रह्म से भी अधिक उच्चतर पद दे दिया गया है । गुरु बाह्य व आंतरिक दो प्रकारका होता है आन्तरिक गुरु अर्थात् आत्मा के ज्ञान के बिना बाह्य गुरु की सहायता निष्फल ही रहती है, अतः आंतरिक गुरु का महत्व अधिक है । इसी आंतरिक गुरु को कबीर 'सद्गुरु' कहते हैं ।^२

संतमत में गुरु को परमात्मा से भी बड़ा माना गया है । कबीर तो गुरु और गोविन्द में गुरु को ही अधिक महत्व देते हैं । गुरु को प्रकाशदाता कहा गया है ।^३ कबीर के अनुसार सद्गुरु सिकलीगर के समान 'शब्द' द्वारा साधक के शरीर को दर्पण के समान चमकाता है ।^४ लोक और वेद से अर्थात् बाह्याचार से पथभ्रष्ट साधक को गुरु ही आंतरिक पथ दिखाता है ।^५ गुरु की कृपा के बिना 'पूर्ण' का परिचय नहीं होता, पोथियों से अपूर्ण ज्ञान ही रहता है अतः गुरु की कृपा के बिना संसार से उद्धार असम्भव है ।^६

१ ब्रह्मसंहिता कश्मीरी शैवमत—शाक्त-उपाय, शीर्षक विवरण

२ गुरु ज्ञान देने वाला है और सद्गुरु जिसका ज्ञान दिया जाता है, वह परमात्मा—रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पृ०—१०

३ गुरु आये घन गरजि कर, सबद किया परगास-डा० बड़थवाल, पृ० २०७

४ कबीर ग्रंथावली, पृ० ६३

५ वही, पृ० २

६ वही, पृ० ४

कबीर उसी को सतगुरु कहते हैं जो वास्तविक प्रेम का प्याला स्वयं पीता हो और शिष्य को-पिलाता हो, जो ज्ञान दे सकता हो, जो अनाहतनाद सुनने की योग्यता उत्पन्न कर सकता हो और जो शब्द में सुरति लगाता हो ।^१ कबीर के गुरु में कृपा, ज्ञान-शक्ति, योगशक्ति और भक्ति—सभी का अंतर्भाव है । कबीर मन्सूर में गुरु को धर्म का मूल माना गया है, अतः गुरु की सेवा व पूजा सबसे बड़ी पूजा व तपस्या है क्योंकि 'अगम की सूझ' गुरु व साधु द्वारा ही होती है ।^२

कबीर मन्सूर में मनुष्य दो प्रकार के बताये गए हैं—१ गुरुमुख और २ मनमुख । गुरुमुख लोग गुरुसेवा द्वारा कल्याण प्राप्त करते हैं और मनमानी करने वाले मनमुख लोग नष्ट हो जाते हैं । गुरुमुख ईश्वर पूजक हैं और मनमुख 'बुतपरस्त' हैं ।^३ गुरु की महत्ता का कारण है 'सारशब्द' । शब्द का जो यथार्थ लक्ष्य होता है वही सारशब्द कहलाता है, उसको जो पहचानता है वही हंस है । यह सारशब्द अर्थात् वास्तविक ज्ञान केवल गुरु ही दे सकता है । अतः सन्तमत में गुरु की महिमा का अपार विस्तार है क्योंकि वही निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकता है—

निराकार निज रूप है, प्रेम प्रीति से सेव ।

जो चाहे आकार को, साधू प्रत्यक्ष वेव ।

आशा बासा सन्त का, ब्रह्मा लखे न वेद ।

षट् दर्शन खटपट करें, ब्रह्मा पावें भेद ।^४

गुरु की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है, गु=अन्धकार, रु=प्रकाश ।^५

दरियासाहब ने बताया है कि गुरु के शब्द प्रकाश से ही एकत्व की अनुभूति हो सकती है अन्यथा वादविवाद या खीचातानी से बचना कठिन है । इसीलिए उन्होंने कहा है कि बकबासी गुरुओं की आवश्यकता नहीं है । जिसमें अनुभूति की गहराई हो, वही वास्तविक गुरु है—

१ साधो, सो सतगुरु मोहि भावं ।

सत्त प्रेम का भर भर प्याला, आप पिबें मोहि प्यावं । कबीर—ह० प०
द्विवेदी पृ० २५२

२ कबीर मन्सूर, पृ० १०३५-३७ ।

३ वही

४ कबीर मन्सूर, पृ० १११६-२०

५ वही, पृ० १३४५

वरिया सतगुरु शब्द सों, मिट गई खँचातान ।

भरम अंधेरा मिट गया, परसा पद निरवान ।^१

वक्ता खोता बहु मिले, करते खँचातान ।

वरिया ऐसा न मिला, जो सम्मुख भेले बान ।^२

इस प्रकार सन्तकवियों के गुरुत्व और गुरु-महात्म्य पर तन्त्रों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। तंत्रमत भी गुरुमत है और सन्त मत भी गुरु-मत है।

दीक्षा—तंत्रों में दीक्षा का महत्त्व सर्वोपरि है। परवर्ती सन्त सम्प्रदायो में 'दीक्षा' उसी प्रकार रहस्यमय हो गई है जिस प्रकार तांत्रिकों में प्रचलित थी। कबीर को नामजप की दीक्षा ही उनके गुरु रामानन्द से मिली थी और कबीर भी अपने शिष्यों को गुरुमन्त्र दिया करने थे।^३ क्योंकि सन्त बाह्याचार विरोधी है अतः उनकी दीक्षा भी आन्तरिक है। सन्त जब बाह्यपूजा, उपासना आदि की निन्दा करते हैं तो वे आन्तरिक दीक्षा का ही पथ अनुसरण करते हैं। चेतना का सतत परामर्श ही दीक्षा का मुख्य उद्देश्य है और इस पर सन्त कवि बराबर बल देते हैं।^४

दीक्षा का एक तांत्रिक अर्थ है, दिव्य सत्ता के शक्तिपात से प्राप्त पवित्रता। दीक्षित गुरु वह है जो दूसरों में आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत कर सके। गुरु की इसी योग्यता के कारण सन्तो में गुरुसेवा पर बहुत बल दिया गया है। परवर्ती सन्तमत में गुरु के पेशाव के पात्र को धोने से लेकर गुरु के पीकदान की पीक भी शिष्य को पी जाना चाहिए, यहाँ तक कहा गया है।^५ क्योंकि गुरु सिद्धान्ततः केवल साधना में पथ-प्रदर्शक मात्र ही नहीं है अपितु गुरु व ब्रह्म के साथ तादात्म्य भी शिष्य को स्थापित करना पड़ता है। यही कारण है कि परवर्ती सन्तकवियों ने गुरु का वर्णन ब्रह्मवत् किया है।^६ सहजोबाई ने तो

१ वरिया (मारवाड़ी) की बानी पृ०-१, प्रयाग १६०६

२ वही, पृ० १२

३ कानि लागि गुरुविच्छा दीन्हों, जन्म जन्म को मोल लई-
धरमदास की बानी, पृ० १५

४ जगजीवन बानी, प्रथम भाग, पृ० १०७, १०८

५ डा० बड़धवाल, पृ० २१०

६ सतगुरु ब्रह्मस्वरूप हैं, मनुष्य भाव मत जान-बयाबाई की बानी, पृ० २

यहाँ तक लिखा है कि भगवान की कृपा भले ही न हो, गुरु कृपा अवश्य होनी चाहिए क्योंकि हरि ने तो काम-क्रोधादि पाँच चोर मन्त्रों के पाछे लगा दिये हैं किन्तु गुरु उनसे मुक्ति दिला देते हैं ।^१

मंत्र—गुरु रामानन्द ने कबीर को 'राँ रामाय नमः' इस षडक्षरमंत्र का उपदेश दिया था । 'राम' कबीर के बाद सम्पूर्णसन्त सम्प्रदाय का स्वीकृत मंत्र हो गया । स्पष्ट ही राम, कृष्ण; विष्णु, नृसिंह, हनुमान आदि के मंत्र 'तांत्रिक परम्परा' के मंत्र हैं । 'ओउम्' या प्रणव को हीन दिखाने के लिए "रामायनमः" के पूर्व इसीलिए 'राँ' जोड़ा गया है । कहा गया है कि 'ओउम्' प्रणव है तो 'राँ' 'प्रणवि' तथा राँ में ओउम् स्वयं निहित है ।^२ अतः मध्यकाल में निगुण, सगुण सभी मतों में प्रचलित मन्त्र तांत्रिक है किन्तु सगुण भक्त उन्हें 'वैदिक' कहकर उनका प्रचार करते हैं ।

कुण्डलिनीयोग—शैवसाधक शक्ति जागरण के पूर्व अनेक प्रकार के ध्यानों का विधान करते हैं । बौद्ध व शाक्त भी यही विधि अपनते हैं । ध्यान के समय प्राणशक्ति का स्पन्दन तीव्र नहीं रहता अतः ध्यान प्राण को वश में करने का उपाय है । शैव साधक मंडल, पात्र, पुस्तक, लिंगादि की स्थापना ध्यान के लिए ही करते हैं किन्तु इन बाह्य वस्तुओं का ध्यान सन्तो में उपयोगी नहीं माना जाता, लोको का ध्यान अवश्य उनमें प्रचलित है ।

शैवों के अनुसार सब पदार्थ प्राणों में प्रतिष्ठित हैं । प्राण का अर्थ आत्मा का स्पन्दन है । इसे वश में करने के लिए 'काल' को वश में किया जाता है । काल, देश, कलादि छः मार्गों का वर्णन जो शैवागमों में मिलता है वह कुण्डलिनी योग से संबंधित है ।^३ क्योंकि ब्रह्मांड की पिंड में प्रतिष्ठा है अतः पिंड के भीतर ही ब्रह्मांडदर्शन से शक्ति-जागरण होता है । प्राण-शक्ति का अवधारण करके पुनः पुनः तत्त्व का परामर्श ही ध्यान है अतः योगियों के लिए पिंड के भीतर अनेक प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है । कुण्डलिनी योग में कुण्डलिनी का ध्यान करने से ही बह जाग्रत होता है केवल बाह्य शारीरिक क्रियाओं में मग्न हठयोगी अवधूतों की कबीर ने इसीलिए कटु

१ हरि ने पाँच चोर दिए साथ, गुरु ने लई छुटाय अनाथा-तहजो बानी-
पृ० ३

२ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं, पृ० १८

३ ब्रह्मसूत्र, कश्मीरी तांत्रिक शैवमत-प्राणव-उपाय शीर्षक विवरण

आलोचना की है। नानक ने कहा है कि सहज-ध्यान में ही हृदय-कमल विकसित होता है।^१

ध्यान व मन्त्र जप—शक्ति जागरण में ध्यान की तरह नाम या मन्त्रजप की परम्परा भी सन्तों को तांत्रिकों से ही मिली। साधना के लिए भुवन, विग्रह, ज्योति, ख, शब्द व मन्त्र में एक मार्ग मन्त्र का भी है। भुवन की चर्चा हो चुकी है। विग्रह या अवतार की जगह संत कवि गुरुगो या सत्य-पुरुषों का ध्यान करते हैं। अन्तिम चार साधनाएं प्रकाश, शून्य, शब्द व मन्त्र-मंतकवियों में यथावत् स्वीकृत हैं।

भाव व अभाव से रहित परमतत्त्व का परामर्श ही जप है। केवल बाह्य रूप से माला पर अंगुलिप्रहार और जिह्वासंचालन जप नहीं है। तांत्रिकों के इसी अर्थ को ग्रहण करने के कारण कबीर आदि सन्त बाहरी छापा, तिलक मालादि का उपहास करते हैं। नामजप से तभी रस उत्पन्न होता है जब आंतरिक चित्तवृत्ति के साथ तत्त्व का स्पर्श होता रहे—इसीलिए कबीर राम शब्द के रस का विभोर होकर वर्णन करते हैं। तत्त्वपरामर्श होते रहने से आत्मस्पन्दन रूप प्राण स्वतः वश में होने लगता है।

जगजीवन साहब उपवास छोड़कर नामरस को ही चखना चाहते हैं।^२ वह राम के दो अक्षरों में मन को रमाते हैं तब वह इधर-उधर नहीं जाता।^३ इस नाम को चुपचाप स्मरण करने की आवश्यकता है।^४ तांत्रिक साधक नाना मन्त्रों का जाप करते थे, इनकी जगह एक राम के ही जप को जगजीवन साहब पर्याप्त समझते हैं।^५ जगजीवन इस नाम साधना को 'जिकिर साधना' कहते हैं।^६ नानक को भी इसी नाम की ही भूख है, इससे सभी दुःख दूर हो

१ हिरबे कमल प्रगासिया, लागा सहज धियानु-गुह्यग्रन्थ साहब, पृ० २६

२ अब उपवास न एको मानों, चाखि नाम रस घोर-जगजीवन बानी - प्रथम भाग, पृ० १२

३ मन तैं नाहिं इत उत धाव । रहत रहु दुर अछर अन्तर, अपथ गैल न जाव । वही; पृ० ४७

४ वही, पृ० ७०

५ और कुछ मन्त्र नाम नाहिं,

चलैं न जिह्वा मुख नाहिं बोलैं, रहत रहै मन माहिं—जगजीवन बानी, पृ० ११४

६ मनुआ रहहु जिकिर लगाय—वही, पृ० १२०

जाते हैं ।^१ नाम जप से ही नाना मिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, नानक का यह दृढ़ विश्वास है ।^२ उनके अनुसार बिना शब्दबेध के गुरु का द्वार नहीं मिलता ।^३ नानक कहते हैं कि वेदशास्त्र से संसार से उद्धार पाना कठिन है, कर्म और अनेक धर्म भी व्यर्थ है, केवल नामजा ही पर्याप्त है ।^४ गुलाल साहब नाम को 'अमृत' कहते हैं जो उनके अनुसार साधु संगति से प्राप्त होता है ।^५ धरमदास तो अपने को सत्तनाम का व्यापारी तक कहते हैं । सुन्दरदास शब्द को ही सकल का मूल कहते हैं ।^६ जगत में चारों ओर बहिर्मुखता के कारण वासना ने आग लगा दी है, अतः नाम जप ही इस आग को बुझा सकता है, कबीर यह कहते नहीं थकते ।^७

अजपा जाप—इस नाम जप के साथ तांत्रिकों ने प्राणायाम की अनेक विधियों के प्रयोगों का वर्णन किया है । इड़ा, पिंगला को छोड़कर मध्यमार्ग में (मध्यमाप्रतिपदा) श्वास का अवधारण करके 'रामस्थ' हो जाने से ही राम नाम का जप सिद्ध होता है । सन्तों के नाम जप से इस श्वास के मध्यमपथगमन की क्रिया को अलग करके नहीं देखा जा सकता । तभी मन्त अरध, उरधि को छोड़ने की चर्चा करते हैं । तत्व के परामर्श होते रहने से श्वास इस मध्य पथ का गमन करती है और तब नाम जप प्रत्येक श्वास के साथ प्रयत्न बिना ही चलता रहता है, यही सहज जप है, जप न करने पर भी जप होता रहता है, इसीलिए यह 'अजपा जाप' कहलाता है, इस समय तत्व के साथ आत्मा की एकता स्थापित हो जाने से 'सोऽहम्' सोऽहम् की ध्वनि स्वतः श्वास के साथ चलती है ।

१ साचे नाम की लागे भूख-उतु भूखं खाइ चली अहिं डूख—ग्रन्थ साहब पृ० ६

२ नउनिधि उपजं नामु एकु करमि पवे नीसाणु-बही, पृ० १६

३ बही, पृ० १६

४ वेव शास्त्र जन धिआवहि तरण कउ संसार

करम धरम अनेक किरिआ, सम ऊपरि नाम अचारु—बही पृ० ४०५

५ नाम रस अमरा है भाई, कोउ साध संगति तें पाई—गुलाल-बानी, पृ० २३

६ सुन्दरग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६६८

७ कबीर चित चमकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ ।

हरि सुमिरण हाथुँ घड़ा, बगे लेहु बुझाय-कबीर ग्रन्था० पृ० ७

ध्यानबिन्दुपनिषद् में अजपाजाप के विषय में कहा गया है कि प्रश्वास के समय 'ह' ध्वनि स्वतः निकलती है और श्वास के समय 'स' ध्वनि का आगम होता है, इस प्रकार श्वास, प्रश्वास के समय बिना किसी यत्न के ब्रह्म के साथ तादात्म्य के कारण 'हंसः हंसः' सोऽहम्, सोऽहम् की ध्वनि निकलती रहती है, यही अजपा जाप है।^१ सन्त कवि अजपा की चर्चा बहुत करते हैं।

कुछ विद्वान् उक्त जप को जिसमें श्वास व नाम का आश्रय रहता है 'मीनमार्ग' का अजपा जाप कहते हैं और चक्रसाधना में जो जप किया जाता है उसे 'पिपीलिकामार्ग' कहते हैं क्योंकि चक्रसाधना में साधक के चित्त की गति ऊर्ध्व अवस्था की ओर बहुत धीमी होती है, और अनेक आकर्षणों के उत्पन्न हो जाने से चित्र शर्करा से युक्त मार्ग में पिपीलिका की तरह उन आकर्षणों में निमग्न हो जाता है अतः इसे पिपीलिकामार्ग कहते हैं। एक विहंगममार्ग और है, जिसमें 'सुरतिसाधना' होती है, कबीर सुरतिजापी थे, विहंगममार्गी। पिपीलिका व मीनमार्ग को वे नहीं मानते थे, क्योंकि इन विद्वानों के अनुसार स्वयं कबीर ने लिखा है कि जपा और अजपा और अनहद मार्ग के साधकों को काल से भय रहता है परन्तु सुरति जब 'शब्द' में समा जाती है (विहंगममार्ग) तब काल पर विजय हो जाती है।^२ अतः कबीर का अजपा 'सुरतिशब्द' का अजपा जाप है, उपर्युक्त उपनिषद् के अजपाजाप को कबीर नहीं मानते।

इसके उत्तर में डा० बड़थवाल ने उपर्युक्त दोहे का भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार सन्तों का सुमिरन तीन प्रकार का होता है—१, जाप, जो कि बाह्य क्रिया होती है, २, अजपा जाप, जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यन्तरिक जीवन में प्रवेश करता है, ३, अनाहत, जिसके द्वारा साधक आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है.....इन क्रमों की ओर कबीर ने इस प्रकार संकेत किया है कि जाप मर जाता है,

१ हकारेण बहिर्याति, समारेण विशेत्युनः ।

हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं, जीवो जपति सर्वदा ।

ध्यानबिन्दूपनिषद्

२ जपा मरै, अजपा मरै, अनहद ह मरिजाय ।

सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नाहि लाय ।

अजपाजाप भी नष्ट हो जाता है और अनाहत भी नहीं रह जाता, जब सुरति शब्द में लीन हो जाती है तब उसका जन्म-मरण के चक्कर का भय छूट जाता है ।^१ डा० बड़थवाल के अनुसार सन्तों का नाम सुमिरन, जिसे मंत्र-योग भी कह सकते हैं, सुरति शब्दयोग का ही दूसरा नाम है और इस प्रकार वह सारे योगों का भी योग है । भक्तियोग, राजयोग, मंत्रयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग एवं ज्ञानयोग भी उसी के विविध रूपान्तर कहे जा सकते हैं, सभी के आधारभूत सिद्धान्त इसके भीतर आ जाते हैं ।^२

निश्चित रूप से कबीर के पदों में तांत्रिक नादयोग या अनाहत नादयोग यथावत स्वीकृत हुआ है, और इस नादयोग में सभी मार्ग स्वतः ही स्वीकृत हैं, पिपीलिका, मीन और विहंगम मार्ग क्रमशः सूक्ष्मतर मार्ग हैं । जिसे सुरति-शब्दयोग कहा जाता है, उसका परवर्ती कबीरपन्थ तथा शिवदयाल के राधास्वामी सम्प्रदाय में अधिक सम्मान है । सुरति-शब्दयोग में श्वास-अनु-शासन की जगह नेत्रानुशासन किया जाता है । सुरति (दृष्टि) नेत्र के अष्ट-दलकमलस्थित सूचिद्वार होकर ब्रह्मांड में प्रवेश कर त्रिवेणी में मज्जन करते हुए, सहस्रदलकमल में विचरण करते हुए बंकनाली अथवा बंकनाल होकर ऊपर चढ़ती है और भंवरगुफा में प्रविष्ट होती है । इस गुफा में शब्द गुंजा-यमान रहता है । इसमें अनोखे दृश्य और अनोखी सुगन्धि भरपूर रहती है । फिर सुरति निराकार ईश्वर के निवासस्थान या सचखंड में जाती है और तत्पश्चात् अवर्णनीय 'अकहलोक' और उससे फिर अगमनगरी या अमरलोक जा पहुँचती है, यह अद्भुत लोक है ।^३

सुरति की इस यात्रा को विहंगम मार्ग कहा गया है क्योंकि इसमें पिपीलिका की तरह ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर नहीं जाना होता । इसमें सुरति ब्रह्मांड को वेध कर अगम लोक तक जा पहुँचती है । इसमें सुरति निरालम्ब और निर्विकल्प रहती है । नामादि जप का आश्रय लेकर नहीं चलती । पक्षी जैसे आकाश में उड़ान भरता चला जाता है, पीछे लौटता नहीं, वैसे ही सुरति चलती जाती है । दरियासाहब (बिहार वाले) भी विहंगममार्ग को पिपीलिकामार्ग से श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि पिपीलिका हठयोग का मार्ग है ।

१ डा० बड़थवाल, पृ० २२५

२ वही, पृ० २२८

३ सन्तकवि दरिया-पृ० १०३, १०४-डा० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी

केवल प्राण को वश में कर लेने से निर्विकल्पता प्राप्त नहीं होती । विहंगममार्ग में आत्म परिचय हो जाता है ।^१

सुरति शब्द योग से परवर्ती दरिया, शिवदयाल आदि सन्त क्या तात्पर्य लेते हैं, यह उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है किन्तु निश्चित रूप से कबीर, नानक, दादू आदि पूर्ववर्ती सन्तों में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें प्राचीन कुण्डलिनीयोग द्वारा स्वीकृत प्राणानुशासन, नाड़ीयोग अथवा नाद योग भी स्वीकृत हुआ है । डा० बड़वाल नेत्रानुशासन पर आधारित सुरति शब्दयोग को इसीलिए परवर्ती मानते हैं । उनके अनुसार परवर्ती कबीरपंथियों ने कबीर के नाम से प्रचलित पदों में ऐसे पद भर दिये हैं जिनमें नेत्र को आध्यात्मिक अभ्यास के प्रस्थान बिन्दु का महत्व दिया गया है । गरीबदास, जग-जीवनदास द्वितीय आदि ने भी नेत्रों को उलटकर देखने पर बल दिया है । तुलसी साहब तथा शिवदयाल भी प्राचीन प्राणयोग की उपेक्षा कर दृष्टिवाले अंश पर ही बल देते हैं ।^२

डा० बड़वाल कहते हैं “अपनी महत्ता की भावना से अभिभूत होने के कारण ये अतिशयवादी योग के उस अंश को महत्व नहीं देना चाहते जिससे पता चल जाय कि उनकी भी साधना-पद्धति उन्हीं के मिद्धान्तों पर अश्रित है जो प्राचीनयोगमत के आधार स्वरूप है ।”^३

इस प्रकार डा० बड़वाल “जापमरै, अजपामरै” का अर्थ सुरतिशब्दयोग के पक्ष में न कर प्राचीन नादयोग के पक्ष में ही करते हैं । जाँच करने पर कबीर में “नादयोग” व प्राणयोग के समर्थन में बहुत से उद्धरण मिलते हैं । यदि कबीर दृष्टिवाले अंश को ही साधना में स्वीकार करते तो हठयोग द्वारा स्वीकृत कुण्डलिनीयोग को वह क्यों स्वीकार करते ? फिर दरिया साहब की बानी से ही प्राचीन नादयोग के समर्थन में बहुत से उद्धरण दिये जा सकते हैं ।^४

यह समझना गलत है कि हठयोग व तत्वपरामर्श या ब्रह्म के साथ तादात्म्य में विरोध है । यदि गोरखयोग शारीरिक व्यायाम होता तो

१ सन्त कवि दरिया पृ० १०४

२ डा० बड़वाल, पृ० २४६, २४८, २४९

३ वही, पृ० वही

४ अष्ट कंवल दल रंग है सोई, मधि बिच तेहि बोलता होई ।

अजपा जपे सूर चंद ज्ञानी, दरिया गगन बरीसै पानी । दरियासागर पृ० ४

मत्स्येन्द्रनाथ को अभिनवगुप्त तंत्रालोक में स्मरण नहीं करते।^१ कविराज गोपीनाथ का भी मत है कि हठयोग मात्र शारीरिक व्यायाम नहीं है अतः स्थूल शारीरिक कृच्छ्रसाधना का ही कबीर विरोध करते हैं। जब इस बाह्य साधना के साथ तत्त्वपरामर्श भी चलता है तब कबीर उसका समर्थन करते हैं। क्रमसाधना का अर्थ ही यह है कि साधक क्रमशः परमतत्त्व के साक्षात्कार की ओर उन्मुख हो। किन्तु जिन्हें प्रातिभज्ञान हो चुका है उन्हें बाह्य साधनाओं की आवश्यकता नहीं है, यही कबीर की सहजसमाधि है परन्तु यह स्थिति सभी को सहसा प्राप्त नहीं हो सकती, अतः कुण्डलिनीयोग को कबीर स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त उपनिषद् तथा तंत्र व आगमों में कुण्डलिनीयोग व तत्त्व परामर्श साथ-साथ चलते हैं, यही माना गया है। तंत्रों में तो पंचमकारों का सेवन, नादानुसन्धान तथा तत्त्वपरामर्श-तीनों साथ-साथ चलते हैं। अतः “सोऽहम्” हंमः” वाला अजपाजाप बहुत व्यापक साधना है, उसमें अन्तिम स्थिति का संकेत है, उसके पूर्व पिपीलिका और मीनमार्ग का प्रयोग हो सकता है। हाँ सुरति-शब्दयोग की परवर्ती व्याख्या अवश्य उक्त उपनिषद् में नहीं मिलती, सो उसे कबीर के नाम पर परवर्ती शिष्यों ने चलाया है। डा० बड़वाल की प्रामाणिक साक्षी हमारे पक्ष में है। उन्होंने विस्तार से पूर्ववर्ती व परवर्ती संतमत पर प्रकाश डाला है।

अब हम संतों के उद्धरणों से इस मत को पुष्ट करेंगे कि संतों द्वारा प्राणानुशासन व नादयोग स्वीकृत है। दाढ़ श्वास-प्रश्वास के साथ तत्त्वपरामर्श की एकता प्रतिपादित करते हैं।^२

ज्ञानलीला में कबीर के गुरु रामानन्द ने सुमिरन के समय परमतत्त्वपरामर्श को अनिवार्य बताया है। उनके अनुसार लगातार भगवान का चिंतन होना चाहिए; सुरति (स्मृति, दृष्टि नहीं) उसी में लगी रहनी चाहिए।^३

सहज या स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास के साथ ही सहज के अनुभव को

१ द्रष्टव्य तंत्रालोक, आ० १

२ दाढ़ नीका नांव है, हरि हिरदय न विचारि।

भूरत मन माहैं बसे, सासे सांस संभारि।

डा० बड़वाल, पृ० २४३ से उद्धृत

३ रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पृ० ६

सहजोबाई ने तीर्थ, कहा है, इसमें स्नान करने से पाप और पुण्य दोनों छूट जाते हैं ।^१ कबीर ने “सोऽहं हंसः” जप का स्पष्ट समर्थन किया है ।^२ दयाबाई कहती हैं कि पद्मासन मारकर दृष्टि को अंतर्मुखी कर अजपा जाप करना चाहिए और सुरति को श्वास में (नेत्र में नहीं) लगाना चाहिए ।^३ नाभि व नासिकामें ‘सोऽहं’ ध्वनि गरजती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।^४ भीखासाहब कहते हैं कि अंतःकरण में तुरीय शब्द उठता है, यही सोऽहं सोऽहं है ।^५ सहजोबाई “हंसा” और “सोहं” का तार बनाकर, उस पर सुरति को चढ़ाने उतारने को ही सहज सुभिरन कहती है ।^६

कबीर अवधूत को उपदेश देते समय कुंडलिनीयोग का वास्तविक रहस्य ही उद्घाटित करते हैं । अवधूतमार्ग में अवधूत मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है । नाद की धारा को खंडित नहीं करता । वह चैतन्य की चौकी पर बैठता है, गगन में बसता है और जगत् की ओर नहीं देखता । वह महारस का पान करता है, वह कंथा पहनता है परन्तु हृदय के दर्पण में सब कुछ देखता है, वह निश्चल बैठकर नासिका में २१ हजार ६ सौ धागो को पिरोया करता है, वह ब्रह्माग्नि में काया को जलाता है । वह त्रिकुटी के संगम में जागता है, तथा सहज व शून्य की ‘लौ’ लगाता है ।^७

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी भी मानते हैं कि ऐसे अवधूत को कबीर गुरु मानने को तैयार हो जाने हैं ।^८ क्योंकि बाह्य शारीरिक क्रियाओं व सिद्धियों

१ सहज श्वास, तीरथ बहै, सहजो जो कोई न्हाय ।

२ ब्रह्मंड सो प्यंडे जानि, मानसरोवर करि असनान ।

सोहं हंसा ताको जाप, ताहि न लिपे, पुन्य और पाप—कबीर ग्रंथा०
पृ० १६६

३ पद्मासन सूं बैठकर, अंतर दृष्टि लगाव,

वया जाप अजपा जपौ, सुरति श्वास में लाव । - दयाबानी पृ०—१०.

४ वही, पृ० ११

५ भीखाबानी, पृ० ६

६ सहजोबानी, पृ० ३७

७ कबीर-डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २४ तथा कबीर ग्रन्था० पृ० १०६

८ वही, पृ २३ कबीर-ह० प्र० द्विवेदी

के प्रदर्शन में मतवाले अवधूतों को ही कबीर फटकारते हैं। अवधूतों में प्राण-नुशासन, नादानुसंधान की ही चर्चा मिलती है, सुरतिशब्दयोग की नहीं, जिसमें दृष्टिवाले अंश पर बल दिया गया है।

कबीर ने अन्यत्र 'अजपाजाप' की स्थिति को निर्विकल्प ही माना है। जब लेख अलेख में और सुरति निरति में समा जाय और जाप अजपा में समा जाय तभी स्वरूपस्थिति होती है।^१ कबीर अनाहतनाद को ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक मानते हैं।^२ वह ध्यान व नादानुसंधान की एकता स्वीकार करते हैं।^३ वह पिपीलिका मार्ग को सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु वह यह स्वीकार करते हैं कि एक स्थिति ऐसी आवश्यक आती है, जहाँ मन व श्वास रुद्ध हो जाते हैं, तांत्रिकयोग भी यही कहता है किन्तु यहाँ भी नेत्रानुशासन की चर्चा नहीं है।^४ कबीर बंकनाल, भंवरगुफा, त्रिवेणी आदि की स्थिति इस पिंड के भीतर ही स्वीकार करते हैं।^५ बंकनाल का अर्थ सुषुम्णा ही लिया जा सकता है, शिवदयाल द्वारा गृहीत सुरतिशब्दयोगानुकूल अर्थ नहीं।

कबीर बिहंगममार्ग का तात्पर्य भी बनाते हैं कि वह तत्त्व अवगत, अकल और अनुपम है, उसे कहा नहीं जा सकता। वह अनुभव में आजाने पर गूंगे का गुड़ बन जाता है। उसका साक्षात्कार होने पर काच का शरीर कंचन हो जाता है। जैसे पक्षी उड़कर अनन्त आकाश में समा जाता है, या जल जल में समा जाता है, वही स्थिति ब्रह्म में लय होकर आत्मा की हो जाती है।^६

१ सुरति समाणी निरति में, अजपा माहें जाप।

लेख समाणी अलेख में, यूँ आपा माहें आप।—कबीर ग्रन्था० पृ० १४

२ अनहद बाजे नीभर भरे, उपजे ब्रह्म गियान।

अवगति अन्तरि प्रगटे, लागे प्रेम धियान।—वही पृ० १६

३ वही

४ जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।

पाव न टिके पिपीलिका, लोगनि लाबे बैल।

जहाँ न चींटी चढ़ि सके, गई ना ठहराइ।—वही, पृ० ३१

५ कबीर ग्रन्था० पृ० ८८

६ अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कहुआ न जाई।

सैन करै मनही मन रहसैं, गूंगे जानि मिठाई।

बेलत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मानां।

उड़्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूँ जल जलहि समानां।—कबीर ग्रन्था०

पृ० ६०

कबीर अतीत शब्द या नाद में विश्वास प्रकट करते हैं, वह केवल पिंड मुक्ति को अर्थात् प्राणानुशासन द्वारा नादानुसंधान को पर्याप्त नहीं मानते, वह अतीत शब्द की खोज करते हैं।^१ तांत्रिक इसी अतीत शब्द को परावाक् की स्थिति कहा करते थे, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

कबीर बार-बार अनहदनाद और कुंडलिनीयोग की चर्चा करते हैं।^२ अतः यह कहना सही नहीं है कि वह योग के दृष्टि वाले अंश को ही स्वीकार करते थे। वे ज्योति की भी चर्चा करते हैं, परन्तु वह ज्योति-साधना कुंडलिनी योग के साथ सम्बद्ध है अतः जाप मरै अजाप मरै आदि से स्थूल साधना के द्वारा कबीर अन्तिम स्थिति की ओर ही संकेत करते हैं। जब अनाहत-नाद भी शान्त हो जाता है तब विकल्पो का पूर्णतः नाश होकर साधक स्वरूप स्थिति प्राप्त करता है।

अजपाजाप, बंकनाल का रस (मुष्मुष्गायोग) अमृत-निर्भर या ब्रह्मप्रकाश इन सबकी स्थिति कबीर एक साथ स्वीकार करते हैं—

अवधू ऐसा ज्ञान बिचारी, ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ।

अजपा जपत सुनि अभि-अन्तरि, यहु तत जानै सोई ।

कहै कबीर स्वाद जब पाया, बंकनालि रस खाया ।

अमृत भरै ब्रह्म परगासे, तबही मिलै राम राया ।^३

विश्वनाथ मिह ने बीजक की टीका में पटचक्र निरूपण से सम्बन्धित जो पद उद्धृत किया है, उसे हम आगे दे रहे हैं। उसकी टीका करते हुए उन्होंने बताया है कि २१६०० श्रवामो के साथ रामनाम का स्वतः चलने वाला जप ही अजपाजप है और उन्होंने कुछ पाठान्तर करके उपर्युक्त ध्यानबिन्दूपनिषद के श्लोक को भी उद्धृत किया है—

रकारेण बहिर्याति मकारेण विशेष्युनः

रामरामेति वे मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ।

१ सबद अतीत का मरम न जानै, अभि भूली बुनियाई ।

प्यंड मुक्ति कहाँ ले कीजै, जौ पद मुक्ति न होई ।

प्यंडे मुक्ति कहत हैं मुनि जन सबद अतीत था सोई । —वही, पृ० २००

२ कबीर ग्रन्था० पृ० १०६, १०६, ११०, १२६, १३७, १३६, १४५, १४४, १४७, १४८, १६१, १६८, १६६, २१३

३ कबीर ग्रन्था० पृ० २५६

इसका अर्थ यों किया गया है—‘रकार करि कै अग्नि को पवन को संयोग होइ है, तहा ते उठे है अरु अकार करिके शब्द होइ है औ मकार करिके वाक्य होइ है, यहि में सुरति लगाइ राखै, यही परम अजपा है’ । इसके लिए एक और प्रमाण दिया गया है—

रकाराज्जायतेवायू रकाराच्छब्द उच्यते ।

वाक्य तत्त्वां च मकारेण, राम एवेति वै श्रुतिः^१

ये सब प्रमाण निम्नपद के सन्दर्भ में दिये गए हैं जिसमें अजपाजाप में कबीर ने अपना दृढ़ विश्वास प्रकट किया है—

एकै ब्रह्म सकल घट व्यापे, द्वितिया और न कोई ।

प्रथम कमल जहं ज्ञान चारि दल, देव गणेश को बासा ।

रिधि सिधि जाकी शक्ति उपासी जपते होत प्रकासा ।

षटदल कमल ब्रह्म को बासा, सावित्री संग सेवा ।

षट सहस्र जहं जाप जपत हैं, इन्द्र सहित सब देवा ।

षोडस कमल में जीव को बासा, शक्ति अविधा जानै ।

एक सहस्र जहं जाप जपत हैं, ऐसा भेद बखानै ।

भंवर गुफा जहं बुझ दल कमला, परमहंस कर बासा ।

एक सहस्र जाके जप जपत हैं, करम भरम को नासा ।

सहस्र कमल में झिलमिल दशों आपहि वसत अपारा ।

ज्योति सरूप सकल जग व्यापी, अक्षय पुरुष है प्यारा ।

सुरति कमल परसत गुरु बोले, सहज जाप जय सोई ।

छास इकइस सहसहि जपिले, बूझे अजपा कोई ।

यही ज्ञान को कोई बूझै, भेद अगोचर भाई ।

जो बूझे सो मनका पेखै, कह कबीर समुझाई ।^२

अर्थात् एक ही ब्रह्म सारे शरीर में व्याप्त है । इस शरीर में जो प्रथम चक्र है, वह चारदल का है और उसका देवता गणेश है । इस स्थान पर जप करने से तत्त्व का प्रकाश होता है, अर्थात् साधक की सुप्त चेतना जाग्रत हो जाती है । उसके पश्चात् छः कमलदल वाला चक्र है, जिसका देवता ब्रह्मा और शक्ति सावित्री है । इन्द्र आदि सभी देवताओं का इस चक्र में निवास है,

१ बीजक—विश्वनाथसिंह, पृ० ४५०

२ कबीर बीजक की टीका, विश्वनाथसिंह, पृ० ४४६

योगी छः हजार बार यहाँ जप करते हैं। सोलहकमलदल वाला एक और चक्र है जिसमें जीव का निवास है। यहाँ एक हजार बार जप किया जाता है।

यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य है कि इस षोडशकमलदलचक्र में ही 'भ्रमरगुफा' की स्थिति मानी गई है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि परवर्ती कबीरपन्थ में भी प्राचीन पिंड-ब्रह्मांडयोग को ही स्वीकार किया गया है, जबकि राधा-स्वामी-सम्प्रदाय में ब्रह्मांड से परे नाना स्थानों की कल्पना की गई है। कबीर के परवर्ती शिष्यों ने इस 'भ्रमरगुफा' के बाद भी सहस्रार की स्थिति मानी है, क्योंकि भ्रमरगुफा में दो दल वाला चक्र माना गया है, जो भ्रुकुटी स्थान की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है

भंवरगुफा जहं दुइ दल कमला, परमहंस कर वासा ।

सहस्रदलकमलचक्र का वर्णन भी तांत्रिकपरम्परा के अनुकूल ही है। इसी में तत्त्व की स्थिति मानी गई है। सहजजाप भी इसी से सम्बन्धित है, क्योंकि जब तक साधक चक्रों को वेध कर सहस्रार तक नहीं पहुँचता तब तक उसका चित्त शान्त नहीं होता। चक्रों को वेधते समय ही साधक के चित्त की परीक्षा होती है, क्योंकि अनेक प्रकार के आकर्षण उसकी साधना में स्वतः अवतरित होने लगते हैं। इन आकर्षणों की उपेक्षा करते हुए साधक सहस्रार तक पहुँचता है। इसके बाद भी, किन्तु पिंड के भीतर ही सुरति कमल की चर्चा उक्त पद में की गई है, इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सहस्रारचक्र में सुरति को लीन करना चाहिए। इस स्थिति के बाद अजपाजाप की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार सन्त कवियों पर तांत्रिकयोग का प्रभाव स्पष्ट है। उन्हें केवल सुरतियोगी ठहराने का प्रयत्न व्यर्थ है। शिवदयाल, तुलसी साहब आदि ने नाना नये चक्रों और लोकों की कल्पनाएँ की हैं और योग में दृष्टिवाले अंश पर ही बल दिया है। यदि कहें, कि लोकादि का वर्णन केवल उपलक्षण है, तब तो तांत्रिकों का यह सिद्धान्त ही पुष्ट होता है कि लोकादि की कल्पनाएँ केवल साधक की आध्यात्मिकता को जाग्रत करने के लिए ही हैं। इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि 'जाप मरै अजपा मरै' दोहे का पाठ भी अभी निश्चित नहीं हो पाया है। क्योंकि डा० ह० प्र० द्विवेदी ने निम्नलिखित पाठ दिया है—

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद ह मरि जाय ।

राम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय ।^१

इस प्रकार किसी भी तर्क से सन्त काव्य की पृष्ठभूमि में जो विराट तांत्रिक योग परम्परा थी, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

नादयोग—ब्रह्मांड नाद का ही स्थूल रूप है और पिंड उस ब्रह्मांड का संक्षिप्त रूप है । अतः पिंड-ब्रह्मांड की एकता तन्त्रों को तरह सन्तकवि मानते हैं ।^२ परवर्ती सन्त तुलसी भी 'घटरामायण' में शरीर को ऐसी मस्जिद बताते हैं जिसमें १४ तबक विद्यमान हैं, इनमें निचले और ऊपर वाले सभी लोक हैं । ऊपर वाले आठ लोक भी पिंड में ही हैं, इन्हीं में सन्त विलास करते हैं । नीचे के तीन लोक निर्गुण के निवासस्थान हैं ।^३

चक्र-स्थिति—कबीर तांत्रिकों द्वारा वर्णित मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणि-पुर, हृदय, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार-इन सात चक्रों को यथावत् मानते हैं । किन्तु परवर्ती शिवदयाल ने इससे तिगुने चक्र माने हैं और प्रत्येक में तीन तीन सूक्ष्मतर चक्र भी माने गये हैं ।^४ परवर्ती सन्तों की मौलिकता का दावा यहाँ तक है कि प्राचीन योगियों को केवल छः सात चक्रों का धूमिल ज्ञान था । केवल शिवदयाल साहब को ही आगे के अनेक चक्रों का ज्ञान हुआ था । डा० बड़धवाल का स्पष्ट मत है कि कबीर प्राचीन सप्तचक्रों को ही मानते थे । वह भंवरगुफा को अनाहत चक्र में तथा त्रिकुटी को आज्ञाचक्र में ही मानते थे, शिवदयाल की तरह परम्पराप्राप्त सात चक्रों से 'सूक्ष्मतर' चक्रों में नहीं ।^५ अतः पूर्ववर्ती सन्तकवि निश्चित रूप से तांत्रिक कुंडलिनी योग के ही अभ्यासी थे ।

चक्रों का क्रमशः अतिक्रमण और सहस्रार तक कुंडलिनी शक्ति की यात्रा, अनाहतनाद श्रवण, अमृतनाड़ी का श्रवण, खेवरी मुद्रा, उन्मनावस्था, और उससे भी परे सर्वथा विकल्परहित स्थिति की प्राप्ति आदि पर हम तांत्रिकों की विचारधारा पर प्रकाश डाल चुके हैं । यद्यपि सन्त साहित्य में

१ कबीर, पृ० ३६२

२ कबीर ग्रन्था० पृ० १६६ तथा कबीर-ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २७५

३ डा० बड़धवाल, पृ० २३१

४ वही, पृ० २३३

५ डा० बड़धवाल, पृ० २३४

तांत्रिकों की तरह पूर्ण प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नहीं मिलता तथापि संकेत रूप में कुंडलिनीयोग से सम्बन्धित बहुत से पद सन्त कवियों ने कहे हैं। कबीर कहते हैं—

- १ हे अवधू गगन में निवास करो ।
- २ अमृत नाड़ी से अमृत भरता है ।
- ३ बंकनालि में रस भर गया ।
- ४ मूलाधार चक्र को बाँध लेने पर प्राणवायु गगन में समा गया, अथवा त्रिकुटी तक पहुँच गया ।
- ५ कुंडलिनी जाग्रत होगई ।
- ६ संशय मिट गया, अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगा ।^१

उक्त एक ही पद से 'जपा मरै' अजपा मरै अनहद हू मरि जाय' की व्याख्या के सम्बन्ध में भ्रम फैलाने वालों की वास्तविकता प्रकट हो जाती है। यदि कबीर अनाहतनाद की निन्दा करते हैं तो उक्तपद की क्या व्याख्या होगी, कबीर स्पष्ट कहते हैं कि जिस शब्द से सब प्रकट हुए हैं, उस अव्यक्त शब्द को पकड़ना ही साधना का मर्म है ।^२

सुन्दरदास रवि और शशि की एकता को हठयोग कहकर उसके अभ्यास पर बल देते हैं ।^३ सुन्दरदास तो शास्त्रनिष्ठ साधक थे, अतः उन्होंने कुंडलिनी

१ अवधू गगन मंडल घर कीजें ।

मूल बाँधि सर गगन समाना, सुखमन पीतन लागी ।

काम क्रोध माया पलीता, तहं जोगण जागी ।

अमृत भरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै ।

कहे कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद वागा ।- कबीर ग्रन्था०

पृ० ११०

२ साधो शब्द साधना कीजें ।

जेही शब्द तैं प्रकट भये सब, सोई सबद गहि लीजै ।

शब्द काया जग उत्पानी, शब्द केरि पसारा ।-कबीर, ० ह० प्र० द्विवेदी,

पृ० २६८

३ सुन्दरग्रन्थावली, प्रथमखंड पृ० १०२

योग का विधिपूर्वक वर्णन किया है ।^१ वह वाम नाड़ी को इड़ा, दक्षिण नाड़ी को पिंगला अथवा क्रमशः चन्द्र और सूर्य नाड़ी कहते हैं । सुषुम्णा अग्निरूपिणी है । जब इड़ा, पिंगला की गति रोक दी जाती है तब सुषुम्णा उलट कर चलती है, अर्थात् पवन सुषुम्णा मार्ग से ऊपर को चलता है, इसी से सुख प्राप्त होता है ।^२ तांत्रिकों की तरह सुन्दरदास बीजमन्त्र से युक्त १६ पूरक, ६४ कुम्भक तथा ३२ रेचन प्राणायामों का उपदेश करते हैं ।^३ तब अनाहतनाद जाग्रत होता है । सर्व प्रथम अमर जैसी गूँज सुनाई पड़ती है । पुनः सर्प जैसा सीत्कार, पुनः मृदंग और फिर ताल ध्वनि सुनाई पड़ती है ।^४

सुन्दरदास 'पदस्थ' पिंडस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत आदि कई प्रकार के ध्यानों का इस योग के लिए विधान करते हैं ।^५ रूपातीत ध्यान को ही शून्य ध्यान कहा गया है । यह ध्यान रूप, रेख विहीन है । इसमें आठ पहर तक ध्यानलीन रहना चाहिए ।^६

सुन्दरदास इस प्रकार तन्त्रों में वर्णित कुण्डलिनीयोग का विस्तार से वर्णन करते हैं और बौद्धांत्रिकयोग में वर्णित अनेक वस्तुओं तथा रूपों के ध्यान को भी स्वीकार करते हैं । यही नहीं वह 'नाद' के परा, पश्यन्ती मध्यमा, व वैखरी को भी स्वीकार करते हैं और 'मन्त्र' शक्तिमय है, शक्ति जागरण में नाम रूपी मन्त्र सक्षम है, यह भी स्वीकार करते हैं ।^७ वह कहते हैं कि इस ब्रह्मांड का आदि रूप नाद या ओंकार ही है, यह योगी को नहीं भूलना चाहिए ।^८ वह स्पष्ट कहते हैं कि हठयोग करो, नहीं तो शरीर जा रहा है, बिना नाम जप के मुख में धूल पड़ेगी ।^९ तत्त्व के परामर्श के साथ उस उक्त हठयोग द्वारा बधिर भी अनाहतनाद सुन सकता है और सहस्रार में पवन को

१ सुन्दर ग्रंथावली, प्रथम खंड पृ० ४२

२ वही, पृ० ४४

३ वही, पृ० ४७

४ वही पृ० ४६

५ वही, पृ० ५३

६ वही, पृ० ५४

७ परा पश्यन्ति मध्यमा, हृदये होइ विचार-वही, खंड २, पृ० ७८६

८ वही, पृ० ६२२

९ वही, पृ० ४०७

स्थिर कर 'अतिगति प्राप्त कर चैन' पा सकता है, सुन्दरदास इसे बारबार दुहराते हैं ।^१

कबीर कहते हैं कि शून्य सहज मन द्वारा स्मरण करने से ज्योति प्रकट होती है । जिससे निरालम्बन प्राप्त होता है ।^२ शून्य में जब सुरति समा जाती है, अकथनीय अवस्था प्राप्त होती है ।^३

दयाबाई भी श्वास को बांस बनाकर सुरति रूपी नटिनी को पाताल से आकाश तक पहुँचाने की ही वास्तविक साधना मानती है ।^४ भीखासाहब कहते हैं कि सुरति निरति । विकल्प रहित स्थिति । मे ठहर कर, अर्ध, ऊर्ध्व के बीच अनाहत नाद का श्रवण करती है ।^५ उनके अनुसार मन तभी मरता है जब चन्द्र व रवि को एकाग्र कर प्राणवायु को लौट कर, सुषुम्णा—मार्ग से ऊर्ध्व संचारण कराया जाता है और जब गगन में नाद, बिन्दु का साक्षात्कार किया जाता है ।^६ जिस प्रकार यह अनाहतनाद 'धुधुक' उठे, उसी प्रकार सुरति को लगाना चाहिए । जागृत अनाहतनाद "धुधुक-धुधुक" शब्द करता है । तार पर अंगुली फेरते समय सातों तारों से जो ध्वनि निकलती है, वह अनाहतध्वनि में भी सुनाई पड़ती है, तननन, घ्रितां, घ्रितां, ताथेह, थेह आदि ध्वनियाँ अनाहतनाद की ही गतियाँ हैं । इस 'लौ' में योगी लीन हो जाता है ।^७ नाद और बिन्दु एक सम इसी अवस्था में होता है और तब जीवात्मा (सुरति) विकल्परहित (निरति) हो जाती है ।^८

सहजो स्पष्टतः कहती है भंवरगुफा ब्रह्मांड के परे नहीं है, पिंड ही मे है । गंगा, यमुना या इड़ा पिंगला के बीच आसन मारने से उस गुफा में प्रवेश मिलता है और तब 'प्रकाश' प्राप्त होता है ।^९ बुल्लासाहब 'त्रिकुटि' (आज्ञा

१ परा पश्यन्ति मध्यमा, दृश्ये होड विचार वही पृ० ७४७-७६१

२ कबीर का बीजक-रामनारायण लाल, पृ० २६

३ वही, पृ० ५५

४ दयाबाई की बानी, पृ० ११

५ भीखा-बानी, पृ० ४

६ वही, पृ० ७

७ वही, पृ० १५-१६

८ वही पृ० ३४

९ गंग जमुन बिच आसन मारयो, चमक चमक चमकारा ।

भंवरगुफा में दृढ़ हबे बंटे देख्यो अधिक उजारा ।

चक्र) को गंगा-यमुना (नाडियों) को त्रिवेणी कहते हैं और कुम्भक, पूरक, रेचक द्वारा 'त्राटकमुद्रा' में राम-नाम का जाप करते हैं।^१ उनके अनुसार इस योग से 'परमज्योति' प्राप्त होती है, ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी इसकी यांचा करते हैं।^२ इस परमज्योति की अवस्था में 'उन्मनावस्था' प्राप्त होती है।^३ इस अवस्था को चाचरि, भूचरि, अगोचरि और 'खेचर' मुद्राओं द्वारा प्राप्त किया जाता है।^४ केशवदास (अमीघूंट में) प्राण और अपान को आसमान में धिर होने पर ही शून्य के शिखर पर जाकर 'जिकिर' की स्थिति प्राप्त करते हैं।^५

गुलाल साहब गगन-मंडल पर ही घर बनाने पर यह दावा करते हैं कि अब मन की गति 'निर्गुण' हो गई है। निर्गुण सम्प्रदाय में निर्गुण शब्द को सार्थकता स्पष्ट है।^६

मन की इस निर्विकल्प अवस्था को संकेतित करने के लिए शून्य शिखर, सरोज, बंकनाल आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनमें निर्विकल्पता की ओर गति में क्रमशः उन्नति-सोपानों को ही बंकनाल, सरोज आदि द्वारा संकेतित किया गया है। निश्चित रूप से इस अंतिम अवस्था में मन विकल्प-रहित होता है, मन की इस निरालम्ब या निर्विकल्प स्थिति को 'विहंगममार्ग' का गंतव्य ठीक ही कहा गया है क्योंकि इस अंतिम अवस्था में श्वास, नाम आदि का सहारा नहीं रह जाता किन्तु तंत्रों व उपनिषदों में वर्णित 'सोऽहं' अवस्था भी यही है, इससे भिन्न नहीं क्योंकि विकल्प रहने पर स्वतः सोऽहं सोऽहं 'या' 'हंसः हंसः' की ध्वनि निकल ही नहीं सकती। साधना के आरम्भ में सचेष्ट होकर इस स्वतः सोऽहं ध्वनि की ओर बढ़ना पड़ता है, ये ही पिपीलिका व मीनमार्ग है। इन अवस्थाओं में द्वैत और अद्वैत दोनों स्थितियाँ रहती हैं किन्तु अन्त में अनंत आकाश में उड़डीयमान विहंगम की

१ बुल्ला-बाणी, पृ० १०३

२ बुल्ला-बाणी, पृ० ४

३ वही, पृ० ४

४ वही, पृ० १४

५ अमीघूंट, पृ० ८

६ मन में निर्गुन गति जो आवे, हानि न होय जीव की कबहीं,
गगन मंडल घर छाबै—गुलाल— बाणी, पृ० २

तरह विकल्परहित विराट् ब्रह्म में जीवात्मा की लीन होने की स्थिति में स्वतः सोऽहं ध्वनि निकलने लगती है अतः यह कहना गलत है कि कबीर का सुरति-शब्द-योग प्राचीन तांत्रिक उपनिषद् कुण्डलिनीयोग से भिन्न है। दरिया साहब (मारवाड़ी) भी इसे पुष्ट करते हैं।^१ सुरतिशब्दयोग शैवों द्वारा वर्णित 'नाद-योग' ही है, उसमें शिवदयाल आदि ने कुछ नवीन कल्पनाएँ अवश्य जोड़ दी हैं।

संतमत पूर्ण अद्वैतस्थिति को प्राप्त करने के लिए चक्रसाधना या नादानुसंधान को आवश्यक मानता है। यह नादानुसंधान तांत्रिक मतों में पंचमकार की सहायता से भी होता था, केवल यही तांत्रिकां व संतों में अन्तर है, शेष योग की प्रक्रिया संतों में यथावत् मिलती है। साधना के क्षणों में विचित्र अनुभवों की जैसी व्याख्या तंत्र करते हैं, उतनी स्पष्टता के साथ संत नहीं करते अतः तांत्रिक कुण्डलिनीयोग से संतमत के व्याख्याकार मूलस्रोत से संतयोग को भिन्न करके देखना चाहते हैं। व्यंजना को न समझ कर केवल लोकादि के नामों को वास्तविक मान लेने के कारण ही यह भ्रम होता है। धरमदास जी कहते हैं—

सात सुन्न के ऊपर साहब, सेत सेत निवासा ।

सदा अनंद रहै वा बेसा, कबहुँ न लागे आसा ।

सूरज चंद दिवस नहिं सजनी, नाहीं धरनि प्रकासा ।

ऐसा अमर लोक है अवधू, केवला फरे बारामासा ।

अथवा

सात सुन्न दोह बेसुन कहिये, बसवां ध्यान आपंडा हो ।

समरथ सब हमरो अस्थाना, और सकल ब्रह्मांडा हो ।

भंवर गुहा से उठत बुलबुला, सो अंजन पिय नैन लगाओ ।

सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद होइ साध नहाय ।

अजपा लागि पाणि रही डोरी, निरखो सुरति सुंदरिया ।

धरमदास के साहेब कबीरा, ले पहुँचावो सत नगरिया ।^२

यह जो 'सात' सुन्न के ऊपर वाला साहब है, वही ब्रह्म है, उसके साथ तादात्म्य से ही 'अमरत' अर्थात् ब्रह्मानन्द बरसने लगता है। इसे ही बौद्ध 'महासुख' कहते हैं किन्तु शाब्दिक अर्थ करने पर 'सातसुन्न' अलग-अलग मानने

१ दरियासाहब की बानी, पृ० १६

२ धरमदास की बानी, पृ०, ३०, ३१, ३२, ३४

पढ़ेंगे और साम्प्रदायिक परम्परा इनके अलग अलग नाम भी बता देगी, प्रत्येक सम्प्रदाय में इनके अलग अलग नाम भी मिलेंगे, परिणाम यह होगा कि शाब्दिक अर्थ करने पर यह घोषित करना होगा कि 'कबीर' का सम्बन्ध किसी प्रकार के परम्परागत योग से न था और उपर्युक्त नाद-बिन्दु और चक्रसाधना के उद्धरणों के मनमाने अर्थ करने पड़ेंगे अतः पूर्ववर्ती व परवर्ती सन्तों के नाड़ी योग को परम्परागत नाड़ीयोग से भिन्न समझना गलत है। इसी प्रकार पूर्ववर्ती 'सुरति शब्दयोग' शैवों के नादयोग से भिन्न नहीं है। ऐसा नहीं है जैसा कि दावा किया जाता है कि संतों का योग सूक्ष्मतर है और तांत्रिकों का योग स्थूल था वस्तुतः तांत्रिकों के योग के हमारे विवरण स्पष्ट है कि तांत्रिक परम्परा की पहुँच सन्तों से गम्भीर या कम 'पहुँची' हुई नहीं थी।

शाब्दिक अर्थ लेने पर संतों द्वारा राम, कृष्ण, गोकुल, मथुरा, कृष्ण की बांसुरी आदि के भी स्थूल-सगुणपरक अर्थ लेने पड़ेंगे।^१

ज्ञान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अथवा क्रमसाधना पूर्ण हो जाने के पश्चात् तो मीन व विहंगममार्ग भी भारी पड़ते हैं, व्यर्थ कष्ट कर प्रमाणित होते हैं अतः सहजसमाधि के पश्चात् तो प्रत्येक साधना व्यर्थ ही हो जाती है—

पंछिक खोज, मीन को मारण, कहींहि कबिर दोऊ भारी।

अपरम्पार पार परसोतिम, मूरति की बलिहारी ॥^२

“जपा मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय” का केवल विहंगम-मार्ग के पक्ष में अर्थ करने वाले विद्वान उक्त उद्धरण को पढ़कर भ्रम में पड़ेंगे कि अब क्या किया जाय, यहाँ तो कबीर 'विहंगममार्ग' को भी 'भारी' बता रहे हैं। इसीलिए साधना-मार्ग में कबीर सभी मार्गों और सभी प्रकार के

१ अ इत गोकुल उत मथुरा नगरी, बीच डगर पिय मिलि गयो हो—वही,
पृ० ६०

ब सखि, बांसुरी बजाय कहां गयो प्यारो।

घर की गैल बिसरि नै मोहि तैं, अंग न वस्तु सम्हारो।

चलत पांव, डगमगत धरनिपर, गैसे चलत मतवारो।

घर आंगन मोहि नीक न लागै शब्द बान हिये मारो।

—जगजीवनबान, दूसरा भाग, पृ० ४५

२ कबीर का बीजक—रामनारायण लाल, पृ० १४५

अजपाजापों को मानते हैं परन्तु वृत्तिनाश हो जाने के पश्चात् तो वे 'भारी' प्रतीत होंगे ही ।

नादानुसंधान व उन्मनावस्था—संतमत में भी तांत्रिक-नादानुसंधान भी विकल्पो के नाश के लिए ही है, केवल बाह्यसिद्ध-प्राप्ति इसका उद्देश्य नहीं है । अतः तंत्र व संतमतों में चक्रभेदन या कुण्डलिनीयोग की इतनी महत्ता है । यह केवल तनयोग नहीं है । केवल शरीर को अनुशासन में लाने की क्रिया को 'हठयोग' कहा जाता है परन्तु 'हठयोग' में तनयोग व मनयोग दोनों की एकता मानी गई है । कबीर कोरे 'तनयोगियों' जिन्हें वह 'अवधू' कहते हैं, निन्दा करते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि वे चक्रसाधना के भी निन्दक हैं या योगपरम्परा से प्राप्त अनुभवों को नहीं मानते ।

नादयोग से अंत में प्राप्त विकल्परहित स्थिति के दो सोपान तांत्रिकयोग व शैव-शाक्तयोग में वर्णित है— (१) उन्मनावस्था, (२) खसमावस्था । विकल्प की पूर्णशांति उन्मन- अवस्था में होती है । इसके कुछ पूर्व की स्थिति 'समनावस्था' कहलाती है । उन्मनावस्था के बाद भी 'खसमावस्था' है । बौद्ध तांत्रिकयोग में उष्णीशचक्र को भेदकर यह अवस्था प्राप्त होती है । 'गगनवत्' चेतना स्वरूप में स्थित हो जाती है । यही खसमावस्था है । इस अवस्था में सारा ब्रह्मांडज्ञान कर-स्थित आमलक के समान स्पष्ट हो जाता है । संकल्पमात्र से सृष्टि करने की शक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है । अतः ताथागतज्ञान या सर्वातीत-ज्ञान की स्थिति ही खसमावस्था है । शैवागमों में समना और उन्मना का प्राप्त विवरण हम पीछे दे चुके हैं । शैव उन्मनावस्था में द्वन्द्वों के नाश के बाद भी वृत्तियों की सृष्टि व संहार को मानते हैं । विशेषता यह है कि इस अवस्था में चेतना उन वृत्तियों के सृष्टि व संहार से प्रभावित नहीं होती । इसीलिए अभिनवगुप्त ने इस अवस्था की उपमा "भूत्रविसर्जनान्तकाल" में रासभी की योनि से दी है । इस उन्मनावस्था के परे जो खसमावस्था है उसमें भी शैवों के अनुसार निर्वन्दता प्राप्त हो जाने पर भी योगी को सृष्टि का आभास बना रहता है । शाक्तागमों के अनुसार समनावस्था में मन स्पन्दनहीन हो जाता है, और उन्मनावस्था में 'चित्-रूपा' एक कला को छोड़ कर शेष कलाएं शान्त हो जाती हैं । उन्मनावस्था के बाद बिन्दु भी लय हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मरन्ध्र में नाद के लय हो जाने के पश्चात् भी 'बिन्दु' उन्मनावस्था तक चलता है । बिन्दु के लय के बाद की अवस्था अमावस्या और तत्पश्चात् पूर्णप्रकाश की अवस्था 'पूर्णिमा' कहलाती है ।

कबीर, सुन्दरदास आदि सन्त उक्त स्थितियों की चर्चा बार-बार करते हैं, किन्तु तंत्रों की तरह उनका विवरण नहीं देते। शाक्त जिस प्रकाश या ज्योति को उन्मनाभूमि के पश्चात् उत्पन्न होना मानते हैं, उसकी ओर सन्तों ने संकेत किये हैं। दयाबाई के अनुसार सूर्य के अस्त होते ही अद्भुत ज्योति प्रकट होती है, चकाचोंध सी लगती है और मन शीतल हो जाता है।^१ भीखा साहब इसे “कांतिक मास का उजास” कहते हैं।^२ गुलाल इसे ही आनन्दज्योति कहते हैं, जो “सुन्न” भवन में प्राप्त होती है। गुलाल तो शैव शाक्तों द्वारा प्रतिपादित शक्ति व शिव का एकता को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं।^३ नाद व बिन्दु की एकता अगम शब्द तथा शक्ति का ऊर्ध्व-गमन भी गुलाल साहब को ज्ञात है।^४ इसे ही वह नूर कहते हैं जो झलमलाता और झलकता है तथा अनहतनाद रूपी तूर्य से भी गुलाल साहब परिचित हैं।^५ वह स्पष्ट ‘उनमुनि’ दशा का उल्लेख करते हैं।^६ कबीर दास ‘उन्मनि’ के आरोहण द्वारा ही गगनरस या ‘खसमावस्था’ के रसपान और प्रकाश-प्राप्ति को सम्भव बताते हैं।^७ डा० ह० प्र० द्विवेदी ने कबीर के ‘खसम’ शब्द पर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार कर उसका अर्थ निकृष्टपति

१ अथत भान उजियार तहं, प्रगटी अद्भुत ज्योति ।

चकाचोंध सी लगत है, मनसा शीतल होत ।—दयाबानी, पृ० १२

२ कांतिक मास उदासित, सुरति चलति परदेस—भीखाबानी, पृ० ३७

३ अ भयो अघोर निसिवासर नाहीं, सुन्न भवन दरसायो ।

जन गुलाल पिय मिलो मुहागिन, आनंद ज्योति समायो ।—गुलाल
—बानी, पृ० ४७

४ सुन्नहिं सक्ति समाइल, सिव घर सक्ति निवास—वही, पृ० ४६

५ अगम शब्द गुन गावल, नादाहिं बिन्दु मिलाप—वही पृ० ५०

६ वही, पृ० ६५

७ उनमुनि लागो बंद, थकित भइ नौ बस नारी—वही, पृ० १२२

८ अ उन्मनि चढ़या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उज्यारा—कबीर
ग्रंथा० पृ० ११०

ब मन लागा उनमन्न सों, गगन पहुँचा जाइ ।

देख्या चंद विहंगां चाँदियां, तहं अलख निरंजन राह—वही, पृ० १३

स बाहिर खोजति जनम गंवाया, उन्मनीं ध्यान घट भीतर लाया । पृ० ६४

अन्य द्रष्टव्य पद—कबीर ग्रंथा० पृ० ६६, १०३, १०६, ११०, १५८

भी किया है। यद्यपि वह यह भी मानते हैं कि यह शब्द कबीर को हठयोगियों के भी माध्यम से प्राप्त हुआ था और वहाँ उसका अर्थ गगनोपम अवस्था ही है।^१

उन्मम अवस्था और खंसमावस्था की उपलब्धि के आनन्द का संत मस्त होकर वर्णन करते हैं। इस आनन्द को संत 'निरति' का आनन्द कहते हैं, जो सम्भवतः 'नृत्य' का अपभ्रंश है। विकल्पों के नाश के बाद यह नृत्य या निरति साधक की स्थायी स्थिति बन जाती है और वह जागतिक कार्यों में रत रहकर भी इस आंतरिक आनन्द में मग्न रहता है, इसे ही संत कबीर 'सहजसमाधि' कहते हैं।^२ वाममार्गी इसे ही 'कौलावस्था' कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में बाह्य इन्द्रियाँ स्व स्व कर्म में निरत रहकर आंतरिक आध्यात्मिक आनन्द की सहायक बनती हैं, इन्द्रियाँ अपने-अपने आनन्द की आहुति उस आंतरिक आनन्द में देती रहती हैं जिससे आंतरिक आनन्द और भी बढ़ता है। विवेक के अभाव में यही ऐन्द्रिक आनन्द नाशक होता है। इस तथ्य को स्वीकार कर सुन्दरदास मुक्ति के लिए किसी भी उपाय को स्वीकार न कर, प्रत्येक सामान्य जीवन की चेष्टा को ही उपाय मान लेते हैं।^३ 'महासुख' की अवस्था भी यही है।^४

किन्तु तांत्रिकों की तरह सन्तकवि सहज जीवन का अर्थ वाममार्ग नहीं

१ कबीर—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ७७

२ साधो सहज समाधि भली।

जहं जहं डोलौ सो, परिकरिमा, जो कुछ करौ सो सेवा।—डा० बड़वाल,
पृ० २७३

३ सहज नाम निरंजन लीजें, और उपाइ कछु नहिं कीजें।

ना मोहि योग यज्ञ की आसा, ना मैं करौ पवन अभ्यासा।

ना मैं कोई आसन साधौं, ना मैं सूती शक्त्याराधौं।—सुन्दरप्र० था० खंड
१, पृ० ३०४

४ महासुख मगन ह्वै नाचें, उपजें अंग तरंग।

मन और तन थिर न रहत है, महासुख के संग।

सब चेतन सब आनन्द सब हैं दुःख गहन्त।

कहां आवि कहां अन्त आप सुख बिच धरंत।—कबी—ह० प्र० द्विवेदी
पृ० २५४

लेते । वाममार्ग में वासना के रूपान्तरण के लिए वासना का भोग किया जाता है । यह साहसिक मार्ग है, जिसे सन्त नहीं अपनाते । वे सात्त्विक गार्हस्थिक जीवन को ही पर्याप्त मानते हैं ।

नानक ईश्वर को इसके लिए धन्यवाद देते हैं कि गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी वह मुक्त होगए ।^१ चरणदास जल में कमलवत् जीवन बिताने पर ही बल देते हैं ।^२

तांत्रिक क्योंकि जगत् में ब्रह्मानन्द का ही एक रूप मानते हैं अतः उनके लिए जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सूक्ष्म आनन्द में बाधक हो, जब तक द्वैतभाव है, तभी तक शुचि व अशुचि के भाव रहते हैं ।

जहाँ तक चक्रभेदन या नादानुसंधान द्वारा नाद-बिन्दु के लय, उन्मना-वस्था की प्राप्ति तथा चेतना को गगनोपम बनाकर आनन्दमग्न हो जाने की प्रक्रिया है, वह तांत्रिकों व सन्तों में यथावत् मिलती है । सन्तों का शब्दयोग या सहजयोग तथा तांत्रिकों का नादयोग पर्यायमात्र है ।

उन्मनावस्था या खसमावस्था के सिवा सन्तमत में खेचरीमुद्रा तथा त्रिकुटी ध्यान की भी चर्चा मिलती है । बौद्ध तान्त्रिक खसमावस्था को ही खेचरत्व कहते हैं । हठयोग में जीभ को क्रमशः काट कर तालु में किये गये छेद में उसे प्रविष्ट कर चन्द्रनाड़ी से स्रवित अमृत-रस के पान की क्रिया मिलती है । सन्तमत में ऐसी कठिन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है किन्तु चन्द्रनाड़ी से स्रवित अमृतपान की चर्चा मिलती है । इस अमृतपान के समय भी द्वैत रहता है, पूर्ण अद्वैत की स्थिति को बौद्ध तांत्रिक सहजानन्द व कबीर राम रस कहते हैं ।

तांत्रिक आनन्द की जागृति के लिए शरीर में नाना प्रकार के तनाव उत्पन्न करते थे, अंगुलियों की नाना आकृतियाँ बनाते थे परन्तु उनका स्पष्ट कथन था कि प्रातिभा ज्ञान के उदय से मुद्राएँ स्वतः प्रकट हो जाती हैं । इसी अर्थ में सन्तमत में भी मुद्राएँ स्वीकृत हैं । आनन्द के उदगम होते ही शरीर में जो परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं, वे सन्तों को भी स्वीकृत हैं ।

१ सतिगुरु की असी बड़ाई, पुत्र कलत्र बिचै गति पाई- डा० बड़वाल, पृ० १६१

२ जग माहां ऐसे रहौं, ज्यों अम्बुज सर माहि-
वही, पृ० १६१

नादानुसन्धान में त्रिकुटि में ध्यान लगाने पर सन्त बहुत बल देते हैं। दयाबाई कहती हैं कि त्रिकुटी में ध्यान लगाने से परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।^१ दरिया कहते हैं कि वास्तविक योगी त्रिकुटी के कोट में ध्यान लगाता है।^२ गोरखयोग में 'त्राटकमुद्रा' प्रसिद्ध है। नासिका के शीर्ष भाग पर ध्यान लगाने तथा नेत्रों की पुतलियों को भ्रुकुटियों की ओर खींचकर लाने से त्राटक मुद्रा बनाती है। सन्तों ने यह प्रक्रिया योगियों से ही ग्रहण की थी। यारी साहब ने अनेक मुद्राओं का उल्लेख किया है।^३

डा० बड़धवाल का मत है कि कबीर, दादू आदि त्रिकुटी को ही गगन कहते हैं।^४ अर्थात् त्रिकुटी में ध्यान लगाकर प्राणायाम द्वारा श्वासारोधन कर वे नादानुसन्धान करके अन्त में उन्मनावस्था को प्राप्त करते हैं और विकल्प नाश के पश्चात् अक्षय आनन्द या अमृत का पान कर मस्त रहते हैं। दरिया साहब ने लिखा है कि त्रिकुटी से दूध टपकता है और बिना बादल के हो वर्षा होती है।^५

परवर्ती सन्त सम्प्रदाय में चक्र साधना—ऊपर के विवेचन से पूर्ववर्ती सन्तकवियों की साधना पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। परवर्ती सन्तकवियों ने अपनी चक्र साधना को मौलिक साधना कहा है किन्तु परवर्ती सन्तों में भी तांत्रिक तत्व मिलते हैं। गरीबदास ने चक्रों के विवरण में पूर्णतः तांत्रिक पद्धति अपनाई है। चक्रों के देवताओं, वर्णों और बीजमन्त्रों को यथावत् तन्त्रों से लिया गया है। गरीबदास के मूलचक्र के देवता गणेश हैं। इस चक्र का वर्ण रक्त है और बीज मन्त्र 'क्ली' है।^६ स्पष्ट ही यह पद्धति तान्त्रिक है।

१ स्वास उसास विचारि कर, राखे सुरति लागाय ।

दया ध्यान त्रिकुटी धरे, परमात्म दरसाय ।-डा० बड़धवाल, पृ० २४०

२ दरिया देखे दोह पल, त्रिकुटी संधि मंभार ।

निराकार एकं दिसा एकं दिसा अकार ।-वही, पृ० २४५

३ चाचरि मुद्रा से प्रीति लगावो भूचरि मुद्रा से प्रेम बढ़ावो ।

अगोचरि मुद्रा से आन भुगावो, खेचरि मुद्रा से दरस दिखावो ।

—यारी साहब की रत्नावली, पृ० १४

४ डा० बड़धवाल, पृ० २४४

५ त्रिकुटी सुखमन चुवत छीर, बिन बादल बरखें मुक्ति नीर ।

—मारवाड़ी दरियासाहब की बानी, पृ० ४६

६ डा० बड़धवाल, पृ० २५६

शिवदयाल व तुलसीसाहब ने यद्यपि आत्मा को नेत्रों के तिल में ले आने का प्रयत्न किया है और योग में दृष्टि का प्रयोग अधिक किया है, तथापि उनके चक्र-विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तान्त्रिकों के विवरण के आधार पर ही उन्होंने अपनी मौलिकता का भवन खड़ा किया है ।

शिवदयाल के राधास्वामी सम्प्रदाय में चक्रों का विवरण इस प्रकार है—

१ मूलाधार—स्थान-गुदा-लिंग के मध्य, कमलदलसंख्या-चार, देवता या धनी-गणेश, शक्ति-ऋद्धि व सिद्धि, शब्द-क्लीं, तथा वर्ण लाल ।

२ स्वाधिष्ठान—स्थान-मूलाधार से कुछ ऊपर, कमलदल संख्या-छः, धनी-ब्रह्मा, शक्ति-सावित्री तथा शब्द-ओउम् ।

३ मणिपूर—स्थान-नाभि, देवता-विष्णु, शक्ति-लक्ष्मी, शब्द हूँ, कमल-दलसंख्या-आठ, तथा वर्ण श्वेत ।

४ अनाहत—स्थान-हृदय, कमलदलसंख्या-१२, देवता-शिव, शक्ति-गौरी तथा शब्द-प्रणव ।

५ विशुद्ध—स्थान—कंठ, दल संख्या—दो, देवता—मन शक्ति—अविद्या, शब्द -“श्रुं” तथा वर्ण—नील । इस चक्र का भेदन करने में बंकनाल को पार करके त्रिवेणी के गर्त में उतरना पड़ता है और फिर उसे पार करना पड़ता है ।

६ सहस्रकमल—इसका कमल सौ दलवाला है । धनी निरंजन है । ध्वनि शंख या घंटिका जैसी होती है । यहाँ पहुँचने पर शाकिनी डाकिनी तथा कालदूत भय दिखलाते हैं । किन्तु संतनाम का उच्चारण उन्हें भगा देता है ।

७ त्रिकुटी—इसके कमलदल सात हैं धनी महाकाल हैं । शब्द ओंकार है । मृदंगध्वनि या मेघगर्जनध्वनि होती रहती है । वर्ण सूर्य-प्रकाशवत् है यहीं पर अमृत का उलटा कुम्भा विद्यमान है ।

८ सुन्नचक्र—इसमें छः कमलदल हैं । धनी-अक्षर ब्रह्मा, शब्द ररंकार, ध्वनि-वीणा या सारंगी तथा वर्ण द्वादशसूर्य प्रकाशवत् है । यहाँ पर दशमद्वार से प्रवेश होता है जिसे योग में ‘ब्रह्मरन्ध्र’ कहते हैं ।

६ महासुन्न—इसमें आठ दल हैं । धनी परब्रह्म है । यहाँ पाँच ग्रंथ व पाँच अक्षर ब्रह्म रहते हैं । चार गुप्त स्थान हैं । जहाँ पर पुरुष के दरबार की शासित आत्माएं बन्दी रूप में रहती है ।

१० भंवरगुफा—इसका धनी सोहं पुरुष है । शब्द सोहम् है । ध्वनि मुरली जैसी है । यहां अट्टासी द्वीप हैं । बहुमूल्य हीरे है ।

११ सत्यलोक—इसमें सत्यपुरुष रहते है । सत्यनाम की ध्वनि गुंजती है, वीणा की ध्वनि होती है । यहाँ आत्मा सोलह सूर्यों का प्रकाश करती है ।

१२ अलखलोक—इसका धनी अलखपुरुष है । इसमें इतना तेज है कि करोड़ों सूर्य इसकी बराबरी नहीं कर सकते ।

१३ अगमलोक—इसका धनी अगमपुरुष है ।

१४ अकहलोक—इसका धनी अनामी पुरुष है । इस स्थान को वही जानता है जो यहाँ पहुँच पाता है ।

डा० बड़वाल की इन चक्रों या लोकों की कल्पनाओं पर टिप्पणी है—
‘इधर के निर्गुणी जिन पर योग एवं तंत्र के अनेक मतों का पूरा प्रभाव रहा है, इन अनुभवों की विस्तृत व्याख्या करते हैं, उनमें बतलाई गई स्थितियों की संख्या प्रत्येक प्रचारक के अनुसार बदलती हुई दीखती है और सब में एक निश्चित शब्द, निश्चित आकार, निश्चित वर्ण तथा एक निश्चित सूक्ष्म शब्द भी पृथक्-पृथक् लक्षित होता है, जिसके कम्पनों के कारण यह सभी उत्पन्न हुआ करते है । इनका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न चक्रों से होता है और सबका एक न एक देवता व अपना धनी होता है जिसकी कभी कभी एक शक्ति या देवी बतलाई जाती है ।’^१

परवर्ती कबीरपंथ में चक्रस्थिति—राधास्वामी सम्प्रदाय की तरह कबीर-पंथ में भी तांत्रिक प्रभाव को परवर्ती साधकों ने अधिकाधिक मात्रा में स्वीकार किया है यद्यपि वे उसकी घोषणा नहीं करते । कबीर मन्सूर में चक्रों का जो निम्नलिखित विवरण मिलता है, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

१ आधार चक्र—स्थान—गुदा, वर्ण—लाल, देवता—गणेश, शक्ति—
सिद्धि बुद्धि, ऋषि—कूर्म, बंध—मूल, कमल—चार पत्ते

वाला, चार मात्रा—वं शं बं सं, ये भीतरी चार मात्राएं हैं तथा आनन्द, योगानन्द वीरानन्द और परमानन्द ये चार बाहरी मात्राएं हैं। चार घड़ी तथा बत्तीस पल तथा चार अक्षर दस चक्र में है। इसकी पूजा मानसी है। सोहंग भाव करके इसकी पूजा की जाती है।^१

२ **स्वाधिष्ठान चक्र**—स्थान—लिंग, रंग—पीला, देवता ब्रह्मा, शक्ति—सावित्री, ऋषि—वरुण, वाणी—वैखरी वेद—ऋग्वेद, मोक्ष—सायुज्य, वाहन—हंस, अक्षर—बं भं मं यं रं लं। इस चक्र की भी पूजा सोहं भाव से की जाती है।

इसी पद्धति पर कबीरमन्सूर में कुंडलिनी चक्र, मणिपूरकचक्र, मनोचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, बलवान चक्र, आज्ञाचक्र, पूर्णागिरिचक्र तथा सहज-दलचक्र का वर्णन किया गया है। सहस्रचक्र के पश्चात् भी ब्रह्मरन्ध्रदेह चक्र तथा अक्षरभगवान चक्रों का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार तंत्रों के छः या सात चक्रों के स्थान पर परवर्ती कबीरपंथ में चक्रों की संख्या १३ कर दी गई है।

चक्रों की तरह ही तांत्रिकों की पद्धति पर कुंडलिनी को शक्ति या महा-माया कहा गया है। 'उसके मुंह से फुफकार की आवाज आया करती है, यही ओंकार नाद है जो सब पिंड ब्रह्मांड का कारण है इसी शक्ति की फुफकार से मन चैतन्य होता है, मन के चैतन्य होते ही समस्त संसार की उत्पत्ति होती है। भाँति भाँति की सांसारिक वासनाएं ही कुंडलिनी का विष है। जब उस कुंडलिनी में 'फुनी' अर्थात् स्फुरण होती है, तब मन निश्चय होने पर बुद्धि अहम् भाव प्रकट होने पर अहंकार और चिन्तन होने पर चित्त प्रकट होता है।^२

कबीर बीजक से उद्धरण देकर कबीर मन्सूर के लेखक ने यह सिद्ध किया है कि कबीर कुंडलिनी योगी थे.....

इच्छा रूप नारि भीतरी, तासु नाम गायत्री धरी ।

ता तिय भग लिंग अनंता, ते उन जानेउ आवि व अन्ता ।

तीन पुत्र ता तिय के भयेउ, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊ ।

कबीर मन्सूर के अनुसार यहाँ नारि का अर्थ कुंडलिनी ही है।

१ कबीरमन्सूर, पृ० ३१७

२ विस्तार के लिये द्रष्टव्य—कबीर मन्सूर, पृ० ३१० से ३१८

इस प्रकार परवर्ती कबीर-पन्थ पर भी तांत्रिक साधना का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

काया-सिद्धान्त—तांत्रिक बौद्धमत में रूपकाया, सम्भोगकाया, धर्मकाया, सहजकाया आदि का वर्णन मिलता है । इसी तरह कबीर की काया को भी अनेक रूपों में देखने की प्रवृत्ति परवर्ती सन्तमत में दिखाई पड़ती है । धर्मदास कबीर को सूक्ष्म प्रियतम के रूप में मानते हैं । दयाबाई या सहजोबाई में गुरु; प्रभु या प्रीतम में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता । कबीर को उनके शिष्यों ने सत्पुरुष अर्थात् परब्रह्म के रूप में उसी प्रकार बदल दिया है जिस प्रकार गौतम बुद्ध को परम सत्ता के रूप में परिणत कर दिया गया था । सन्त गुरुओं का अवतार भी स्वीकार किया गया है ।

कबीरमन्सूर में छः प्रकार के शरीर माने गये हैं । इनका वर्णन तांत्रिक पद्धति पर किया गया है—

१. स्थूलशरीर—स्थूलदेह, लम्बाई-साढ़ेतीन हाथ, वर्ण रक्त, ब्रह्मा देवता, गुण-राजस, मात्रिका-ओंकार अवस्था जाग्रत, वाचा-वेखरी मुद्रा-खेचरि, आदि ।

२. लिंगदेह—अंगूठी के बराबर आकार, मात्रिका-ओंकार, वर्ण-शुक्ल, देवता-विष्णु, वाचा-मध्यमा, मुद्रा-भूचरि, मार्ग-विहंगम ।^१

इसी प्रकार ३-कारणशरीर, ४-महाकारणदेह, ५-ज्ञानदेह, ६-विज्ञान का वर्णन भी इसी प्रकार किया गया है । ज्ञानदेह के विषय में कहा गया है कि इसकी बाणी 'उन्मुनी' है और विज्ञानदेह के विषय में कहा गया है कि न इसका रूप है और न रेख । इसमें द्वन्द्वों का पूर्ण नाश हो जाता है । इस काया में ऐसा विचार होता है कि न मैं हूँ न तू है, न कर्ता हूँ न भोक्ता, न इच्छा है न अनिच्छा, ।

कबीर मन्सूर में कहा गया है कि ये छः प्रकार के शरीर साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इसके बाद एक काया और है । उसे प्राप्त कर लेने पर साधक यथार्थ में लय हो जाता है । अपने स्वरूप से पतित होकर उक्त छः शरीर प्राप्त होते हैं किन्तु 'स्वसम्बेद' अर्थात् कबीर की बाणी उस अन्तिम देह को भी बताती है । 'कबीर की वास्तविक काया' वही सप्तम काया है जो

उक्त षट्शरीरों से परे है, उसका स्वरूप केवल 'गुरु' हो बता सकता है । तात्पर्य यह है कि तन्त्रों का कायासिद्धान्त परवर्ती सन्तमत में भी स्वीकृत है । स्वयं कबीर ने षट्प्रकार के शरीर का वर्णन किया है, ऐसा भी कबीर-मन्सूर में कबीर-वाणी को उद्धृत करके प्रमाणित किया गया है । इन उद्धरणों में उक्त कायाओं के नाम यों हैं — १. स्थूलदेह, २. सूक्ष्मदेह, ३. कारणदेह, ४. महाकारण, ५. केवल्य देह, ६. हंसदेह । हंसदेह के उद्धरण इस प्रकार है ।^१ कबीर की काया इन सबके परे थी^२ कबीर मन्सूर में अन्यत्र 'हंसदेह' को उपयुक्त छह देहों से भिन्न माना गया है । इस 'हंसदेह' में पाँच पक्के तत्व होते हैं और पाँच कच्चे तत्व होते हैं । पाँच पक्के तत्व—धैर्य, दया, शील; विचार और सत्य हैं ।

उक्त पाँच पक्के तत्वों में प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद होते हैं ।^३ हंसदेह इन्ही पाँच पक्के तत्वों से बनती है और हीनतर कायाओं में कच्चे तत्वों की प्रधानता रहती है । कच्चे तत्वों में—काम क्रोध, मोह, लोभ, आलस्य, निद्रा, रक्त, मूत्र, अस्थि आदि है ।

योग 'युक्तियों' यज्ञ, तप, भजन, भक्ति आदि से केवल ब्रह्म सच्चितानन्द

१ अवतरण वरण रूप नहि रेखा, ज्ञान रहित विज्ञाना ।
नहि उपजं नहि विनशे, कबहुँ, नहीं आवैं नहि जाही ।
इच्छा अनिच्छा न वृष्टि अवृष्टी, नहि बाहर नहि माही ।
तत्वरहित रवि चन्द्र न तारा, नहि देवी नहि देवा ।
स्वयं सिद्धि प्रकाशक कह्यो है, नहि स्वामी नहि सेवा ।
हुंस देह विज्ञान भाव यह सकल वासना त्यागे ।
नहि आगे नहि पीछे कोई, निज प्रकाश में पागे ।
निज प्रकाश में आप अपन पौ, भूलि भए विज्ञानी ।
उन्मत्त बाल पिशाच मूक जड़, वशा पंच यह लानी ।
कहैं कबीर सुनों हो सन्तो, खोज करो गुरु ऐसा ।
जेहि आप अपुनैपा जानों, मेटो खटका रेसा ।
कबीर मन्सूर, पृ० ११४१

२ स्थूल सूक्ष्म कारण यह कारण केवल पुनि विज्ञाना ।
भये नष्ट यदि हेर फेर में, कतहुँ नहि कल्याना ।- बही

३ बही, पृ० ११५०-११५२

पद की प्राप्ति ही सम्भव बताई गई है। परन्तु इन विधियों से हंस देह नहीं प्राप्त हो सकती। संसार के सभी सिद्ध, ऋषि, मुनि, पीर और पैगम्बर इस हंसदेह को नहीं पा सके। केवल कबीर ही हंसदेह को पा सके हैं। 'पारख-गुरु' ही इस हंसदेह को प्राप्त करा सकता है।^१

चमत्कार—सन्तगुरुओं के चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं। कबीर नानक आदि गुरु ही नहीं, परवर्ती सिक्खगुरु तो चमत्कारी पुरुष माने गए हैं। गुरु अर्जुन-देव व हरगोविन्दसिंह इलहाम-शक्ति से युक्त थे, वे थोड़े से सैनिकों के द्वारा लाखों की सेना को परास्त कर सकते थे। औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर से चमत्कार दिखाने का दुराग्रह किया था। रहस्यवादी सन्त ही नहीं, सगुण भक्तों के साथ भी उनकी महिमा वृद्धि के लिए ऐसे चमत्कार चल पड़ते हैं परन्तु सम्प्रदायिक विश्वास इसे महिमावृद्धि का प्रयत्न न मानकर इसे सैद्धान्तिक रूप देता है। मन्त्र, चित्त, प्राण तथा देवता की एकता से नाना शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। तान्त्रिकों का यह अटूट विश्वास है। शक्ति-प्राप्ति का उपाय मन्त्र व देवता का ध्यान है। चक्र-साधना भी वस्तुतः ध्यान की ही एक प्रक्रिया है। ध्यान से शरीरस्थित सुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। सन्तों में ध्यान, जप, आदि स्वीकृत हैं, अतः सन्तमत के गुरुओं के साथ चमत्कार स्वयं ही जुड़ गये।

सन्तमत और जादू—हमने अथर्ववेद में देखा है कि धर्म व जादू किस प्रकार साथ-साथ चलते हैं और किस प्रकार जादू या माया से परवर्ती दार्शनिकों ने जगत् की व्याख्या करने में सहायता ली है। वेदान्त ने तो जगत् को माया ही कहा, और लीलावादियों ने भी जगत् को जादू ही कहा है, उसका अर्थ भले ही बदल दिया हो। सन्तमत में ब्रह्म जादूगर या बाजीगर के ही रूप में स्वीकृत है।

किन्तु क्रिया के क्षेत्र में जिस प्रकार अथर्ववेद व तान्त्रिकों की क्रियाओं में जादू के सम्पर्क व सादृश्य सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं, उस प्रकार बाह्याचारों के अभाव में सन्तमत में नहीं दिखाई पड़ते। परवर्ती सन्तमत में अवश्य जादू का पुनः प्रवेश होता है।

गुरु का यथावत् अनुकरण, वेष-भूषा तथा चेष्टादि के अनुकरण से प्रत्येक

१ स्थूल सूक्ष्म कारण यह कारण पुनि विज्ञाना।

भये नष्ट यहि हेर फेर में कतहु नाहि कल्याणा।

कबीर मंथूर। बही, पृ० ११५६-११६३

साधक गुरु के समान 'पहुँचा हुआ' बनने का प्रयत्न करता है। इसमें जादू का सादृश्य सिद्धान्त ही काम करता है। धार्मिक क्रियाओं में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसमें प्रयोक्ता बाह्य परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए व्यर्थ प्रतीत होने वाली क्रियाएं करता है अथवा प्रार्थनाएं करता है। इससे वास्तविक परिस्थिति तो नहीं बदलती परन्तु प्रयोक्ता में आत्म-विश्वास अवश्य बढ़ जाता है और वह पहले से अधिक मनोबल से बाह्य परिस्थिति का सामना करता है। जादू का यही वास्तविक प्रतिफल है।

इस दृष्टि से समूचा सन्तमत बाह्य परिस्थिति को अनुकूल बनाने का ही रहस्यमय मार्ग है। सन्त साधक पूरी सच्चाई से यह समझते हैं कि केवल नाम-जप, ईश्वर-ध्यान, आदि से वे बाह्य परिस्थिति को बदल सकते हैं। वे एक सीमा तक अपनी आलोचना और प्रेम के सन्देश द्वारा सफल भी होते हैं। परन्तु सन्तों में जो गुह्य साधना है उससे सन्त अपरिमित आत्म-विश्वास ग्रहण करते हैं। एक परमसत्ता की कल्पना कर, उसका ध्यान करते हैं। भाव व अभाव के मध्य में उसे खोजते हैं और उन्हें इससे जो आत्मबल मिलता है उससे पोथीपंथियों के उस पांडित्य को, जो समाज को समान-स्तर पर खड़ा नहीं होने देता था, चुनौती देते हैं। तान्त्रिकों का भी ऐसा ही विश्वास था कि रहस्यमय ध्यान से एक ही साधक सारे ब्रह्मांड को बदल सकता है। योगी अरविन्द जैसे साधक इस विश्वास को नवीनयुग में दुहराते दिखाई पड़ते हैं।

यह जो परमज्योतिमय ब्रह्म में लय लगाना या लय हो जाना ही जीवन का उद्देश्य माना गया है, इस 'लौ' या 'लय' को डा० बड़वाल जैसे आदर्शवादी विचारक भी 'आटोसजैसन' कहते हैं। वह कहते हैं कि सन्तों ने यह बार-बार कहा है कि वे न माला का प्रयोग करते हैं, न जीभ ही हिलाते हैं। उन्हें उनका मालिक स्वयं स्मरण करता है। ऐसा होने पर उनको सुरति ईश्वरीय भावना में मग्न हो जाती है, यही 'लौ या लय' है। इस प्रक्रिया में उस "स्वतः निर्देश या "आटोसजैसन" का भी सिद्धान्त निहित है जिसको आधुनिक स्पिरिटवादी बड़ी दृष्टिता के साथ प्रतिपादित करते हैं और जो लययोग का भी आधारस्वरूप है किन्तु जिसकी व्याख्या बहुधा इसके प्रधानग्रन्थों में नहीं पाई जाती। परन्तु अध्यात्मवाद की पुस्तकें स्वतः निर्देश के महत्व को स्वीकार करती हैं। एक प्रसिद्ध शास्त्रीय कहावत है कि "जाकी रही भावना जैसी, ताकी तैसी सिद्धि"। इससे भी अधिक योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि हे महाबाहो ! अन्य बातों को भूलकर जिस प्रकार कोई अपने विषय में अनुभव करता है,

वैसा ही वह हो जाता है । नाम-सुमिरन (सन्तों का) भी उसी प्रकार प्रभावित करता है ।^१

स्पष्ट ही स्वतः निर्देश का सिद्धान्त जादू का ही एक सूक्ष्म सिद्धान्त है । सगुण-भक्तों में भी यह यथावत मिलता है । वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में बाह्य जगत् के परिवर्तन के उपायों में 'धर्म' एक मुख्य उपाय रहा है और धर्म से जादू की प्रक्रियाओं को कभी भी अलग नहीं किया जा सकता । तांत्रिकों की स्थूल सिद्धियों के प्रयत्न में तो वह स्पष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म धर्म-साधना में भी वह सूक्ष्म रूप में मिलता है । अतः सन्तमत भी उस आदिम मानस की परम्परा की धरोहर को सहेजता हुआ ही आगे बढ़ा है ।

अभिचार—आजकल तो सन्तों ने कबीर की 'बिरहुली' शीर्षक शब्दावली को साँप के विष उतारने के लिए 'मन्त्र' के रूप में प्रयुक्त करना शुरू कर दिया है । सर्प आषाढ़ मास में निकल आते हैं और दीपावली की रात्रि में पुनः भूगर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं । विश्वास यह है कि दीपावली की रात्रि को कबीर की बिरहुली का पाठ करने से सर्प फिर नहीं निकलते । बिरहुली इस प्रकार है—

आवि अन्त नहिं होत बिरहुली ।

नहिं जड़ पल्लव पेड़ बिरहुली ।

निशिवासर नहिं होत बिरहुली, पानी पवन न होत बिरहुली ।
ब्रह्म आवि सनकादि बिरहुली, कथि गए जोग अपार बिरहुली ।
मास असाढ़हि शीत बिरहुली, वो इन सातो बीज बिरहुली ।
नित गौड़े नित सींच बिरहुली, नित नव पल्लव पेड़ बिरहुली ।
छिछिल बिरहुली, छिछिल बिरहुली, छिछिल रही तिहुँलोक बिरहुली ।
फूल एक भर फुलल बिरहुली, फूलि रहल संसार बिरहुली ।
ते फुल बन्दे भक्त बिरहुली, बाँधिकें राउर जाहि बिरहुली ।
ते फुल लेहीं सन्त बिरहुली, डसि गो बतेल साँप बरहुली ।
विषहर मन्त्र न मान बिरहुली, गाड्डीर बोले पार बिरहुली ।
विष की क्यारी बोयो बिरहुली, लोढ़त का पछिताय बिरहुली ।
जन्म जन्म अब तरे बिरहुली, फलयककनयल डार बिरहुली ।
कह कबीर सचु पाय बिरहुली, जो फल चाखो मोर बिरहुली ।^२

१ डा० बड़धवाल, पृ० २२३, २२४

२ कबीर बीजक की टीका-विश्वनार्थसिंह, पृ० ५१७

सन्तों के पदों को इस प्रकार मंत्रों के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति वर्तमान काल में बहुत अधिक पाई जाती है। भक्त कवियों की रचनाओं का भाँ ऐसा ही प्रयोग जहाँ तहाँ मिलता है। यह आश्चर्य का विषय है कि जो कबीर प्रत्येक प्रकार के ग्रन्थविश्वासों का विरोध करते थे उनका मत भी अभिचार जैसी क्रियाओं से बच नहीं सका। इस प्रवृत्ति में गुरु की वाणी को गौरव देने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। जिस तरह तुलसी की चौपाइयों का प्रभाव “अमोघ” माना जाता है, वैसे ही कबीर की कविता का प्रयोग मंत्रों के रूप में भी चल पड़ा है।

योग, ज्ञान और भक्ति—कबीर के अध्ययनकर्त्ताओं ने बताया है कि यद्यपि कबीर और अन्य पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियों में योग व ज्ञान का वर्णन है तथापि ये कवि भक्त ही थे। दूसरी ओर वैष्णव सगुण सम्प्रदाय के भक्त हैं, जो योग का उपहास करते हैं, ज्ञान को भक्ति में आवश्यक नहीं मानते—बल्लभ मत में यही दृष्टि स्वीकृत है। तुलसीदास में भक्ति ‘संयुतविरतिविवेक’ मानी गई है। ज्ञान व योग का फल भक्ति है, यही तुलसीदास को मान्य है। मायावादी वेदान्ती भी मध्यकाल में भक्त हुए हैं। अध्यात्म-रामायण सैद्धान्तिक दृष्टि से मायावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है तथापि भक्ति का गौरव-स्थापन वहाँ हुआ है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ अभिन्नता अनुभव करके प्रेम-प्रवाह बहाने वाले अद्वैतवेदान्ती मधुसूदन सरस्वती प्रसिद्ध ही हैं। अतः भक्ति की दृष्टि से योग, ज्ञान और कर्म मार्गों में अविरोध स्थापित हो जाता है। कबीर इसीलिए द्वन्द्ववादीत या परात्पर सत्ता में विश्वास करके भी भक्त हैं क्योंकि आराध्य के प्रति हेतुरहित प्रेम और समर्पण उन्हें मान्य है।

ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी उससे प्रेम करना, यही सन्तों की विशेषता है। सूफियों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। किन्तु कबीर के पूर्व तमिल देश में शैव तथा कर्नाटक के वीरशैव सन्त शिव को निर्गुण मानकर भी मूलतः भक्त थे। यद्यपि ज्ञान व योग के भी ये प्रचारक थे। कश्मीर शैवमत व शाक्तमत के साहित्य के भक्ति-स्तोत्रों में भक्ति का निर्मल रूप दिखाई पड़ता है, अतः योगिक साधनाओं व ज्ञान से मुक्ति मानने वाले तांत्रिकों में भी भक्ति का प्रचार था। महायानी बौद्धों में भी यही परम्परा स्वीकृत थी। सिद्धान्ततः महायानी, देवता के स्वरूप को मिथ्या या अनिर्वचनीय तत्त्व मानकर भी साधना के लिए देवतातत्त्व की भक्ति में विश्वास करते हैं। पांचरात्रमत में भी योग, ज्ञान व भक्ति में अविरोध दिखाई पड़ता है। अतः कबीर आदि सन्तों

की बानियों में योग, रहस्यवाद व भक्तिभाव—तीनों एक साथ मिलते हैं, संतमत की इस पृष्ठभूमि की उपेक्षा करने से ही यह कहा गया है कि कबीर, नानक आदि सन्त योग व ज्ञान को कुछ यों ही स्वीकार करते हैं। यह कहना सही नहीं है कि कबीर, दादू आदि सन्त न कायासाधना में विश्वास रखते थे न गुह्यात्मक साधना की कल्पना ही करते थे।^१ क्योंकि इन्हीं पंक्तियों के लेखक डा० हिरण्यमय कहते हैं कि संतों की सहजसाधना का अंतिम लक्ष्य राम के प्रेम का रस चखना ही था।^२ यहाँ अंतिम पद के प्रयोग से यह साफ हो जाता है कि प्रारम्भिक लक्ष्य के लिए संत काया साधना को अवश्य स्वीकार करते थे, जिसके प्रमाण में अनेक उदाहरण पीछे दिए गए हैं।

क्या कायासाधना से सम्बन्धित संतों के पद पंडित व मुल्लाओं को चुनौती देने के लिए ही हैं? क्या योग का खारा बखेड़ा ज्ञानप्रदर्शनमात्र है? क्या यह भक्ति में बाधक है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए तांत्रिक परम्परा को ही देखना चाहिए।

श्री गोपीनाथ कविराज ने बताया है कि भक्ति चिदानन्द—लाभ है। चिदंश ज्ञानभाव है, ज्ञानवादी जब केवल चित् अंश पर ही बल देते हैं, तो वे ज्ञानमार्गी कहलाते हैं किन्तु आनन्द अंश पर बल देने वाले 'भक्त' कहलाते हैं। परमतत्त्व स्वातंत्र्यमत है। स्वतंत्रता ही पूर्ण शक्ति है। चरमावस्था में भी शिव शक्ति का सामरस्य है और शिव शक्ति में से एक का अभाव कभी हो नहीं सकता। ज्ञान के बाद इसी प्रकार भक्ति भी रह सकती है। कैतवहीन होने से सुभक्ति है। ज्ञान के बाद अद्वैतभक्ति रह सकती है परन्तु भक्त के ही हृदय में, ज्ञानार्थी के नहीं।^३

कविराज जी ने बताया है कि कश्मीरीशैवमत में रागात्मिका भक्ति स्वीकृत है। वीरशैवमत में भी यही प्रवृत्ति है। त्रिक दर्शन में प्रेमभाव की दशा में, जो ज्ञान के बाद शुद्ध रूप में उत्पन्न होता है, द्वैत, अद्वैत दोनों अवस्थाएं रहती हैं। इसमें चित् व आनन्द का तथा ज्ञान व भक्ति का एक साथ सामंजस्य है। यह रस ब्रह्मानन्दविलक्षण है क्योंकि ब्रह्मानन्द में चर्वण

१ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-ग्रान्दोलन : डा० हिरण्यमय, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृ० ३१०

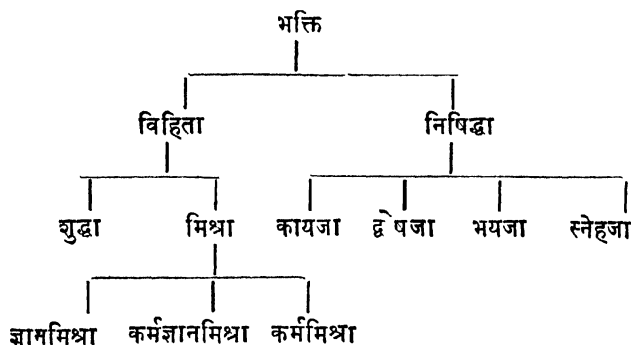
२ वही, पृ० ३१०

३ शिवांक—कल्याण। कश्मीरी शैव दर्शन शीर्षक लेख-गोपीनाथ कविराज

नहीं है, आस्वाद नहीं है और इस शैव द्वैताद्वैत—ज्ञान की स्थिति में चर्वण भी है और अद्वैत भी ।^१

शाक्त-सम्प्रदायों में भी यही भक्ति व ज्ञान का अवरोध है । यही दृष्टि संतमत में भी प्राप्त होती है, अतः संतमत में योग, ज्ञान, रहस्यवाद तथा भक्ति एक साथ स्वीकृत है । कबीर के 'सहज' व 'रामनामरस' से केवल यह समझना कि संतकवि केवल शास्त्र—परम्परा को नीचा दिखाने के लिए ही योग के विचित्र रूपक सुनाया करते थे, मूलतः वे केवल सूर, हरिदास आदि की तरह कोरे भक्त थे, गलत है । कबीर की सहजसमाधि व रामनामरस में कायासाधना या नादानुसंधान एक आवश्यक प्रक्रिया है, अंतिम निर्मलभक्ति ही लक्ष्य है किन्तु ज्ञान व योग के बिना वह 'सहज' प्राप्य नहीं है । हा, प्रातिभज्ञान या शाम्भवावस्था सिद्ध साधकों को ज्ञान के बाद की निर्मलप्रेम व समर्पण की स्थिति बिना कायायोग के ही प्राप्त हो जाती है । यदि यह स्थिति स्वीकार नहीं की जाती तो संतकवियों की बाणियों में अधिकांश 'मात्र ज्ञानप्रदर्शन' मानना होगा । परवर्ती संतों में भी कायासाधना की परम्परा स्वीकृत है अतः उसे भी ज्ञानप्रदर्शन मानना होगा अतः कायासाधना को रामनामरस के लिए अनिवार्य साधना मान लेना ही उचित है, तांत्रिक पृष्ठभूमि भी इस प्रवृत्ति को पुष्ट करती है ।

कविराज गोपीनाथ ने बोपदेव के 'मुक्ताफल' से भक्ति का एक विभाजन प्रस्तुत किया है,^२ इससे सन्तों के विषय में यह भ्रम दूर हो जाता है कि सन्त कवि कायासाधना के विश्वासी न थे ।



१ शिवांक-कल्याण कश्मिरी शैव दर्शन शीर्षक लेख-गोपीनाथ कविराज

२ एक नवीन भक्तिसूत्र-सरस्वती भवन सीरीज, जिल्द २, १९२३ बनारस

निर्गुणभक्ति

इनमें शुद्धाग्रहेतुकी, अव्यवहिता या निरन्तरा भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, अन्य सोपानरूप में स्वीकृत हैं। सन्त भी 'शुद्धभक्ति' को लक्ष्य मानते हैं किन्तु सोपान के रूप में 'मिश्राभक्ति' उनके यहाँ अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। इसीलिए कबीर का 'रामनामरस' कोरा रामनामजप नहीं है, उसमें वृत्तियों की अन्तर्मुखता, परमतत्त्व के साथ एकात्म्य अनिवार्य है, विवेक और कायासाधना से ही यह सम्भव है, इसके पश्चात् जब परमतत्त्व में चित्तवृत्ति 'लय' होने लगती है, 'लो' या फना की स्थिति आजाती है, तभी निर्मल रामनामरस भरता है, और 'हंसा (जीव) मस्त होकर उसे पीता है। कबीर इसीलिए कहते हैं कि यह रामनामरस दुर्लभ है, 'आत्माहुति' से ही यह प्राप्त होता है। वृत्तियों के तत्त्व में लय हो जाने पर ही समर्पण पूर्ण होता है अतः कबीर आदि सन्तकवि कायासाधक भी थे और भक्त भी। परवर्ती सन्तों में भी यह परम्परा दिखाई पड़ती है। बिहार वाले दरियासाहब ने कहा है कि जब पवन गगन में पहुँचता है तब प्रेम को पीकर मनुष्य अमर हो जाता है। तात्पर्य यह कि सन्तों का रामनामरस कोरा भावुकतावाद नहीं है, उसकी योगमूलकता को नहीं भूलना चाहिए—

एक पवन जब गगन समाई, पीयत प्रेम अमर ह्वं जाई ।
 प्रेम पियाला पीये कोई, बिना सोस का चीन्है सोई ।
 सकल जिवन कहं खाय चोराई, जिन्ह नहिं 'नामप्रेमपद पाई ।
 प्रेम पिरिति लगाय कैं, सत्तं सबद अघार ।
 नाम बिना नहिं बाचिही, नर कोटि करी बँपार ।'

सगुण भक्तों की नामसाधना में कायायोग में नहीं मिलता। कृष्णभक्तों ने तो कायायोग की निन्दा भी की है।

सन्तों की भक्ति व कायासाधना में विरोधदर्शन का एक कारण बौद्ध-सहजयान की भ्रामक व्याख्या भी है। सरहपाद अपने समय की प्रायः सभी साधनाओं का विरोध करके सहजसाधना की स्थापना करते हैं। कबीर भी सहज समाधि को ही अन्य सबके ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। सरहपाद ने बज्र-यानियों के बाममार्ग की भी निन्दा की है और अनेक स्त्रियों या मुद्राओं के स्थान पर केवल अपनी पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत करने पर बल दिया गया है। सन्त कवियों की भी यही दृष्टि है। किन्तु सरहपाद की

सहज साधना और एक मूर्ख व्यक्ति के साधारण गृहस्थ जीवन में अवश्य अन्तर मानना पड़ेगा । सरहपाद बिना इन्द्रियों को पीड़ित किये हुए अन्तर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्न में सामान्य जीवन को उसका अंग बनाते हैं । चित्तशुद्धि पर इसीलिए सरहपाद अधिक बल देते हैं । बिना चित्तशुद्धि के बाह्य उपाय—दक्षिणाचार व वामाचार दोनों व्यर्थ हैं । किन्तु चित्तशुद्धि के प्रयत्न में रत साधक सामान्य गृहस्थ जीवन से भी मुक्त हो सकता है, यही सहजसाधना है । कबीर भी यही कहते हैं और चित्तशुद्धि के उपायों में कायासाधना या नादानुसन्धान को आवश्यक मानते हैं । सरहपाद, नारोपा, अद्वयवज्र आदि सहजयानी भी कायासाधना का चित्तशुद्धि के लिए अवश्य समर्थन करते हैं, सन्तकवि 'भक्ति' पर सहजयानियों से अधिक बल देते हैं, अतः सहजयान द्वारा प्रतिपादित 'सहजजीवन' के सिद्धान्त से कायासाधना के बहिष्कार का तात्पर्य गृहण करना उसी प्रकार गलत है जिस प्रकार सन्तमत के सहज समाधि के सिद्धान्त से उसका बहिष्कार करना । वृत्तियों पर अनुशासन प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही 'सहज समाधि' और "रामनामरस" प्राप्त होता है, यदि ऐसा न होता तो कीर्तन में मग्न प्रत्येक व्यक्ति को "पहुँचा हुआ" साधक मानना पड़ेगा । अन्तर्मुखी चेतना ही अपना साक्षात्कार कर सकती है, आत्मप्रेम या ब्रह्म में 'लौ' लगाना यही है, इस लौ को वही प्राप्त कर सकता है जिसका चित्त शुद्ध हो, जो सदा अखंड रस का आस्वादन कर सके, बस वही भक्त है । और जिस में पूर्ण समर्पण और कैतवहीनता के साथ चेतना के आनन्दांश की अनुभूति की क्षमता हो । इसके लिए कायासाधना-ज्ञान द्वारा चेतना के अनुसंधान आदि अनेक उपायों को सन्त स्वीकार करते हैं । इसीलिए उन्होंने बार-बार कायासाधना पर बल दिया है, तांत्रिकों ने बतलाया है कि जिस प्रकार भी साधक में आध्यात्मिकता जाग्रत हो, वही उपाय वैध है । मन को वश में लाने के लिए कोई भी उपाय स्तुत्य है ।

सन्तकवियों की भक्ति के विषय में एक और भ्रम दास्य व दाम्पत्यभाव के विषय में है । शैव व शाक्तों में दास्यभाव व दाम्पत्यभाव-दोनों भाव प्राप्त होते हैं । वीरशैवभक्तों में 'अक्कमहादेवी' में मधुरभाव व दासभाव दोनों का वर्णन

१ सदा अखंडित एक रस, सोऽहं सोऽहं होय ।

सुन्दर या ही भक्ति है, बूझें बिरला कोय ।—सुन्दर ग्रन्थ० भाग २, पृ० ६७०

मिलता है।^१ कश्मीरी शैव सम्प्रदाय में 'दास्यभाव' व दाम्पत्यभाव दोनों स्वीकृत हैं। शाक्तों में देवी के साथ तादात्म्य के लिए अपने को स्त्री मानकर उपासना की जाती है। सूफियों में 'रबिया' निर्गुण ब्रह्म के प्रति दाम्पत्य-भाव रखती थी। तात्पर्य यह कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर चलनेवाले साधकों में दास्यभाव, व दाम्पत्यभाव दोनों मिलते हैं। सन्तकवियों में भी भारतीय तांत्रिक परम्परा के अनुसार दास्य व दाम्पत्यभाव दोनों दिखाई पड़ते हैं। वैष्णव परम्परा में तो दाम्पत्यभाव का विकास विशेषतः दिखाई पड़ता है। यहाँ यही दिखाना इष्ट है कि निर्गुणपरम्परा में भी दोनों भाव रहते हैं। मीरा में एक सीमा तक यही निर्गुण परम्परा दिखाई पड़ती है और यही कबीर दादू आदि में दिखाई पड़ती है। धरमदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि में गुरु को ही 'प्रीतम' के रूप में स्वीकार किया गया है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होना चाहिए कि सन्तों की भक्ति में परमतत्त्व के साथ चैतन्य का पूर्ण विलयन ही ध्येय माना गया है। वैष्णवभक्तों के यहाँ गोलोकस्थित परमात्मा के साथ क्रीड़ा में भाग लेने को ही भक्ति का लक्ष्य माना गया है। वैष्णवों के यहाँ जीव का अस्तित्व मुक्ति की अवस्था में भी रहता है किन्तु सन्तों की भक्ति में शराब और पानी की तरह ब्रह्म-जीव की एकता मानी गई है, अतः सन्त कवि रहस्यवादी तान्त्रिकों की परम्परा में आते हैं जबकि वैष्णव भक्ति का विकास पांचरात्र आगम की परम्परा में हुआ है। कबीर मन्सूर में भक्ति का लक्षण दिलचस्प है।

‘भग से पार हो जाने का नाम ही भक्ति है। जब तक यह जीव भग में आया जाया करता है, तब तक कोई भक्ति पद नहीं मिलता।’^२

अतः सन्तों की भक्ति ज्ञानलक्षणा भक्ति है जबकि भक्तों की भक्ति 'भावरूपा' है। यह अन्तर मान लेने पर कबीर के रामनामरस तथा तुलसी के रामनामरस में अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। सन्त रूपहीन सूक्ष्म आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर हर्षित होकर गाने लगता है, जबकि तुलसी का रामनाम रूप के साथ सीमित है। इसीलिए बिहारवालेदरिया साहब ने सगुण भक्तों की बहिर्मुखता पर व्यंग्य करते हुए कहा था—

१ डा० हिरण्यमय, पृ० १२६, १२७

२ कबीर मन्सूर, पृ० १३५८

अगम गम्म करहु तुम दासा, त्यागहु संसय जम कै त्रासा ,
 मन के पछ सब जगत् भुलाना, मन चीन्हें सो चतुर सुजाना ।
 मनहि तीर्थ यह सकल फिरावैं, मन ही मन के पुजा चढ़ावैं ।
 मनहि मारि मनही में आबैं, मनहि चीहि के जग समझावैं ।
 नौधा भगति सब मनहि बुझावैं, मूल भगति बिरला कोई पावैं ।
 जों लगि मूल शब्द नहि पावैं, तों लगि हंस लोक नहि आवैं ।
 अठवल कवल भंवर तहं, गुंजें, देखहु सब्द विचारि ।
 कह दरिया चित चेतहू, देहु भरम सब डारि ।^१

अतः नवधा-भक्ति का समर्थन करने वाले संतों के पदों को उद्धृत करते समय यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सन्तों की 'मूलभगति' के साथ काया—साधना तथा प्रातिभज्ञान जन्य तत्त्ववलीनता का सम्पर्क बहुत अधिक मात्रा में मिलता है । इसीलिए प्रेम और उन्मनावस्था दोनों का एक साथ सम्बन्ध दरियासाहब स्थापित करते हैं—

जब उनमुनी प्रेम परगासा खुलै कंज पुंज निज दासा
 मधुकर राज बास सुख पावैं, लपटि घ्रान संपुट खुलि जावैं ।
 सो पद पंकज दिल में लागा, प्रेम प्रीति मन भी वंरागा ।
 अब संसय भब जात ओराई, प्रेम प्रतीति नाम निज पाई ।^२

अतः वितर्करहित चैतन्य का स्पर्श पाकर ही सन्तकवि मस्त होकर गा उठता है, आराध्य के रूप व क्रीड़ा में मग्न रहने वाले भक्तों से उनके 'प्रेम' व भक्ति का अन्तर स्पष्ट है ।

दरियासाहब ने स्वयं ही 'तुलसी की भक्ति' और संतों की भक्ति में यह अन्तर बताया है—

सुरति, चिन्हें बिनु भये दिवाना ।
 मन परचैं बिनु आप भुलाना ।
 तुलसी तारक मंत्र बूढ़ावैं ।
 राम तारक से जग भरमावैं ।
 माया पछ परसैं सब कोई ।
 निर्भय एह खोजो नहि सोई ।

१ दरियासागर, पृ० १०, ११

२ दरिया साहब, पृ० ११ (दरियासागर)

कह दरिया मुनु पंडिता, यह करता को मेव ।
पत्थर फूल का पूजह, सुमिरन कर सुखसेव ।
दरिया भगति कहावे सोई, जाके मन उजियार ।
अवरि भरम भठ सठ मुए, निर्भय नांहि गंवार ।^१

मारवाड़ी दरियासाहब ने भक्ति और प्रेम का स्वरूप जहाँ समझाया है उसे 'नाद परचे का अंग' कहा है क्योंकि 'राम का नाम' एक शब्द है और इस "शब्द" का आंतरिक नादानुसंधान से अवश्य सम्बन्ध है—

रूप न रेख न वरन है, ऐसा अगम विचार ।
नामी परचा ऊपजै, भिट जाय सभी विबाद ।
नाभि कंबल से ऊतरा, मेरु डंड तल आय ।
खिड़की खोली नाद की, मिला ब्रह्म से जाय ।
दरिया चढया गगन को, मेरु, उलंघया बंड ।
सुख उपज्या साईं मित्या, भेंटा ब्रह्म अखंड ।^२

किन्तु इस प्रकार के योगपरक उद्धरणों पर विचार न कर प्रायः ऐसे उदाहरण चुन लिए जाते हैं, जिन्हें देखकर सगुण भक्तों के पद्यों और संतों के पद्यों में कोई अंतर ही नहीं रह जाता, उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए—

दरिया हिरदम राम से, जो कछु लागै मन ।
लहरें उदठें प्रेम की, ज्यों सावन बरषा घन ।
रसना सेती ऊतरा, हिरवे कीया बास ।
दरिया बरखा प्रेम की, षट ऋतु बारह मास ।
दरिया सुमिरे राम को, आठ पहर आराध ।
रसना में रस ऊपजै, मिसरी के से स्वाद ।^३

सामान्य व्यक्ति के लिए इस प्रकार के पद्यों व सगुण भक्तों के पद्यों में कुछ भी अंतर नहीं है । जहाँ यही समस्या है कि किसी प्रकार भगवान का नाम तो जीभ से निकले, वहाँ भाव, कुभाव, अनख, आलस किसी भी दशा में 'हरिनाम' निकले, अच्छा ही है किन्तु साधना के समय साधक की चित्तवृत्ति पर

१ दरियासाहब, पृ० ४७, ४८, ५० (दरियासागर)

२ दरियासाहब (मारवाड़ी) की बानी पृ० १६

३ वही, पृ० १६

ध्यान देते ही सगुणभक्तों के प्रेम के पद तथा, संतकवियों के प्रेम के पदों में अन्तर प्रतीत होने लगता है, क्योंकि सन्तकवियों में सर्वथा वितर्क रहित स्थिति को प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है, वहाँ तत्त्व की शोध चेतना के भीतर ही होती है, चेतना को सहारा देने के लिए केवल नाम है। जबकि सगुण भक्तों के लिए नयनाभिराम हरिलीलाएं हैं। नाना मनोहर छवियों का ध्यान है। सगुण भक्तों को अपने अस्तित्व की भी चिन्ता रहती है और आराध्य के व्यक्तित्व की भी। कबीर ने एक रमैनी में स्पष्ट रूप से राम, कृष्ण, शिव आदि देवताओं की भक्ति करने वालों की भर्त्सना करते हुए कहा है—

भक्तों भक्तिन कीन शृंगारा, बूढ़ि गए सब मांझहि धारा ।

अर्थात् 'साहब' को छोड़कर जो नाना देवताओं का भजन करते हैं वे साहब को नहीं जानते और नाना वेष बनाते हैं, कोई चन्दन लगाता है, कोई मृत्तिका लपेटता है कोई सख मलता है—ये सब संसार रूपी धारा में डूब कर मर जाते हैं।^१

विश्वनाथसिंह ने उक्त रमैनी की टीका में 'ज्ञानलक्षणा भक्ति करने वाले वेदान्तियों की भी भर्त्सना की है क्योंकि वे (वेदान्ती) कहते हैं कि "हम ही ब्रह्म हैं, ऐसे लोग मन की धारा में डूब कर मरते हैं क्योंकि यह सब मिथ्या है" ऐसा अनुभव अन्ततः मन ही से तो उत्पन्न होता है अतः मन की धारा में ऐसे वेदान्ती डूब मरते हैं।^२ अतः कबीर उसे ही वास्तविक भक्ति कहते हैं जिसमें अलंकार का सर्वथा लोप हो जाय। इसलिए कबीर तांत्रिक परम्परा के ही भक्त हैं।

आचार—चर्या या आचार के प्रति तांत्रिकों का दार्शनिक दृष्टिकोण सन्त मत से सादृश्य रखता है। तन्त्र मूलतः बाह्याचार विरोधी हैं, सन्तों का भी यही दृष्टिकोण है। किन्तु तन्त्र साधना के सोपान के रूप में चर्या को अनिवार्य मानते हैं।

पंथ के रूप में परिणत होने पर यह सम्भव नहीं था कि संतगुरु सिद्धान्तः आचारविरोधी होने पर भी उसका प्रयोग आरम्भ न करते। क्योंकि सम्प्रदाय बनने पर "सिद्ध" और "साधारण" में भेद करना ही पड़ता है, अतः कबीर पंथ में प्रवेश करने पर पान का 'परवाना' दिया जाता है। इस परवाने पर

१ कबीर बीजक की टीका विश्वनाथ सिंह, पृ० ४५

२ वही

सत्तनाम लिखा रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि परवाना देखकर मृत्यु के द्वार के प्रहारी साधक को नहीं रोक सकते, वह मृत्यु द्वार से पार होकर परलोक चला जाता है। कबीरपंथी भक्तों की ही तरह १६ उपचारों को भी मानते हैं।

कबीरपन्थ में भी गुरु का चरणामृत लिया जाता है। गुरु के चरणों को धोकर उस पानी से गोलियाँ बना ली जाती हैं, शिष्य उन्हें प्रेम से खाते हैं। हिमालय की पहाड़ियों में कबीरपन्थी निरंकार के नाम से शूकरों का बलिदान करते हैं।^१ कबीरपन्थी अपने ललाट पर सीधी रेखाएँ बनाते हैं, श्वेत वस्त्र पहनते हैं, सिर, दाढ़ी मुड़ाये रहते हैं। कबीर के एक पद में चन्दन का लेप, नवीन वस्त्रों का चंदोवा, सतगुरु के लिए आसन, गजमुक्ता द्वारा चौका लगाना, धोती, नारियल, मिठाई, केले, कपूर, सुगन्धियाँ, पान, सुपारी, कलश, दीपक आदि का प्रबंध करना, गायन और वादन, नारियल को पुरुष के लिए समर्पित करना आदि आचार वर्णित है।^२

कबीरपंथ में तांत्रिकों की ही तरह बाह्याचारों को प्रतीक रूप में भी ग्रहण किया गया है—

चंदन का लेप	— आत्मानुभूति
चंदोवा	— परमात्मा की शरण
गजमुक्ता	— विवेक ज्ञान
पान-सुपारी	— प्रेम निवेदन
कलश	— शरीर
दीपक	— ज्ञान का प्रकाश
मृदंग का ताल	— अनहदनाद
नारियल	— सुरति

परवर्ती कबीरपंथ ने तांत्रिकों के 'भैरवी चक्र' के आधार पर 'चौका—पद्धति' का आविष्कार किया है। इसे त्रिदोषनाश निमित्त बताया गया है।^३ कहा गया है कि जिस प्रकार शिव, गरुड, विष्णु, सूर्य, शक्ति, राम और कृष्ण आदि जड़मूर्ति की पूजा होती है, उसी तरह कबीर साहब के मत में भी गुरु,

१ डा० बड़वाल, पृ० ३२५

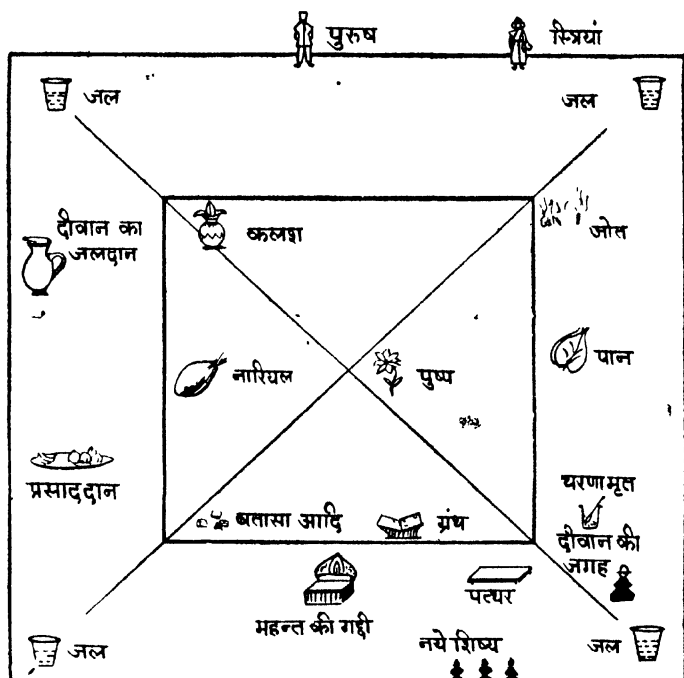
२ वही, पृ० ३२८

३ चौकाविधान—पृ० १, साधु बंसूदास कबीरपन्थी, बड़ोवा, १९४० ई०

साधु व चैतन्य मूर्ति की पूजा होती है। जिसको चौका कहते हैं।^१ चौकाविधान नामक पुस्तक में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण ये तीन प्रकार के दोष होते हैं। ये ही त्रिदोष कहे गये हैं, इनके नाश के लिए सात्त्विकयज्ञ या गुरुपूजा का विधान किया गया है।

चौकाविधान के लिए प्रत्येक पूर्णमासी तथा अमावस्या का समय पवित्र माना गया है। इन अवसरों पर सब साधुओं को बुलाकर 'सत्संगति' की जाती है। चौकाविधान का लेखक स्वीकार करता है कि आजकल चौकाविधान "अपवित्र" हो गया है।^२

जी० एच० वेस्टकोट ने जो चौका का चित्र दिया है, वह तांत्रिकों के मण्डल का ही अनुकरण मात्र प्रतीत होता है।^३



१ चौकाविधान पृ० १ साधु बंसूदास कबीर पन्थी बड़ौदा १९४० ई० भूमिका

२ वही, पृ० ८

३ कबीरपन्थ: जी० एच० वेस्टकोट, कानपुर, पृ० १२६

जड़मूर्ति-उपासना—तान्त्रिकों की तरह परवर्ती कबीरपन्थ में पत्थर, काष्ठ रक्त, सिन्दूर, बालू या चित्रमय मूर्ति की रचना की जाती है और इनका ध्यान किया जाता है ।

चेतन्य मूर्ति उपासन—यह गुरु व सन्तों के द्वारा प्रत्यक्ष परमात्मा की उपासना है और सूक्ष्म है । यद्यपि यह कहा गया है कि गुरु या सन्तों के शरीर की उपासना न करके सूक्ष्म गुरु-शरीर की उपासना की जानी चाहिए, किन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त निभता नहीं है और गुह्याचार इस पन्थ में प्रविष्ट कर गया है । कबीर के मुख से कहलवाया गया है—

बनजारिन बिन्ती करै, सन्त सुन साजना ।
साधो नरियर लीन्हें हाथ, सन्त सुन साजना ।
बिना बीज का वृक्ष, सन्त सुन साजना ।
साधो बिन धरती अंकूर, सन्त सुन साजना ।
जाका मूल पताल है, सन्त सुन साजना ।
साधो नरियर शीश अकाश, सन्त सुन साजना ।
बिना भेद जनि मोरद्व, सन्त सुन साजना ।
साधो जीव एकोतरि हानि, सन्त सुन साजना ।
गुरु का शब्द ले मोरद्व, सन्त सुन साजना ।
साधो फूटे यम का कपार, सन्त सुन साजना ।
सखियाँ पांच सहेलरीं, सन्त सुन साजना ।
साधो नौ नारी विस्तार, सन्त सुन साजना ।
कहीं कबीर बघेल से, सन्त सुन साजना ।
रानी इन्द्रमती सरदार, सन्त सुन साजना ।^१

तान्त्रिकों की ही तरह इस पद का प्रतीकात्मक अर्थ किया गया है कि बनजारिन ही जीवात्मा है परन्तु गुह्य साधकों में इनका अभिधेयार्थ भी प्रचलित है, उसी तरह जिस तरह तान्त्रिकों के यहाँ चांडाली, डोमिनी आदि शब्दों के अभिधेयार्थ भी स्वीकृत थे । महन्त लोग चौका मे बैठकर नारियल को तोड़ते हैं अथवा इस क्रिया द्वारा वे कपाल फोड़ते हैं । इसका तात्पर्य है नारियल की 'गिरी' या 'सार' प्राप्त कर लेना तथा कपाल फोड़ने का अर्थ है, काल विजय कर लेना । इसी तरह 'तिनुका' (तृण) तोड़ने का भी प्रतीकार्थ इस पंथ में प्रचलित है ।

कबीरपंथ में गुरु की सेवा और पूजा का विस्तृत विधान मिलता है। 'बन्दगी' करते समय शिष्य गुरु को ब्रह्म रूप देखता है।

चेतन जोति अनूप है, सब घट रहा समाय ।

सत्य कबीर बन्दन करौं, दीन्हें सोई लगाय ।^१

तान्त्रिकों की तरह वामाचार के समय कहे गये स्तोत्रों की जगह 'स्त्री-प्रसंग' के समय का एक स्तोत्र मिलता है—

उग्र ज्ञान को सुमिरि के

सत सुकृत को ध्याय ।

निरमल चित सों परसिया

सतगुरु होय सहाय ।^२

तात्पर्य यह कि 'स्त्रीप्रसंग' के समय 'उग्रज्ञान' और 'निरमलचित्त' की आवश्यकता है अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है। जो कबीर बाह्याचारो का खंडन करते थे, उनके मुख से कहलवाया गया है—

माला तिलक निन्दा करें, ते परगट जमबूत ।

कहैं कबीर विचारि कें, तेई राक्षस भूत ।

द्वादश तिलक बनावई, अंग अंग अस्थान ।

कहैं कबीर विराजही, उज्ज्वल हंस समान ।^३

नानक के सिक्ख मन्दिर में पुस्तक-पूजा की जाती है और पंचककार'^४ का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है। फर्ग्युसन ने कोटबा के सतनामियो में एक गायत्री क्रिया का उल्लेख किया है। इस क्रिया में मनुष्य शरीर के मूत्र पुरीष आदि गन्दे द्रव्यों का एक पेय बनाया जाता है और साधना में उसका बड़ा महत्व बताया गया है।^५ राधास्वामी सम्प्रदाय में गुरु की पीक शिष्यगण पीते हैं और गुरु के उच्छिष्ट को 'जोतप्रसाद' कहकर ग्रहण करते हैं। गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द के उदासी सम्प्रदाय में भस्म और विभूति के

१ सुमिरणवर्शन-युगलदास, पृ० २, ३, कबीर धर्म नगर, सन् १९११ ई०

२ वही, पृ० ६

३ कबीर मस्सूर, पृ० १३, ६३

४ केश, कंधा, कटार, कड़ा और कच्छ

५ डा० बड़बवाल, पृ० ३२३

प्रति बड़ी निष्ठा है। इनका अपना एक गुप्त मन्त्र है जिसमें यह कहा गया है—

चरण साधका धो-धो पीयो, अपर साध को अपना जियो।^१

नामधारी सम्प्रदाय के साधक आराधना के समय सिर हिलाते हैं और शैवों की तरह चिल्लाते हैं।

आचारखंडन—सन्तमत मूलतः आचार-विरोधी मत था। यह प्रत्येक प्रकार के पौरोहित्य का विरोधी था। सुन्दरदास कहते हैं कि तू क्यों परिश्रम करता है, क्यों व्यर्थ तीर्थादि में भटकता है, सत्य तो घर बैठे ही आता है।^२ कोई दूध पीता है, कोई सिद्धि के लिए पागल हो गया है, केवल सन्त ही ऐसे गाय के बछड़े हैं, जो नित्य ही बिना परिश्रम के जल पीते हैं और मस्त रहते हैं।^३ यन्त्र, मन्त्र और झाड़-फूंक करना व्यर्थ है, रसायन क्रिया भी व्यर्थ है। इन सब बाह्यक्रियावादियों के सिर पर रेत पड़ती है।^४ केश चुंचन से कोई यति नहीं होता, न कान फाड़ लेने पर कोई योगी होता है, यह सब सिद्धियाँ उपहासास्पद हैं।^५

चित्त की शुद्धि ही सब कुछ है, उसी की प्राप्ति साधना का सार है। अन्तर्मुखता ही प्रक्रिया है, तंत्रों का यह सिद्धान्त ही सन्तमत द्वारा आचार खंडन की पृष्ठभूमि में काम कर रहा था। इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं—

लागी प्रीति पिया सों साँची, अबहूँ प्रेम मगन होइ नाँची।

लोक वेद डर रह्यो न कोई, कुल मरजाव कबे का होई।^६

सुन्दरदास ने सभी सम्प्रदायवादियों को साधना का वास्तविक महत्व समझाया है—

१ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा: परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग पृ० ३६२

२ सुन्दर ग्रन्थावली, खंड २, पृ० ७३३

३ वही

४ यंत्र मंत्र बहुविध करे, झाड़ा बूँटी देत।

सुबर सब पाखण्ड है, अंत पड़ै सिर रेत ॥ वही पृ० ७३५

५ वही,

६ सुन्दरग्रन्थावली, खंड २, पृ० ६०५

जंगम कहावे तो तू एक शिव ही कौं देखि,
 थावर जंगम सब द्वैत मानिए ।
 जैनी तू कहावे तो तू बौध बुद्धि दूरि करि
 सुन्दर कहत जिनराज उर आनिए ।
 भक्त जू कहावे तो तू चित्त एक ठौर आनि,
 स्वासो स्वास सोहं जाप यही माला फेरिए ।
 आगमी कहावे तो तू अगम ठौर कौं जान.....^१
 रामानन्दी होय तो तू तुच्छानन्द कौं विचार,
 निम्बादन्ती होय तो तू, कामना कटुक त्याग ।
 मध्वाचारी होइ तो तू, मधुर मत कौं विचारि
 विष्णु स्वामी होय तो तू व्यापक विष्णु को जान ।^२

कबीर के अनुसार १४ विद्याओं में पारंगत विद्वान भी अन्तर्मुखता के अभाव में साधना का मर्म नहीं जान पाता किन्तु जो हंस-रक्षा को प्राप्त हो जाता है, वह आत्माराम में लीन हो जाता है ।^३ अतः न वैष्णवों की तरह उपवास करने की आवश्यकता है, न तपस्वियों की तरह कठोर साधनाओं की, रामनाम रस अर्थात् तत्त्वपरामर्श ही पर्याप्त है ।^४

तात्त्विक अनुसंधान को ही साधना में उपयोगी मानने के कारण सन्तों ने आचारों का खंडन किया है । गुरु नानक ने कहा है कि जगत् को न 'जोर' से जीता जा सकता है न बाहरी 'जुगति' से ।^५ "जोर" से नानक का तात्पर्य यह है कि सामान्य ऐन्द्रिक भोगों को भोगते समय भी यदि तत्त्व का अनुसंधान चलता रहे तो सिद्धि मिल सकती है । कोरे हठ योग से इन्द्रियों को व्यर्थ ही क्लेश भी होता है और सिद्धि भी नहीं मिलती । इसी तरह ज्ञान के प्रदर्शन से भी कोई लाभ नहीं होता ।^६ नानक के अनुसार आचार-पालन में धन्वे की प्रवृत्ति अधिक

१ सुन्दर ग्रन्थावली खण्ड २, पृ० ६१०, ६११

२ वही, पृ० ६१७

३ कबीर का बीजक-रामनारायण लाल, पृ० २

४ जगजीवन बानी, पृथम भाग, पृ० १२

५ जोर न सुरती गिआनि बिचारि, जोर न जुगती छुटे संसार ।—ग्रन्थ-साहब पृ० ७

६ ता कीआ गला कबीहा न जाहि, जे को कहै पछै पछुताइ—वही पृ० ८

रहती हैं।^१ उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि मनुष्य आचारों से पवित्र नहीं होता, तत्त्व की 'ब्रूम' से पवित्र होता है।^२ इस ब्रूम के बिना सब 'करम धरम' व्यर्थ हैं। इस कर्मधर्म के समर्थन के लिए जो पोथियों में ज्ञान मिलता है, वह बन्धन ही है।^३ बाहरी चमत्कारों के चक्कर में फंसे सिद्धों को भी वह व्यर्थ कहते हैं।^४ गुलाल साहब भी आचारों को धोखा ही कहते हैं, उन्होंने आचार वादियों को "अधम" कहा है।^५ आचारों के पीछे तृष्णा के कारण गुलाल साहब घोषणा करते हैं—

माला जपौ न मंतर पढ़ौ, मन मानिक को प्रम ।

कथ गुहरि पहिरो नहीं, कह गुलाल मेरे नेम ॥^६

धरमदास जिस आचार को पसंद करते हैं, वह आंतरिक एकता का पाणि-ग्रहण संस्कार है। सतगुरु जिसमें ब्राह्मण है, जो लगन शोधन करते हैं, वह जिस वर के साथ विवाह करना चाहते हैं, उसका न पेट है, न कर है, न पग। धरमदास इस वर से मिलने के लिए झालर बाधते हैं, बेंदी से गोभित होते हैं, वह चन्द्र व मूरज के पार जाना चाहते हैं, जहाँ माणिक्य का दीपक प्रकाशित हो रहा है, वहाँ प्रेम का स्तम्भ गाड़ कर गँबी 'विस्तर' बिछाया जाता है, वहाँ कनक के कलश रखकर मंगल गाए जाते हैं, जहाँ मोतियों की झालर आभा बिखेरती है, जहाँ तिरबेनी से नीर मंगाकर और जहाँ अक्षयवट की डार लेकर गुकृत का कलश भर कर पाँव पूजे जाते हैं।^७ यही अद्भुत आध्यात्मिक आचार संत-कवियों को मान्य है, लौकिक आचार उन्हें मान्य नहीं है।

धरमदास स्पष्ट कहते हैं कि इस आध्यात्मिक आचार के लिए आत्मा और इन्द्रियों को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है। रुचि के साथ प्रेम सहित भोजन करना चाहिए, क्योंकि भगवान् अन्न छोड़ देने पर नहीं मिलते और न

१ गुरि राखे से उबरे, होरि मुठीं धंधे ठगि—वही, पृ० १६

२ बिनु ब्रूम तू सदा नापाक, वही पृ० ३७४

३ वही, पृ० ४०५ तथा ४६६

४ वही पृ० ४७०

५ भाई रे धोखे सब अरुझाना, केतिक अधम कहाँ लागि बरनों,
करम धरम है जाल—गुलालबानी, पृ० २१ तथा ४५

६ गुलाल बानी, पृ० ५६

७ धरमदास की शब्दावली, पृ० ४६ से ५१ तक

तीर्थादि गमन से मिलते हैं, घरबार छोड़ देने से भी वह नहीं मिलते हैं, न रात दिन जगते रहने से वह मिलते हैं, वह तो दया व वास्तविक धर्म से ही मिलते हैं, दिखावे से नहीं ।^१

आचार के ऐसे घोर विरोधी सन्तमत के परवर्ती रूप में जब हम आचार-निष्ठा देखते हैं तो आश्चर्य और दुःख होता है क्योंकि इन्हीं आचारों के कारण अनेक उपसम्प्रदाय खड़े हो गये । मौलिक तत्त्वानुसंधान की एकता होने पर भी तांत्रिकों के उपसम्प्रदायों में भी मंत्र, वेप आदि बाहरी बातों के कारण ही भेद उत्पन्न हो गये थे । यही परिणति सन्तमत की भी हुई ।

कथाएं—कथा तंत्र साहित्य का मुख्य भाग नहीं है किन्तु आगम या संगीति का प्रादुर्भाव किसी कथा के साथ ही हुआ है । उदाहरण के लिए पार्वती शिव से कहती है कि संसार में पापी ही अधिक है, इनके उद्धार की कोई व्यवस्था नहीं की गई है आपने यज्ञयाग का विधान केवल विद्वानों के लिए ही किया है । उच्च ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही उनसे सद्गति प्राप्त कर सकते हैं । और तब भगवान् शंकर तंत्र की उत्पत्ति के कारण बताते हैं । शंकर के अनुसार इस संसार में विलास और वासना का ही प्राबल्य है अतः उन्होंने इस गुह्यमार्ग का आविष्कार किया है ।^१ गुह्यसमाज—तंत्र में भी कथा के साथ ही तंत्र-चर्चा प्रारम्भ होती है । पांचरात्र आगम में नारद की श्वेत द्वीप की कथा प्रचलित है । दूसरे प्रकार की कथाएं तंत्रों में गुरुओं और साधकों के विषय में मिलती हैं । कुछ कथाएं चमत्कारों के विषय में हैं । तांत्रिकों की प्रवृत्ति के अनुसार ये सब कथाएं आध्यात्मिक सत्तों की व्यंजना भी प्रस्तुत करती हैं ।

सन्तकवियों के विषय में भी ऐसी अनेक कथाएं प्रचलित हैं । कबीर विषयक कथाएं बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं । जगजीवनदास के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपनी लड़की के विवाह में बरातियों को बैंगन का साग खिलाया था और बरातियों ने यह समझा कि वे मांस खा रहे हैं ।^३ बुल्लासाहब गुलालसाहब के

१ आतम कष्ट कबहुँ नहिं दीजैं रुचे सो प्रेम से भोजन कीजैं ।

हरि न मिले अन्न छाँड़े, हरि न मिले डगर ही छाँड़े ।

दया धरम जहं बसे सरीरा, तहां खोजिले कहै कबीरा—वही पृ० ४

२ यस्य पापादिकं देवि स कथं स्वर्गभाजनम्, अतएव महेशानि गुप्तभावं मया कृतम्-मेरुतंत्र, अध्याय ४, पृ० ६, बम्बई, संवत् १९६५ शके ।

३ जगजीवन की बानी, प्रथम भाग, पृ० २

यहाँ हल जोतने पर नौकर थे। गुलाल ने ध्यानमग्न बुल्ला पर पादप्रहार किया तो बुल्ला के हाथ से दही छलक पड़ा। पूछने पर बुल्ला ने बताया कि वह मन ही मन सन्तों को भोजन परोस रहे थे, केवल दही बाकी था, सो गिर गया।^१ सिक्ख गुरुओं के चमत्कार की कथाएँ तो अनेक हैं। सिक्खों ने सोढ़ी खत्रीजाति का सम्बन्ध राम के पुत्र लव और कुश के साथ जोड़ा है। रघुवंशी सोढ़ीराय ने कुश के वंशजों को पंजाब से मार भगाया था। वे बनारस की ओर भागकर वेद का प्रचार करने लगे।^२ एक कथा से सन्तमत के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। ईश्वर ने कहा कि जब यह सृष्टि मैंने रची तो सर्व प्रथम असुरों और राक्षसों की रचना की, उन्होंने मेरी उपासना बन्द कर दी, तब मैंने देवता बनाये, वे यज्ञों में बलि लेने लगे और अपने को ही सब कुछ समझ बैठे। तब मैंने आठ सिक्ख गुरु बनाये जो दिग्पाल के रूप में रचे गये ताकि रक्षा हो सके। आगे कहा गया है कि जिन्होंने वेद-मार्ग पकड़ा वे आचारवादी रहे और जिन्होंने मुझसे प्रेम किया उन्होंने वेद-मार्ग छोड़ दिया।^३

इसी प्रकार दरिया साहब के विषय में कहा गया है कि गणेश पंडित ने दरिया साहब को तभी प्रामाणिक माना था जब गंगा ने उनके पैर धोये थे।^४

कथाओं से आध्यात्मिक अर्थ भी निकाले गये और सम्प्रदाय के लोग तो इन कथाओं का अभिधेयार्थ भी सत्य मानते हैं। गोरखनाथ के विषय में कहा गया है कि वे “सिद्ध-शरीर” धारण कर अब भी जीवित है। सन्तों के विषय में भी यही धारणा है। गोपीनाथ कविराज “सिद्ध-शरीर” की सत्ता की सम्भावना ही नहीं मानते, उसे सिद्ध तक कर सकते हैं, अतः कबीर ने जो गोरखनाथ से वार्तालाप किया था वह गोरखनाथ के “सिद्ध-शरीर” से किया था। इस कथा पर जब आलोचक हँस पड़ता है तब सन्तकवि उसकी बहिर्मुखता पर सहानुभूति दिखाते हैं, क्योंकि कथा का अभिप्राय गूढ़ है !

परवर्ती सन्तमत में कथाएँ पौराणिक रूप अधिक धारण करती हैं। कबीरमन्सूर के अनुसार सन्तमत को छोड़कर अन्य मत निरंजन के द्वारा

१ बुल्ला का शब्दसार-जीवन चरित्र भाग

२ सिक्ख रिलीजन, जिल्द १० पृ० २६८

३ वही

४ संतकवि दरिया-धर्मनंद् ब्रह्मचारी, पृ० १६

फैलाये गये हैं, अतः जब निरंजन ने अपनी राजधानी भांभरी द्वीप में स्थापित की, तब ज्ञानीजी उस द्वीप में गये और सत्य नाम की “हाँक” लगाई। यह हाँक लगाने की परम्परा गोरखपंथी योगियों की कथाओं से ली गई है। भांभरी द्वीप में काल पुरुष और योगजीत (कबीर) में झगड़ा हुआ। कालपुरुष ने योगजीत पर दाँत मारा तब योगजीत ने उसका सूँड़ पकड़ कर ऐसा आघात किया कि जिससे वह दूर जाकर गिर पड़ा। अन्त में उसने यह स्वीकार किया कि उसने मनुष्यों को फँसाने के लिए वेद, शास्त्र, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा, यंत्र-मंत्र, हवन आदि की रचना की है। कबीर ने उसे डाटा कि हे काल बटमार ! जिस जीव को मैं शब्द सुनाऊँगा उसके ऊपर कुछ वश नहीं चलेगा।^१ कबीर ने तब सत्य युग में सुकृत जी के नाम से, त्रेता में मुनीन्द्रजी के नाम से, द्वापर में कुरुगामयजी के नाम से तथा कलियुग में सत्य कबीर नाम से अवतार लिया। कबीर ने पुरी में जाकर पंडों को ललकार कर कहा कि आज से जगन्नाथपुरी में छूआछूत नहीं रहेगी। कलियुग में चौदहवीं बार कबीर काशी की लहरिया तालाब पर प्रकट हुए। कबीर को सिकन्दर लोदी ने अग्नि में जलाया, कुएँ में डाला परन्तु कबीर को वह मार नहीं सका। एक बार बादशाह ने तेरह गाड़ियाँ कागज़ कबीर के पास भेजा और कहा कि यदि ढाई दिवस में कबीर ने उन्हें लिख दिया तो उन्हें सिद्ध मान लिया जायगा। कबीर ने तांत्रिकों की तरह अथवा एक जादूगर की तरह एक लकड़ी उन कागज़ों पर घुमाई और वे पुस्तकें लिख गईं।^२ ऐसी कथाओं को सिद्धों की चमत्कारवादी परम्परा में ही रखना चाहिए।

यह स्मरणीय है कि सन्तमत की बहुत सी कथाएँ पद्यवद्ध भी की गई हैं, अतः कविता के संदर्भ में उन कथाओं पर यहाँ विचार हो सकता है।

अभिष्यंजना-पद्धति — संतकवियों ने तत्त्व की ‘कथनी’ में प्राचीन परम्परा को ही स्वीकार किया है। तत्त्व के कथन में अथर्ववेद भी गुह्यज्ञानरूपक पद्धति को अपना कर चला था।^३ गुह्यज्ञान को विचित्र ढंग से कहने की प्रवृत्ति को हम ब्राह्मणों व उपनिषदों में भी देख चुके हैं।^४ तांत्रिकों में रूपक, प्रतीक व

१ कबीर मन्सूर, पृ० ६६ से ६९ तक

२ कबीर मन्सूर, पृ० ८१, ८३, १५७

३ अथर्ववेद में तांत्रिक तत्त्व-गुह्यज्ञानरूपक परम्परा

४ यजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में तांत्रिक तत्त्व-कथन पद्धति

विपरीत-कथन पद्धति विशेषरूप से विकसित हुई है। तंत्रालोक में अभिनव गुप्त प्रत्येक शब्द का प्रयोग प्रतीकार्थ में प्रयुक्त करते हैं, उससे गूढ़साधना भी संकेतित होती है और उच्च दार्शनिक सिद्धान्त भी। ऊपर से देखने पर तांत्रिकों की शब्दावली कामशाम्बीय दिखाई पड़ती है परन्तु गहराई से विचार करने पर वही शब्दावली दार्शनिक तत्वों को भी स्पष्ट करती है। कबीर भी इसी पद्धति पर गोमांसभक्षण व मदिरापान का उपदेश देते दिखाई पड़ते हैं।^१ शैव-शाक्त-नाथ व संतों में यह परम्परा अखंड रूप से प्रवाहित होती है। नाथपंथी जानबूझ कर हठयोग के प्रचार के लिए तांत्रिक कथन-पद्धति से सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित करते थे। इसलिए उन्होंने कहा है कि गंगा और यमुना के मध्य में तपस्विनी बालविधवा रहती है, उस पर बलात्कार करना चाहिए।^२ इसका वास्तविक अर्थ है कि सुषुम्णा नाड़ी में बल पूर्वक श्वास-संचालन करना चाहिए।

प्रतीकों में बोलने के कारण सन्तकवियों के अनेक प्रतीकों को उसी प्रकार समझना पड़ता है जिस प्रकार तांत्रिकों की शब्दावली को समझना पड़ता है। पंडित ह० प्र० द्विवेदी तथा डा० बड्धवाल ने सन्तकवियों के ऐसे प्रतीकों के कुछ अर्थ दिये हैं।^३

सुन्दर ग्रंथावली में राशि राशि प्रतीक प्राप्त होते हैं—

मछरी बगुला को गहि लायो, मूसें लायो सांप ।

सूबें पकरि बिलइया लें गई, ताकें मुए गयो संताप ॥

मछरी=मनसा । बगुला=दम्भ । मूसा=मन । सांप=संशय । सूआ=प्राण । बिलइया=दुर्मति ।

बेटी अपनी मा गहि लाई, बेटे अपनी लायो बाप ।

बेटी=बुद्धि । मा=माया । बेटा=ज्ञान । बाप=ईर्ष्या ।

१ नितं अमावस नितं ग्रहन होइ, राहु घास तन छीजं ।

सुरही भच्छन करत वेदग्रुख, घन बरिसं तन छीजं ।

कबीर-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६

२ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।

बलात्कारेण गृह्णीयात....., कबीर, ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ४६

३ वही, पृ० ८३, ८४, ८८, ९१ तथा

डा० बड्धवाल, पृ० ३७७

कुंजर कौं कीरी गिलि बंठी, सिंघ हिं खाइ अघानो स्यार ।

मछरी अग्नि माहिं सुख पायो, जल में हुती बहूत बेहाल ।

कुंजर = काम । कीरी = बुद्धि । मछरी = मनसा । अग्नि = ब्रह्म । जल = काया ।^१

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संतों ने नवीन प्रतीकों व रूपकों को ग्रहण किया है । कथन-पद्धति की तांत्रिक परम्परा को स्वीकार करके भी संतकवियों ने प्रतीकों व रूपकों की विविधता में मौलिकता का बहुत अधिक परिचय दिया है । साधारण जीवन से चरखा, बिल्ली, मछली, तोता, वृक्ष आदि प्रतीक चुनने में संतों ने निपुणता व व्यावहारिक ज्ञान का परिचय दिया है, किन्तु जहाँ तक आदि स्रोत का प्रश्न है, सन्त तांत्रिकों के ही ऋणी हैं । स्मृतियों के नियमों में जकड़े हुए तथा शास्त्रीय ज्ञान से आतंकित समाज को गूढ़ अनुभूतियों की ओर आकर्षित करने के लिए शैव, बौद्ध, शाक्त साधक प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग करते थे । इससे तांत्रिक पुस्तकीयविद्या का उपहास करके जनता में अपने व्यक्तित्व और विचारों की विशिष्टता बनाये रखते थे, किन्तु तांत्रिकों की शब्दावली में कामवासनापरक शब्दावली का प्रयोग अधिक हुआ है । इसकी जगह पर सन्तों में ओज और नैतिक दृढ़ता अधिक दिखाई पड़ती है ।

सन्तों की 'ककहरापद्धति' का स्रोत भी तांत्रिक परम्परा ही है । सम्भवतः सरहपाद से इस परम्परा का प्रचार प्रारम्भ होता है—

क का (कुलिश) मातृकमलमध्ये स्थित यह काया बेधि अमृत भरे ।

ख खा ख-सम बसि ललाट शून्य..... ।

ग-गा गमन लास्य करि करि स्थूल कर..... ।^२

भीखासाहब का ककहरा इस प्रकार है—

अजि लेहु सुरति लगाय, ककहरा नाम का ।

क—काया में करत कलोल, रेनि दिन सोहं बोल ।

ख—खोजें जो चित लाय, मरम को अन्तर खोल ॥

१ सुन्दरपंथावली, भाग २, पृ० ५१३ से १६ तक तथा ऐसे ही अन्य दृष्टव्य पद, पृ० ५१६ से ५६६ तक ।

२ बोहाकोशगीति—महापंडित राहुल, बिहार, राष्ट्रभाषापरिषद, पटना, पृ० १२६

ग—ग्यान गुरु दाय्या कियो, दियो महा परसाव ।
 घ—घुंमड़ि घहरात गगन में, घटा अनाहद नाव ॥
 त—तैन सों देखो उलटि कै, ठाकुर को बरबारी ।
 च—चमतकार वह नूर, पूर संतन हितकारी ।
 छ—छिन मां मनि तिन कर्म गयो है, जीव ब्रह्म के पास ।

ककहरा के ही अनुकरण पर अलिफनामा भी लिखा गया—

बिन हरि कृपा न होय ककहरा ज्ञान का ।
 अलिफ-अलाह अमेव सुरति जब मुसिद बेवे ।
 बे—कहकै नहि दूर निकटहीं बरसन लेवे ।
 ते—ते व्यापक सकल है जल थल बन गृह छाड़ ।
 से—से आप मासूक बनो हैं कोउ आसिक बरसाय ।
 जीम—जबून है जहर जस्त को भोग सुभारी ।
 हे—हबक न समुझत नान करम सों करत खुबारी ।^१

सिद्ध-परम्परा ने, इस प्रकार लौकिक काव्यरूपों को अपनाने की जो प्रेरणा दी थी, वह प्रेरणा सन्त काव्यरूपों में प्रतिफलित हुई है ।

सन्त कवियों के वाणी विभाग पर भी बौद्ध प्रभाव दिखाई पड़ता है । 'बोधिचर्यावतार' के 'वीर्यपारमिता' नामक सप्तम परिच्छेद का विषय कबीर और दादू आदि सन्तों के 'सूरातन अंग', के विषय में मिलते हैं । तथागत का 'मध्यपंथा' (मध्यमाप्रतिपदा) और कबीर व दादू का 'मधि को अंग'^२ देखकर विस्मित होना पड़ता है ।^३

कथनी का सामाजिक पक्ष—सन्तों की कथनी युगान्तर उपस्थित करने वाली है । सन्तकवि अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, सैद्धान्तिक व्यवस्था के कठोर आलोचक हैं । वे वर्ग, वर्ण जातिपाँति रहित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पक्षपाती हैं ।

भारतवर्ष में रहस्यमार्गी सम्प्रदाय अपने समय की सामाजिक व्यवस्था के कठोर आलोचक रहे हैं । उपनिषदों ने कर्मकांड की भर्त्सना की है । आगे तांत्रिकसिद्ध शताब्दियों तक वर्णों व वर्गों पर आधारित समाज के अन्तर-

१ भीखासाहब की बानी, पृ० ७४, ७५

२ कबीरग्रंथावली, पृ० ५३ तथा ६८

३ संस्कृति संगम : क्षितिमोहन सेन, पृ० ६८, ६९

द्वन्द्वों का उद्घाटन करते हैं और बाह्य विधि-निषेधों की आलोचना ही नहीं करते, अपितु अतिवाद की सीमा तक जा पहुँचाते हैं। उनकी उच्छ्रंखलता आदर्श है, ऐसा समझ बैठना भूल है। लक्ष्य करने योग्य बात केवल यह है कि समाज को संगठित करने के लिए जो नियम बनाये गये थे उनके दुरुपयोग से समाज अविभाज्य इकाई का रूप धारण नहीं कर सका और अनेक जातियों व उपजातियों में बँट गया। जन्म से जातिवाद के कारण कठोरता के साथ जातिवाद की रक्षा की गई, धर्म व साधना के माध्यम द्वारा इसी सामाजिक जड़ता के विरुद्ध विद्रोह का दूसरा नाम ही आगम या तन्त्र है। दूसरी ओर तन्त्र उच्चवर्गीय संस्कृति से भिन्न लोक-विश्वासों, साधनाओं, रीतिरिवाजों, एक शब्द में सम्पूर्णलोकमानस को आगमों में समेटने का प्रयत्न करते हैं।

तान्त्रिकों का लक्ष्य था ऐसे समाज व जीवन का निर्माण जिसे “सहज” कहा जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तांत्रिक साहसिक पथ अपनाते हैं, किन्तु सन्त कवि सामान्य पथ को नहीं छोड़ते। प्रक्रिया के इस अन्तर को छोड़कर दोनों मार्गों में उक्त आधारभूत एकता दिखाई पड़ती है। सन्त कवियों से पूर्व सहज जीवन रक्षा व सामाजिक विषमता के नाश के लिए वीर-शैवसन्तों ने साहसिक कथनी प्रस्तुत की थी—

“वही अन्त्यज है जो प्राणियों की हत्या करता है, जो गन्दी चीजें खाता है वही चारुडाल है।”^१ ऐसा कहते समय वीरशैवों का उद्देश्य जाति प्रथा पर प्रहार करना ही था।

सन्त वसव जाति से ब्राह्मण थे अतः निम्न जातियों के वीरशैव सन्त उन पर पूर्ण विश्वास नहीं करते थे, इसीलिए उन्होंने अपनी जाति पर पश्चाताप किया है—

हे कूडलसंगम देव ! उत्तम कुल में पैदा होने का कैसा भारी बोझ तुमने मेरे सिर पर लाद दिया है। यदि मेरे पिता डोहर कक्यया होते और मेरे दादा चेन्नय्या होते तो कितना अच्छा होता। मैंने तो श्वपच्यया से भक्ति के सदगुणों की शिक्षा पाई है। मैं कैसा अभाग हूँ कि मेरा जन्म ऐसे कष्ट-दायक कुल में हुआ।^२

वीरशैवों ने ब्राह्मणों द्वारा वरुणों की उत्पत्ति का उपहास करते हुए कहा

१ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन, पृ० २६५

२ वही

है कि शिव के बालों से ब्राह्मण, आँखों से क्षत्रिय, नाक से वैश्य, अग्रधर से किसान, कानों से भाला, गले से कुंभार, बाहुओं से अन्त्यज, इसी प्रकार १८ अंगों से १८ जातियाँ हुई हैं ।^१

वीरशैवों का विरोध विशेषरूप से ब्राह्मण जाति से ही था, क्योंकि ब्राह्मण ही अनावश्यक उच्चता की रक्षा में कठोरता वरतते थे । इसीलिए सन्तकवियों की ही तरह वीरशैव अवतारवाद, मूर्तिपूजा और पुराणों के साथ ब्राह्मणों का सम्बन्ध देखकर उनका खण्डन करते हैं—वेद ब्राह्मणों का जंजाल है शास्त्र बाजार की गप है, पुराण निठल्लों की गोष्ठी है ।^२

सहज जीवन की प्रतिष्ठा के लिए वीरशैव इन्द्रियों के दमन के विरुद्ध थे । वसव ने लिखा है कि इन्द्रियों को सताना ठीक नहीं है क्योंकि वे फिर से हमें सताने लगेंगीं । सिरियाल तथा चंगले नामक भक्ति दम्पति ने क्या रति-मुख को त्याग दिया था ? क्या सिन्धु बल्लाल नामक भक्त ने रतिमुखभोग छोड़ दिया था ?^३

बौद्ध तांत्रिक तथा शैव-साधक भी समाज की ऐसी ही भर्त्सना करते हैं और सहज जीवन पर जोर देते हैं । सरहपाद ने लिखा है कि ब्राह्मण वेद नहीं जानते, वे यों ही वेद पढ़ डालते हैं, वे यों ही व्यर्थ हवन करते हैं और कटुएँ धूँएँ से आँख फोड़ते हैं । यदि नग्न रहने से मुक्ति होती है तो इवान व शृगाल भी मुक्त हो सकते हैं । यदि जैनियों के तरह लोम-मुचन से मुक्ति होती है तो युवती के नितम्ब भी मुक्त हो जाएंगे ।^४ सरह के अनुसार वर्णाभेद से भक्ति नहीं होती, रत्न (तत्त्व) परीक्षा से मुक्ति होती है ।^५

यह मानना होगा कि तांत्रिकों की कठोर आलोचना से वर्ण व जाति के बन्धन शिथिल अवश्य हुए थे और शूद्र वर्ग को अधिक सुविधाएँ दी गई थीं, सन्तों के आन्दोलन ने यही कार्य उत्तर-भारत में किया था । रामानन्द जैसे आचार्य दक्षिण के शैव-बैष्णव आन्दोलन से परिचित थे । अतः सन्त कविता के आलोचनात्मक पक्ष पर भी तांत्रिक प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

१ हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन पृ० २६६

२ वही, पृ० २६७ तथा ३०१

३ हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन, पृ० ३१४

४ दोहाकोशगीति पृ० ३

५ वही, पृ० ६

सन्तकवियों की कथनी का दूसरा रूप सारग्रहण में दिखाई पड़ता है। सन्तकवि जहाँ जो ग्रहणीय है उसे वेहिचक ग्रहण करते थे। यह दृष्टि भी तन्त्रों से उन्हें प्राप्त हुई है।

अथर्ववेद से लेकर सन्तों के पूर्व तक कर्मकांड तथा बाह्य विधि निषेधपरक स्मृतियों और शास्त्रों के विरुद्ध तांत्रिक परम्परा विभिन्न रूपों में, जनता के प्रत्येक स्तर में स्वीकृत सभी उपासना के स्वरूपों, सभी देवी-देवताओं, सभी सिद्धान्तों, मन्त्रों, ध्यान, जप आदि विधियों को स्वीकार करके चली हैं, अतः एक ओर तांत्रिक परम्परा अपनी कथनी में अपना सम्बन्ध वैदिक-परम्परा से स्थापित करती है तो दूसरी ओर वह शिव-उमा संवाद को ही अपना 'आगम-स्रोत' मानती है। कश्मीरी शैव मत, वीरशैवमत, तथा अन्य सम्प्रदायों में यही दृष्टि मिलती है। इसीलिए तन्त्रों में समूची भारतीय संस्कृति का नवनीत सुरक्षित है, शिव, अशिव, उच्च और कुत्सित जो कुछ भी हमारे दीर्घ सामाजिक व धार्मिक जीवन में अभ्यास का विषय था, वह सब तांत्रिक परम्परा में स्वीकृत हुआ है। इस सर्वलील मनोवृत्ति का परिणाम स्वयं तांत्रिक संस्कृति के लिए बहुत अच्छा नहीं हुआ परन्तु यही मनोवृत्ति बहुत कुछ परिमार्जित रूप में ही सही, सन्त व वैष्णव काव्य में मुखरित हुई है। सन्तकवियों में भारतीय व अभारतीय (सूफी मत) दोनों मतों से अपने सिद्धान्त, साधना के उपाय तथा कथन-पद्धति गृहण की है। सन्तों में प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी प्रतिध्वनि सुनता है। इस सारग्रहण के पीछे 'वैदिक' मनोवृत्ति नहीं, तांत्रिक मनोवृत्ति है। तांत्रिक विरोधों को पचाकर अन्तर्भुक्ति में विश्वास रखते हैं, वैदिक परम्परा शुद्धवैदिकता की रक्षा में ही प्रयत्नशील रहती है। यही दोनों में अन्तर है। निश्चित रूप से सन्तकवि आचार्यों के क्षेत्र में सार-ग्राहिता नहीं दिखाते क्योंकि वे तांत्रिकों की तरह बाह्याचार विरोधी हैं। तांत्रिक सोपान के रूप में आचार्यों पर बहुत अधिक बल देते हैं परन्तु आचार्यों की व्यर्थता पर तांत्रिकों ने ही सबसे अधिक बल दिया है, यह भी स्मरणीय है।

तांत्रिकों की कथनी का मर्म है, सामान्य भोगमय जीवन की आध्यात्मिक जीवन में परिणति। अर्थात् व्यावहारिक ऐन्द्रिक अनुभव को आध्यात्मिक अनुभव का सहायक बनाना। इस कार्य में जो भी बाधक है, उसका तन्त्र विरोध करते हैं, यहाँ तक कि कश्मीरी शैवों ने तांत्रिक परम्परा को 'प्रसिद्धि' पर आधारित बताकर उसे बेद से श्रेष्ठ प्रमाणित किया है।

तत्त्व ज्ञान के लिए शैव विधि-निषेधों का त्याग अनिवार्य मानते हैं। मन की स्वाभाविक या सहज वृत्ति का अनुगमन करने पर ही तांत्रिक शैव व शाक्त बल देते हैं, अतः बाह्य नियमों के वे कठोर आलोचक हैं।

यही परम्परा सन्तकवियों में प्रतिफलित हुई है। सुन्दरदास सभी प्रकार के बाह्याचारों के विरोधी हैं, योग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, व्रत ही नहीं स्थूल हठयोग के भी वह निन्दक हैं।^१ वह वेद को गोरखधंधा कहते हैं क्योंकि उसके वचनों के कारण लोग 'वर्णाश्रम' में उलझकर रह गए हैं। कर्मकांड में तो अन्तराय ही अन्तराय है।^२ सुन्दरदास वेद को कारागार कहते हैं, पंडित उस जेल के पहरेदार हैं, भला उद्धार हो तो कैसे हो ! केवल सतगुरु ही उद्धार कर सकता है।^३

धरमदास कहते हैं कि वेद पढ़ने वाले पंडित भूटे हैं। उनके पुरखा मर गए हैं क्यों वे उन्हें नहीं जिला देते ?^४

गुलालसाहब कहते हैं कि लोग बाहरी बातों में उलझ गए हैं, मर्म को नहीं समझते।^५ वे सांसारिकता तथा वेद में लीन हो गए हैं, यही दुःख का कारण है।^६ भीखा साहब कहने पर बनारस भी गए परन्तु शास्त्रमत को

- १ योग जाग, जप, तप, तीरथ प्रतावि और-
भंषावात लेत जाइ, हिवारं गरत है।
कानऊ फराइ पुनि केशऊ लुचाय अंग,
विभूति लगाइ सिर जटाऊ धरत हैं—सुन्दर ग्रन्था० द्वितीय भाग,
पृ० ४५५
- २ गोरखधन्धा वेद है, बचन कड़ी बहु भांति।
सुन्दर उरझयो जगत सब, वर्णाश्रम की पाति।—वही, पृ० ६६८
- ३ वेद नृपति की बंदि में, आइ परे सब लोग।
निगहबान पंडित भए, क्यों करि निकसे कोइ।
सुन्दर सतगुरु शब्द का, व्योरीर बताया भेद।
सुरभाया भ्रम जाल ते, उरभाया था वेद।—वही पृ० ६६८
- ४ भूटे पंडित वेद पढ़ि, पढ़ि जग भरमाई।
उसके पुरखा मरि गए, उन काहे न जिवाई।—धरम० शब्दावली, पृ० १०
- ५ गुलालबानी, पृ० २१
- ६ लोक वेद महं रत संसार, राम न चीन्हहि मुरख गंवार—वही पृ० २७

देखकर दुःखी हुए। चारों ओर भ्रम फैलाया जा रहा है, सेवा है, पूजा है, कीर्तन है, माया है किन्तु सच्चाई नहीं है।^१ जगजीवन साहब भी तीर्थ-व्रत आदि की निन्दा करते हैं।^२ नानक कहते हैं कि गुरु ज्ञान ही ठीक है और सब तो ठगों का धन्धा है।^३ नानक के अनुसार वेद शास्त्र का ज्ञान संसार को नहीं तारता, उस में कर्म धर्म अनेक है पर हरिनाम उन सब से ऊपर है।^४ मुसलमानों की शरीअत का भी यही हाल है।^५ नानक कहते हैं कि तुर्क किताब पढ़ता है और अत्याचार करता है, अतः राम ही आधार है।^६ कबीर कहते हैं कि वेद को कोई पेट में क्यों नहीं पढ़ पाता, तुर्की सुन्नत भी जन्म लेने के बाद ही हो पाती है। हम सब एक रक्त के हैं, एक ही प्राण हम सब में व्याप्त है, फिर यह भेद भाव क्यों है।^७ वह कहते हैं कि निर्गुनियाँ सन्तों की जाति मत पूछो, जाति पूछनी हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य से पूछो।^८ मारवाड़ी दरियासाहब कहते हैं कि हम यद्यपि अधम, कमीन जाति के हैं तो भी राम हमारा है, हमें भला वेद और कुरान से क्या काम ?^९ गरीबदास ने भी हिन्दू और तुर्कों की भस्म की है, क्योंकि ये दोनों भेदवादी हैं।^{१०} कबीर

१ लोक वेद मंह रत संसार, राम न चीन्हहि मुरख गंवार पृ० १४

२ जगजीवनबानी, पृ० ३१

३ गुरि राखे से उबरे होरि मुठी धन्वे ठगि-ग्रन्थ साहब, पृ० १६

४ वही, पृ० ४०५

५ वही, पृ० ४६५

६ छाड़ि कितेब राम भजु बउरे, जुलम करत है भारी।

-वही, पृ० ४७०

७ कबीर का बीजक, रामनारायण लाल पृ० २

८ कबीर- ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २३१

९ जो धुनियां तो भी राम हमारा।

अधम कमीन जाति मति हीना, तुम तो हो सरताज हमारा।

कहा कलू तेरा वेद पुराना, जिन है सकल जगत भरमाना।

कहा कलू यह मान बड़ाई, राम बिना सब हो बुल दाई।

—मारवाड़ी दरिया की बानी, पृ० ४८

१० कैसे हिन्दू तुरक कहाया, सबही ऐसे द्वारे आया।

कैसे ब्राह्मण कैसे सूद्र, ऐसे हाड़ चाम तन गूद।

कौन छतीस एक ही जाती ब्रह्म बीज सबकी उत्पात्ती।-गरीबदास की बानी, पृ० १४३

ब्राह्मण को ही सारे अनर्थ का मूल मानते हैं। ब्राह्मण रूप धर कर ही बलि को छला गया था, उसी ने वेद, पुराण रचे हैं, ब्राह्मण ही भेद-भाव फैलाता है।^१ कबीर उसी को पीर कहते हैं, जो 'परपीर' समझता है, अन्यथा वह काफिर है।^२ यह जो स्मृति है वह वेद की पुत्री कहलाती है, यह हाथ में रस्सी लेकर जगत को बाँधने आई है, कबीर इसलिए वेद और स्मृतियों की निन्दा करते हैं।^३ वह वेद-पुराण की अन्धे दर्पण से उपमा देते हैं, जिसमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता।^४ जगजीवन साहब जैसे संतों को जब शास्त्रीय पंडित मूर्ख कहते थे तब वह तड़प कर जबाब देते थे कि पंडित लोग संसार में डूबे हुए हैं और संतों को हैवान कहते हैं। धरमदास इसीलिए कबीर मत को "आगम मत" कहते हैं क्योंकि वह कबीर से प्राप्त हुआ है।^५ संतो को हैवान कहने वालों की कमी न होने पर भी वे आश्चर्य थे कि उनका मत प्रामाणिक है, क्योंकि वह "गुरुमत" है। यही तर्क हम तंत्रों में भी देख चुके हैं।

तांत्रिकों का द्वन्द्व वैदिक आचारवादियों तथा स्मार्त ब्राह्मणों से था; यद्यपि स्मार्त भी कभी हीन समझे जाते थे। इसी तरह सन्त वेद, शास्त्र और शरीअत के विरोधी हैं क्योंकि केवल गुरुमत ही मानव-मात्र की एकता व समानता घोषित करता है। कबीर का रोप जितना पंडित और मुल्ला पर था, उतना अन्य किसी पर दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि ये ही लोग भेद-भाव का समर्थन करते थे, इस प्रकार संतो की कथनी के सामाजिक स्वरूप के निर्णय के लिए तांत्रिकों की उग्र आलोचना की दीर्घ परम्परा स्मरणीय है।

सन्तकाव्य-कला पर तांत्रिक प्रभाव—सन्तकाव्य की पृष्ठभूमि में सिद्धों व नाथों का काव्य ही है क्योंकि शैव-शाक्त तांत्रिकों ने अपनी रचनाएँ संस्कृत-

१ बाबन रूप छलेऊ बलि राजा, ब्राह्मण कीन्ह कवन को काजा।

ब्राह्मण कीन्हों ग्रन्थ पुराना....ब्राह्मण ही को लागल खोरी।-

बीजक, पृ० ३६

२ वही, पृ० ६३

३ वेद की पुत्री है स्मृति आई, जो जेवरि कर लेतहि आई-बीजक-रामनारायण लाल, पृ० ५०

४ अंध सो दरपन वेद पुराना-वही, पृ० ४६

५ आगम कहें कबीर, सुनो धर्म आगरा-

धर्मदास की शब्दावली, पृ० ४

भाषा में लिखी हैं, शैव-शाक्त परम्परा में रहस्यवादी अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना हुई हैं, इस परम्परा में भक्ति स्तोत्रों की भी विपुल राशि है जिनमें देवता के स्वरूप, वेष-भूषा, अस्त्र-शस्त्र, उसकी वरदायिनी शक्ति, कृपा आदि का वर्णन साधक करते रहे हैं। इनमें “सौन्दर्य लहरी” सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जा सकता है। इसमें भक्ति और रहस्यानुभूति का अद्भुत मणिकांचन संयोग मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने भारतीय साहित्य में आनंदवादी परम्परा का उल्लेख किया है, उसका प्रतिनिधि काव्य “आनन्दलहरी” है। आनन्दलहरी में देवी का “रूपवर्णन” उच्चकोटि के शब्दचयन, अभिव्यक्तिकुशलता, सुन्दर अप्रस्तुत-विधान तथा भावगाम्भीर्य से ओत-प्रोत है —

व्यणितकांचीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा ।

परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना ।

धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि बधाना करतलैः

पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुशिका ।^१

यह कहा जा सकता है कि यह “रूपवर्णन” की परम्परा तो वैष्णवकाव्य में अधिक प्रतिफलित हुई है परन्तु अलक्षित प्रियतम के रूप वर्णन में संतकवि भी पीछे नहीं हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

रूपवर्णन के अतिरिक्त संस्कृत तांत्रिक काव्य में साधक के आनन्दानुभूति की व्यंजना सुन्दर हुई है। निश्चितरूप से यह रहस्यानुभूति है, उपनिषद् जिसे “रसो वे सः” कहती है, वही ब्रह्मानन्द ही तांत्रिकों का अभिव्यंग्य है, परन्तु जीवनानन्द व ब्रह्मानन्द में अविरोध स्थापित करने से तांत्रिक कवि दिव्य रस की धारा प्रवाहित कर देता है और उक्त अविरोध के कारण वह हमें अधिक प्रभावित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो आनन्द मन, चित्त, बुद्धि की चंचलता के कारण कहीं अलक्षित रूप से आवृत था, वह उद्धाटित होगया है, हृदय के आंतरिक पत्तों को तोड़ता हुआ, अनेक आवृत्तों से घूर्णित वह आनन्द हमें अपने साथ बहा ले जाने की शक्ति रखता है। व्यवहारिक जीवन की जड़ता को दूर करके यह ‘रस’ हमें किसी अलक्षित दिव्य तत्व के साथ एक करने की स्थिति में लाकर रख देता है। वैयक्तिक ‘आत्मा’ सर्वात्मा में विलय होती हुई प्रतीत होती है, संस्कृत के तांत्रिक कवियों की यह उपलब्धि है। शैवों ने लिखा है कि विवेक के बिना ‘कला’ दोषालया और विवेक के पश्चात्

उत्पन्न होने वाली कला 'शुभ' कहलाती है, शुभाकला की सृष्टि ही तांत्रिक काव्य में हुई है—

समुन्मीलित संवित् कमलमकरन्दंकरसिकं
भजे हंस द्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्
यद्वालापा दृष्टादशगुणित विद्यापरिणिति—
यद्वाक्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ।^१

अर्थात् साधक की समुन्मीलित चेतना कमल के मकरन्द के समान है। भगवान् शिव हंसेश्वर व देवी हंसेश्वरी है, यह 'गुग्गुल' स्वानुभव के द्वारा ही संवेद्य है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। ये हंस-मिथुन साधक के मन रूपी मानसरोवर में विहार करते हैं। इनके वर्णन से अष्टादशगुणित विद्या प्राप्त होती है। हंस जल को त्याग कर दूध को ग्रहण करता है। 'हंसरूप' सत्य ही मैं हूँ, अतः मैं भी दोषों को छोड़ने में समर्थ होकर नाना गुणों को ग्रहण करने में समर्थ हूँ।

ऊपर से देखने पर यह सामान्य स्तुति दिखाई पड़ती है, परन्तु विचार करने पर उक्त पद्य की शब्दावली 'प्रतीक' रूप में प्रतीत होने लगती है, कमल, हंस, मानसरोवर आदि 'योगसाधना' की शब्दावली है, और इनसे नाना चक्रों के भीतर अनुभव होने वाले अनुभवों की ओर भी संकेत है। साथ ही कमल के मकरन्द के समान 'रसास्वादन' भी सुन्दरता के साथ व्यंजित हुआ है।

आनन्दलहरी का प्रत्येक पद्य भक्तिभाव, रूपवर्णन, अलंकार, शब्द-शक्ति तथा प्रतीक इन सभी दृष्टियों से अनेक पार्श्वमयी कला का स्वरूप प्रस्तुत करता है। यह 'गूढ़कला' अथवा 'गूढ़ानन्दनिर्भरकला' सिद्धों व नाथों की कविता में भी व्यक्त हुई है। वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से उसमें वह सिद्धों, नाथों तथा सन्तों के काव्य में कोई अन्तर नहीं है परन्तु सन्त काव्य के स्वरूप-निर्माण में अर्थात् ब्राह्म अभिव्यक्ति के निर्माण में सिद्धों व नाथों के काव्य का ही विशेष योगदान मानना पड़ता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है, बहुत से विद्वान् सिद्धों व नाथों के काव्य को 'काव्य' संज्ञा ही नहीं देना चाहते, जब 'सिद्ध-नाथ काव्य'

काव्य ही नहीं है तब उसका प्रभाव क्या होगा ? परन्तु दूसरी ओर महापंडित राहुल, व डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान हैं जो सिद्ध-सन्त काव्य में उच्चकोटि के काव्य गुणों का दर्शन करते हैं। सिद्ध और नाथ कवि ही नहीं हमारे वैष्णव भक्त कवि भी कला-प्रदर्शन के लिए काव्य नहीं लिखते थे। ये कवि साधनात्मक काव्य के स्रष्टा थे, अलंकृत काव्य के नहीं, जिसका विकास मारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसे कवियों द्वारा हुआ था। सिद्ध-नाथ सन्त काव्य तो विशेष रूप से साधनात्मक काव्य है क्योंकि सिद्धों और सन्तों का उद्देश्य अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करना भर है, कला प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं है।

राहुल जी ने बताया है कि “प्रथमसिद्ध ‘सरहपा’ के समय संस्कृत और प्राकृत दोनों साहित्यों का मध्याह्न बीत चुका था.....उन्होंने कालिदास, अश्वघोष, सुबन्धु, दण्डी, बाण आदि की कृतियों का अच्छी तरह अवगा-हम किया था।^१ वह यदि चाहते तो अपने समय की शिष्ट सारणी का अनु-सरण करते, उच्च समाज में एक सफल कवि के तौर पर ख्याति प्राप्त कर सकते थे। परन्तु उन्होंने शिष्ट साहित्य की जगह ‘लोकसाहित्य’ का अनुसरण करना पसन्द किया और अपने मन से यह भाव निकाल दिया कि कभी मैंने उन ग्रन्थों का अध्ययन किया था।^२

सन्त कविता के स्वरूप को समझने में उक्त उद्धरण हमारे बड़े काम का है। सन्तकाव्य ‘लोककाव्य’ है और यह परम्परा वर्णाश्रम-धर्म पर आधारित समाज में उच्चवर्गों का मनोरंजन करने वाले तथा उच्च वर्ग के विचारों का प्रचार करने वाले ‘शिष्टसाहित्य’ के समानान्तर उठ खड़े होने वाले तांत्रिक कवियों द्वारा प्रारम्भ होती है, जो समाज के वास्तविक ‘यथार्थ’ को वाणी देती है और पाखंड के आवरणों को चीरने के लिए जनता की सहज भाषा को अपनाती है। पंडित होने पर भी जान बूझ कर सिद्ध सरहपाद अभिव्यंजनों का वह रूप अपनाते हैं जिसमें हल चलाने वाले तथा पशु चराने वाले खेत-खलिहानों और घरों में काम करने वाले लोग अपनी हार्दिक अनुभूतियों को ध्वनित किया करते थे। खेतों, खलिहानों का यह काव्य सुरक्षित नहीं रह सका क्योंकि तब लोक-साहित्य की रक्षा का उपाय बहुत कम होता

था, परन्तु सामान्य जनता में काम करने वाले सिद्धों ने उन्हीं लोगों की भाषा में अपने अनुभव कहे हैं ।

परिणाम स्वरूप अपभ्रंश और हिन्दी में भी काव्य होने लगा । यह स्मरणीय है कि सन्तकवियों में सुन्दरदास जैसे विद्वान सन्त भी समर्थ होने पर भी अलंकृत शैली का प्रयोग नहीं करते, वह पूर्व सन्तों द्वारा प्रयुक्तरूप ही स्वीकार करते हैं, अतः यह कहना सही नहीं है कि सन्त अशिक्षित थे, इसलिए अटपटी कविता के लिए वे विवश थे । यह कहना अधिक सही है कि संतकवियों में कुछ यदि अटपटी कविता के लिए विवश थे तो बहुत से सन्त विवश न होने पर भी जनावृझ कर लोक साहित्य की परम्परा नहीं छोड़ना चाहते थे, जिसमें भाव की अनुभूति ही मुख्य होती है । सन्तकवियों के अन्तर से जब अनुभूति स्वतः फूट पड़ने को व्याकुल होती है तो सन्तकवि शब्दों के संस्कार की चिन्ता नहीं करते, कलावन्तों में इस गहरी अनुभूति का स्पर्श इसीलिए नहीं मिलता ।

क्या लोक साहित्य में कवित्व मिलता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने में विद्वान चकराते हैं । लोक साहित्य में कवित्व मानने पर सन्तकाव्य में भी कवित्व मानना पड़ता है । सरहपाद जैसे सिद्धों में भी नवीन उपमाएँ मिलती हैं और कई नवीन कथन-पद्धतियाँ भी, यह राहुल जी ने लक्ष्य किया है । आगे के सन्तकवियों पर इसका प्रभाव पड़ा है ।

नई उपमाएँ १—जैसे जलधर सागर से जल लेकर पृथ्वी पर फैलाता है ।

२—बिजली के घोष को छोड़ कर पानी बरसता है ।

३—फूल के भीतर के मधु को मधु मक्षिका ही जानती है ।

४—फूल की गन्ध का रूप नहीं होता तो भी वह प्रत्यक्ष व्याप्त है ।

५—जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ उत्तम रत्न अपनी चमक को प्रकाशित नहीं करता ।^१

ऐसी उपमाएँ सिद्ध-साहित्य में अनेक मिलती हैं । राहुलजी का कहना है कि सरहपाद ने कुछ नई काव्य मान्यताओं को जन्म दिया था और ये मान्यताएँ आगे चलकर गोरख, कबीर, नानक व दादू आदि सभी सन्तों में पाई जाती हैं, इनमें व्यंगोक्तियाँ व उलटबांसियाँ भी शामिल हैं ।^२

१ बोहाकोशगीति-भूमिका, पृ० २३

२ वही

असाधारण रूप से प्रतिभाशाली कवि सरहपा के काव्य में व्यंग्यकाव्य (सैटायर) व उलटबांसी ही नहीं है अपितु प्रतीकात्मक काव्य का प्रचार भी सरहपाद के बाद बढ़ा—

“ऊँचे ऊँचे पर्वत पर शबर बालिका बैठी है, जिसके सिर पर मोर-पंख और ग्रीवा में गुंजा की माला है। उसका प्रिय शबर प्रेम में उन्मत्त पागल है। ओ शबर, तू हल्लागुल्ला मत कर। तेरी अपनी निज गृहिणी सहज सुन्दरी है। उस पर्वत पर नाना प्रकार के तरुवर फूले हुए हैं, जिनकी डालियाँ गगन से लगी हुई हैं, कान में कुंडल-वज्र धारे शबरी अकेली इस बन में घूम रही है।”

उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्यंजना में भी समर्थ हैं, यह प्रतीकात्मक पद्धति है विपरीत कथन-पद्धति नहीं। दोनों प्रकार का काव्य सन्तकाव्य में विकसित हुआ है।

आलोचनात्मक काव्य—सिद्धों के आलोचनात्मक काव्य में बेलाग कहने की प्रवृत्ति है। “अलंकृत संगीत” के रूप में जो काव्य हमें प्राप्त होता है, वह मन को विराम देता है, हमारी चेतना को थपकी देता है, उसका भी एक अपना निराला आनन्द है परन्तु सिद्ध तो शक्तिजागरण के विश्वासी थे अतः उनके काव्य में चेतना को सुप्त करने की जगह उसे भ्रमभोर कर जगाने की भावना मिलती है। जिस युग में मनुष्य जिस सत्य का अनुभव करता है और उसे कह नहीं पाता तब जो कवि उसे अटपटे रूप में भी कहने लगता है तो उस काव्य में एक विशिष्ट भंगिमा उत्पन्न हो जाती है, एक विचित्र ओज और ऊष्मा इस प्रकार के काव्य में हमें मिलती है जो भावुकतावादी तथा अलंकृत काव्य में प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उस तीव्रता के नीचे कवि की कल्याणकारी भावना रहती है, अतः लोककल्याण के “बीजभाव” के कारण ऐसा आलोचनात्मक काव्य जिस आनन्द का सृजन करता है, उसका भी महत्व है और यदि शास्त्र उसे स्वीकार नहीं करता तो शास्त्र को ही बदलना चाहिए क्योंकि कविकुल गुरु कालिदास का भी यही कहना है कि “पुराणमेव न साधु सर्वम्।” संतकवियों के आलोचनात्मक काव्य की पृष्ठभूमि में तांत्रिकों का ऐसा ही अशास्त्रीय किन्तु ओजमय काव्य है। सिद्ध सरहपाद कहते हैं—

यदि नंगेपन होइ मुक्ति, तो गुनक-भृगालहु ।

पिच्छि गहे जो दीख मोक्ष, तो मोरहु भ्रमरहु ।

उछ भोजने होइ ज्ञान, तो करिहु तुरंगहु ।^१

अब कबीर का एक पद इससे मिलाइए—

का नांगे का बाधे चाम, जो नाहिं चीन्हसि आतम राम ।

नागें फिरे जोग जो होई, बन का मृग मुक्ति गया कोई ।

मुड मुडाए जो सिधि होई, स्वर्गहि भीड़ न पहुँचहि कोई ।

उक्त पद्य में शब्दावली तक में सादृश्य दिखाई पड़ता है और साथ साथ “स्पृहणीय निर्भयतापूर्ण कवित्व” भी इनमें सुरक्षित है ।

सिद्धों ने वस्तुतः ‘सहजकाव्य’ की परम्परा डाली थी । सहज का अर्थ है “अकृत्रिम,” अतः सन्तकाव्य का लक्षण “अकृत्रिमता” माना जा सकता है । सन्तकवि अपने सहज काव्य के लिए सिद्धों के ऋणी हैं ।

नाथ-सिद्धों की बानी में भी इस सहजकाव्य का विकास मिलता है । गोरख कहते हैं कि कलियुग बुरा है क्योंकि हृदय में जैसे भाव होते हैं, हाथ से वैसे ही काम होते हैं, जो गड़वे में होगा, वही टोंटी से निकलेगा ।^२ निर्मल जल में प्रविष्ट इस सर्पिणी को मार डालो, गोरख ने इसे त्रिभुवन को डसते देखा है । सर्पिणी को मारो और सहस्रदलकमल के रस के इच्छुक भ्रमरगुहा के निवासी भ्रमर को जगा लो***।^३ कंबल जल बरसाता रहा है, पड़रवा गाड़कर खूँटे को बांध लो, दमामा चलता है, बन्द नहीं है, निरंतर सुनाई दे रहा है, जिससे ऊँट पर तड़ातड़ मार पड़ रही है ।^४ इस प्रकार की कविता में सत्य की घोषणा ही नहीं है, अभिव्यक्ति की वक्रता भी है । यह तक विशिष्ट काव्य परम्परा है, जो सन्तकविता में विकसित हुई है, एकदम सहज और अकृत्रिम ।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से सन्तकाव्य को “ध्वनि काव्य” कहा जा सकता है, क्योंकि सन्तों के बहुत से पदों में सांकेतिकता मिलती है । डा० बड़धवाल ने विलियम किंग्सलेण्ड के “रेशनल मिस्टीसिज्म” से उद्धरण देकर बताया है कि रहस्यवादी कवि की भाषा की असमर्थता पर विचार नहीं करना चाहिए

१ दोहाकोशगीति, पृ० ३

२ गोरखबानी, पृ० ४३

३ वही, पृ० १३६, १४०

४ वही, पृ० १४१

क्योंकि उच्च आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करने के लिए मानवीय भाषा स्वयं ही असमर्थ साबित होती है ।^१

मेरा निवेदन है कि लोकसाहित्य में प्राप्त काव्य के स्रष्टा सन्तकवियों को यदि पिगल व अलंकार शास्त्रों का ज्ञान होता तो संभवतः उनके काव्य में प्राप्त सजीवता की मात्रा अवश्य कम हो जाती और सन्तकाव्य से हिन्दी साहित्य को जो विशिष्ट काव्य-रस और विशिष्ट काव्य-रूप मिला है, उसकी हानि होती ।

पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय ।

पीब मिलन की ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ।^२

सब परबत स्याही कळूँ घोलूँ समुंदर जाय ।

धरती का कागद कळूँ, गुरु अस्तुति न समाय ।^३

अब यहाँ “बुलबुला” की जगह यदि ‘बुदबुद’ कर दिया जाय तो सारा आनन्द नष्ट हो जाएगा, सहजोबाई इसे भलीभाँति समझती थीं । इसी प्रकार “समुंदर” की जगह “समुद्र” और “अस्तुति” की जगह ‘स्तुति’ अधिक शिष्ट हो जाएगा परन्तु काव्यश्री की हानि होगी, यह स्पष्ट है ।

बछिनबिसा मोर नइहरो, उतर पंथ ससुराल ।

मानसरोवर ताल है, कामिन करत सिंगार ।^४

मुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है ।

जिकिर रह सोइ, अनहव बानी है ।^५

घर बरसावे अम्बर भरै, ता की सेवा गोरल करै ।

शनि-शोर का नाहीं काम, इंगल पिगल बोसहि राम ।^६

नाच हाजिरी मेरी लीजै, तातें बपतर बाखिल कीजै ।

हों अतीत गरीब सिपाही, बाहि रोज कछु दीजै ।^७

१ डा० बड़वाल, पृ० ३४१

२ सहजोबाई-बानी, पृ० ४३

३ वही, पृ० ४

४ यारी साहब-बानी, पृ० १७

५ वही, पृ० ६

६ वही, पृ० ८

७ बुल्ला साहब का शब्दसार, पृ० २९

अछै रंग में रंगिया, दीन्हा प्रान अकोल ।^१
 सुरत सुहागिन खरन मनावहि, लसम आपनौ पै हों ।^२
 माम बिना मन स्वान भंजारी, घर घर बिस लै जावें ।
 बिन बरसन परसन मन कैसे, ज्यों लूले को गांव ।^३
 उनइ बहरिया परिगो संम्भा, अंगुष्ठा भूले बनखंड मंभा ।
 फुलबा मार न लै सकै, कहै सखिन सों रोय ।
 ज्यों ज्यों मीजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय ।^४
 सहज सुभाव को खेल बन्धो है, फगुम्मा बरान जाय ।
 सुरति सुहागिनि उठि उठि लागहि, अविनासी के गात ।^५
 हम सब सस नाम के बैपारी ।^६
 बंगला खूब बना बरहाल, जामे रतन अमोले लाल ।
 जल की बूँद महल मठ कीन्हा, नल तिल साज बनया ।
 या बंगले में गंभी खेलै, ना मूवा न जाया ।^७
 बंगला खूब बना है जैन, जामें कलबिरछा कामधेन ।^८

इन पदों में नइहरो की जगह नेहर, सिंगार की शृंगार, बानी की जगह बाणी, अछै की जगह अच्छा, सुहानि की जगह सौभाग्यशालिनी, 'लूले का गाँव' की जगह 'पंगु-ग्राम' कामरी की जगह कम्बल, बैपारी की जगह व्यापारी, कलबिरछा की जगह कल्पवृक्ष तथा कामधेन की जगह कामधेनु शब्दों का प्रयोग करने से सन्त-काव्य की सहजता तथा लोकस्पर्श की अवश्य हानि होगी, यह कोई भी देख सकता है ।

परवर्ती सन्तकवियों में लोक-स्पर्श बहुत अधिक बढ़ता जाता है । सन्त कवियों ने पहाड़ा, ककहरा, मंगल, सोहर, होली, बसंत, बारहमासा, बधावा,

-
- १ बुल्लासाहब का शब्दसार, पृ० ३१
 - २ वही, पृ० ११
 - ३ वही, पृ० २
 - ४ कबीर-बीजक, रामनारायण लाल, पृ० ३७
 - ५ केशवदास का अमोघूँट, पृ० ४
 - ६ धरमदास की शब्दावली, पृ० ७
 - ७ गरीबदास की बानी, पृ० १६६
 - ८ वही, पृ० १६५

अलिफनामा, ज्योनार आदि लोक में प्रचलित कथन-पद्धतियों को अपना कर अपनी अनुभूतियों की व्यंजना की है। सन्तकवियों में बहुत से ऐसे समर्थ कवि थे जो उच्च वर्ग के शिष्ट छन्दों का प्रयोग कर सकते थे किन्तु उन्होंने जान-बूझ कर ऐसा नहीं किया —

सोहर

साहेब मोर बसत अगमपुर, जहाँ गम न हमार हो ।

साहे कै ऊँची अटरिया, तरे विषम बजार हो ।

पाप पुत्र बोड बनियां, हीरा लाल बिकायो ।^१

होली

होरी खेलौ सयानी, फागुन की ऋतु आनी ।

ममसा जनम बहुरि ना पेहो, साखी बेद पुरानी ।

फिर पाछै पछिताहुगी सजनी, परिहो चौरासी खानी ।^२

बधावा

बधावा संत सजाऊँ हो ।

जा बिधि सतगुरु मेहर करे, सोई बिधि लाऊँ हो ।

रतन पटोरा डारि पांवड़ा, सम्मुख जाऊँ हो ।

सब सखियां मिलि बाँटत बधाई, मंगल गाउँ हो ।^३

इसी तरह हिंडोलना^४, मंगल^५, वारहमासा^६, पहाड़ा^७, आरती^८, रेखता^९, अलिफनामा^{१०}, ककहरा^{११}, आदि लोक-कथन पद्धतियों का परवर्ती

१ धरमदास की शब्दावली, पृ० २२

२ वही, पृ० ६०

३ धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ५४

४ भीखासाहब की बानी, पृ० ३७

५ धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ३८

६ वही, पृ० ५७

७ भीखासाहब की बानी, पृ० ७७

८ वही, पृ० ३४

९ वही, पृ० ५२

१० वही, पृ० ७५

११ वही, पृ० ७४

सन्तों ने प्रयोग कर “रहस्यवादी-लोककाव्य” की सृष्टि की है, क्योंकि उक्त प्रकार के लोक-काव्य का प्रतीकात्मक अर्थ ही सन्त सम्प्रदायों में स्वीकृत है ।

इस प्रकार शास्त्रविजडित समाज को भी जाग्रत और पुलकित कर सकने की शक्ति संत काव्य को सिद्ध परम्परा से ही प्राप्त हुई थी । स्थानीय देवी-देवताओं, स्थानीय भाषा, स्थानीय आचार व उपासना आदि तत्त्वों को समेटने वाले तांत्रिकों ने सन्तकवियों को लोक साहित्य की परम्परा में लिखने की और कहने की प्रेरणा दी थी । लोक संस्कृति को उच्च साधना के स्तर पर रखने के प्रयत्न में सिद्धों ने लोकभाषा और लोक-साहित्य से अद्भुत सहायता ली थी । इसलिए सन्तकवियों का काव्य स्वरूप तथा उसमें व्यक्त धारणाएँ तांत्रिक परम्पराओं की ऋणी हैं ।

पंचम अध्याय

वैष्णव काव्य का विकास और विवरण

वैष्णव काव्य का विकास और विवरण

संत-सम्प्रदाय के विकास और उसमें सिद्ध, शैव, नाथ तथा वैष्णव साधनाओं और धारणाओं की अन्तर्भुक्ति पर प्रकाश डालते समय हम उत्तरी भारत के सगुण-सम्प्रदाय के विषय में भी कुछ विचार प्रकट कर चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि उत्तरी भारत में चौदहवीं शताब्दी के लगभग सन्त और वैष्णव साधनाएँ पुनः एक नये रूप में विकसित होती हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि वैदिक कर्म-कांड के समानान्तर जो तांत्रिक धारा पांचरात्र-शैव-शाक्त तथा बौद्ध सम्प्रदायों में प्रवाहित होती है, उसका सन्त सम्प्रदाय पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

यह तांत्रिक धारा 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा' कही जा सकती है, क्योंकि यह नाना संस्कृतियों को स्वीकार करके प्रवाहित होती रही है। इसमें वैदिक और अवैदिक धाराओं का जल भी आकर मिला है। इसलिए तांत्रिक सरिता के विराटप्रवाह में कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जो 'कुत्सित' हैं, किन्तु ऐसी धाराओं का भी अभाव नहीं है जिनमें उच्च कोटि का चिन्तन और अभ्यास मिलता है। अभी तक इस राष्ट्रीय धारा का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ है और तांत्रिकों की आचारविषयक उग्रता और अतिवादिता के कारण यह भ्रम फैल गया है कि भारतीय संस्कृति का तांत्रिक रूप कुरूप और कुत्सित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तांत्रिक धारा भारतीय समाज की वर्णाश्रमधर्मजन्य अनावश्यक कठोरताओं का विरोध करती है और इसलिए भारतीय समाज की असंगतियों के अध्ययन के लिए यह धारा बहुत महत्वपूर्ण है। यही परम्परा सन्तसम्प्रदाय में विकसित हुई थी, जैसा कि हम देख चुके हैं।

बहुत से आचार्यों ने समझ लिया था कि 'कलियुग' में वैदिक कर्मकांड से काम नहीं चल सकता और साथ ही यह भी अनुभव किया था कि कोटि-कोटि जनता की भावनाओं का तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता, अतः पुराणों में यह प्रयत्न किया गया कि वैदिक कर्मकांड के अतिरिक्त जितने भी विश्वास हैं, उन सबको स्वीकार किया जाय, अतः कर्मकांड के अतिरिक्त मंदिर, मूर्ति, लिंग, भस्म, नाना देवी देवता आदि तत्वों को स्वीकार कर लिया गया। यही कार्य आगमों ने किया था और अधिक साहस के साथ किया था। फलतः पुराणों और आगमों के बाद जो वैष्णव साधनाएँ प्रचलित हुईं, वे इन्हीं को आधार बना कर चली। यह प्रसिद्ध है कि पुराणों को बहुत समय तक वैदिक नहीं माना जाता था। आधुनिक युग में भी स्वामी दयानन्द ने पौराणिक परम्परा को स्वीकार नहीं किया था। इस प्रकार एक सीमा तक वैष्णव आन्दोलन आर्येतर विश्वासों को भी साथ लेकर चला, इसलिए एक सीमा तक वह भी सन्त-सम्प्रदाय की तरह भारतीय समाज की असंगतियों पर प्रकाश डालता है। यद्यपि वैष्णव आन्दोलन में आगमों और पुराणों की तरह जाति, वर्ग और वर्णों के ऊपर भक्ति को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु साथ ही पुराणों की तरह वैष्णव आन्दोलन "वैदिकपुनरुत्थानवाद" की प्रवृत्ति भी दिखाता है और यही वह सामाजिक दृष्टि से सन्त सम्प्रदाय से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वैष्णव आचार्यों ने केवल भक्ति के क्षेत्र में ही समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया था।

वैष्णव सम्प्रदाय उन देवताओं की उपासनाओं का प्रचार करते हैं जो कभी स्थानीय देवता रह चुके थे। इन देवताओं के साथ आगमों की पद्धति पर शक्तिपूजा को भी वैष्णवों ने स्वीकार किया तथा भक्ति, कर्म, ज्ञान और योग में अविरोध मानकर भी भक्ति को इन सबका प्रतिफल समझा।

वैष्णव आन्दोलन के विकास पर दृष्टि-निक्षेप से पता चलता है कि उत्तर और दक्षिण भारत—दोनों भू भागों में इसका प्रचार हुआ था। पुराणों और पांचरात्र आगमों के निर्माण में उत्तरी भारत का भी महत्वपूर्ण हाथ था। विशेष रूप से पांचरात्र आगमों में से बहुत से आगम उत्तर भारत में लिखे गये

कदमीरी-शैव-सम्प्रदाय के साथ पांचरात्र-आगमों का निकटतम सम्बन्ध दिखाई पड़ता है ।

यामुनाचार्य ने पांचरात्र आगमों को सबसे अधिक महत्व दिया । तत्पश्चात् रामानुज ने भक्ति सिद्धान्तों में “लक्ष्मीशक्ति” को स्वीकार किया जिसे पांचरात्र-आगम प्रतिपादित कर चुके थे । आड़वार भक्तों का भावुकतावादी आन्दोलन पृष्ठभूमि में होने के कारण श्रीवैष्णव सम्प्रदाय भावुकता की ओर कुछ अधिक उन्मुख हुआ, किन्तु योग व ज्ञान का भक्ति से विरोध नहीं माना गया । रामानुज-सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव वैदिकता के रक्षक मान लिये गये, उन्होंने “प्रच्छन्नबौद्ध” शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया । मायावाद के अनुसार सत्ता दो रूपों में विभाजित करके देखी जाती है । केवल ब्रह्म को ही सत्य मानने के कारण जगत् की सत्ता ‘सांवृतिक’ या व्यावहारिक माननी पड़ती है, यह स्पष्ट ही बौद्ध-दृष्टिकोण था जिसे शून्यवादियों ने प्रतिपादित किया था । श्रीवैष्णवों ने इसका विरोध किया । इसके सिवा शंकराचार्य बौद्धों के विरोध के साथ साथ मीमांसा के भी घोर आलोचक थे, अतः यह सम्भव है कि वैदिक कर्मकांड के विरोध के कारण उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया हो ।^१ यह निश्चित है कि शंकराचार्य द्वारा वैदिक कर्मकांड का खंडन वैदिक परम्परा-वादियों को पसन्द नहीं था, किन्तु यह भी निश्चित है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ज्ञानमार्ग बहुत लचीला है, वह पारमार्थिक दृष्टिकोण से तो ईश्वर, जगत, कर्मकांड आदि सब को महत्वहीन समझता था, परन्तु चित्तशुद्धि के सिद्धान्त द्वारा उस प्रत्येक विश्वास को स्वीकार कर लेता था जो हिन्दुओं में प्रचलित हो चुके थे । फलतः शंकराचार्य को एक ओर तो “प्रच्छन्न बौद्ध” कहकर उनके मायावाद का विरोध किया गया है और ज्ञान के साथ साथ भक्तिभाव पर अधिक बल दिया गया है और दूसरी ओर शंकराचार्य को हिन्दू धर्म के सुधारक और संरक्षक के रूप में स्वीकार कर लिया गया । एक तीसरी अत्यधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि तांत्रिक साधना

१ व एक्जुजेशन हर्बर्ट अग्नेस्ट शंकर बाई व मीमांसकाजवाज बेट हि बाज ए कम्प्लीट बुद्धिस्ट । दिस इजअनडाउटडबली ट्रू दू व एक्सटेन्ट बेट लाइक व बुद्धिस्ट हि बाज अपोजिट दू व सिस्टम आफ मिकैनीकल रिबुअरस । ऐसबर् आफ इन्डियन हिस्ट्री : के० एन० पणिककर, पृ० १२५, बम्बई १९५० ।

को साधना के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया। शंकराचार्य स्वयं शैव थे और परम्परा के अनुसार वह दक्षिणपन्थी शाक्त-साधक माने जाते हैं। सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु इन पाँच देवताओं की पूजा के प्रतिष्ठापक भी वही माने गए हैं। आनन्दलहरी के भी लेखक के रूप में परम्परा उन्हें स्वीकार करती है। शंकर ने तांत्रिकों के वामाचार का विरोध किया था किन्तु साधना के क्षेत्र में तांत्रिक नाडीयोग को स्वीकार कर लिया गया, फलतः शंकर के पश्चात् योग साधना के लिए तथा भक्तिभाव के लिए सभी सम्प्रदायों के साधक तन्त्रों को पढ़ने पढ़ाने लगे। श्री वैष्णवों ने तन्त्रों से शक्तिवाद तथा भक्ति को ग्रहण किया और निम्न जातियों को भी भगवान की प्रपत्ति का अधिकार दे दिया। अवैदिक तांत्रिकों के संघर्ष का यह शुभ परिणाम था। इस युग के पश्चात् दक्षिणपन्थी अर्थात् सात्विक, तांत्रिक साधना को स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं रहा और दसवीं शताब्दी के बाद दक्षिणपन्थी शाक्त सिद्धान्तों के विषय में यह धारणा बढमूल होगई कि आर्यधर्म निगम के साथ आगम में भी प्रतिष्ठित हुआ है।

उत्तरी भारत में मुसलमानों के आक्रमणों के बाद आगमों की उदारता की स्वीकृति अनिवार्य हो गई क्योंकि इस्लाम के समानता के नारे ने यहाँ की निम्न जातियों को अपने अधिकारों के लिए जागरूक कर दिया था। श्री वैष्णवों ने शूद्रों को दीक्षा का अधिकार नहीं दिया था, केवल उन्हें भगवान की 'शरण प्राप्ति' का आश्वासन अवश्य मिला था, किन्तु इस थोड़ी-सी सुविधा से उत्तरी भारत में काम नहीं चल सकता था, अतः रामानन्द ने और भी अधिक उदारता से काम लिया। प्रसिद्ध कथा है कि जब रामानन्द दक्षिण गये तो श्री वैष्णवों ने उनके साथ भोजन करने से मना कर दिया, फलतः रामानन्द और भी अधिक उदारता दिखाने लगे और पेड़ पर चढ़कर उन्होंने भगवान के नाम की घोषणा की। यह मान लिया गया कि जिसके कान में राम का नाम पड़ जायगा उसे वैष्णव मान लिया जाएगा इस कथा से रामानन्द की प्रगतिशीलता का पता चलता है।

रामानन्द के समय तक भारतीय धर्म साम्प्रदायिक दुराग्रह रखते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं रह गये थे, क्योंकि शंकराचार्य और श्री वैष्णवों के द्वारा तांत्रिक साधना को भी स्वीकृति मिल चुकी थी। अतः सम्प्रदाय प्रायः अपनी अपनी श्रेष्ठता और महत्त्व के लिए लड़ते थे। किन्तु अन्य सम्प्रदायों को साधना के निम्न सोपानों के रूप में स्वीकार कर लेते थे। इस तथ्य को प्रायः विचारक

भुला देते हैं कि तुलसीदास, सूरदास के पूर्व सभी सम्प्रदाय शत्रुता का भाव भुला चुके थे। काव्यशास्त्र में जिस प्रकार अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद, रसवाद आदि अनेक सम्प्रदाय हैं परन्तु सब एक दूसरे का महत्व स्वीकार करते हैं—इसी तरह शैव वैष्णवों को और वैष्णव शैवों को अपने समान श्रेष्ठ न समझते हुए भी उनके शत्रु नहीं रह गये थे, इसी प्रकार शांकर मत के संन्यासी वैष्णव-शैव भक्तों को स्वीकार करते थे, यहाँ तक कि जैन और बौद्ध मतों के महापुरुषों को भी स्वीकार कर लिया गया था। महायान मत अपने देवताओं की भक्ति व उपासना के द्वारा हिन्दू धर्म के बहुत निकट आ चुका था। मत्स्यपुराण व भागवतपुराण गौतम बुद्ध को भगवान मान चुके थे। बुद्ध को जन्म-तिथि पर हिन्दू भी एक उत्सव मानते थे, ऐसा ब्रह्मांड-पुराण में उल्लेख मिलता है।^१

वैष्णवों व शैवों का अवतारवादी सिद्धान्त इस दृष्टि से बहुत उपयोगी था। इससे समाज के हितैषी अन्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित पुरुषों को भी स्वीकार करने में बड़ी मदद मिलती थी तथा समाज-कल्याण की भावना का भी प्रचार होता था। जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब भगवान नाना रूप धारण कर अवतार लेते हैं, यह एक मानवीय सिद्धान्त था जो जनता के दुःखों को दूर करने का आश्वासन देता था। इस अवतारवाद द्वारा आस्तिक नास्तिक सभी परोपकारी पुरुषों को सम्मानित किया जा रहा था, अतः अवतारवादी पौराणिक व आगमिक दृष्टि ने रामानन्द के बाद बहुत काम किया और मुसलमानों के द्वारा उत्पन्न अशांति के समय सभी आस्तिक, नास्तिक प्राचीन भारतीय श्रेष्ठ व्यक्तियों से प्रेरणा ली गई, क्योंकि शंकराचार्य इस सिद्धान्त को कम महत्व देते थे, अतः उनका विरोध किया गया।

रामानन्द के समय सभी सम्प्रदायों में अविरोध स्थापना के साथ दूसरी प्रवृत्ति यह दिखाई पड़ती है कि सभी सम्प्रदायों में “दक्षिणाचार” पर अधिक बल दिया जाने लगता है और वामाचार का विरोध होता है। वस्तुतः वामाचार वैदिक परम्परावादियों की कठोरताओं के विरुद्ध अतिवाद की सीमा तक पहुँचा हुआ एक विद्रोह था और रामानन्द के समय तक क्योंकि आर्येतर विश्वासों को अपना लिया गया था और साथ ही निम्न जातियों को भी सुविधाएँ दे दी गई थी इसलिए वामाचार इस परिस्थित में हानिकर समझा

गया । स्वयं शाक्त-मत ने इसे अनुभव किया था और इसीलिए तेरहवीं शताब्दी के बाद वह दक्षिणाचारी होता गया । सन्त वैष्णवों ने शाक्त-सिद्धान्तों को अवश्य अपनाया है, सन्तों ने तो शाक्तयोग को पूर्णतः स्वीकार किया है, किन्तु वामाचार का खंडन सन्त-वैष्णव-काव्य की विशेषता है । कृष्ण-भक्त-वैष्णवों में वामाचार भाव-साधना के रूप में प्रविष्ट हुआ, जिसमें भगवान के रतिचक्र का ध्यान किया जाने लगा ।

राम-भक्तों में तुलसीदास जैसे भक्त वामाचार के घोर विरोधी थे जबकि परवर्ती राम-सम्प्रदाय में मानसी ध्यान के रूप में राम की विलास क्रीड़ाओं को ही साधना का सर्वस्व मान लिया गया ।

शैव, शाक्त मत का एक दूसरा रूप भी इस युग में प्रचलित हुआ । देश पर आक्रमण के समय “भवानी” बहुत प्राचीनकाल से ही युद्ध की देवी मान ली गई थी । शक्ति का राष्ट्रसंरक्षक और असुरविमर्दक रूप सभी को प्रिय था, अतः राजपूताने के क्षत्रिय भवानी की उपासना करने लगे । सिद्धराज जयसिंह शिव के उपासक थे जो युद्ध के देवता थे । शिवाजी व गुरुगोविन्द सिंह को “भवानी” ने जो तलवारें दी थी उन्हें शक्ति या भवानी कहा जाता था । भवानी की पूजा में बलि दी जा सकती थी, मदिरा की धार दी जा सकती थी, परन्तु मैथुन के साधनात्मक रूप को स्वीकार नहीं किया जा सकता था । अतः राष्ट्रीय खतरे के समय तांत्रिक मत अपने राष्ट्र-संरक्षक रूप में स्वीकृत हुआ था, दूसरी ओर अपने योग के द्वारा तांत्रिक मत समाज की वर्णाश्रम धर्म की कठोरता से उत्पन्न असंगति को दूर कर रहा था ।

मधुरा भक्ति पर तांत्रिक प्रभाव—यह मनोरंजक तथ्य है कि देश की रक्षा के समय शक्तिवाद भवानीउपासना के रूप में स्वीकृत हो रहा था तो यही शक्तिवाद समाज के समीकरण के लिए योग के रूप में स्वीकृत हुआ था और साधना को जन-प्रिय बनाने के लिए यही शक्तिवाद राधा-कृष्ण व सीता-राम की प्रेम लीलाओं का रूप धारण कर रहा था । आकर्षण साधना के लिए वैष्णवों ने तांत्रिकों की यामल साधना को स्वीकार किया था जो भागवतपुराण में स्वीकृत हो चुकी थी । निम्बार्क ने कृष्ण के साथ राधा को शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया, जयदेव ने भीत-गोविन्द में शक्ति और शक्तिमान की प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया था । इस राधा या गोपीवाद की पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से तांत्रिकों की साधनात्मक रति-क्रीड़ा कार्य कर रही थी । क्योंकि वैष्णव सामन्तों से लेकर जन सामान्य तक और पंडित से लेकर मूर्ख तक सभी के

लिए आकर्षक साधना-पद्धति का आविष्कार कर रहे थे। जयदेव के गीत-गोविन्द के टीकाकारों में इसीलिए महाराणा 'कुम्भा' जैसे विकट योद्धा भी थे। इस युग में उस यामल साहित्य की प्रभाव-वृद्धि दिखाई पड़ती है जिसकी रचना ९०० ई० से १३०० ई० के मध्य हुई थी। इस यामल साहित्य में शक्ति सहित देवता की उपासना का वर्णन मिलता है, फलतः निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, हितहरिवंश आदि आचार्य भगवान के उस रूप को लेकर चले जो आनन्दवादी था। वल्लभाचार्य ने लिखा है कि लोक-रक्षा और धर्म-संस्थापन का कार्य तो चतुर्व्यूहात्मक अवतार करता है किन्तु संसार को केवल आनन्द देने के लिए जो अवतार होता है वह भगवान का रसरूप है।^१ इस प्रकार वैष्णव-सम्प्रदाय रसरूप पर ही अधिक बल देने लगे, यह रसरूप भगवान गीता के कर्मयोगी कृष्ण से भिन्न दिखाई पड़ता है।

रसरूप भगवान के मनोहर लीलावाद ने वामाचारी सिद्धसाधना को अपदस्थ किया। वामाचारियों का क्रान्तिकारी रूप सन्तकवि स्वीकार कर ही चुके थे, अतः वैष्णव आन्दोलनों के द्वारा तांत्रिक साधना का कुत्सित अतिवादी रूप सर्वदा के लिए प्रभावहीन हो गया। यह लक्ष्य करने योग्य तथ्य है कि राधा-कृष्ण की रति लीलाओं का ध्यान करके विभोर होकर उनका गायन करने वाले भक्तकवि सिद्धों के नाड़ीयोग के विरोधी थे, किन्तु सिद्ध-साधना के शक्तिवाद को स्वीकार करते थे। कृष्णभक्त व रामभक्त वैष्णवों ने कहीं भी दक्षिणाचारी शैव, शाक्तों का विरोध नहीं किया है। तुलसीदास भी हठयोग के विरोधी और शिव के प्रशंसक थे। हठयोग व सन्त सम्प्रदाय से भक्त कवियों और आचार्यों का पूर्ण सामंजस्य इसलिए नहीं बनता था कि योग परम्परा के साधक वैदिक परम्पराओं और वर्णाश्रम-प्रथा के कठोर आलोचक थे। इस प्रकार तांत्रिक सम्प्रदायों से किस सम्प्रदाय ने क्या ग्रहण किया, इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करने की बहुत आवश्यकता है।

रामानुज और रामानन्द ने आगमों से भक्तितत्व को ग्रहण किया है। ये आचार्य देवता-विशेष, उसकी शक्ति (लक्ष्मी, सीता) उसके मंत्र, उसकी मूर्ति तथा उसकी लीलाओं के उपासक हैं। ये तत्व आगमों और तन्त्रों में पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे। रामानन्द की सन्त-शिष्य-परम्परा द्वारा तांत्रिक कुण्डलिनीयोग स्वीकृत हुआ जिसमें देवतावाद नहीं मिलता किन्तु रामानन्द की भक्त-

शिष्य परम्परा में यह देवतावाद स्वीकृत हुआ जैसा कि तुलसीदास, अग्रदास आदि में दिखाई पड़ता है ।

वैष्णवों में जो दिव्य शृंगार की झलक देख-देखकर मुग्ध होने की भावना है, वह निश्चित रूप से साधनात्मक है, उसी को कविता में वाणी मिली है । साधनात्मक पक्ष को विस्मृत कर देने पर वैष्णव काव्य का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता । यह दिव्य शृंगार अनेक आयाम वाला है । सहृदय उसे काव्यात्मक रूप में ग्रहण कर सकते हैं और साधक शुद्ध “भावदेह” की प्राप्ति कर भगवान की रतिलीलाओं में सम्मिलित हो सकते हैं । साथ ही वह इस विराट ब्रह्मांड के मूल में अवस्थित शक्ति व शक्तिमान की अलौकिक एकता का भी दर्शन है, एक विराट “विजन” है ।^१ कवियों के मस्तिष्क से जब-जब यह विजन लुप्त हुआ है तब-तब वैष्णव काव्य उसी प्रकार पतित हुआ है जिस प्रकार सूफी काव्य का “इश्क हकीकी” चरित्रहीन गजलगो शायरों के द्वारा घृणित रूप में हमारे सम्मुख आया है, अतः वैष्णवकाव्य के शक्तिवाद को विस्मृत करना गलत होगा । कश्मीरी शैवमत में काम-कला पर जो कुछ लिखा गया है, वैष्णव काव्य में वही दिव्य शृंगार बन गया । काम तत्व की इस गम्भीरता को जयशंकर प्रसाद ने समझा था तभी वह कामायनी लिख सके ।

दार्शनिकों ने जीवन को गहराई से देखा था । विशेष रूप से वैष्णव कवियों का दर्शन मानवीय जीवन की ही दिव्य प्रतिलिपि है । प्रेम भाव में व्यक्ति को जो अनुभव होते हैं उन्हीं अनुभवों को ब्रह्म व उसकी शक्ति पर आरोपित करके अथवा वहाँ उनका अनुमान करके तांत्रिकों व उनसे प्रभावित वैष्णवों ने अपनी सृष्टिलीला का भवन खड़ा किया है । जिस प्रकार हमारे मन में सर्गेच्छारूपधारी काम उत्पन्न होता है, जिस प्रकार वही समस्त कार्यों

१ व आर्डरली डान्स आफ द स्फेअर्स, द परपेचुअल मूवमेन्ट आफ द एटम्स, इवोल्यूशन एण्ड इन्वोल्यूशन, आर कंसेप्शुशनन्स वैंट हैव एट आल टाइम्स अकडॅं दू मोन्स माइंड्स, बट दू रिप्रैजेंट वैंस इन द विजीबिल फौम्स आफ नटराजस डान्स इज ए यूनीक एण्ड मीगनीफिसैंट एबीवमेन्ट आफ द इंडियन्स-आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स आफ इन्डिया एंड सीलोन-डा० आनन्दकुमार स्वामी,—ए मॅंटाफिजीक आफ मिस्ट्रीसिज्म—गोविन्दाचार्य स्वामी, मंसूर, १९२३

यह स्मरणीय है कि नर्तक कृष्ण पर शिव के उक्त स्वरूप का प्रभाव है ।

व पदार्थों की सृष्टि के लिए प्रेरक बनता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी दार्शनिकों ने काम-भाव को देखा, जिस प्रकार प्राकृत रति से ही सन्तति का जन्म होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ने अपनी शक्ति के साथ शृंगार लीला की होगी, ऐसा अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं था। इसीलिए सृष्टि और संहार की क्रियाओं में वैष्णवों ने दिव्य लीला के दर्शन किये हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वीकृति भले ही न मिले किन्तु यह दृष्टि जीवन के अनुभवों पर आधारित है तथा मधुर कल्पना के कारण कवित्वपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिन सम्प्रदायों ने इस अखिल ब्रह्मांड को आदिपिता शिव तथा आदि जननी उमा की सन्तति के रूप में देखा था, जिन्होंने मनुष्य को लक्ष्मीनारायण के लाड़लों के रूप में निरूपित किया था, जिन्होंने प्रत्येक प्रेमी व प्रेमिका को पुरातन पुरुष व उसकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया था, भला उन्हें कौन कवित्वहीन कह सकता है ? अतः भाव साधना के लिए जिस मधुराभक्ति का प्रचार वैष्णवों ने किया है उसके पीछे आगमों की शक्तिवादी विचारधारा दिखाई पड़ती है और उसने मध्यकालीन कवित्व की अद्भुत प्रेरणा दी है।

ऐतिहासिक औचित्य—इस कवित्वपूर्ण “विजन” की उस समय आवश्यकता थी। धर्म जो ऊपर के तबकों में संकुचित हो रहा था, जो “रस” केवल कतिपय व्यक्तियों की हृदय कोठरी में ही बन्द था, उसे दोनों हाथ उलीचने की आवश्यकता थी, क्योंकि उत्तरी भारत में राजनैतिक व सामाजिक दुरावस्था चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। जैसे ही सांस्कृतिक संगठन का अवसर मिला आन्ध्र से वल्लभ ने, बंगाल से चैतन्य ने, चित्रकूट से तुलसीदास ने तथा ब्रज-प्रदेश से अन्य आचार्यों ने मनुष्य की सांस्कृतिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी, इनमें कोई कम उदार था कोई अधिक उदार था। यह स्मरणीय है कि वैष्णव कवि वैदिक कर्मकांडीवर्ग तथा टीकाकारों से बहुत आगे थे अतः देश के हृदय को वही जीत सके और वही समाज के वास्तविक विधायक बने। कानून बनाने और फ़तवा देने का अधिकार जिन्हें हिन्दू और इस्लाम मतों में मिला था, वह इतिहास के प्रवाह को नहीं समझ सके, उन्होंने इतिहास को पीछे खींचा, अलगव व भेद-भाव फैलाया जबकि इतिहास ऐसी शिक्षा माँग रहा था, जिसके द्वारा सारे देश के सभी वर्गों के लोग अधिकाधिक सम्पर्क में आएँ, अकबर की शासन व्यवस्था का मधुर स्पर्श पाकर यह कार्य इतनी द्रुतगति से बढ़ा कि विचारक को आश्चर्य होता है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि बिजली की गति से भक्ति सारे देश में व्याप्त हो गई और इसके लिए उन्होंने ईसाई प्रभाव खोज

लिया परन्तु यह एक बेबुनियाद बात थी, वातावरण में फैली हुई ऊष्मा को जिन हृदयों ने सबसे अधिक अनुभव किया, वे महामना सम्मुख आए और जनता में काम करने लगे। एक ऐसा वातावरण बनाने लगा जिसमें धर्म के नाम पर फैली हुई घृणा का घाव भरने लगा।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि उन कवियों और कलाकारों को उतनी ही अधिक सफलता मिली जिन्होंने साधना को अधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया और जिन्होंने आदर्शों का निर्माण किया, उन्हें जनता ने कविता की पुस्तक न समझ कर पवित्र धर्म की पुस्तक समझा और उन्हें पारायण करना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम वर्ग में कृष्ण-भक्ति-कवि आते हैं और दूसरे वर्ग में तुलसीदास। “तुलसीदास” को वाल्मीकि का पद मिला, उनकी वाणी ऋषि-वाणी मान ली गई क्योंकि कुछ संकीर्णताओं को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक प्रकार के मानवीय सम्बन्धों के आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किए थे। उस युग की जो सामन्ती व्यवस्था थी उसमें एक आदर्श शासक से लेकर आदर्श सेवक ही नहीं, शत्रु तक के लिए आदर्श निश्चित कर दिए गए थे अतः तुलसीदास को वाल्मीकि कहना ठीक ही था। तुलसीदास ने हर उस बात को वैदिक घोषित करके स्वीकृति दिला दी जिसे पहले पूर्णतः स्वीकृति नहीं मिली थी, यद्यपि पहले भी कई शताब्दियों से अंतर्भुक्ति का सिद्धान्त व्यवहार रूप में परिणत होता आ रहा था। तुलसीदास, वल्लभ, चैतन्य आदि ने उन सभी तत्त्वों पर आखिरी प्रामाणिक मुहर लगा दी जिन्हें अवैदिक कहकर लोग छोड़ सकते थे। फलतः अत्यधिक उदार ग्रहणशील प्रवृत्तिप्रधान हिन्दूमत का पुनः अभ्युदय हुआ, इससे एक ओर अपने संस्कारों की रक्षा की गई, वहीं उसके उदार स्वरूप के कारण उसके प्रति बहुत सी मुस्लिम जनता भी आकर्षित हुई, अलगाव कम हुआ। यदि शुद्ध वैदिक कर्मकाण्ड का पुनः अभ्युदय होता तो मुस्लिम शासन के भीतर की जनता में अलगाव कम नहीं हो सकता था, हाँ, यह राजपूतों के शासन और दक्षिण के हिन्दू राजाओं में सम्भव था और वह भी द्वि-जातियों में ही यह कर्मकाण्ड एकता स्थापित कर सकता था। निम्न जनता को तो यज्ञ स्थल के स्पर्श का भी अधिकार न था, अतः वैदिकता के नाम पर उस प्रचलित (पापूलर) धर्म को ही ग्रहण किया जा सकता था, जिसमें हिन्दू संस्कृति की रक्षा भी हो सके और साथ ही उसमें इतनी उदारता, सरलता और आकर्षण भी हो कि वह सभी वर्गों को समेट सके।

वैष्णवों की सफलता का कारण ही यह है कि वे वैदिकता की मुहर उस

प्रचलित धर्म पर लगाकर चले जो मूलतः आगममूलक था और जिसे पुराणों ने स्वीकार कर लिया था। लोक के विश्वासों को वैदिक मानकर चलने के कारण वैष्णव कवि व आचार्य सांस्कृतिक शिक्षा के कार्य में सफल हुए।

यह सब उस परिस्थिति में प्रारम्भ हुआ था जिसे हमने “नीचे से ऊपर का सामन्तवाद” कहा है।

हम कह चुके हैं कि तुर्कों के शासन-काल में कर बढ़ गया था। धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से हिन्दुओं का अपमान ही नहीं हुआ था अपितु शासन-प्रबन्ध और आर्थिक व्यवस्था में सुधार न करने के कारण तुर्क शासक जन-प्रिय नहीं हो सके थे। यह स्मरणीय है कि हूणों के आक्रमण से मुहम्मद गजनवी के आक्रमण के पूर्व तक लगभग ५०० वर्षों में देश पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ। केवल सिंध पर अरबों का शासन स्थापित हो चुका था। यही युग तंत्रों के विकास का युग है, जिसमें सांस्कृतिक एकता के लिए काम हुआ था, तथा साथ ही शान्ति के समय कठोर वर्णाश्रम-प्रथा के विरुद्ध अभियान भी हुआ था। तुर्कों के आक्रमण के पूर्व की हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था पर विचार करते हुए के० एम० पनिक्कर ने लिखा है कि भारत के लोग इस अवधि में इतने अधिक गर्वीले हो गए थे कि वे युद्ध, ज्ञान व अन्य क्षेत्रों में दूसरों से शिक्षा लेने की बात ही भूल गए। उनका विदेशियों के साथ सम्पर्क टूट गया। उनकी सभ्यता का विकास बन्द हो गया। समाज जड़ हो गया, इतना अधिक जड़ कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की जड़ता देखकर स्वयं मनु व याज्ञवल्क्य भी स्तम्भित रह जाते।^१

आर्थिक दृष्टि के धन का इस युग में विषम वितरण और बढ़ा और उसका उपयोग मंदिरों के लिए अधिक होता था, सिचाई और अन्य उत्पादक साधनों के लिए कम होता था। शासन-प्रबन्ध की दशा पर क्षेमेन्द्र ने देशोपदेश और नर्ममाला नामक पुस्तकों द्वारा अच्छा प्रकाश डाला है। पटवारी या दिविर, नियोगी या कलक्टर तथा परिपालक या गवर्नर के द्वारा शासन प्रबन्ध होता था। कागजात तैयार करने के लिए लेखोपाध्याय तथा कावस्थ रहते थे।^२ कायस्थों या बलकों से जनता विशेष रूप से परेशान रहती थी, किन्तु केन्द्रीय शासन सशक्त होने पर नौकरशाही द्वारा दमन कम हो जाता था।

१ ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३१

२ के० एम० पनिक्कर, पृ० १३५

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व इस देश में धार्मिक व सामाजिक संगठन अधिक दृढ़ था । राजनैतिक रूप से देश अपेक्षाकृत दुर्बल था । यह स्मरणीय है कि तुर्कों के शासन में दिविर से लेकर नियोगी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया, केवल अत्यधिक उच्च पदों पर मुसलमान अधिकारी नियुक्त कर दिये गए, शेष सारी नौकरशाही भारतीय ही रही । मुस्लिम विजेता न तो अपने साथ किसान लाये थे और न जमींदार और कर्मचारी ।^१ प्रारम्भ में विजेता इन कामों से नफरत करते थे । अतः कृषि और व्यापार तथा शिल्प पर हिन्दुओं का ही अधिकार रहा । इस सशक्त आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के सम्मुख क्रूर से क्रूर विदेशी विजेता को नतमस्तक होना पड़ता था और उदारता का वातावरण बनने लगता था, इसीलिए प्रेम की पुकार लगाने वाले सन्तों और वैष्णवों का प्रभाव इस युग में बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है । अलाउद्दीन जैसे नृशस बादशाह ने आचार्य महासेन जैन मुनि का सम्मान किया था जिन्हें कर्नाटक से बुलाया गया था । गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली के दिगम्बर जैन पूर्णचन्द्र तथा श्वेताम्बर जैन साधु रामचन्द्र सूरी को सम्मानित किया था ।^२ सूफियों के नैतिक प्रभाव को भी बादशाह स्वीकार करते थे ।

पीड़ित हिन्दू जनता में आत्म विश्वास उत्पन्न करना, विजेता और शासकों को मनुष्यता की शिक्षा देना, कर्मकांडियों व समाज के नियमों को कठोरतर बनाने वालों का विरोध, मुसलमानों व शूद्र जातियों के प्रति उदारता बरतना, सम्प्रदायिक दुराग्रह कम करना, कला, संगीत और कविता का पुनरुद्धार करना, तथा लोकभाषाओं को अपनाकर प्रत्येक व्यक्ति को प्रेम की शिक्षा देना-वैष्णव भक्तों का यह ऐतिहासिक कार्य था । वैष्णवों ने साधना को इतना सरल और आकर्षक बनाया, उसमें इतना कवित्व और संगीत भरा कि उनका प्रेम-सन्देश सुनने के लिए सभी उत्सुक हो उठे । वैष्णव साधना में भगवान की कृपा पर सबसे अधिक बल दिया गया है । महायान मत के अवलोकितेश्वर के सादृश्य पर भगवान राम और कृष्ण भक्तों ही नहीं किन्तु पापियों के मुख से केवल अपना नाम सुन कर ही भाग-भाग कर आने लगे । क्रोध और आलस्य में भी हरिनाम निकल जाने पर भवसागर से लोगों का

१ के० एम० पनिक्कर, पृ० १५८

२ वही, पृ० १५८

उद्धार होने लगा । यह जादू न मीमांसकों के पास था और न वेदान्तियों के पास । यह जादू पौराणिकों के पास था जिसमें साधना को अत्यधिक सरल बनाया गया था । राम और कृष्ण ही नहीं 'विक्रम बजरंगी हनुमान' ने भी यह प्रतिज्ञा की कि जो उनके नाम का स्मरण करेगा वह तुरन्त उपस्थित होकर आततायी का बध करेंगे । वैष्णवों ने भगवान को इतना अधिक कृपालु बनाया कि वह भक्तों के वश में हो गए और शताब्दियों तक देश को इस पद्धति पर आश्वस्त बनाए रखना सम्भव हुआ कि भगवान कष्टों को अवश्य दूर करेंगे ।

'पुण्य और आगम' मुसलमान शासन के पूर्व ही ऐसे भगवान का आविष्कार कर चुके थे क्योंकि हिन्दू सामन्तवाद से भी जनता पीड़ित ही थी विशेष रूप से निम्न जनता आर्थिक शोषण व वर्ण-व्यवस्था दोनों से दमित थी । इसीलिए भक्ति का आवेश दक्षिण में सर्व प्रथम निम्न जातियों में ही जाग्रत हुआ था ।

आगमों ने नाना स्थानीय देवताओं की पूजा का प्रचार उच्च वर्णों में भी किया । देवताओं के साथ उनकी शक्तियों तथा अन्य परिवार के सदस्यों की पूजा भी प्रचलित हुई । पुराणों ने भी नाना देवताओं की पूजा उपासना का प्रचार किया । देवता उपासना के पीछे यह तांत्रिक सिद्धान्त था कि सत्य का सहसा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, अतः किसी देवता के साथ पहले तादात्म्य करना चाहिए और उसके पश्चात् फिर निर्गुण सत्ता के साथ अभेद स्थापित करना चाहिए ।

तांत्रिक युग के पश्चात् (६०० से १३०० तक) वैष्णवों ने राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि की पूजा प्रचलित की और इनके पारिषदों की उपासना भी चल पड़ी । साधना के उच्चतम लक्ष्य के अनुसार शक्ति और शक्तिमान के परस्पर प्रेम, एकता तथा कामकेलि को ही वैष्णव भक्तों ने प्रचारित किया । तुलसीदास ने वाल्मीकि की परम्परा में राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम का चित्रण किया । के० एम० पनिक्कर ने लिखा है कि इस्लाम द्वारा हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ विजित हो जाने के कारण वैष्णवों ने पलायनवाद का प्रचार किया क्योंकि वैष्णवों की भक्ति में गीता का भोज और कर्मयोग नहीं मिलता । राधा-कृष्ण की उपासना में रहस्यवादी तत्व अधिक दिखाई पड़ते हैं ।^१

स्पष्ट ही वर्तमान को भूतकाल में देखने के कारण श्री पनिक्कर को उक्त

भ्रम हुआ है। आज की दृष्टि से तो धर्ममात्र ही पलायन है। यह सही है कि वैष्णव भक्ति में गीता की कर्मठता का अभाव है और उसका रहस्यवाद आगमों पर आधारित है परन्तु यही रहस्यवाद उस परिस्थिति में प्रेम के ऊपर प्रतिष्ठित होने के कारण पलायनवाद के रूप में नहीं अपितु प्रेरणावाद के रूप में आया था। अनावश्यक यथार्थ को बदलने के लिए कभी-कभी भ्रम का सृजन भी आवश्यक होता है। कला और धर्म द्वारा मनुष्य इसी पद्धति पर अपनी परिस्थिति में एक सीमा तक परिवर्तन करता आया है।

राधा-कृष्ण की मधुर उपासना उस युग में सबसे अधिक सफल हुई और आचार संहिताओं के लेखक सबसे अधिक असफल हुए, यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाय तो वैष्णवों को पलायन वादी नहीं कहा जा सकता।

देवल, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर कुल्लूकभट्ट तथा चन्द्रेश्वर आदि लेखकों ने तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों तक जिन आचारसंहिताओं और निबन्धों का निर्माण किया है, उनमें हिन्दू समाज को यवन-प्रभाव से बचाने का अद्भुत प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इसके लिए नियमों को कठोर किया गया और यवन बन जाने के बाद पुनः अपने धर्म में वापस आने की आज्ञा किसी को नहीं दी गई। निश्चित रूप से यह एक रक्षात्मक प्रवृत्ति थी, परन्तु कठोर नियमों के निर्माण से आगे चलकर सामाजिक सम्मिलन के कार्य में बाधा पड़ी और इस परिस्थिति में वैष्णवों ने उदारता का प्रदर्शन किया। तभी बहुत से मुसलमान भक्त कवि कृष्ण और राम—उपासना की ओर आकर्षित हुए।

स्मृतिकारों के कार्य और वैष्णवों के कार्य की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव कवि अधिक दूरदर्शी थे, वे एक सीमा तक वैदिक पुनरुत्थानवादी भी थे, किन्तु उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में जातिवाद के विरुद्ध प्रचार किया और भगवान की शरण प्राप्त करने का यवनों, क्षूद्रों, स्त्रियों आदि सबको अधिकार दे दिया।

योग-वेदान्त, सांख्य तथा तंत्र के सिद्धान्तों व साधनाओं की अन्तर्भुक्ति—वैष्णव सम्प्रदायों ने लोक भाषा का आश्रय ग्रहण किया और सार-ग्रहण की प्रवृत्ति अपनाई। दसवीं शताब्दी में तमिल में महाभारत का अनुवाद हो चुका था। ग्यारहवीं शताब्दी में तेलुगू भाषा में भी महाभारत का अनुवाद हुआ। इससे भक्ति के विकास में बड़ी मदद मिली। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत में विभिन्न मतों में अविरोध स्थापित किया गया।

महाभारत के अतिरिक्त भक्ति के प्रचार में भागवत पुराण का सबसे अधिक हाथ रहा है। भागवतपुराण के पश्चात् राधा-कृष्ण के मधुर रूप का प्रचार प्रचलित हुआ। राधा भागवत पुराण में नहीं मिलती, उसकी शोध में विचारकों को बड़ा कष्ट हुआ है और बहुतसा परिश्रम भी व्यर्थ गया है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अपनी शक्तिवादी दृष्टि के कारण कृष्णभक्त आचार्यों के सम्मुख यह समस्या थी कि ब्रज की प्रेम लीलाओं के लिए कृष्ण के साथ किस शक्ति को अपनाया जाय ? लक्ष्मी से काम नहीं चल सकता था, क्योंकि लक्ष्मी में वैभव व मर्यादा अधिक थी, रुक्मिणी व सत्यभामा आदि का सम्बन्ध द्वारिका के राजा कृष्ण से था अतः ब्रज के दिव्यशृंगार व रास की अधिष्ठात्री देवी के रूप में किसे अपनाया जाय। वल्लभ व चैतन्य के पूर्व सहजिया वैष्णवों ने राधा को अपना लिया था और राधा-कृष्ण का यह रूप बौद्धों के सहजयान के प्रज्ञोपाय की एकता के आधार पर स्वीकृत हुआ था। चंडीदास की राधा में सहजिया तत्व स्पष्ट हैं, तभी प्रेम के वर्णन इतने अश्लील हो गए हैं। क्या कारण है कि गाथा सप्तशती व वेणीसंहार नाटक, ध्वन्यालोक आदि कतिपय ग्रन्थ तथा बंगाल के पहाड़पुर के 'वेसरिलीफ' में (६ वी शता०) में ही राधा के उल्लेख मिलते हैं, और जयदेव के गीतिगोविन्द, चंडीदास के "श्रीकृष्ण कीर्तन" (१३८० ई०) आदि में राधा ही रह जाती है, गोपियां गायब हो जाती हैं। चंडीदास के श्रीकृष्ण कीर्तन में गोपियां गायब हैं। डा० सुकुमार सेन ने लिखा है कि चंडीदास में अभद्र प्रेम का वर्णन है। कृष्ण राधा को प्रेम के जाल में बांधने का प्रयत्न करते हैं, एक जरठा दूती की सहायता लेते हैं।

विद्यापति चंडीदास और चैतन्य के राधावाद में डा० सुकुमार सेन एक लम्बी खाई मानते हैं। चैतन्यपूर्व का राधावाद अश्लील है, चैतन्य का राधा-वाद शिष्ट और समर्पणपूर्ण है, सुकुमारसेन कहते हैं कि इस खाई को अद्वैतुकी-भक्ति से भरा गया और विरह का महत्व बढ़ता गया।^१ किन्तु यहाँ लक्ष्य यह है कि सर्वप्रथम सहजिया वैष्णवों ने ही 'राधा' को साधनात्मक रूप दिया, फिर उसे शिष्ट रूप दिया चैतन्य ने। चैतन्य के प्रभाव से गोसाँ विट्ठलनाथ के समय राधा का प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय में बढ़ा, यद्यपि वल्लभ के यहाँ भी 'राधा' का स्थान था, अतः राधा को साधनात्मक रूप देने का प्रथम श्रेय तांत्रिक परम्परा को ही है और राधा का, "साधना में पूज्य राधा का," स्रोत

निश्चित रूप से तंत्रों का शक्तिवाद है। भागवत में राधा नहीं थी तो गोपियाँ थीं, इस गोपी-कृष्ण की गुह्य-लीलाओं पर भी तंत्रों का प्रभाव स्वयं फर्कुअर ने माना है जो तंत्राचार के घोर विरोधी थे, जिन्होंने तंत्रों के श्रेष्ठ तत्वों को कभी अलग करने की कोशिश नहीं की थी, वह कहते हैं—

बट वी मस्ट आलसो रिकौगनाइज़ इन द भागवत द प्रजैन्स आफ अैनदर फ्रैश एलीमेन्ट आफ ए वैरी डिफैरेंट कैरेक्टर, ए लॉग सीरीज आफ हाइली इरोटिक पैसेजिज़ व्हिच गो फार बियोन्ड एनीथिंग विष्णु-पुराण एन्ड हरिवंश कन्टेन एन्ड व्हिच सीम टू कन्सोर्ट इल विद द हाई डिवोशन टू द लोर्ड एन्ड सर्विस आफ हिज़ सेन्ट्स। मैडीटेशन आन दीज़ सीन्स इज़ एक्सपेक्टेड टू प्रोड्यूस दैट पेशेनट भक्ति व्हिच इज़ रिगार्डिड एज़ द रिलीजिस एक्सपीरियन्स।^१

इस पुराण के विषय में फर्कुअर ने यह भी लिखा है कि इसकी तिथि तथा इसके जन्म के विषय में कोई संतोषजनक समाधान अभी तक नहीं हो सका है।^२

जिसे फर्कुअर भागवत में “फ्रैश एलीमेन्ट” कहते हैं, वह वस्तुतः तांत्रिक साधना का प्रभाव है। तांत्रिकों ने धर्म को जनप्रिय बनाने के लिए सम्भोग व योग के विरोध को समाप्त किया, पापियों, दुष्टों और दुराचारियों के लिए भी साधना के द्वार खोल ही नहीं दिए अपितु पापियों को साधना के लिए विशेष उपयुक्त समझा—दूसरे ऐन्द्रिक आनन्दों का निषेध न होने के कारण सामान्य जन भी आकर्षित हुआ। चक्रसाधना व सिद्धों की संगतियों या सभाओं में नृत्य, गायनादि चलने लगा, फलतः शाक्त-युग में इस साधना का प्रभाव अन्य सम्प्रदायों पर भी पड़ा, प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी साधना को आकर्षक रूप देने की स्पर्धा सी होगई, फलतः भागवतपुराण में भी सम्भोगपरक दृश्यों का विधान कृष्ण की वाल लीलाओं में जोड़ दिया गया जो विष्णु व हरिवंश पुराण में नहीं मिलता। परवर्ती ब्रह्मवैवर्त में राधा का भी विधान हो गया क्योंकि शक्तिमान् कृष्ण के साथ गोपियों में से किसी एक को पराशक्ति का रूप देना ही था। स्वयं भागवत पुराण से यह सिद्ध किया जा सकता है कि तांत्रिक प्रभाव इस पुराण पर बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है, प्रारम्भ पर विचार कीजिए—

नारद कर्मभूमि समझ कर पृथ्वीलोक पर भ्रमण करने गए। नारद ने

१ द रिलीजस विवस्ट आफ इंडिया, पृ० २३१

२ फर्कुअर पृ० २२६

देखा कि सब भ्रष्ट हो गए है। महात्माओं के आश्रम, तीर्थ और नदियों पर यवनों का अधिकार है और उन दुष्टों ने देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। कलियुग में समस्त देशवासी रंघे हुए अन्न को बेचने वाले, ब्राह्मण लोग वेद बेचने वाले तथा स्त्रियां वेश्यावृत्ति से निर्वाह करने वाली हो गईं।^१ अन्त में बेचारे नारद यमुना के किनारे गये जहाँ उन्हें एक चिन्तित स्त्री मिली, उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत अवस्था में पड़े हुए थे, नारद के पूछने पर स्त्री ने कहा, कि मैं भक्ति हूँ, ज्ञान व वैराग्य ये दो मेरे पुत्र हैं जो काल से जर्जर हो गये हैं।^२ मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न होकर कर्नाटक में बड़ी और फिर महाराष्ट्र में कुछ-कुछ क्षीण होती गई, गुजरात में सर्वथा जराग्रस्त हो गई, मैं वृन्दावन में आकर पूर्ण नवयुवती हो गई हूँ—

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धि कर्णाटके गता ।

क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ।^३

नारद से पूछा गया कि ज्ञान व वैराग्य क्यों वृद्ध हो गये और इन दोनों की माता होकर भी भक्ति क्यों तरुणी हो गई ? तो नारदजी ने उत्तर दिया कि कलिकाल में केशव की भक्ति से अधिक लाभ होता है, योग, तप, ज्ञान आदि से नहीं।

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।

तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात् ॥^४

स्पष्ट ही भागवत का उक्त महात्म्य खण्ड परवर्ती है तथापि उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में धर्म को अत्यधिक सरल बनाने की प्रवृत्ति है।

सरलता के साथ-साथ साधना को आकर्षक रूप देने का भी सवाल आया सो तन्त्रों की आकर्षक साधना से प्रेरित होकर ही भागवत पुराण ने गोपी-कृष्ण लीला को अत्यधिक श्रृंगारिक रूप दिया और जिस तरह शाक्त साधक योनिचक्र पर ध्यान केन्द्रित करके मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे उसी

१ श्रीमद्भागवत पुराण, महात्म्य श्लोक-३४-३६

२ वही श्लोक ४५

३ वही श्लोक ४८

४ वही श्लोक ६८

तरह यहाँ भी गोपी-कृष्ण की अश्लील लीलाओं का ध्यान किया जाने लगा। योग व भोग का विरोध इस प्रकार मिटा दिया गया, अब पापी से पापी और लम्पट से लम्पट व्यक्ति को भी इस साधना में आनन्द आने लगा, क्योंकि कृष्ण को लम्पट के रूप में ही चित्रित किया गया था, रास-मंडल अब चक्रों का स्थान लेने लगे। गीत, नृत्य, वादन में तत्पर कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ करते हुए चित्रित किये गये। जो काम चक्रसाधक गुप्त रह कर करते थे, जिसमें कुछ लोगों को ही अधिकार दिया जाता था, वही कार्य सरेआम जनता के सम्मुख प्रदर्शित किया जाने लगा। फलतः यहाँ साधना में आकर्षण का प्रवेश हुआ, वहीं साथ ही एक खतरा भी उत्पन्न हो गया। तांत्रिक साधना की तरह इस कामकेलि प्रधान भक्ति साधना में भी पतन का भय उपस्थित होगया, राम और कृष्ण दोनों सम्प्रदायों में सखीसम्प्रदाय के रूप में शाक्त प्रभाव बढ़ता ही गया, कतिपय विरक्त जन ही सखी-सम्प्रदाय के उच्च भावस्तर का निर्वाह कर सके। सामान्य जनता तो मूर्ति-पूजा, कीर्तन आदि तक ही सन्तुष्ट हो गई किन्तु मन्दिर व मठ दुराचार के भ्रष्टे बनने लगे। वेचारे नारद के भक्ति प्रचार का उद्देश्य तो यह था कि मनोरंजक भक्ति द्वारा उसके पुत्र ज्ञान व वैराग्य का भी उद्धार होगा।^१ और वह एक सीमा तक हुआ भी, जब तक आचार्यों का प्रभाव पवित्र रहा तब तक भगवान की श्रृंगारिक लीलाओं का कुप्रभाव उतना सामने नहीं आया किन्तु गुरुओं के पतन से सर्वनाश उपस्थित होने लगा।

भागवतपुराण ने निम्नलिखित अश्लील ध्यानों का भी विधान किया, फलतः जहाँ ललित काव्यकला व संगीत की उन्नति की सम्भावना हुई, वही संयम के निर्वाह का भी प्रश्न उपस्थित हो गया—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोर-

नीवीस्तनालभननमंनखाप्रपातः

१ भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलमहत् ।

व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति—भागवतपुराण, 'महात्म्यखंड-

२. श्लोक—६१

अर्थात् भागवत के शब्द-श्रवण से भक्ति ज्ञान व वैराग्य को सहान बल प्राप्त होगा, इससे ज्ञान व वैराग्य का दुःख दूर हो जसगता ।

**क्ष्वेत्यावलोकहसितैर्ब्रजसुन्दरीणाम् लम्भयन्
रतिर्पातिरप्रयांचकार ।^१**

अर्थात् हाथ फैलाना, आलिंगन करना, कर, अलक, जंघा, कटि-वस्त्र के बन्धन और स्तन आदि का स्पर्श करना, परिहास करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवन से निहारना और मुस्कराना आदि उपायों से ब्रज-बालाओं का कामरस उद्दीप्त करते हुए भगवान् कृष्ण उनके साथ रमण करने लगे ।

इस प्रकार के काव्य की, साधनात्मक काव्य के रूप में एक परम्परा ही चल पड़ी । जयदेव के गीतगोविन्द के बाद भगवान् के शृंगार का वर्णन ही कृष्ण-भक्त आचार्यों और कवियों का ध्येय हो गया । ये आचार्य और कवि भगवान् के रसरूप को मानकर चले, भूभारहारी भगवान् का रूप महत्वहीन हो गया ।

उक्त प्रकार का काव्य संस्कृत के शृंगारिक काव्यों में भी मिलता है किन्तु उसे साधनात्मक रूप नहीं मिल पाया था, कामभाव को साधना के रूप में तन्त्रों ने ही स्वीकार किया था, भागवतपुराण में इसी विशिष्ट साधना को स्वीकार किया गया था, इसलिए राम और कृष्ण भक्तों में “मानसी ध्यान” के रूप में भगवान् की कामकेलि को स्वीकार कर लिया गया । हम कह चुके हैं कि इस युग में निगमागम का विरोध मिट चुका था । नीरस हठयोगियों की निन्दा कृष्णभक्तों ने अवश्य की है, साथ ही शुष्क, तर्कशास्त्री वेदान्तियों की भी निन्दा की गई क्योंकि इन साधकों को मनोहर रतिक्रीड़ा का स्मरण पसन्द न था । किन्तु इस मनोहर साधना का प्रभाव, इस साधना की सरलता और कलाप्रियता के कारण बहुत बढ़ गया । सामन्तों से लेकर जन-सामान्य तक सभी इसकी ओर आकर्षित हुए । आचार्य वल्लभ इस साधना के खतरे से परिचित थे, अतः उन्होंने केवल अन्तिम सोपान के रूप में ही “कृष्ण-रति” को स्वीकार किया है । अन्यथा उन्होंने कृष्ण की बाल लीलाओं का अधिक प्रचार किया है ।

नारद ने भक्ति के साथ ज्ञान व वैराग्य को जाग्रत करने की जो बात कही है, वह बड़ी महत्वपूर्णा है, आचार्यों ने ब्रह्म के “महास्थान” को स्मरण रखने पर बहुत बल दिया है, अर्थात् यह मत भूलो, कि यह भगवान् की लीला है । यह लीला ब्रह्मांड के भीतर शाश्वत सृष्टि और शृंगार का ही बाह्य रूप है ।

नारद और वल्लभ का यह उद्देश्य था कि चित्तवृत्ति उच्च रहने पर ही इस शृंगारिक लीला के तात्त्विक रूप की रक्षा की जा सकती है। रीतिकाल में शृंगारिक रचनाएँ यथावत् मिलती हैं किन्तु भक्तिकाल के कवियों में जो ज्ञान और वैराग्य था, वह रीतिकाल के कवियों में न मिलने के कारण साधना का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सका।

श्रीमद्भागवत और वेदान्त—फकुंअर ने लक्ष्य किया है कि एक ओर तो भागवत में ललित और अश्लील दृश्यों की वृद्धि होती है और दूसरी ओर शांकरवेदान्त का प्रभाव बढ़ता दिखाई पड़ता है।^१ इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि उद्धव गोपियों को जिस ज्ञान का उपदेश देते हैं, वह शांकरवेदान्त ही है।

भागवत पुराण में उद्धव के ज्ञान का विरोध नहीं होता, यह स्मरणीय है किन्तु सूरदास उद्धव के ज्ञान का विरोध करते हैं। तात्पर्य यह है कि भागवत पर तन्त्रों का ही केवल प्रभाव नहीं है अपितु शांकरवेदान्त का भी प्रभाव है और आगे चलकर 'तुलसीदास' में भक्ति व शांकरवेदान्त एक साथ मिलते हैं, यद्यपि तुलसीदास शक्तिवाद को भी स्वीकार करते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में भी शांकर वेदान्त व भक्ति में अविरोध स्थापित किया गया है।

श्रीमद्भागवत एक ऐसा पुराण है जिसमें अपने से पूर्व सभी मतों व साधनाओं में अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ कपिल-मुनि केवल सांख्याचार्य ही नहीं हैं अपितु वह भक्ति और भगवान के विषय में भी उपदेश देते हैं।^२ रुद्र, विष्णु और कृष्ण की पूर्ण एकता 'रुद्रगीत' में ग्रहण की गई है।^३ बौद्धमत का मर्म "भयाटवी" में ग्रहण कर लिया गया है।^४ नारायणकवच में मंत्रशास्त्र को यथावत् स्वीकार कर लिया गया है। इसमें शरीर पर वर्णों का न्यास, विष्णु के रूप का ध्यान तथा अभिचारादि क्रियाओं का भी वर्णन है।^५ अवधूतोपाख्यान में संन्यासमार्ग की प्रशंसा भी की गई है।^६ तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवत में सभी दृष्टियों और साधनाओं

१ फकुंअर, पृ० २३१

२ भागवतपुराण, स्कन्ध ३, अध्याय २५, २६

३ वही, स्कन्ध ४, अध्याय २४

४ वही, स्कन्ध ५, अध्याय १३

५ वही, स्कन्ध ६, अध्याय ८

६ वही, स्कन्ध ११, अध्याय ७

की स्वीकृति है, जबकि कृष्ण-भक्तों ने मायावाद व हठयोग का विरोध किया है। तुलसीदास में समन्वय की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। उन्होंने निगम और आगम के द्वन्द्व को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया था, केवल वामाचार के प्रति सभी साधकों ने घृणा प्रकट की थी। ऐसी साधनाओं को महादेव के साथ बहुत प्रारम्भ में ही सम्बन्धित कर दिया गया था। तुलसीदास ने शिवजी की “बरात” के वर्णन में इन साधनाओं की ओर संकेत किया है।

तुलसीदास ने समन्वय की प्रवृत्ति दिखाकर भी वर्णाश्रम विरोधी सन्त-कवियों और हठयोगियों की निन्दा की है। इसी प्रकार ब्राह्मण विरोधियों से भी वह घृणा करते थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में तुलसीदास सबको अधिकार देते हैं।

इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदायों में अपने से पूर्व के सिद्धान्तों में सांख्य को सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। योग को राम-भक्तों ने स्वीकार किया है। कृष्णभक्तों में तंत्र की आनन्दवादी परम्परा का प्रवाह अधिक तीव्र गति से प्रभावित हुआ है।

बुद्ध, विष्णु, शिव, राम और कृष्ण—वैष्णवों के विष्णु तथा उनके अवतार राम व कृष्ण के व्यक्तित्व-निर्माण में गौतम बुद्ध का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है। गौतमबुद्ध का महायान-साधना मे लोकसंग्रही रूप मिलता है। उनकी प्रतिज्ञा है कि सारे जगत् का उद्धार करके ही वह विराम लेंगे। अवलोकितेश्वर आज तक सभी जीवों की मुक्ति की प्रतीक्षा कर रहे हैं। राम और कृष्ण ने भी पतित-पावन का विरुद्ध धारण किया है। वज्रयान में बुद्ध के भोगवादी रूप का प्रभाव कृष्ण के “गोपीरमण” में दिखाई पड़ता है। तुलसीदास ने देवताओं को स्वार्थी और राम को लोकउद्धारक और दीनदयालु के रूप में चित्रित किया है। यह सही है कि तुलसीदास ने वाल्मीकि रामायण और पुराणों से राम के व्यक्तित्व के लिए उपादान एकत्र किए हैं परन्तु उक्त ग्रन्थों पर बौद्ध प्रभाव एक सीमा तक अवश्य दिखाई पड़ता है।

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का तो यहाँ तक कथन है कि पुराणों के उपदेशों का प्रत्येक अक्षर पुराणों से पूर्ववर्ती बौद्ध साहित्य में मिलता है। जातक और अवदान की अनेक कथाएँ पुराणों में मिलती हैं।^१ शिव के ध्यानी रूप

का जो रामचरितमानस में वर्णन मिलता है उस पर ध्यानीबुद्धों का प्रभाव देखा जा सकता है। मोनियर विलियम्स के अनुसार तो वैष्णवों ने बौद्धधर्म की सभी अच्छी बातें स्वीकार कर ली थीं। देवताओं के अवतार की कल्पना भी उनके अनुसार बौद्धमत से ही ली गई है।^१ स्वयं बुद्ध को ही पुराणों ने अपना लिया है। पुरी के जगन्नाथ बुद्ध हैं, इसीलिए वहाँ जाति-पाँति नहीं मानी जाती। तांत्रिक बौद्धमत के पंचरक्षा-मंडल का प्रभाव पंचायतन-पूजा पर दिखाई पड़ता है।

तांत्रिक देवपूजा तथा राम-कृष्ण का व्यक्तित्व—हम कह चुके हैं कि सभी तंत्रों में देवता के रूप, वेप, अस्त्र, शक्ति, वाहन आदि का वर्णन किया गया है। साधक इनका ध्यान कर सकें, इसीलिए यह विधान किया गया है। वे स्तोत्रों या कवचों में देवताओं की विह्वल होकर प्रशंसा करते हैं, उनका महात्म्य गायन करते हैं। श्रीमद्भागवत के नारायणकवच में नारायण देवता का विवरण इसी तांत्रिक पद्धति पर किया गया है। विनयपत्रिका व सूरसागर आदि में राम, कृष्ण, गरुडेश, देवी, शिव आदि के रूप का वर्णन तांत्रिक पद्धति पर ही मिलता है। काव्य की दृष्टि से ऐसे वर्णन अन्यत्र भी मिलते हैं परन्तु यह स्मरणीय है कि सूरसागर, विनयपत्रिका आदि काव्य साधनात्मक काव्य भी हैं। सप्तकवियों में देवता के ऐसे वर्णन नहीं मिलते क्योंकि वे निराकारवादी थे। किन्तु वैष्णव साधना में इष्टदेव के रूप व लीला का ध्यान ही प्रमुख होने के कारण देवताओं और उनकी शक्ति के सौन्दर्य-विवरण प्रस्तुत करने में वैष्णव कवि अधिक रुचि लेते हैं।

परवर्ती उपनिषदों में वैष्णव उपनिषदों का वैष्णव सम्प्रदायों में बड़ा सम्मान है। इन उपनिषदों में देवता का स्वरूप तांत्रिक पद्धति पर ही गृहीत हुआ है। 'अव्यक्तोपनिषद' में नृसिंह भगवान्, गरुडोपनिषद् में गरुडदेवता व त्रिपादभूतिमहानारायण उपनिषद् में विष्णु की शक्ति का तांत्रिक पद्धति पर ही वर्णन मिलता है। कलिसंतरणोपनिषद् में देवता के नामोच्चारमात्र से ही मुक्ति सम्भव बताई गई है। कृष्णोपनिषद् में कहा गया है कि राम को देखकर मुनियों के मन में कामेशा उत्पन्न हुई तब राम ने कहा कि कृष्णावतार में गोपी बनकर तुम मेरे साथ बिहार करना।

भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिकाभूत्वा मामालिङ्गय।

गोपालतापिनी उपनिषद् में मंत्र, बीज, यंत्र और कवच आदि का विधान

किया गया है। गोपालउत्तरतापिनी उपनिषद में दुराचारी कृष्ण को ब्रह्मचारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।^१ नृसिंहतापिनी उपनिषद में काम की महिमा गाई गई है। रामतापिनी उपनिषद में स्पष्ट कहा गया है कि देवता के रूप की कल्पना साधना के लिए आवश्यक है।^२ इस रूप-कल्पना के साथ-साथ मंत्र, जप, यंत्र और पूजा का भी उल्लेख किया गया है।

सारांश यह है कि राम और कृष्ण का वैष्णव कविता में वर्णित रूप और व्यक्तित्व पर तांत्रिक प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है। शुद्ध कविद्वय की दृष्टि से देखने पर वह मनोहर कल्पना प्रतीत होती है, किन्तु इस कल्पना विशेष के पीछे तांत्रिक साधना पद्धति काम कर रही थी, इसीलिए साधक व सहृदय दोनों एक साथ संतुष्ट हो सके।

युगल उपासना—संस्कृत साहित्य में शैव प्रभाव के कारण जो स्थान शिव व शक्ति का था, यही स्थान वैष्णव कविता में राधा-कृष्ण व सीत-राम को मिला है। राधा के अभाव में गोपियां शक्ति का स्थान ग्रहण करती हैं। राम में महादेव का रुद्र रूप तथा कृष्ण में उनका आनन्दवादी रूप मिलता है। कामेश्वर व कामेश्वरी का दूसरा नाम ही कृष्ण और राधा है।

सम्पूर्ण वैष्णव कवि उस युगल उपासना के प्रचारक हैं जिसका विस्तार हिन्दू व बौद्ध तंत्रों में मिलता है। तंत्रों की ही तरह राम की शक्ति 'सीता' सृष्टि व प्रलयकारिणी है। राधा को प्रकृति व कृष्ण को पुरुष कहा गया है। तुलसी ने मर्यादावादी होने के कारण युगलरति पर बल नहीं दिया किन्तु कृष्णभक्तों ने तंत्रों के इस पक्ष को भी स्वीकार किया है। राधा-कृष्ण की रति का ध्यान ही कृष्ण-सम्प्रदाय में साधना का मुख्य विषय मान लिया गया और इस साधना को मर्यादावादी साधना से अधिक महत्व दिया गया। तांत्रिकों की ही तरह कृष्ण-भक्तों ने युगलरति को प्रतीकात्मक अर्थ में भी स्वीकार किया है। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपीभाव धारण कर कृष्ण के साथ कामक्रीड़ा की महत्वाकांक्षा प्रत्येक साधक में दिखाई पड़ती है। निश्चित रूप से यह एक प्रकार का रहस्यवाद है

१ ब्रह्मवैवर्त—वैष्णवोपनिषत् में संकलित उपर्युक्त उपनिषदें, महादेव शास्त्री, आङ्गार लाइब्रेरी, मद्रास, द्वितीय संस्करण, १९५३

२ चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्या शरीरिणाः

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना—ब्रह्मवैवर्त—वैष्णवोपनिषत्

जिसका आदि स्रोत तांत्रिक परम्पराएँ है। क्योंकि काम-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए कामकेलि के ध्यान को यहाँ अनिवार्य माना गया है।

भारतीय दर्शन व साधना में दो मुख्य धाराएँ दिखाई पड़ती है—प्रथम वह धारा जो मनोवैज्ञानिक अनुभवों का नाश करके आध्यात्मिक अनुभवों की प्राप्ति में विश्वास करती है। अधिकतर भारतीय दार्शनिक मन व इन्द्रियों के अनुभवों को अज्ञान के सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट करते रहे हैं। इनके शमन के लिए नाना कष्टकर उपायों की कल्पनाएँ इसीलिए हुई हैं। दिगम्बर जैनमत में क्रच्छाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँचता हुआ दिखाई पड़ता है, स्वयं बौद्धों के यहाँ आचार की पर्याप्त कठोरता विद्यमान थी। ब्राह्मण परम्परा में संन्यासी, तपस्वी व योगी भी राग-शमन के विश्वासी रहे हैं। दूसरी धारा, इसके विपरीत, तांत्रिक परम्पराओं में दिखाई पड़ती है जिनमें आध्यात्मिक और मानसिक अनुभवों में अवरोध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। वैष्णवों की साधना इसी परम्परा में विकसित हुई है क्योंकि इसमें मानसिक अनुभवों को साधन बनाया गया है। इसीलिए तांत्रिक परम्पराएँ अब तक वैष्णवों को अपने शिविर में ही प्रतिष्ठित करती है। चैतन्य के विषय में कहा गया है कि वह प्रेम के पैगम्बर थे और क्योंकि वासनाओं के उदात्तीकरण के लिए उनका जन्म हुआ था, इसलिए वह तंत्राचारी थे।^१

मानवीय रागात्मक जीवन की रक्षा के लिए ही तंत्रों ने युगलउपासना का आविष्कार किया था। यह निश्चित नहीं है कि तंत्रों में बौद्ध तंत्रों ने इसे सर्व प्रथम प्रचलित किया अथवा शैव तंत्रों ने। किन्तु यह निश्चित है कि वज्रयानी बौद्धों की युगनद्ध उपासना की अधिकता का प्रभाव शक्ति-सहित हिन्दू देवताओं की उपासना पर अवश्य पड़ा है। यह ठीक ही कहा गया है कि 'यबयुम' देवताओं की उपासना सर्वप्रथम वज्र यान में ही विकसित हुई थी। हिन्दू, वज्रयान के पूर्व इससे प्रायः अपरिचित ही थे। आज तक भी शक्ति-सहित उपासना हिन्दू-विचारधारा व हिन्दू परम्पराओं में यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। हिन्दुओं ने काली देवी को 'विपरीतरतातुरा' के रूप में प्रस्तुत

१ चैतन्य बाज़ू.....ए प्रोफेट आफ लव, एज ए तंत्राचारिन्, हि केम द एक्ज़ल्ट एण्ड कान्सेक्रेट पेंशन, नोट दू डेस्ट्रॉय इट—

—इंटरनेशनल जर्नल ऑफ तांत्रिक आर्डर, अमेरिका, जिल्द ५, नं० १, पृ० ४३

किया है, इस पर भी बौद्ध प्रभाव दिखाई पड़ता है। वैष्णवों की राधा भी काली ही की तरह 'विपरीतरतातुरा' के रूप में ही चित्रित की गई है। अतः वैष्णवों की मधुर लीला पर बौद्ध तंत्रों का प्रभाव स्वीकृत करना पड़ता है।

राम सम्प्रदाय पर भी अग्रदास के समय में तांत्रिक प्रभाव बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय तो तुलसीदास की भी सखी भाव से सम्बन्धित ही व्याख्या करता है। रामचरितमानस के टीकाकार रामचरण दास ने प्रेरणा-स्रोत के रूप में कई तंत्रों का उल्लेख किया है।^१ ब्रह्मयामल तंत्र, अगस्त्यसंहिता आदि में राम का शृंगारिक रूप वर्णित है। अग्रदास ने तंत्रों से प्रेरणा लेकर रामभक्ति में भी युगलरति की उपासना प्रचलित की और इस प्रकार आज जो राम-सम्प्रदाय का काव्य मिलता है उसमें अधिकांश पर तांत्रिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।

गोपीनाथ कविराज के अनुसार दो प्रकार के भक्त हुए हैं—एक वे जो केवल भक्ति को भाव रूप से पहिचानते हैं और दूसरे वे जो रस रूप से उसका साक्षात्कार करते हैं—“जिनका उद्देश्य भगवत्प्रिय में प्रविष्ट हो कर श्रीभगवान की अंतरंग सेवा में अधिकार लाभ करना है। उनके लिए वैराग्य श्रेयस्कर होने पर भी अधिक उपयुक्त रागमार्ग ही है।”^२

यह रागमार्ग सर्व प्रथम तंत्रों में ही विकसित हुआ था, उसी का एक नवीन रूप वैष्णव साधना है जिसे भक्तकवियों ने वाणी दी है।

वैष्णव काव्य विवरण—यहाँ पर केवल इस प्रबन्ध से सम्बन्धित मुख्य कवियों की रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है—

कृष्ण-काव्य—अष्टछाप—

१. सूरदास—जन्म संवत् १५४०, मृत्यु संवत् १६४२, जाति—ब्राह्मण, रचनाएँ—सूरसागर सूरसारावली, साहित्य लहरी।
२. नन्ददास—जन्म तिथि अनिश्चित, जाति—ब्राह्मण। नन्ददास ग्रंथावली में संकलित रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, रूपमंजरी, विरहमंजरी, आदि।
३. कृष्णदास—उमय संवत् १६००, रचनाएँ—भ्रमरगीत, प्रेमतत्व निरूपण, जुगल मान चरित्र।

१ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवती सिंह, पृ० ६०

बलरामपुर, जि० गोंडा, संवत् २०१४ वि०

२ वही, भूमिका भाग

४. परमानन्ददास—जन्म संवत् १५५०, जाति-ब्राह्मण, रचनाएँ-परमानन्द सागर में संकलित पद ।
५. चतुर्भुजदास—कुम्भनदास जी के पुत्र, जाति क्षत्रिय, रचनाएँ-स्फुट पद ।
६. छीतस्वामी—संवत् १६१२, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ-स्फुट पद ।
७. गोविन्दस्वामी—कविताकाल संवत् १६१२, जाति-ब्राह्मण, रचनाएँ-स्फुट पद ।
८. कुम्भनदास—कविताकाल संवत् १६०७, जाति-क्षत्रिय, रचनाएँ-स्फुट-पद ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय—

९. हितहरिवंश—विक्रम की १६ वीं शताब्दी, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ-हितचौरासी (पद संग्रह)
१०. हरिराम व्यास—संवत् १६२२ (आविर्भाव काल), हितहरिवंश के शिष्य, भक्तकवि व्यास नामक संग्रह में संकलित पद ।
११. ध्रुवदास—कविता काल १६८२, रचनाएँ-वानी, सिद्धान्त, विचार, नामावली आदि ।

निम्बार्क सम्प्रदाय—

१२. श्रीभट्ट—आविर्भावकाल-सम्प्रदाय के अनुसार १३-१४ वीं शताब्दी, ब्रजमाधुरीसार के अनुसार विक्रम की १६ वीं शताब्दी । ग्रन्थ-युगलशतक जाति-ब्राह्मण,
१३. श्री हरिव्यासदेवाचार्य—सम्प्रदायानुसार, गौड़ ब्राह्मण, समय-सम्प्रदाय के अनुसार १४ वीं शताब्दी । हिन्दी में रचना-महावाणी ।
१४. परशुरामदेव—१६ वीं शताब्दी, हरिव्यास के शिष्य, ब्राह्मण, ग्रन्थ परशुराम सागर ।
१५. रूपरसिकदेव—दक्षिणी ब्राह्मण, ग्रन्थ-वृहदोत्सवमणिमाला, हरिव्यास-यशामृत, तथा नित्यविहार पदावली ।
१६. तत्त्ववेत्ता—१६ वीं शताब्दी, ब्राह्मण, “हस्तलिखित पद्यों का संग्रह ।”
१७. वृन्दावनदेव—१७-१८ वीं शताब्दी । ब्राह्मण, स्फुट पद्य ।

१८. गोविन्ददेव—१७ वीं शताब्दी । युगलरसमाधुरी ।

१९. गोविन्देशरणदेव—१७-१८ वीं शताब्दी, स्फुट पद ।

टट्टी सम्प्रदाय—

२०. हरिदास—आविर्भाव काल संवत् १६१७, रचनाएँ-स्फुट पद, जाति-
ब्राह्मण, निम्बार्क मतावलम्बी आशुधीर के शिष्य ।
परम्परानुसार जन्म संवत् १५७० ।

२१. बिट्टल बिपुल—विक्रम की १६ वीं शताब्दी (परम्परानुसार),
रचनाएँ-स्फुट पद ।

२२. बिहारीदास—विक्रम की १६वीं शताब्दी में जन्म, रचनाएँ-स्फुट पद ।

२३. नागरीदास—विक्रम की १७ वीं शताब्दी में आविर्भाव, रचनाएँ-
स्फुट पद ।

२४. ललितकिशोरी—जन्म संवत् १७३३ (परम्परानुसार) रचनाएँ-
स्फुट पद ।^१

२५. सरसदेव—नागरीदास के भाई, स्फुट वाणी ।

२६. नरहरिदेव—स्फुट वाणी ।

२७. रसिकदेव—१७ वीं शताब्दी, स्फुट वाणी ।

२८. ललित मोहिनी देव—स्फुट वाणी ।

गौड़ीय-वैष्णव कवि—

२९. दक्षिणी ब्राह्मण—चैतन्य के समकालीन, स्फुट वाणी ।

३०. माधुरी जी—विक्रम की १७ वीं शताब्दी रूप गोस्वामी के शिष्य,
“माधुरी वाणी”

३१. सूरदास मदनमोहन—अकबर के समकालीन, ब्राह्मण, स्फुट वाणी ।

विशेष—वल्लभ रसिक, विश्वनाथ चक्रवर्ती, नारायण भट्ट, ब्रह्मगोपाल
वैष्णवदास, रामराय आदि गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्तकवियों की वाणियाँ और
अन्य कृतियाँ श्री माध्व गौड़ेश्वर ग्रन्थ माला, मथुरा से प्रकाशित हुई हैं ।

विशेष कवि—मीरा-पदावली—

१. दृष्टव्य हरिदासवंशानुचरित्र, नवनीत चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण सन्
१९१०, इटावा ।

रामसम्प्रदाय—

१. तुलसीदास—विक्रम की १७ वीं शताब्दी, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ—
रामचरित मानस, दोहावली, कृष्णगीतावली, विनय-
पत्रिका, कवितावली, आदि ।
२. केशवदास—विक्रम की १७ वीं शताब्दी, जाति ब्राह्मण, रचनाएँ—
रामचंद्रिका, रसिक प्रिया, कविप्रिया आदि ।
३. अग्रदास—आविर्भाव काल संवत् १६३२, हितोपदेश उपाख्यान बावनी,
तथा ध्यानमंजरी ।
४. नाभादास—आविर्भाव संवत् १६५७, जाति-डोम, ग्रंथ-भक्तिमाल ।
५. हृदयराम—संवत् १६२३ आविर्भावकाल, रचनाएँ—हनुमन्नाटक ।
६. लालदास—संवत् १७००, रचना अवधविलास ।

अध्याय षष्ठ

वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियां

वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ

कृष्ण काव्य

दर्शन—हिन्दी के कृष्णकाव्य में आचार्य बल्लभ हितहरिवंश व हरिदास के सम्प्रदायों के कवियों ने ही विशेष रूप से कार्य किया है क्योंकि गौड़िया वैष्णवों का कृतिस्व अधिकतर बंगला भाषा में है या संस्कृत में। अतः सर्वप्रथम हम आचार्यों की विचारधारा में प्राप्त तांत्रिक तत्वों पर विचार कर लेना उचित समझते हैं, क्योंकि इन्हीं तत्वों को कवियों ने वाणी दी है।

आचार्य बल्लभ का सिद्धान्त आगमों के सिद्धान्त की तरह अविकृत परिणामवाद कहलाता है। सांख्य और शांकरवेदान्त इन दो अतियों के मध्य अविकृत परिणामवाद ही आगमों को ग्राह्य है। महायानी बौद्धमत व शांकर वेदान्त किसी न किसी रूप में जगत् की सत्ता का अवश्य ही निषेध करते हैं क्योंकि जब एक ही सत्ता को सिद्ध करना है तो चैतन्य ही 'सत्' माना जा सकता है और जड़ जगत् का निषेध अनिवार्य हो जाता है। उधर जगत् को सत् सिद्ध करने के लिए सांख्य को दो अलग-अलग सत्ताएँ माननी पड़ीं। इन दो परस्पर विपरीत तत्वों-पुरुष और प्रकृति में, परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न के समाधान में सांख्य को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा, अतः शाक्त, शैव तथा पांचरात्र आगमों ने शक्तिवाद को अपनाकर अर्थात् जगत् को

ब्रह्म की शक्ति का विस्तार मानकर इस कठिनाई को दूर कर लिया था। शक्तिवाद के अनुसार चैतन्य स्वशक्ति से जगत् के रूप में परिणत होकर भी 'अविकृत' ही माना जाता है, यही दृष्टि वैष्णवों द्वारा भी स्वीकृत हुई। इसी शक्तिवाद के द्वारा शंकर के मायावाद का विरोध किया गया था। चूँकि यामुनाचार्य और रामानुज के प्रयत्न से पाँचरात्र आगमों को वैदिक मान लिया गया था, अतः वल्लभ को उनका दृष्टिकोण अपनाने में कोई कठिनाई नहीं थी।

वल्लभ ने पुराण और परवर्ती उपनिषदों को भी प्रमाण माना है और पुराणों में आगममूलक सिद्धान्त भी स्वीकृत है।

वल्लभ ने ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और विरुद्धधर्माश्रयी माना है। सत्ता को विरुद्धधर्माश्रयी मान लेने से दर्शन विषयक सारी कठिनाइयाँ ही समाप्त हो जाती हैं। मूल प्रश्न यह था और है कि जब ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है तो उससे जड़ तत्त्व कैसे निःसृत हुआ? क्योंकि चेतन तत्त्व को शुद्ध कहना और फिर उसमें जड़ तत्त्व की स्थिति मान लेना 'वदतोऽव्याधात' है। शंकराचार्य ने इसीलिए जगत् को प्रपञ्च कहा था क्योंकि यदि जगत् को भी सत् तत्त्व माना जाय तो या तो सांख्य की तरह ब्रह्म और प्रकृति दो सत्ताएँ माननी होंगी, अथवा जड़वाद का आश्रय लेना होगा, जिसके अनुसार चेतना को जड़ तत्त्व का ही विकास, परिणाम या रूपान्तर मानना होगा। ये दोनों स्थितियाँ शंकर को इष्ट नहीं थीं अतः उन्होंने दृढ़ता से एक चैतन्य को ही सत् तत्त्व माना और जगत् को अज्ञानजन्य भ्रांति।

शंकर के पश्चात्, उनके द्वारा निरूपित 'माया' और ब्रह्म के सम्बन्ध पर पुनः विवाद उपस्थित हुआ। आगमों ने एक स्वर से ब्रह्म को सर्वशक्तिमान मानकर यह सिद्ध किया कि ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत् के रूप में परिणत होकर भी विकार रहित रह सकता है। आचार्य वल्लभ ने भी ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव-शक्ति की स्थिति मानकर ब्रह्म की सामर्थ्य से ही सारा कार्य लिया।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से जगत् की रचना में समर्थ है।^१ अतः ब्रह्म ही स्वयं 'समवायिकारण' है^२ अर्थात् जगत्

१ तस्मात् सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वंच सिद्धं जगत्कृत्तत्वेन-अणुभाष्य, पृ० १४
सम्पादक हेमचन्द्र विद्यारत्न, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता,
१८९७ ई०

२ तत् ब्रह्मैव समवायिकारणम् वही, पृ० १६

की रचना के लिए उसे बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं है। यदि कहो कि ब्रह्म अपने को ही समवायिकारण बनाकर नानात्व क्यों धारण करता है तो इसका उत्तर यह है कि नानात्व ऐच्छिक हैं।^१ अर्थात् ब्रह्म स्वेच्छा से ही जगत् व जीव का रूप धारण करता है।

इस इच्छा-सिद्धान्त का पल्लवन आगमों व पुराणों में विशेष रूप से हुआ है। सम्पूर्ण प्रमाणों से अतीत होने पर भी ब्रह्म इच्छा करता है क्योंकि वह लोकसृष्टि द्वारा व्यवहार्य होना चाहता है।^२ भगवान् क्रीड़ा की इच्छा पूर्ण करने के लिए ही जगत् के रूप में आविर्भूत होता है।^३ इसीलिए वल्लभ ने ब्रह्म के क्रीड़ाशील रूप को अधिक महत्व दिया है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सभी लोकों में 'कामचारी' होता है।^४ और क्योंकि काम चेतन का धर्म है,^५ अतः ब्रह्म को आनन्दमय कहना तर्क विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार वल्लभ पर आगमों की आनन्दवादी परम्परा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्होंने ब्रह्म के आनन्दमय रूप पर इतना बल दिया है कि लीलारहित निर्गुण ब्रह्म या अक्षर में आनन्द का ईषत् तिरोभाव^६ मानकर उसे सगुण ब्रह्म से कम महत्व दिया है। तंत्रों से यहाँ वल्लभ इस बात में भिन्न प्रतीत होते हैं कि तंत्रों में एक स्वर से निर्गुण ब्रह्म को अधिक महत्व दिया है। यद्यपि सगुण ब्रह्म अर्थात् शक्तिमान की लीलाओं का तंत्र भी वर्णन करते हैं।

वल्लभ ने पुरुषोत्तमपद गीता से लिया है, तथापि पुरुषोत्तम के आनन्दमय रमण की अधिकता पर भागवतपुराण के माध्यम से तंत्रों का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि कृष्णभक्तों की मधुराभक्ति गीता की कर्मठता से रहित है। श्री मदभागवत के दशम स्कन्ध की लीलाओं द्वारा वल्लभ को गीता के

१ नानात्वं त्वैच्छिकमेव, वही, पृ० १६

२ सर्वव्यवहार प्रामाणातीतोपि ईक्षांश्चक्रे लोक सृष्टि द्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति—वही, पृ० २२, २३

३ भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेणाविर्भूय क्रीडतीति—वही, पृ० २८

४ आत्मरतिरात्मक्रीड, आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति सर्वेषु लोकेषु कामचारी भवतीति वही, पृ० ३३

५ सकामश्चेतनधर्मः वही, पृ० ४४

६ पुरुषस्य ब्रह्मत्वं निःसंविधमेव ईषदानन्द तिरोभावेन ब्रह्माक्षरमुच्यते अणुभाष्य, पृ० ७७

विष्णु को रसरूप कृष्ण में बदलने में बड़ी सुविधा होगई थी । ब्रह्म का विष्णु रूप वेद मर्यादा की रक्षा तथा सात्त्विक धर्म के संस्थापन के लिए समय-समय पर अवतार लेता है, वह चतुर्व्यूहात्मक है, किन्तु संसार को केवल आनन्द देने के लिए जो अवतार होता है, वह भगवान का रसरूप है । कृष्णावतार में श्रीकृष्ण ने अपने दोनों रूपों में अवतार लिया था ।^१ सारांश यह है कि वल्लभ ने रस-मय ब्रह्म पर अधिक बल दिया है । और आगमों के आधार पर ऐसे गोलोक की कल्पना की है जहाँ भगवान का मुक्तजीवों और अपनी शक्तियों के साथ 'नित्य विहार' चलता रहता है । यह स्मरणीय है कि पांचरात्र आगमों में प्रतिपादित बैकुण्ठ में जो लीलाएँ होती हैं, उनमें कामकेलि का वर्णन कम मिलता है, जबकि वल्लभ के गोलोक में रतिक्रीड़ाओं की मात्रा बढ़ती दिखाई पड़ती है ।

निम्बार्कमत में भी शक्तिवाद को स्वीकार किया गया है । इस मत में भी ब्रह्म सगुण और अनन्त शक्तिसम्पन्न है । अर्थात् माया से कार्य न लेकर निम्बार्क भी शक्ति से कार्य लेते हैं । ब्रह्म अपनी इच्छा से अपनी शक्तियों के द्वारा, लोकहित के लिए अपने को जगत् के रूप में परिणत करता है ।^२ ब्रह्म अशेष गुणों का निधान माना गया है, वह दृश्यमान जगत् में व्याप्त है ।^३ सिद्धांत की दृष्टि से यह मत भेदाभेदवाद कहलाता है । ब्रह्म की इच्छा से उसकी शक्ति के कारण ही जगत और ब्रह्म में भेद प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अभेद ही रहता है क्योंकि जगत ब्रह्म से शक्तिरूप होने के कारण भिन्न नहीं है ।

चैतन्यमत का सम्बन्ध मूलतः मध्वमत के द्वैतवाद से रहा है, और मध्वमत में भी ब्रह्म को अनन्त गुणों और अनन्त शक्तियों से युक्त माना गया है तथा द्वैतवाद की जगह अचिन्त्यभेदाभेदवाद ही स्वीकृत हुआ है । एक ही पुरुषोत्तम में शक्तिवाद के द्वारा ही एकत्व और पृथकत्व तथा अंशत्व और

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीन दयालु गुप्त, पृ० ४०४

२ स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्तित्यनुसारेण परिणमयति—मास्कराचार्य, ब्रह्म भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३८

३ यच्च किञ्चज्जगत्यस्मिन् वृक्ष्यते श्रूयतेऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः—सिद्धांत जाह्नवी, ब्रह्म,

अंशित्व की स्थिति युक्तियुक्त मानी जा सकती है। इस मत में भगवान की अर्चित्य शक्ति के कारण यह प्रपञ्च न तो भगवान के साथ पूर्णतः अभिन्न माना गया है और न पूर्णतः भिन्न। इस मत के अनुसार जो अद्वय ज्ञान है उसी को तत्त्व कहा गया है।^१ तत्त्व को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान भी कहा गया है। इस मत की विशेषता यह है कि ब्रह्म के अन्दर 'शक्ति' का न्यूनतम विकास माना गया है, जबकि भगवान के अन्दर शक्ति का पूर्णतम विकास माना गया है, अतः ब्रह्म से भगवान श्रेष्ठ है, ब्रह्म अंश व भगवान अंशी है। अर्थात् ब्रह्म तत्त्व को भगवान के अन्तर्गत ही माना गया है। भगवान में वल्लभ की तरह परस्पर विरोधी गुण माने गये हैं, वह अपनी स्वरूप शक्ति के विलास रूप अद्भुत गुण लीलादि द्वारा भक्तों के चित्त चमत्कृत करते रहते हैं।^२

राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक लेखक ने यह मानने से इन्कार किया है कि उनके सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर शक्तिवाद का प्रभाव है, उनके अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय भगवान की शक्ति को स्वतंत्र नहीं मानता क्योंकि यदि शक्ति को स्वतंत्र तत्त्व माना जाय तो उनके मत से वैष्णव सिद्धान्त व शाक्तमत में बहुत थोड़ा अन्तर रह जाता है, जो अभीष्ट नहीं हो सकता, अतः उनके अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम को ही परमसाध्य माना गया है। भगवान या परमतत्त्व का अन्यतम गुण प्रेम है।^३ परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं हुआ कि तत्त्वतः परमतत्त्व की कल्पना में वैष्णव-दर्शन शाक्त-दर्शन से भिन्न है। वैष्णवों की विशेषता है, सर्वशक्तिमान भगवान को प्रेम के अधीन मान लेना, परन्तु जगत् और जीव की सृष्टि में अद्वैतवाद की रक्षा के लिए शाक्त दृष्टिकोण को अपनाकर ही वैष्णव चले हैं, क्योंकि पाचरात्र आगम में भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत था, अतः लीलावादी दर्शन शाक्त मत के अनुसार ब्रह्म को सर्वशक्तिमान मानकर ही जगत् की सत्यता सिद्ध कर सकते थे।

१ वदन्ति तत्तत्त्व विदस्तत्त्वं यज्ज्ञानम द्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते—श्रीराधा का क्रमिक विकास
डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १८५, काशी १९५६

२ श्री राधा का क्रमिक विकास, पृ० १८६

३ श्री हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, ललिताचरण गोस्वामी,
बुन्दवान, संवत् २०१४ विक्रमी, भूमिका, पृ० ३

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कृष्णभक्त आचार्य सिद्धान्ततः शक्तिवादी हैं, किसी में शुद्धाद्वैतवाद, किसी में अचित्यभेदाभेदवाद, किसी में भेदाभेदवाद तथा किसी में द्वैतवाद स्वीकृत हुआ है, किन्तु द्वैतवादी मध्व को छोड़कर अन्य आचार्यों ने द्वैत और अद्वैत में सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया है जो शैवागमों की परवर्ती व्याख्याओं से सादृश्य रखता है। परवर्ती शैवागमों की कश्मीरी शाखा में प्राप्त व्याख्याओं का बल निर्गुण ब्रह्म और अद्वैतवाद पर अधिक है, जबकि पूर्ववर्ती आगमों में ईश्वरवाद को और (थीइज्म) भुक्ताव अधिक दिखाई पड़ता है। हमारे वैष्णव आचार्यों में भी निर्गुणवाद की जगह ईश्वरवाद की और अधिक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

शक्ति—ब्रह्म में आविर्भाव व तिरोभाव—शक्ति की स्थिति मानना बल्लभ की विशेषता है, इससे मायावाद का खंडन सम्भव हुआ है। बल्लभमत में 'माया' ब्रह्म की 'शक्ति' है जो ब्रह्म के ही आधीन है। ब्रह्म तिरोधान-कार्य अपनी शक्ति द्वारा ही करता है। विद्यामाया और अविद्यामाया भगवान के संकेत पर ही कार्य करती है। भगवान की कृपा होने पर उसकी शक्तियाँ जीव पर पड़े हुए अज्ञान के आवरण को हटा लेती हैं और जीव ब्रह्मोन्मुख हो जाता है। आगमों में भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत है।

शक्ति का दूसरा रूप रास में दिखाई पड़ता है जहाँ शक्तिमान अपनी शक्तियों के साथ विहार करता है। नित्यगोलोक में रसरूप कृष्ण के नित्यरास की गोपिकाएँ भगवान की आनन्दप्रसारिणी सामर्थ्यशक्ति मानी गई है। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण 'सिद्ध-शक्ति' के रूप में स्वाकार की गई है।^१ राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चंद्र-चंद्रिकावत् माना गया है। राधा को सम्पूर्ण शक्तियों की "स्वामिनी" कहा गया है।

गौड़िया वैष्णवों में शक्तियों का विपुल विस्तार मिलता है। भगवान की तीन शक्तियाँ हैं—

१—अंतरंगाशक्ति—इसे आगमों की तरह चित्शक्ति कहा गया है यही स्वरूपशक्ति है। इसके तीन रूप होते हैं **संघिनी**—यह शक्ति ब्रह्म के भी सत्ताधारण में सहायक है। **संबित्शक्ति**—इस शक्ति के द्वारा भगवान अपने को जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। **ह्लादिनी शक्ति**—इस शक्ति द्वारा भगवान स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं और दूसरों को आनन्द देते हैं। उज्ज्वलनीलमणि में राधा को ह्लादिनी शक्ति माना गया है—

ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्ति वरीयसी ।

तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता ।^१

२. तटस्थशक्ति—जीव को भी सम्प्रदाय में शक्ति ही कहा गया है । इसके एक ओर स्वरूपशक्ति है और दूसरी ओर माया शक्ति, इसीलिए इसे तटस्थ-शक्ति कहा गया है ।

३. बहिरंगशक्ति—मायाशक्ति—इस शक्ति के द्वारा ब्रह्म जीव को अज्ञान से आवृत करता है ।

इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को 'पराशक्ति' भी कहा गया है ।^२ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैष्णवों का शक्तिवाद तंत्रों से ग्रहण किया गया है । तंत्रों की ही तरह वैष्णव मत में शक्ति-शक्तिमान के यामल का दर्शन और गायन ही पुरुषार्थ माना गया है ।

वैष्णव मतों में तांत्रिक शक्तिवाद का विकसित रूप ही प्राप्त होता है, क्योंकि वैष्णवों में 'शक्ति' प्रेमस्वरूपिणी अधिक दिखाई पड़ती है । जबकि तंत्रों में शक्ति के पराक्रम, वैभव आदि गुणों के द्वारा उसके प्रेममय स्वरूप को प्रायः हम देख नहीं पाते । वैष्णवों ने इसी प्रेममयस्वरूप का अपने ग्रंथों में अमित विस्तार किया है ।

जीव—वल्लभ जीव को ब्रह्म का सत्चित् अंश कहते हैं और उसे 'अणु' संज्ञा देते हैं क्योंकि वह आनन्दअंश को भूल जाता है ।^३ तंत्रों में भी जीव को उसकी स्वरूपविस्मृति के कारण 'अणु' कहा गया है । आनन्द के आविर्भाव के बाद जीव सत्चित् आनन्द से युक्त हो जाता है । तंत्रों व वल्लभ के दृष्टिकोण में अन्तर यह है कि तंत्रों में प्रत्यभिज्ञान के पश्चात् जीव स्वतः ब्रह्म हो जाता है, किन्तु वैष्णवों ने उसे ब्रह्मवत् माना है और जीव के व्यक्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न किया है ।

जीव में आनन्द का आविर्भाव ईश्वर की कृपा से ही माना गया है । ईश्वर की कृपा या शक्तिपात से जीव के कंचुक, आवरण या आनन्द तिरोहित करनेवाले तत्व नष्ट हो जाते हैं । चैतन्यमत में भी जीव को परिच्छिन्नस्वभाव तथा अणुत्वविशिष्ट कहा गया है । ईश्वरीय कृपा से यहाँ

१ उज्ज्वलनीलमणि-राधा प्रकरण-जीवगोस्वामी, सम्पा० दुर्गाप्रसाद, बम्बई, १९३२ ई० (पृ० ७५-७६)

२ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ५२३

३ अणुभाष्य, पृ० २१७, २१८
२३

भी जीव के आनन्द, स्वातन्त्र्य आदि गुणों को परिच्छिन्न करने वाले तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, ऐसा माना गया है । निम्बार्कमत में ईश्वर की नियतिशक्ति का विशेष महत्व माना गया है । ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य है, अतः वह ईश्वराधीन है । ईश्वर इच्छा से जीव मायावश होता है और ईश्वर इच्छा से ही मुक्त होता है ।

वैष्णवों की जीव कल्पना व शैवों की जीव कल्पना में अंतर बताते हुए कहा गया है कि शैव सम्प्रदायों में जीव का स्वातन्त्र्य स्वीकृत है, क्योंकि ज्ञान के पश्चात् जीव अणु नहीं रहता 'विभु' हो जाता है, जबकि वैष्णवमत में जीव कभी भी 'विभु' नहीं हो सकता, वह मुक्त अवस्था में भी ईश्वर के अधीन रहता है ।^१ जीव के सम्बन्ध में शैव-वैष्णव कल्पनाओं में यह अन्तर अवश्य मिलता है, परन्तु वल्लभाचार्य ने भगवान को प्रेम के अधीन बनाकर जीव को अधिक से अधिक स्वातन्त्र्य देने का प्रयत्न किया है । सख्यभाव द्वारा भी भगवान के साथ समकक्षता प्राप्त होती है और दाम्पत्य भाव में तो कृष्ण ही अधीन बन जाते हैं । सखी सम्प्रदाय के आचार्यों ने कृष्ण को राधा के अधीन ही चित्रित किया है । राधा का महत्व वल्लभमत में भी कम नहीं है । आचार्य वल्लभ ने शुद्धपुष्टिमार्ग के भक्तों के लिए स्वतंत्रता का विधान किया है क्योंकि भगवान की प्रतिज्ञा है कि वे भक्तों के अधीन हैं—

शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वादस्य भक्तस्य स्वातन्त्र्यं भोग उच्यते ।

सहभावोक्तया ब्रह्मणो गौणत्वम् । अतएव भक्ताधीनत्वं

भगवतः स्मृतिष्वप्युच्यते । अहं भक्ताधीनः । वशे कुर्वन्ति

मां मक्त्येत्यादि वाक्यैः ।^२

मुक्ति का स्वरूप—वल्लभ ने सोलहवीं शताब्दी की दुःखी जनता के लिए आनन्द का अद्भुत विधान किया था जो अत्यधिक आकर्षक और सरलता से प्राप्त है । उनके अनुसार ज्ञानमार्गी तो अक्षरब्रह्म तक ही पहुँच पाते हैं, किन्तु भक्त पुरुषोत्तम की शाश्वत आनन्दमयी लीला में प्रवेश पाते हैं । अप्राकृतिक शरीरधारी जीव गोलोक में भगवान का सायुज्य प्राप्त करके मुक्ति से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं ।^३

१ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ६१३

२ अणुभाष्य, पृ० ३१

३ मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽवलाः

ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगच्छतसहस्रशः-वही, पृ० २८०

पुष्टिमार्ग को अंगीकार कर लेने पर भक्त ज्ञान व कर्मकांड आदि के बिना ही भगवान को प्राप्त कर सकते हैं ।^१

वैष्णवों की मुक्ति में जीव के अन्तःकरण का विनाश नहीं माना जाता । तंत्रों का भी यही दृष्टिकोण है क्योंकि तंत्रों में राग के द्वारा ही, अन्तःकरण की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है । बल्लभ के अनुसार ब्रह्म में जीव के लय हो जाने से तथा ब्रह्म के लीला रस के अनुभव से अन्तःकरण का नाश-सा हो जाता है, नाश नहीं होता क्योंकि अन्तःकरण ब्रह्ममय हो जाता है, अतः उसका नाश नहीं होता ।^२

तात्पर्य यह है कि मुक्ति के लिए अन्तःकरण के नाश का विधान जो संन्यास मार्ग अथवा हठयोग में है, वह बल्लभ को स्वीकार नहीं है । वह अन्तःकरण का रूपान्तर मानते हैं, क्योंकि जब ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही इस जगत् में नहीं है तब पदार्थों में ब्रह्मनिष्ठा का अभ्यास ही मुक्तिदाता हो सकता है ।^३ इसी विधि से वह लोक प्राप्त होता है, जहाँ न सूर्य की गति है न चन्द्रमा की । विद्युत् और अग्नि की भी वहाँ पहुँच नहीं है ।^४ वह गोलोक ही भक्तों का प्राप्तव्य है । बल्लभ तंत्रों की तरह व्यापी वैकुण्ठ की स्थिति पिंड में भी मानते हैं । हृदय-आकाश में आविर्भूत जो परमव्योमाक्षरात्मक व्यापि वैकुण्ठ है, उसे ही पुरुषोत्तमगृह कहा गया है ।^५

निम्बार्कमत में भगवान के अनुग्रह से जीव में अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है । जीव इससे भगवदापन्न हो कर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है । इस मत में जीवनमुक्ति की कल्पना नहीं है । शरीर छूट जाने के बाद ही जीव भगवान का साक्षात्कार करता है और लीला में भाग लेता है ।

१ मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽवला

ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगच्छतसहस्रशः वही, पृ० २८१

२ जीवस्य च ब्रह्मण्येव लयेन लीलारसानुभवेन नाश एव सः ।

तथा च तत्तद्रूपं ब्रह्म तेषु तेषु स्थितमिति न तेषां नाशः । अशुभाष्य,
पृ० ३८ ।

३ अतः सर्व्वरसादयो ब्रह्मनिष्ठा एव धर्म्मा, वही, पृ० ४७

४ वही, पृ० ६६ ।

५ गुहायां हृदयाकाशे यवाविर्भूतं परमं व्योमाक्षरात्मकं व्यापि वैकुण्ठ तस्य पुरुषोत्तम गृहरूपत्वात्, वही, पृ० ३१

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी सखी भाव से जीव गोलोक धाम में राधा-कृष्ण के नित्यविहार-दर्शन को मुक्ति माना गया है। इसी प्रकार चैतन्यमत में भी मथुराधाम में प्रवेश प्राप्त किया जाता है। मथुराधाम से उच्चतर धाम द्वारिकाधाम है। अन्त में गोपीभाव या राधाभाव अथवा महाभाव को इस मत में सबसे अधिक महत्व दिया गया है।

सारांश यह है कि कैवल्य की जगह वैष्णवमत में भगवान के साथ 'विहार' को अधिक महत्व दिया गया है, अतः वैष्णव मत मूलतः राग-मार्ग है जो तांत्रिक परम्परा में ही विकसित हुआ है।

कृपा का सिद्धान्त—वैष्णव मतों में तन्त्रों की ही तरह शक्तिपात या कृपा के सिद्धान्त पर सबसे अधिक बल दिया गया है^१। हम पीछे भगवान की भक्त-अधीनता को प्रमाणित कर चुके हैं, कृपा के सिद्धान्त की यह चरमसीमा है। साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही वल्लभ के अनुसार भगवान के अवतार का कारण है। यह कार्य भगवान कृपावश करते हैं। उनके अनुसार दुष्ट-दलन, तथा सज्जन-रक्षण का कार्य तो भगवान अन्य साधनों से भी पूरा कर सकते थे, तब उनके अवतार का प्रयोजन ही क्या है। मनुष्यों को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान के अवतार का प्रयोजन हो सकता है।^१

जिस प्रकार तन्त्रों में भगवान का शक्तिपात सभी वर्गों या वर्गों के नर-नारियों पर होता है वैसे ही वल्लभ के यहाँ भगवान के अनुग्रह के आकांक्षी सभी भक्तों पर भगवान की कृपा होती है। केवल वेदाक्षरविचार में शूद्र को वल्लभ ने अधिकार नहीं दिया। स्मार्त और पौराणिक उपासना का अधिकार शूद्र को दिया गया।^२ गीता में भी नारी व शूद्रों के लिए मुक्ति की व्यवस्था की गई थी किन्तु तन्त्रों ने जो शताब्दियों तक संघर्ष किया था, उसी का यह प्रतिफल था कि आचार्य वल्लभ बादरायण के ३४ तथा ३५, ३६, ३७, ३८ तथा ३९ सूत्रों की व्याख्या में विस्तार से शूद्रों के लिए भक्ति करने के अधिकार

१ अतः स्वपर प्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत,
तदा व्यक्तिः प्राबुर्भावा प्रयोजनरहितैव स्यात्-सुबोधिनी।

२ वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति—

तत्क्षणादिति। स्मार्तपौराणिकज्ञानादौ तु कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां
महतामधिकारः—अष्टभाष्य, पृ० १११

की वकालत करते हैं। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो प्रेम की इतनी महिमा है कि भगवान सारे कर्मफलों की उपेक्षा कर भक्त को अपनी निकुंजलीला में शामिल कर लेते हैं।

लीला—लोकवत् तु लीला कैवल्यम्—सूत्र की व्याख्या करते हुए वल्लभ ने कहा है कि भगवान लोकवत् लीला करते हैं। इस लीला का कोई प्रयोजन नहीं है, लीला ही लीला का प्रयोजन है। मोक्ष का ही दूसरा नाम लीला है। मोक्ष का स्वरूप है भगवान की आनन्दमयी क्रीड़ा का ध्यान व गायन।^१ अन्यत्र वल्लभ ने लीला को 'विलासेच्छा' कहा है।^२ सर्ग, प्रलय, भक्ति, अनुग्रह आदि सब भगवान की लीलाएं ही हैं। सम्पूर्ण सृष्टि-व्यापार को भगवान की विलास इच्छा मानने के कारण कृष्णभक्तों में विलास का संकुचित अर्थ अधिक प्रचलित हुआ है। स्वयं वल्लभ ने गोपियों के साथ कृष्ण की विलास-लीला पर अधिक बल दिया है। अतः तंत्रों की विलास-साधना का एक दूसरे रूप में वैष्णव मतों में प्रवेश हुआ है। वल्लभ ने तो 'बाललीला' पर ही ध्यान केन्द्रित किया किन्तु आगे चलकर विलासवाद ही मुख्य होता गया, अन्तर केवल यह रह गया कि जहाँ तंत्रों में विलासक्रिया स्वीकृत है, वहाँ भक्तों में केवल 'मानसीध्यान' के रूप में भगवान का विलास स्वीकृत हुआ।

यों तो सम्पूर्ण सृष्टिरचना, संचालन, नाश और पुनः सृजन ही भगवान की लीला है तथापि गोलोक व ब्रज में भगवान की विशेष नित्य-लीला चलती रहती है। भगवान के अक्षररूप से सत् रूप जगत् और चित् रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति के अतिरिक्त स्वयं आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गो, गोप, गोपी आदि गोलोक की आनन्दरूप शक्तियों की उत्पत्ति हुई है।^३ इन्हीं के साथ भगवान की आनन्दमय लीला चलती रहती है, तभी इस लीला में शामिल होने के लिए प्रत्येक भक्त गोपी बनना चाहता है। गोपियों में विवाहिता गोपियाँ, जो अन्यपूर्वा कहलाती हैं, जारभाव से भगवान को भजती हैं। अनन्य-पूर्वा गोपियाँ अर्थात् अविवाहित कुमारियाँ कृष्ण को पति बनाने का संकल्प

१ अष्टभाष्य, पृ० १४६

२ लीलानाम विलासेच्छा-सुबोधिनी, तृतीय स्कन्ध की व्याख्या,--भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३८६

३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५०६

करके उनसे मिलती हैं। 'रासलीला' में ये ही दो प्रकार की गोपियाँ आ सकती हैं। यशोदा आदि सामान्या गोपियाँ रास में शामिल नहीं हो सकती।

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वल्लभमत में जारभाव से भगवान से मिलने वाली गोपियों की भक्ति को पुष्टि-पुष्ट-भक्ति माना गया है, जो भक्ति का उच्चतम रूप है। अर्थात् जिन्हें योग व ज्ञान पसन्द नहीं है, ऐसे साधन हीन भक्त गोपी भाव से भगवान के साथ रति क्रीड़ा को ही पुरुषार्थ मानते हैं। स्त्रियों के लिए इसकी विशेष उपयुक्तता है। पुरुष भी सखीभाव से रासलीला में शामिल हो सकते हैं और स्वामिनीजी की कृपा से भगवान के साथ रतिक्रीड़ा भी कर सकते हैं। अष्टछाप के आठ कवि, चम्पकलता, चन्द्रभागा, आदि सखियों के भी अवतार कहे गए हैं। ये दिन में सखाभाव धारण करते थे और रात में सखीभाव।

वल्लभ के अनुसार लीला का उद्देश्य ज्ञानियों का ब्रह्मानन्द नहीं अपितु भजनानन्द है। लीलारस लौकिक विषय रस व काव्यरस से भिन्न है। यह मानसिक अनुभव से उत्पन्न होता है। आगमों में भी गुह्य रति के समय मानसिक अनुभव पर ही बल दिया गया है, केवल शारीरिक रति पर नहीं। क्योंकि साधना में मानसिक स्थिति ही सिद्धि देती है अन्यथा प्रत्येक भ्रष्ट व्यक्तिको 'सिद्ध' मानना होगा।

वल्लभाचार्य ने उक्त मधुराभक्ति को उच्चतम और गोप्य बताया है। भागवतपुराण के दशम स्कन्ध के ३१ वें अध्याय में गोपियाँ कृष्ण से प्रार्थना करती हैं कि भगवान उनके कुर्चों पर अपने चरणकमल स्थापित करें।^१ इस श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्य वल्लभ ने कहा है कि यहाँ "विपरीतरति" संकेतित है। इस प्रकार भगवान की अश्लील लीलाओं का ध्यान ही भक्तों के लिए सर्वस्व बनता गया।

भगवान की रतिक्रीड़ा का वास्तविक अभिप्राय तन्त्रों की ही पद्धति पर बताते हुए वल्लभ कहते हैं कि भगवान अन्तर्यामी हैं; अतः न वह स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न षंड है। अतः उनकी दिव्य लीला आन्तरिक है। इसमें दोष

१ "ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः" की व्याख्या "अनेन विपरीत रस उच्यते बन्ध विशेषो वा"सुबोधिनी।

की आशंका नहीं है,^१ क्योंकि यह लीला साधक की चेतना में होती है ।

भैरवीचक्र और भगवान का रतिचक्र—आचार्य वल्लभ के अनुसार रस-पोषण के लिए ही मर्यादा भंग का वर्णन भागवत में किया गया है क्योंकि रस मन्द रहने तक ही शास्त्र का उपदेश है किन्तु 'रतिचक्र' में प्रविष्ट होने पर न शास्त्र रह जाता है न क्रम । भागवत की शारदी निशा इसलिए लौकिक नहीं है, यह निशा 'काव्योक्ता' है और काव्य के विषय में कहा ही गया है कि काव्य-कला नियतिकृत नियमों से रहित होती है—

मर्यादाभंगः रसपोषाय । तद्वक्तव्यम्—

शास्त्राणांविषयस्तावत् यावन्मन्दरसा नराः

रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम इति ।

निशा एता न लोक प्रसिद्धाः किन्तु काव्योक्ता एव तत्रहि

नियतकृत्यादिराहित्यं.....ल्लादंकेता अनन्याधीनता ।^२

उपर्युक्त श्लोक 'भैरवीचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम' का ही अनुकरण है । भैरवी चक्र के साधक भी ब्रह्मानन्द प्राप्त करने के लिए ही रतिचक्र का आयोजन करते थे, अतः वैष्णवों ने भगवान के रतिचक्र का विधान तांत्रिकों के भैरवी चक्र के आधार पर ही कल्पित किया है । वे तांत्रिकों की तरह शारीरिक रति को महत्व न देकर, भगवान के रतिचक्र की कल्पना में ही मग्न रहना चाहते हैं । इस प्रकार वल्लभ की आत्मस्वीकृति हमारी इस स्थापना में सहायक है कि वैष्णवों की मधुराभक्ति का "पैटर्न" तांत्रिक है ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभमत से भी अधिक शक्ति व शक्तिमान की शृंगारिक लीला का अद्भुत विस्तार मिलता है । आगमों का 'रतिविधान' भी इसके सम्मुख फीका पड़ जाता है । 'युगललीला' में लौकिक प्रेम का ही दिव्य-स्तरों पर वर्णन किया गया है । कृष्ण में 'प्रेम' की तृषा तथा राधा में अनंग-केलि की प्रमुखता मानकर 'रतिरहस्य' का पूर्ण उद्घाटन इस सम्प्रदाय में किया गया है । रूपदर्शन, उरजस्पर्श, परिरंभन से लेकर विपरीतरतिविवरण तक

१ वस्तुतस्तु नायं पुमान् नचस्त्री नाप्यन्यः कश्चित् न स्त्री न षण्डो न पुमान्-
तिश्रुतेः अतः केनापि विचारेण नास्या दोषसम्भवः—भागवतपुराण, १०-
३३-३६ की सुबोधिनी में की गई व्याख्या ।

२ भागवतपुराण १०, ३३, २६ पर सुबोधिनी में वल्लभकृत व्याख्या ।

कामशास्त्र के सभी विधिविधान 'दिव्यलीला' में स्वीकृत हैं।^१ रसमय धाम की रसमय लीला का गुह्यतम रूप इस सम्प्रदाय में मिलता है किन्तु सखीभाव से इस 'लीला' का दर्शन ही किया जाता है, तांत्रिकों की तरह स्वयं रतिक्रिया द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार यहाँ उद्देश्य नहीं है।

चैतन्यमत में भी 'लीला' का गुह्यरूप ही अधिक है। वल्लभ ने बालकृष्ण लीला पर अधिक बल दिया था, परन्तु अन्य मतों में आगमों की कामक्रीड़ा की बल्लभमत से भी अधिकता दिखाई पड़ती है। इस मत में "परकीयाभाव" की बड़ी महिमा है जो तांत्रिक साधनाओं का अवशेषमात्र है।

'लीला' का उद्देश्य आनन्द की सृष्टि है और जीव में आनन्द का ही अभाव है। क्योंकि जीव कामक्रीड़ा में ही सबसे अधिक आनन्द लेता है अतः मनोहरलीलाओं का ही कृष्णभक्तों ने अधिक विधान किया है और केवल 'मानसीध्यान' के रूप में भगवान की कामक्रीड़ाओं को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार आचार्यों ने संन्यास और भ्रष्टाचार इन दो अतियों से बचने का प्रयत्न किया है। फिर भी 'मानसिक' रूप में ही सही, तन्त्रों ने जो सर्वप्रथम 'राग' को साधना का माध्यम बनाया था, वही सिद्धान्त मूलतः इस लीलावाद का आधार है।

गोलोक—वल्लभ परब्रह्म के लोक को 'गोलोक' कहते हैं। आनन्दमय लोकों की कल्पनाएं पांचरात्र आगम में हम देख चुके हैं। बौद्धों का सुखावती-स्वर्ग, शैवों का कैलास तथा वैष्णवों का विष्णुधाम, ११वीं शताब्दी के पूर्व ही जनप्रिय हो चुके थे। वल्लभ ने गोलोक को और भी मनोहर रूप दिया। संत-कवियों ने भी लोकों की कल्पनाएं की हैं। तांत्रिक दृष्टिकोण से आध्यात्मिकता की जागृति ही इनका उद्देश्य है। १५वीं, १६वीं शताब्दियों के आचार्यों ने धर्म को सरल और आकर्षक बनाया था, अतः विलासिता की ओर बढ़ती हुई रुचि को भगवान के 'नित्यविहार' में ही उलझा रखने की आवश्यकता का अनुभव उन्हें हुआ था, अतः गोलोक की कल्पना में बल्लभ और उनके शिष्यों ने महान प्रतिभा का परिचय दिया था।

वैष्णवों के गोलोक पर ललिताचरण गोस्वामी ने भी आगमों का प्रभाव स्वीकार किया है। उनके अनुसार वैष्णव सम्प्रदायों के उदय के साथ प्रधानतया आगमों और पुराणों पर आधारित, वैष्णव उपास्यतत्त्व का विकास

द्वारा और विभिन्न उपास्य स्वरूपों के अनुरूप वैकुण्ठ, गोलोक आदि स्थानों की योजना को महत्व मिला। इस योजना में वृन्दावन गोलोक का एक विशेष भाग है और रासलीला का स्थान होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। प्रकट लीला और अप्रकट लीला के भेद से वृन्दावन के दो रूप माने गए हैं, एक भू वृन्दावन और दूसरा ‘त्रिपाद्विभूतिस्थ किंवा गोलोकस्थ वृन्दावन’ और दोनों का अभेद प्रतिपादित किया गया है ‘‘वृन्दावन भगवान की संधिनी शक्ति का विलास है और चिन्मय रूप है।^१

चैतन्यमत में भी स्वरूपशक्ति तथा उसके द्वारा निर्मित वैकुण्ठधाम, परिकर, सेवकादि वैभव के साथ भगवान की लीला का विधान किया गया है। भगवान और उनके धाम को एक माना गया है क्योंकि वैकुण्ठधाम उनके स्वरूप के ही शुद्ध सत्त्वमय विस्तार हैं। बैकुण्ठ में एक अप्राकृत विरजा नदी मानी गई है, इस विरजा के उस पार परमव्योम है, इसमें विशुद्धसत्त्वमय नित्य बैकुण्ठादि का अवस्थान है। वैकुण्ठादिधामों में सर्वोच्चधाम ‘गोलोक’ ही माना गया है। इसी गोलोक से गोकुल बना है। क्योंकि गोलोक प्रकट भी हो सकता है और अप्रकट भी रह सकता है, प्रकट रूप में वह ‘गोकुल’ है। इस प्रकट व अप्रकट लोकों में एक ही साथ लीलाएँ होती रहती हैं। इसके भी तीन रूप हैं द्वारिका, मथुरा व वृन्दावन, इनमें लीला भी तीन प्रकार की होती है। द्वारिकाधाम में यादवों व वृन्दावन में गोप-गोपियों के साथ लीला होती है।^२

साधना—उपासना और आचार, ज्ञान, योग, कर्मकांड से रहित शुद्ध प्रेमरूपा भक्ति का रूप हम ‘पुष्टिपुष्टभक्ति’ में देख चुके हैं। वल्लभ की विशेषता यह है कि उन्होंने मनुष्य के सम्पूर्ण रागात्मक जीवन का विषय भगवान को बनाकर उसे दिव्यराग में परिणत करने पर बल दिया—

सर्वदासर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्याऽयमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ।^३

अर्थात् सर्वदा सब प्रकार के भावों से केवल कृष्ण ही भजनीय हैं, यही

१ हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० १४६

२ ब्रष्टव्य, राधा का क्रमिक विकास, पृ० १६७, १६८, १६९

३ चतुः श्लोकी, षोडश ग्रंथ, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५२०

धर्म है। अन्य कोई धर्म नहीं है क्योंकि भगवान में स्नेह से संसार के प्रति जो राग है, उसका नाश होता है।^१

वल्लभमत में गौणी तथा पराभक्ति स्वीकृत है। गौणीभक्ति के वैधी व रागानुगा दो भेद हैं। वैधीभक्ति में शास्त्रोक्त नियमों का पालन होता है। यह मर्यादाभक्ति भी कहलाती है। रागानुगाभक्ति में भगवान की कृपा व उसके प्रति भक्ति के भाव की मुख्यता है। इससे चित्त शांत हो जाता है और तब शुद्ध पराभक्ति उत्पन्न होती है।

वैधीभक्ति में पूजा, अर्चा, मूर्ति का ध्यान, नाम-स्मरण आदि का विधान है। स्पष्ट ही यह तांत्रिक विधि है। वैदिक कर्मकांड के समानान्तर जिस तांत्रिक उपासना का प्रचार आगमों व पुराणों में मिलता है, उसे वल्लभ ने यथावत् स्वीकार किया है। किन्तु इन सबको प्रेमलक्षणाभक्ति के साधना रूप में ही माना गया है। नवधाभक्ति भी साधनरूप में ही स्वीकृत है। साध्य तो प्रेमलक्षणाभक्ति ही है।

शांडिल्य ने भक्ति का आविष्कार ही इसलिए किया था कि इसमें जाति, तप, शील तथा विस्तृत साधना-पद्धति की आवश्यकता नहीं पड़ती—

न जातिर्न तपः शीलं नालं साधनपद्धतिः ।

प्रीणनाय मुकुन्दस्य पूर्णकामस्य नित्यशः ॥^२

अतः वैदिक कर्मकांड के समानान्तर 'लोकसाधना' का आविष्कार, जो आगमों में किया गया था, उसी परम्परा में शांडिल्य भी आते हैं।

वल्लभमत में "कृष्ण" इष्टदेव हैं, उनकी मूर्ति का ध्यान किया जाता है। इस सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट मंत्र है। इस मत में गुरु के द्वारा जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित कराया जाता है। "श्रीकृष्ण शरणं मम" इस मंत्र को शरणमंत्र कहा जाता है। इसके अतिरिक्त नितान्त "गोप्य" दीक्षामंत्र इस प्रकार है—

सहस्रपरिवत्सरमितकालजात कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं

१ स्नेहाद्रागविनाशः स्यात् ...

बही, पृ० ५२५

२ शांडिल्यसंहिता, भाग १, पृ० २, सरस्वती भवनसीरीज़, बनारस, १९३५

भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धमांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहा-
पराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।^१

इस मंत्र से शिष्य गुरु अथवा कृष्ण को अपना सब कुछ समर्पण कर देता है । गुरु व कृष्ण मे इस सम्प्रदाय में अंतर नहीं माना जाता ।

पुष्टिमार्ग की पूजा-पद्धति बहुत ही विशद है । आठोंयाम श्रीकृष्ण सेवा-विषयक कुछ न कुछ कार्यवाही होती रहती है । पूजा के आठ प्रकार बताये गये हैं, मंगलारति, शृंगार, गोपाल, राजभोग, उत्थान, भोग, साध्य और शयन । ये सब मूर्ति से सम्बन्धित है और मूर्तिपूजा शुद्ध आर्येतर पूजा है । तांत्रिक परम्परा मे ही इसका विकास हुआ था । जिस प्रकार तंत्रों में सामान्य जनता के विश्वासों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति है उसी प्रकार वल्लभमत में भी अनेक उत्सवों, त्यौहारों पर किए गये समारोहों आदि को धार्मिक रूप दे दिया गया है, फलतः सभी लोक-उत्सवों का सम्बन्ध भगवान से जोड़ने की प्रवृत्ति वैष्णवमतों की विशेषता है ।

वल्लभ ने अपने साधन पक्ष के लिए परवर्ती उपनिषदों की बार-बार चर्चा की है । ये उपनिषदें तांत्रिक साधनपद्धति से ही सम्बन्धित हैं ।^२ वल्लभ, निम्बार्क आदि मतों के लिए परवर्ती उपनिषदें 'शुद्धवैदिक' थी, क्योंकि तब तक धार्मिक अन्तर्भुक्ति का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो चुका था ।

वल्लभमत की तरह अन्य सभी वैष्णव सम्प्रदायों में कृष्ण-मूर्ति की सेवा के विराट आयोजन किये जाते हैं । कुछ थोड़ी-सी भिन्नता को छोड़कर सभी कृष्णसम्प्रदायों मे साधन-पद्धति एकसी हो दिखाई पड़ती है ।

भगवान की इस विराट सेवा के आयोजन में वित्तजा तथा तनुजा सेवा से 'मानसी' सेवा को अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि तांत्रिकों की ही तरह बाह्याचार को वैष्णवों ने अधिक महत्व नहीं दिया । देवता के साथ आन्तरिक तादात्म्य यहाँ भी मुख्य है ।

इस उपासना का उद्देश्य 'प्रेमाभक्ति' का उदय है । यह भक्ति 'लोक और वेद' से अतीत मानी गई है । इसमें मर्यादामार्ग का निषेध है । यद्यपि वल्लभ ने बालकृष्ण-उपासना पर अधिक बल दिया है तथापि जारभाव से गोपी बनकर

१ भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३६७

२ अथर्वोपनिषत्सु नृसिंहोपासनाविषु मत्स्यकूर्मविरूपत्वेनापि स्तुतिः भूयते—
—अष्टभाष्य, पृ० ३२४

भगवान के साथ रति प्राप्ति का लक्ष्य उन्होंने स्वीकार किया है । अतः रास-लीला चक्रसाधना का ही एक उदात्तरूप है, यों कृष्ण की श्रृंगारिक चेष्टाओं के ध्यान को मर्यादावादी आज तक 'उदात्त' कहने को प्रस्तुत नहीं है । तथापि तांत्रिकों की चक्रसाधना की तुलना में रासलीला अधिक कवित्वपूर्ण व उदात्त है ।

वैष्णवभक्ति का मर्म—वैष्णव आचार्यों का भक्ति-रहस्य गम्भीर है । भक्त-कवियों ने इसी रहस्य को वाणी दी है, अतः उनकी कविता कोरी कविता नहीं है, वह एक विशिष्ट साधना-पद्धति से सम्बन्धित वाणी है, अतः वैष्णव काव्य को समझने के लिए साधना को समझना पड़ता है ।

नाम या मन्त्र—वैष्णवों की नामसाधना आगमों की मन्त्र-साधना का ही दूसरा नाम है । यह नाम-साधना तंत्रों की ही तरह साधना की प्रथम अवस्था मानी गई है । नाम के साथ भगवान के रूप का नित्य सम्बन्ध रहता है । 'नाम' प्राकृत न होकर 'चिन्मय' है । परन्तु नाम में चित् व आनन्द की अभिव्यक्ति साधना द्वारा मानी गई है, यद्यपि ये अव्यक्त रूप से नाम में अवस्थित हैं । गुरु की शक्ति से संयुक्त होकर 'नाम' की निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर फूट पड़ती है ।

नामसाधना का उद्देश्य शुद्धदेह की प्राप्ति है । क्योंकि प्राकृत शरीर से साधना हो नहीं सकती, इसीलिए 'बीजमंत्रों' का महत्व माना गया है । नाम साधना से भावदेह की उपलब्धि होती है । इसीलिए तंत्रों में काया सिद्धान्त पर इतना बल दिया गया है ।

'भावदेह' क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोधादि से परे होती है । इस देह की प्राप्ति के बाद भक्त भगवान की लीलाओं में शामिल हो सकता है ।

भक्तिशास्त्रों से अनुसार क्रियारूपाभक्ति 'फलरूपा' भक्ति में परिणत हो जाती है । यह नवधाभक्ति से भी परे की अवस्था है क्योंकि जिस नवधाभक्ति का इतना प्रचार किया जाता है उसमें अहंभाव मिट नहीं पाता अतः महाभाव जो कि प्रक्रिया या सेवा का फल है, वह भगवान की कृपा से ही प्राप्त होता है क्योंकि कभी कभी जीवन भर क्रिया करने पर भी भाव का उदय नहीं होता ।

भाव का उदय होने पर प्राकृत शरीर जड़वत् हो जाता है । भावदेह साधक की मानसिक भावना के अनुसार बनती है । सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य, जिस प्रकार का भाव होगा, साधक को उसी प्रकार की काया प्रप्ति हो जाती है ।

भावदेह में बाह्य नियमों की अपेक्षा नहीं रहती। उदाहरणतः जो भक्त आराध्य को जननी के रूप में भजता है उस पर शिशुभाव छा जाता है, उसके मुख पर शिशु जैसी सरलता आ जाती है और वह अपनी 'जननी' के सम्मुख स्वभावतः बच्चों जैसी चेष्टाएँ करने लगता है।

भाव का विकास हो प्रेम है। यद्यपि भाव व प्रेम एक ही हैं तथापि प्रेम भाव की परिपक्वतावस्था है।

बिना प्रेम के भगवान का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। भाव द्वारा इष्टदेव का अन्वेषण किया जाता है। साधक अनेक आवतों को पार कर जब अन्तिम बिन्दु तक पहुँचता है तब रस का उदय हो जाता है, यही सिद्धावस्था है, यहाँ साधना छूट जाती है। प्राकृतदेह छूटने के बाद शुद्धभावदेह प्राप्त होने पर ही 'हरिलीलाधाम' में प्रवेश मिलता है। आचार्यों के अनुसार मायिक शरीर की निवृत्ति के बाद भी कभी-कभी विशुद्ध 'भावदेह' की प्राप्ति नहीं होती, यही 'कैवल्य' की अवस्था है। यह 'विदेह' स्थिति है। केवली जीव भगवान के धाम के बाहर सुप्तवत् पड़े रहते हैं, ऐसा भक्ति के आचार्यों ने कहा है। तभी ज्ञानियों की मुक्ति को भक्त पसन्द नहीं करते।

साधक के भाव के अनुसार हरिधाम अनेक हैं। कुंठाहीन होने के कारण हो इसे वैकुण्ठ कहा गया है। इसी को आगम शास्त्रों में 'वैन्दवजगत्' कहते हैं। शुद्धभाव प्राप्त साधक इसमें प्रवेश पाते हैं।

भावदेह में भाव के विकास के साथ 'हृदय' में प्रवेश होता है। संचारीभाव से स्थायीभाव की उपलब्धि की स्थिति यही है। कहते हैं कि हृदय में अष्ट दलकमल है जो पट्चक्रों में द्वादशदलवाले कमल से भिन्न है। इस अष्टदलकमल में एक-एक दल एक-एक भाव का रूप है। भाव में प्रविष्ट होकर उसे महाभाव में परिणत करना पड़ता है, यही भावसाधना का रहस्य है। कमल को जिस प्रकार प्रकाश व जल की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार भाव के विकास के लिए ज्ञानरूपचिदाकाश में स्थित सूर्यमंडल तथा दूसरी ओर स्थायी भाव की आवश्यकता होती है, तभी "हृदयकमल" खिलता है।

हृदयकमल से विकसित होने पर ही लक्ष्योन्मेष होता है और उसके साथ ही 'खेचरीभाँड' अथवा 'अमृतपात्र' से अमृतक्षरण प्रारम्भ हो जाता है। यह लक्ष्योन्मेष भी कामसूर्य का ही उदय है, इसी को शैव-दर्शन में कामकला-तत्त्व कहा गया है।

उपर्युक्त आठ भावों से एक ही महाभाव को प्राप्त किया जाता है। भक्ति

शास्त्रों में पाँच भावों की प्रमुखता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन भावों की विशिष्टता के अनुसार भगवान का भी वैशिष्ट्य होता है। आचार्यों के अनुसार यद्यपि शान्तभक्ति एक है। तथापि उसमें असंख्य भेद होते हैं। व्यक्ति अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करके ही भाव का आस्वाद लेता है। एक ही व्यक्ति शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य के क्रम से विकास प्राप्त करता हुआ अन्त में माधुर्यभाव को प्राप्त करता है, परन्तु इतना विकास होने पर भी उसका व्यक्तित्व रहता है, अन्यथा लीला का आस्वादन नहीं हो सकता, यही व्यक्तित्व की महिमा है। भावसाधना भक्ति साधना में एक ओर रस की अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर महाभाव का विकास होता है। महाभाव के बिना रस का शुद्धरूप प्राप्त नहीं होता।

उपर्युक्त अष्टदलकमल के लिए ही आठ सखियों का विधान भक्तिशास्त्रों में किया गया है। जैसे कमल का मध्यबिन्दु मधुर होता है, उसी तरह अष्टदलों या भावों के बाद मध्यबिन्दु या महाभाव में प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यबिन्दु भी आठ भागों में विभक्त है। इनमें प्रत्येक 'कला' कहलाता है। ये ही आठ सखियाँ हैं। इनके विकास की चरम परिणति ही 'राधातत्त्व' कहलाता है। भावसाधना द्वारा बाह्य अष्टदलकमल या भाव से आवर्तित होते होते अंत में महाभाव को प्राप्त करता है, उस समय पूर्णरस की उपलब्धि में पूर्णतम-मिलन या 'सामरस्य' होता है।

भक्ति का उपर्युक्त विवेचन कविराज गोपीनाथ जी के अनुसार है।^१ निश्चितरूप से गौड़ियावैष्णवों की भक्ति को ही कविराज जी ने विवेच्य बनाया है परन्तु महाभाव व मधुराभक्ति, सभी कृष्णभक्तों द्वारा स्वीकृत है, अतः कवियों की वारणी का वास्तविक मर्म उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि आगमों की दृष्टि का ही कृष्णभक्ति में विस्तार है। रति चक्र का वास्तविक अभिप्राय यही लिया जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि यह महाभाव, मधुराभक्ति अथवा रतिचक्र को वैष्णवों ने क्यों ग्रहण किया? इसका यही उत्तर हो सकता है कि वैष्णव आचार्य ऐसी साधना-पद्धति का विकास करना चाहते थे जिसमें मनुष्य के रागात्मक जीवन का विनाश न हो। भाव राग का ही विकसित रूप है और

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य — कल्याण का हिन्दू संस्कृति ग्रंथ, पृ० ४३६-४४४-कविराज गोपीनाथ का लेख

प्रत्येक साधक को चित्तवृत्ति के अनुकूल कोई एक भाव चुन लेने की छूट दे दी गई है, उसी भाव द्वारा प्रत्येक भक्त अपने इष्ट का अन्वेषण करता है। यह पद्धति हठयोग और संन्यासमार्ग से सरल और आकर्षक होने के कारण जनता में अधिक प्रचलित हुई। तांत्रिकों के वाममार्ग और हठयोग जैसी कृच्छ्र साधनाओं को छोड़कर एक मध्यम मार्ग के आविष्कार का श्रेय वैष्णव आचार्यों को अवश्य है। किन्तु यह आविष्कार आगमों के ही आधार पर होने के कारण आगममूलक साधना और वैष्णवसाधना में अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। तांत्रिकों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों में जहाँ आकर्षण था, वही अष्टाचार का भय भी उपस्थित रहता था। वैष्णवों ने इसीलिए भगवान के रतिचक्र को केवल मानसी ध्यान के रूप में ग्रहण किया है और भावविभोर होकर भगवान की मनोहर लीलाओं का गायन किया है।

इस प्रकार वैष्णव साधना की पृष्ठभूमि में आगमों और तंत्रों का विपुल साहित्य आचार्यों और कवियों के लिए उनकी “मौलिकता” और नूतन लीलाओं के आविष्कार में सहायक रहा है। आगमों के अनुशीलन के बिना वैष्णव साधना को उस भारतीय चिन्तनधारा के ही विकसित रूप में नहीं देखा जा सकता जो मनुष्य के रागात्मक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के विरोध को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील रही है तथा जिसमें वैदिक कर्मकांड के स्थान पर लौकिक विश्वासों और लौकिक देवी देवताओं को स्वीकार करके चलने की प्रवृत्ति रही है।

अष्टछापकाव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ—वल्लभसम्प्रदाय के कवि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्तितत्व के मर्म के ही गायक हैं। उनकी कल्पना को पंख देने वाला गुरुप्रदत्त “हरिलीलातत्व” है।

दर्शन—हम वल्लभ की विचारधारा पर विचार कर चुके हैं। सूरदास ने आचार्य के अनुसार ही ब्रह्म के सगुणरूप की ही वन्दना की है और निर्गुण उपासना को निरालम्ब उपासना होने के कारण स्वीकार नहीं किया है।^१ छीतस्वामी और नन्ददास आदि अन्य कवि भी सगुण ब्रह्म के ही गायक हैं।^२

१ ब्रह्म-अविगत गति कछु कहत न आवैं, सूरसागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००५, जिल्द १, पृ० २

२ छीतस्वामी-जीवनी और पद संग्रह-कांकोली, राजस्थान, संवत् २०१२, पृ० ६ तथा श्रीकृष्णसिद्धान्तपंचाध्यायी-नन्ददास ग्रंथावली, अजरतन्हास, काशी, प्रथम संस्करण संवत् २००६, पृ० ४०

कृपा या शक्तिपात—कवियों ने सगुणब्रह्म की कृपा या शक्तिपात की महिमा का विपुल गायन किया है। इन कवियों का भगवान् भक्त की पुकार सुनकर ही सहायतार्थ अवतरित होने के लिए सर्वथा सन्नद्ध रहता है, क्योंकि वह भक्त के भाव को देखता है, उसके कर्मों को नहीं देखता—

तुम हरि सांकरे के साथी,

सुनत पुकार, परम आतुर हूँ, बोरि छुड़ायो हाथी ।^१

भगवान् की प्रतिज्ञा है—

हम भक्तन के भक्त हमारे ।

सुनि अर्जुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे ।^२

कृपा की स्थिति में कृपालु अपनी सामर्थ्य का अनुसंधान करता है और यह तथ्य कवियों को ज्ञात है कि भगवान् सर्वशक्तिमान् है, अतः सूरदास का यह विश्वास है कि जो कुछ इस ब्रह्मांड में हो रहा है वह सब “हरि इच्छा” से ही हो रहा है। भगवान् की इच्छा की तरह ही उसकी कृपा भी निराली है, क्योंकि वह कृपावश भक्तों के अधीन हो जाता है—

निगम ते अगम हरिकृपा न्यारी ।

प्रीतिवस स्याम है राख कं रंक कोउ, पुरुष के नारि नहिं भेव ।^३

वस्तुतः “वेद” ऐसे ब्रह्म की कल्पना भी नहीं कर सकता था जो अपने बनाये हुए सारे नियमों को तोड़कर मनुष्य की पुकार पर उसकी रक्षा व रंजन के लिए विकल हो उठता हो। भगवान् की कृपा से सम्बन्धित पद जनता में प्रसिद्ध हो है, अतः यहाँ अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। यह कृपा का सिद्धान्त शुद्ध आगमों की देन है।

शक्ति-शक्तिमान् की काव्यरूप में परिणति

वल्लभमत के सभी कवि अपने भगवान् की क्रीड़ाओं के गुण ही गाते हैं। ये क्रीड़ाएँ भगवान् अपनी शक्तियों के साथ करता है। नन्ददास के अनुसार भगवान् की शक्ति को उनसे अलग नहीं किया जा सकता—

किन कीन्हें चन्द्र तें चार चन्द्रिका न्यारी ।^४

१ सूर सागर, जिल्द १, पृ० ३७

२ वही, पृ० ८७

३ सूरसागर, जिल्द २, पृ० ६४२

४ श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ० ४५

नन्ददास ने ब्रजसुन्दरियों और ब्रजाधीश को शक्ति व शक्तिमान के रूप में ही ग्रहण किया है—

पुनि ब्रजसुन्दरि संग मिलि सोहै सुन्दर वर यों ।

अनेक शक्ति करि आवृत सोहै, परमात्म ज्यों ।^१

सूरदास ने 'प्रकृति-पुरुष' के रूप में ही इस देव व देवी को ग्रहण किया था—

प्रकृति, पुरुष, श्रीपति, सीतापति, अनुक्रम कथा सुनाई ।

सूर इती रस रीति स्याम सौं, तें ब्रज बसि बिसराई ।^२

सूरदास ने राधा व कृष्ण का सम्बन्ध बहुत ही कवित्वपूर्ण पद्धति पर समझाया है कि राधा व कृष्ण दो नहीं हैं, वस्तुतः एक हैं, जलतरंगवत् वे दोनों अभिन्न हैं । “प्यारी में पिय और पिय में प्यारी” के सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि स्पन्दन को स्पंदित होने वाले तत्त्व से भिन्न नहीं किया जा सकता—

तुम वे एक न दोई पियारी, जल ते तरंग होइ नहिं न्यारी ।

प्यारी में तुम तुम मैं प्यारी, जैसे दरपन छांह बिहारी ।

अति आनंद भरे दोउ राजें, अरस परस निरखत छवि छाजें ।^३

अतः संयोग, मान, विरह, पुनः संयोग वस्तुतः एक ही सत्ता का अंतरस्थित स्वतः व्यापार है, वहाँ संयोग में भी वियोग है और वियोग में भी संयोग । कभी राधा, कृष्ण हो जाती हैं और कभी कृष्ण, राधा हो जाते हैं, अतः एक ही तत्त्व लीलार्थ दो बपु धारण करता है—

१ श्रीकृष्णसिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० ४६

बृहद्ब्रह्मसंहिता, (२-४, १७३) में गोपियों को शक्ति माना गया है—

गोपायति जनान् यस्मात् प्रपन्नानेव दोषतः

अतो गोपीति, विख्याता लीलाख्या पर देवता—अर्थात् गोपी, लीला नाम नाम की शक्ति का नाम है । यह शक्ति शरणागत भक्तों का दोषमोक्षण करती है—भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ० २६१, डा० मुंशीराम शर्मा—संवत् २०१० वि०, आचार्य शुक्ल साधना-सदन कानपुर ।

२ सूरसागर, जिल्द २, पृ० ११८२

३ वही, पृ० ११६५

कियों बं पुरुष में नारि की बं नारि में ही हों पुरुष तन सुधि बिसरी ।^१

शक्ति व शक्तिमान के रूप, श्री, सोभाग्य, समृद्धि व सामरस्य को विचारकों ने जिस निपुणता से तंत्रों व भक्तिशास्त्रों में प्रतिपादित किया था वह कंकालवत् था, सूक्ष्म और ऊहापोह से युक्त था, उसके विषय में प्रतिपक्षी नाना सन्देह उत्पन्न कर सकते थे, किन्तु जब साधक-कवियों के मानसिक क्षितिज पर वे सूक्ष्म सिद्धान्त रूप धारण करने लगे, जब गुरु ने साधक कवियों के प्राकृत शरीर में अप्राकृतिक के प्रति दिव्य भाव जगा दिया तो वे शक्ति व शक्तिमान की राशि राशि रूपावली प्रस्तुत करने लगे । “नख-शिख” वर्णन का यह मनोवैज्ञानिक कारण था ।^२ इस प्रकार सिद्धान्त और सहृदयता एक होकर ध्वनित होने लगी । भगवान के जन्म से लेकर यौवनावस्था तक के नित्तिन् वृद्धिमान सौन्दर्य को रूपायित कर सकने का यही कारण था । जैसे काष्ठ में मूर्ति छिपी रहती है, उसी प्रकार शक्ति-शक्तिमान के सिद्धान्त में भी जो सौन्दर्य छिपा हुआ था, उसे वैष्णव कवियों ने उद्घाटित किया है । छीतस्वामी ने इसीलिए राधा शक्ति के विषय में लिखा है—

सकल भवन की सुन्दरताई, वृषभानु गोप के आई री ।

जाकौ जस गावत सिब मुनिजन, निगम, चतुरमुख बाईरी ।

मबलकिशोरी, रूपगुन स्यामा, कमला सौ ललबाई री ।

प्रगटे पुरुषोत्तम श्री राधा, द्वैविध रूप बनाई री ।^३

अर्थात् एक ही ‘तत्त्व’ पुरुष और प्रकृति—ये दो रूप बनाकर प्रकट हुआ है ।

१ सूर सागर, जित्व २, पृ० ६८३

२ मोर भएँ गिरिवरधर भेल्ल बेल्लु

सुगम कपोल लोल लोचन छवि, निरखि नैन सफल करि लेखु ।

छीतस्वामी, पृ० ३७

बेल्लिरी बेल्लि भ्रानन्वकंद ।

जलित कुंडल गंडमंडल भलक ललित कपोल ।

सुधा सर जनु मकर कीड़त, इन्दु डह डह डोल । सूरसागर, जित्व १,

पृ० ४८३

३ छीतस्वामी, पृ० २

यह जो युगल स्वरूप है उसके परस्पर सम्मोहन और प्रेम का वर्णन छीत-स्वामी इस प्रकार करते हैं ।

आधी आधी अंखियन चितवति प्यारी जू ।

आधो-आधो मन भयो जात गिरधर को ।^१

इसी प्रकार कुम्भनदास ने भी कहा है —

बनी राधा गिरिधर की जोरी ।

मनहुं परस्पर कोटि मवनरति की सुन्दरता चोरी ।^२

इसी को सूक्ष्म सिद्धान्तों का रूपायित करना कहा जाता है । कृष्णभक्तों और रामभक्तों का इस क्षेत्र पर एकाधिकार दिखाई पड़ता है ।

सूरदास ने शक्ति-शक्तिमान की क्रीड़ा को शुद्ध प्रेमियों की पद्धति पर रूपायित किया है और यह वर्णन लौकिक कामकला की पद्धति पर हुआ है ताकि प्रत्येक मनुष्य उसमें अपने हृदय की धड़कनें सुन सके—

सोचत चली कुंअरि घर ही तें, खरिक गई समुहाइ ।

कब देखों वह मोहन मूरति, जिन मन लियो चुराइ ।

देखे जाइ तहां हरि नाहीं, चकृत भई मुकुमारि ।

कबहूँ इत, कबहूँ उत डोलत, लागी प्रीति खंभारि ।^३

इस सन्दर्भ में अन्य कवियों के उद्धरण भी द्रष्टव्य हैं ।^४ इन कवियों ने

१ छीत स्वामी पृ० ४

२ कुम्भनदास जीवनी और पदसंग्रह, कांकरोली, संवत् २०१०, पृ० ४

३ सूरसागर, जिल्द १, पृ० ४६६

४ कंठ लगाइ भुज बं सिरहानें, अधर अमृत पोवति मुकुमारी ।

कंठमेलि भुज केलि करत हैं, ज्यों दामिनि घन होत न न्यारी ।

—कुम्भनदास पृ० १०२

(अ) रस भरे दम्पति कुंज महल में सुरति रसी ।

नवसंगम री अर्ध घूँघट पर अवलोकन में ईषद् हास्य हंसी ।

स्याम भुजन बीच प्यारी विराजत गोविन्दस्वामी, कांकरोली,

पृ० १६

(ब) परमानन्दसागर, सम्पा० गोवर्धननाथ शुक्ल, अलीगढ़, १९५८, भूमिका भाग, पृ० २२

कंठ बाहू धरि अधरि पान बं, प्रमुदित हंसत बिहार को

गाढ़ आलिंगन बं बं मिलबौ, बीच न राखत हार को-बही, पृ० १३६

शक्ति को कृष्ण की ल्लादिनी शक्ति माना है अतः युगल के विहार का वर्णन इन्होंने बड़ी उमंग से किया है ।

अष्टछाप के कवियों ने गोपियों को भी शक्तिरूप में ही चित्रित किया है, यह हम कह चुके हैं । इनमें जारभाव से मिलने वाली गोपियों के अतिरिक्त ऐसी गोपियां भी मिलती है जिन्होंने भगवान को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए भगवान शंकर की आराधना की थी ।^१ और उनका तप देखकर भगवान ने उनके साथ रतिक्रीड़ा भी की थी ।^२

बीरहरण,^३ गोदोहन,^४ कुंजविहार,^५ दधिदान^६ तथा गारुड़ी वेप बनाकर

(स) नीबी ललित गही जबुराई ।

जबाहि सरोज धरयो श्रीफल पर, तब जसुमति गई आई ।

सूरसागर, पृ० ४६६

(ब) हरि हंसि मामिनी उर लाइ ।

सुरति अंत गोपाल रीझे, जाति अति सुखवाइ ।—वही, पृ० ५०२

१ गौरीपति पूजति व्रजनारि ।

नेमधर्म सौ रहति क्रिया जुत, बहुत करति मनुहारि ।

यहै कहति पति बेहु उमापति गिरिधर नन्द कुमार ।—सूरसागर, पृ० ५२४

२ अति तप बेलि कृपा हरि कीन्हो ।

तन की जरनि दूरि भई सबकी, मिलि तरुनिनि सुख दीन्हों ।

—सूरसागर, जिल्द १, पृ० ५२५

३ लाज ओट यह दूरि करौ ।

जोइ मैं कहौं करो तुम सोई, सकुच बापुरिहि कहा करौ ।

अब अन्तर मोसों जनि राखहु, बार बार हठ वृथा करौ ।

वही, पृ० ५३१

४ नंद बबा की बात सुनो हरि ।

मोहि छाड़ि जो कहू जाहुगे, त्याऊंगी तुमको धरि ।

—सूरसागर, खंड १, पृ० ४६६

५ क्रीड़त दोऊ नवनिकुंज ।

स्यास्यामा ललित लपटनि बढ़यो आनन्दपुंज ।

बढ़यो सुरत संजोग रस बस भए प्रेम तरंग ।—गोविन्दस्वामी, पृ० १६४

६ हमारो दान बेहु सुकुंमारी ।

बिनु दिए कहां मजिय जाति हो, धाइ गही है सारी ।

—वही, पृ० १२

राधा से मिलन,^१ आदि अवसरों पर भगवान का जो “कामकेलिमय” रूप दिखाई पड़ता है, वह शक्ति-शक्तिमान के सिद्धान्त का ही प्रतिफल है। इन कवियों ने होली खेलने,^२ हिंडोला झूलने,^३ तथा फूल मराडली रचने^४ आदि लोक-उत्सवों का उपयोग भी उक्त सिद्धान्त को रूपायित करने में किया है। नाना मौलिक उद्भावनाओं द्वारा इस प्रकार उक्त सिद्धान्त को कवित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

रासमण्डल—कामेश्वर, कामेश्वरी की कामक्रीड़ा का अन्तिम चमत्कार रास-मंडल में दिखाई पड़ता है जिसमें युगल के अतिरिक्त जारभाव से भगवान को भजनेवाली तथा पतिभाव से अनुरक्ता शक्तियाँ भी भाग लेती हैं। शक्तियों की कामवासना को सन्तुष्ट करने का विराट आयोजन रासमंडल द्वारा ही किया जाता है। जिस प्रकार तांत्रिक साधक चक्रसाधना में एक या कई शक्तियों के साथ बिहार करते थे और इन्द्रियजन्यआनन्द की आहुति ‘ब्रह्मानन्द’ में देकर उसे पुनः पुनः उद्दीप्त करते थे, कृष्ण उस प्रकार के साधक न होने पर भी तांत्रिक साधकों की ही तरह शक्तिसंयुक्त अवश्य दिखाये गए हैं। दूसरी दृष्टि से यही भगवान का “रतिचक्र” शक्तिमान के अन्तर्यामी होने के कारण विराट ब्रह्मांड की सृष्टि और संहार का भी प्रतीक है। यह स्मरणीय है कि वल्लभ

१ नीके विषहि उत्तारयो श्याम ।

बड़े गाढ़ी अब हम जाने, संगहि रहत सु काम ।

हम समभी सब बात तुम्हारी, जाहु आपनैं धाम ।—सूरसागर, पृ० ५२३

२ रसिक फागु खेलें नवल नागरी सौं, सरस बर रितुराज की रितु आई ।

पवनमंद अरविब और कुंद विकसे, बिसद चंद पिय नन्दसुत सुखवाई ॥

—छीतस्वामी, पृ० २६ तथा द्रष्टव्य-गोविन्दस्वामी, पृ० ५६, कुम्भनवास पृ० ३६, परमानन्दसागर पृ० ११-११३ तथा सूरसारावली में होली प्रसंग ।

३ कान्ह कनक हिडोरें झूलत रितु बसंत मुरारी ।

बामभाग अब लावत राधा, अंग अंग सकुंमारी ।—गोविन्दस्वामी, पृ० ७६

४ रस भरे पिय प्यारी बंठे कुसुम भवन ।

गोविंद बलि बलि जोरी सवाई बिराजो । सुख बरसत लालन राधिका-रवन ।—गोविन्दस्वामी. पृ० ७७

सम्प्रदाय में प्रत्येक गोपी (जीव) भगवान के साथ समागम के लिए उत्सुक दिखायी गयी है। स्वामिनी जी की कृपा से वह उसे प्राप्त भी कर सकता है अन्यथा सखी रूप से इस नित्यविहार के दर्शन का आनन्द ले सकता है। यह भी कहा गया है कि कृष्ण को “सुख” देना ही गोपियों का उद्देश्य है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखें रासमंडल और चक्रसाधना में सादृश्य दिखाई पड़ता है।

नन्ददास के अनुसार कामवासना पर विजय प्राप्त करने के लिए ही ऐसी साधना का विधान किया गया है अर्थात् काम को काम द्वारा और राग को राग द्वारा जीतने का प्रयत्न जो आगमों में मिलता है वही उद्देश्य यहाँ कार्य कर रहा है। भागवत् में जब परीक्षित ने शुकदेव से पूछा कि श्यामसुन्दर लम्पट कैसे हो गये, तब शुकदेव ने भगवान को ‘सर्वभाव’ कहकर समझाया था कि जो जिस भाव से भजता है भगवान उसको उसी रूप में प्राप्त होते हैं। शिशुपाल ने शत्रुभाव से भगवान का भजन किया था, अतः भगवान ने शत्रु बनकर उसे गति दी।^१ इसी प्रकार जारभाव से भजने वाली गोपियों को, प्रत्यक्ष प्रकट होकर भगवान ने सन्तुष्ट किया था।

इस तर्क के अतिरिक्त नन्ददास ने यह भी कहा है- कि इस मधुरलीला में शृंगार नहीं है—

जे पंडित शृंगारग्रन्थ मत यामें सानैं।

ते कछु भेद न जानैं, हरि को विषई मानैं।^२

इसका आशय यह है कि कृष्णभक्त कवियों ने हरि को ‘विषयी’ रूप में जो चित्रित किया है, उसे वैसा न समझना चाहिए परन्तु इससे यह तो स्पष्ट हुआ ही कि कृष्णभक्तों ने हरि को ‘विषयी’ चित्रित किया है, उनका उद्देश्य भले ही विषयवासना पर सरल ढंग से विजय प्राप्त करना रहा हो और यदि यह सही है तो ‘शक्ति-शक्तिमान’ की रतिलीलाओं को मुखरित करने वाले आगमों

१ जाकों सुन्दर श्याम कथा छिन छिन नइ लागै, ज्यों लंपट पर जुवति बात सुनि अति अनुरागे। तब कहि श्री शुकदेव देव यह अचरज नाहीं।

सर्वभाव भगवान कान्हू जिनके हिय मांही।

—रासपंचाध्यायी, नन्ददास ग्रन्थावली, बजरत्नदास, पृ० १०

२ रासपंचाध्यायी, नन्ददास ग्रन्थावली, बजरत्नदास, पृष्ठ ४१।

का प्रभाव उन पर स्पष्ट है । 'शुद्ध देहधारी' चाहे इस लीला को अपनी चेतना में ही उत्पन्न और लय करते हों, अथवा वे 'हरिधाम' में उसे दिव्यदृष्टि से देखते हों परन्तु जनसाधारण के सम्मुख "महानसाधना" को शृंगारिक पदावली में रखने की प्रवृत्ति जो तन्त्रों व आगमों में मिलती है, वही कृष्ण-भक्तों में है और दोनों सम्प्रदायों में शक्ति-शक्तिमान की क्रीड़ा ही इसे बताया गया है—यह कहना सही नहीं है कि चक्रसाधना में तांत्रिक बिना किसी भाव के साधना करते थे—"शारीरिकरति" स्वयं अपने में मुक्तिदायी नहीं है, वह सहायकतत्त्व है, मुक्तिदात्री तो मानसिक स्थिति है । किस प्रकार साधक ऐन्द्रिक आनन्द को ग्रहण करता है, किस प्रकार वह उसे अतीन्द्रिय आनन्द में सहायक बनाता है, इसी बात को तन्त्रों में महत्वपूर्ण माना गया है, अतः मानसिक स्थिति बदल जाने पर एक ही क्रिया जो बन्धक थी व मुक्तिदा बन जाती है, अतः 'शक्तिवादियों' ने सभी इन्द्रियों की तृप्ति के आवश्यक उपकरण जुटाने को आवश्यक माना था । इसी तरह कृष्णभक्त आचार्य एक विशेष मानसिक स्थिति बनाकर तब शक्ति-शक्तिमान की 'रमणलीला' का आस्वादन करते हैं, विशिष्ट मानसिक स्थिति के अनुसार ही लीला का फल मिलता है, एक 'कामी'—भावहीन व्यक्ति उक्तपदों को पढ़कर पतनोन्मुख होगा और भावपूर्ण व्यक्ति कामवासना पर विजय प्राप्त कर लेगा । विलासियों और विरक्तों ने एक साथ इस 'रमणलीला' से लाभ उठाया, वर्णन एक किन्तु फल दो । प्रश्न हो सकता है कि ऐसी खतरनाक साधना के आविष्कार से क्या लाभ है ? तन्त्रों ने कहा था कि कलियुग में कामी लोगों के लिए यह साधना आकर्षक लगेगी अतः उनके साधनोन्मुख हो जाने पर विवेक की उत्पत्ति की सम्भावना रहेगी । पहले साधना अनिवार्य है, फिर चित्त शुद्ध होने पर साधना का मर्म स्वयं समझ में आ जाता है, अतः येन केन प्रकारेण साधना में मन लगाना ही श्रेयस्कर है । इसीलिए कृष्णभक्तों ने भी 'रवि' का ध्यान रख कर किसी भी प्रकार भगवान की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए मधुराभक्ति का प्रचार किया था । नन्ददास ने भगवान के कामकलाविलास द्वारा कामदेव को पराजित करने की बात कही है—

विलसत विविध विलास हास नीबी कुच-परसत ।

सरसत प्रेक्ष अनंग, रंग नव धन ज्यों बरसत ।

तहं आयो यह मोन पंचसर कर हैं ताके ।

अह्लादिक कों जीति बड़ि रह्यो अति मव ताके ।

सम्प्रदाय में प्रत्येक गोपी (जीव) भगवान के साथ समागम के लिए उत्सुक दिखायी गयी है। स्वामिनी जी की कृपा से वह उसे प्राप्त भी कर सकता है अन्यथा सखी रूप से इस नित्यविहार के दर्शन का आनन्द ले सकता है। यह भी कहा गया है कि कृष्ण को “सुख” देना ही गोपियों का उद्देश्य है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखें रासमंडल और चक्रसाधना में सादृश्य दिखाई पड़ता है।

नन्ददास के अनुसार कामवासना पर विजय प्राप्त करने के लिए ही ऐसी साधना का विधान किया गया है अर्थात् काम को काम द्वारा और राग को राग द्वारा जीतने का प्रयत्न जो आगमों में मिलता है वही उद्देश्य यहाँ कार्य कर रहा है। भागवत् में जब परीक्षित ने शुकदेव से पूछा कि श्यामसुन्दर लम्पट कैसे हो गये, तब शुकदेव ने भगवान को ‘सर्वभाव’ कहकर समझाया था कि जो जिस भाव से भजता है भगवान उसको उसी रूप में प्राप्त होते हैं। शिशुपाल ने शत्रु भाव से भगवान का भजन किया था, अतः भगवान ने शत्रु बनकर उसे गति दी।^१ इसी प्रकार जारभाव से भजने वाली गोपियों को, प्रत्यक्ष प्रकट होकर भगवान ने सन्तुष्ट किया था।

इस तर्क के अतिरिक्त नन्ददास ने यह भी कहा है कि इस मधुरलीला में शृंगार नहीं है—

जे पंडित शृंगारग्रन्थ मत यामें सानें।

ते कछु भेद न जानें, हरि को विषई मानें।^२

इसका आशय यह है कि कृष्णभक्त कवियों ने हरि को ‘विषयी’ रूप में जो चित्रित किया है, उसे वैसा न समझना चाहिए परन्तु इससे यह तो स्पष्ट हुआ ही कि कृष्णभक्तों ने हरि को ‘विषयी’ चित्रित किया है, उनका उद्देश्य भले ही विषयवासना पर सरल ढंग से विजय प्राप्त करना रहा हो और यदि यह सही है तो ‘शक्ति-शक्तिमान’ की रतिलीलाओं को मुखरित करने वाले आगमों

१ जाकों सुन्दर श्याम कथा छिन छिन नइ लागै, ज्यों लंपट पर जुवति बात सुनि अति अनुरागे। तब कहि श्री शुकदेव देव यह अचरज नाहीं।

सर्वभाव भगवान कान्हू जिनके हिय मांही।

—रासपंचाध्यायी, नन्ददास ग्रन्थावली, बजरत्नदास, पृ० १०

२ रासपंचाध्यायी, नन्ददास ग्रन्थावली, बजरत्नदास, पृष्ठ ४१।

का प्रभाव उन पर स्पष्ट है । 'शुद्ध देहधारी' चाहे इस लीला को अपनी चेतना में ही उत्पन्न और लय करते हों, अथवा वे 'हरिधाम' में उसे दिव्यदृष्टि से देखते हों परन्तु जनसाधारण के सम्मुख "महानसाधना" को श्रृंगारिक पदावली में रखने की प्रवृत्ति जो तन्त्रों व आगमों में मिलती है, वही कृष्ण-भक्तों में है और दोनों सम्प्रदायों में शक्ति-शक्तिमान की क्रीड़ा ही इसे बताया गया है—यह कहना सही नहीं है कि चक्रसाधना में तांत्रिक बिना किसी भाव के साधना करते थे—"शारीरिकरति" स्वयं अपने में मुक्तिदायी नहीं है, वह सहायकतत्त्व है, मुक्तिदात्री तो मानसिक स्थिति है । किस प्रकार साधक ऐन्द्रिक आनन्द को ग्रहण करता है, किस प्रकार वह उसे अतीन्द्रिय आनन्द में सहायक बनाता है, इसी बात को तन्त्रों में महत्वपूर्ण माना गया है, अतः मानसिक स्थिति बदल जाने पर एक ही क्रिया जो बन्धक थी व मुक्तिदा बन जाती है, अतः 'शक्तिवादियों' ने सभी इन्द्रियों की तृप्ति के आवश्यक उपकरण जुटाने को आवश्यक माना था । इसी तरह कृष्णभक्त आचार्य एक विशेष मानसिक स्थिति बनाकर तब शक्ति-शक्तिमान की "रमणलीला" का आस्वादन करते हैं, विशिष्ट मानसिक स्थिति के अनुसार ही लीला का फल मिलता है, एक 'कामी'—भावहीन व्यक्ति उक्तपदों को पढ़कर पतनोन्मुख होगा और भावपूर्ण व्यक्ति कामवासना पर विजय प्राप्त कर लेगा । विलासियों और विरक्तों ने एक साथ इस 'रमणलीला' से लाभ उठाया, वर्णन एक किन्तु फल दो । प्रश्न हो सकता है कि ऐसी खतरनाक साधना के आविष्कार से क्या लाभ है ? तन्त्रों ने कहा था कि कलियुग में कामी लोगों के लिए यह साधना आकर्षक लगेगी अतः उनके साधनोन्मुख हो जाने पर विवेक की उत्पत्ति की सम्भावना रहेगी । पहले साधना अनिवार्य है, फिर चित्त शुद्ध होने पर साधना का मर्म स्वयं समझ में आ जाता है, अतः येन केन प्रकारेण साधना में मन लगाना ही श्रेयस्कर है । इसीलिए कृष्णभक्तों ने भी 'रचि' का ध्यान रख कर किसी भी प्रकार भगवान की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए मधुराभक्ति का प्रचार किया था । नन्ददास ने भगवान के कामकलाविलास द्वारा कामदेव को पराजित करने की बात कही है—

विलसत विविध विलास हास नीबी कुच-परसत ।

सरसत प्रेक्ष अनंग, रंग नव धन ज्यों बरसत ।

तहं आयो यह मोन पंचसर कर हैं ताके ।

अह्मादिक कों जीति बड़ि रह्यो अति मव ताके ।

निरखि ब्रजबधू संग रंग भरे नवकिसोर तन ।

हरि मनमथ करि मन्थौ उलटि वा मन्मथ को मन ।

मुरछि पर्यौ तब सैन कहं धनु कहूं निषंग सर ।^१

मन्मथ-विजय की सरलतम विधि क्या हो सकती है ? मन्मथमोहक भगवान का आविष्कार और मन्मथ को भी स्तम्भित कर देनेवाली रतिलीलाओं का ध्यान ! यहीं काव्य की आवश्यकता है क्योंकि वर्णन यदि नीरस है तो साधना का लक्ष्य पूर्ण नहीं होगा । और यदि वर्णन सरस और सुन्दर है तो सहृदय-मात्र को आकर्षित करेगा चाहे वे किसी धर्म, जाति या वर्ग के हों । चूँकि मनुष्यमात्र शृंगारप्रिय है अतः शृंगार द्वारा वासनाविजय का परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाला सिद्धान्त आविष्कृत हुआ और उसका कवियों ने प्रचार किया । यह स्मरणीय है कि श्रीमद्भागवत का कृष्णभक्तों के पूर्व अधिक प्रचार न था । रामानुज ने भागवत को अधिक महत्व नहीं दिया था, किन्तु वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्य श्रीमद्भागवत को ही आधार मानकर चले और इस प्रकार उसके माध्यम से तान्त्रिक प्रभाव का प्रवेश हुआ ।

नन्ददास के अनुसार रासलीला वासनाविजय के लिए है ।^२ सूर के रास-वर्णन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है । गोपियाँ रास के पूर्व भगवान से प्रार्थना करती हैं कि आप हमें “कुलधर्म” का उपदेश न करो, अपनी भुजाओं में हमें भर लो और अंक में बैठकर संसार से पार लगाओ ।^३ और तब भगवान ने सोचा कि मुझे छोड़कर यह अन्य किसी की आराधना नहीं करती हैं, इन्होंने ‘विधि’ मर्यादा और ‘लोक की लज्जा’ दोनों पर विजय प्राप्त करली है, अतः इनके साथ ‘रासरस’ रचकर इन सबके साथ विलास करना चाहिए ।^४

इस रासरस की ‘नायिका’ या स्वामिनी श्री राधा हैं ।^५ इस रास द्वारा भगवान ने अनुपम लीला प्रदर्शित की और सभी गोपियों की विलासकामना को एक साथ ही पूर्ण किया ।

१ रासपंचाध्यायी, नन्ददासग्रन्थावली ।

२ भाषा दशमस्कन्ध, नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० २१८

३ सूरसागर, भाग १, पृ० ६१५

४ वही, पृ० ६१६, ६१७

५ वही, पृ० ६१८

इसका तात्पर्य यही है कि काम को भी साधना में सहायक बनाया जा सकता है ।

इस राससाधना का अद्भुत वर्णन वैष्णव कवियों ने किया है ।^१ इस रास में भगवान के साथ रति करने के लिए देवताओं को भी उत्सुक बताया

१ जुबती जुरि मंडली बिराजै, बिच बिच कान्ह तरुनि-बिच भ्राजै ।
अनुपम लीला प्रकट दिखाई, गोपिन की कीन्ही मनभाई ।
बिच श्री स्याम नारि बिच गोरी, कनकखंभ मरकत खचि ठोरी ।
—सूरसागर, पृ० ६१८

रास मंडल बने स्याम स्यामा ।
नारि बुहुंपास, गिरिधर बने, बुहुंनि बिच —
ससि सहस बीस द्वादस उपाया—सूरसागर, पृ० ६१८, भाग १

ललकत स्याम मन ललचात ।
षट सहस दस गोपकन्या, रैन भोगी रास ।
एक छिन भई कोइ न न्यारी, सबनि पूजी आस ।—वही, पृ० ६६१

बाहु कंध परिरंमन चुम्बन महामहोच्छ्व रासविलास ।
सुर विमान सब कौतुक भूले, कृष्ण 'केलि' परमानन्दवास ।
—परमानन्दसागर, पृ० ७३

ललित ग्रीव भुज मेलत, कबहुं कं अंकमाल भरि भेलत ।
चार चुंबन अरु अगार, धरत तिय-मुख चंद में ।
उड़त अंचल, प्रगट कुच वरग्रन्थि कटि-तट पट छुटै ।
बढ़्यौ रंग सु अंग स्यामा, चित हावभावनि लुटै ।—कुम्भनदास,
पृ० २५

प्रष्टव्य अन्य पद — गोविन्दस्वामी, पृ० २४-३० तथा छीतस्वामी,
पृ० २

गया है ।^१ मर्यादा की रक्षा के लिए सूरदास ने शक्तियों के साथ शक्तिमान का गन्धर्व विवाह करा दिया है^२ । और “दूल्हा-दुलहिन” को ‘कोकलानिपुण’ कहा है ।^३

रासलीला को अमित विस्तार नन्ददास ने दिया और उन्होंने उसके मर्म पर भी प्रकाश डाला है । नन्ददास की व्याख्या में रास का प्रतीकात्मक अर्थ भी दिखाई पड़ता है । उदाहरण के लिए कृष्ण के वेणुनाद को वह सृष्टि के मूल में अव्यक्त रूप से स्थित नाद कहते हैं ।^४ उनके अनुसार वैष्णवों का रमण-लीलापथ ‘रंगीलो पथ’ है, केवल गोपियों को ही इसमें प्रविष्ट होने का अधिकार था, वही वेणु से निःसृत अमृतमय नाद को सुन सकी थी^५ । उनके अनुसार रंगीलेपथ का ध्यान करने से जीव को भृंगीगति प्राप्त होती है । इसीलिए संसार में मग्न अज्ञानी जीवों के लिए रास को दीपक के समान बताया गया है ।

इस रासलीला का मानसीध्यान इस प्रकार किया जाता है—

कमल वदन पर अलकनि कहुँ कहुँ श्रम जल भलकनि ।

सदा बसो मन मेरे, मंजु मुकुट की लटकनि ।^६

नन्ददास ने स्पष्ट कहा है कि नेत्रहीन लोगों के लिए भगवान की रतिलीला प्राकृतरतिक्रीड़ा मात्र है किन्तु प्रज्ञावान लोगों के लिए वह दिव्य रति है ।^७ लीलाधारी कृष्ण इन्द्रियगामी नहीं हैं, क्योंकि वह सभी हृदयों में व्याप्त हैं । उनका स्वरूप नित्य, अखंड और आनन्दमय है । प्रेम द्वारा ही वह स्वरूप

१ हमकों विधि ब्रजबधू न कीन्हीं, कहा अमरपुर बास भएँ ।

बार बार पछताति यहै कहि, होतो हरि संग रहै ।—सूरसागर, पृ० ६२०

२ दुलहनि दूल्हा स्यामास्याम ।

३ कोकलानिपुण परस्पर, बेखत लज्जित काम ।—वही, पृ० ६१९

४ तब लीन्ही कर कमल जोग माया सो मुरली ।

जाकी धुनि तैं अगम निगम प्रगटे बड़ नागर ।

५ नाद ब्रह्म की जननी, मोहिनी सब सुखसागर,—रासपंचाध्यायी, पृ० ८
नाद अमृत को पंथ रंगीलो सूक्ष्म भारी—तिहि ब्रज तिय भले चलीं, आन
कोऊ नहि अधिकारी—वही, पृ० ८

६ वही, पृ० ३५

७ रासपंचाध्यायी, पृ० ३७

अनुभूत होता है, गोपियों में वह स्वरूप स्फुरित हुआ था ।^१ नन्ददास ने यह भी कहा है कि गोपियों का भगवान के प्रति प्रथम कामभाव था जिसमें स्वार्थ भी सम्मिलित था किन्तु शनैः शनैः वह कामभाव निःस्वार्थ प्रेम में विकसित हुआ था ।^२ जिस प्रकार भी मन भगवान में लीन हो, नन्ददास के अनुसार वही उपाय वैध है, ब्रजवालाओं ने उत्कट कामरस द्वारा शुद्ध प्रेमरस को प्राप्त किया था ।^३ तात्पर्य यह है कि कामभाव और आध्यात्मिक अनुभूति में विरोध नहीं है । इसी सिद्धान्त के लिए जिस प्रकार आगमों में विस्तृत मंडल, चक्र आदि का विधान किया गया था, उसी प्रकार वैष्णवों ने रासमंडल में केलि-विधान किया है । नर्तककृष्ण व नृत्यनिपुणा राधा, “शिव-पारवती” के ही आदर्श पर निर्मित हुए हैं । चक्रों में वृत्ताकार, चक्राकार अथवा पंक्तिवद्ध रूप में, जिस प्रकार साधकगण बैठते थे उसी प्रकार रास के लिए “मंडल” की व्यवस्था की गई है । योगियों के अष्टदलकमलचक्र के ही अनुकरण पर रासमंडल रचा गया है, ऐसा स्पष्ट संकेत नन्ददास के काव्य में मिलता है ।^४

नन्ददास ने रासमंडल पर स्पष्ट ही आगम का प्रभाव स्वीकार किया है—

जग में जो संगीत नाटि जेहि जगत् रिभायो ।

अस ब्रज तियन कौ सहज गमन यौ आगम गायो ।^५

वल्लभ-सम्प्रदाय के काव्य में ‘विरह’ व ‘वात्सल्य’ का महत्व—यद्यपि आचार्य वल्लभ ने भगवान की ‘निकुंजलीला’, ‘चीरहरण’, ‘रासलीला’ आदि रतिक्रीड़ापरक दृश्यों को मानसी-ध्यान के रूप में स्वीकार किया है तथापि सामान्य जन के पतन के भय से उन्होंने वात्सल्य और विरह वर्णन पर अधिक

१ श्रीकृष्ण सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० ४५

२ वही, पृ० ४६

३ वही, पृ० ४७

४ आरम्भित तब रुचिररास अवभूत सुलास तहं ।

अमल अष्टदल कमल, महामंडल मंडित तहं ।

मधि कमनीय करनिका तापर बिबि किसोर वर ।

पुनि द्वं द्वं गोपी करि, हरि मंडित मंडल पर-

वही, पृ० ४७

५ श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ० ४७

का नहीं।^१ सूर की गोपियाँ 'कामकेलि' की भूखी है^२, काम का नाश उन्हें प्रिय नहीं है। सूर ने नाना चक्रों का वर्णन करने वाले कुडलिनी-योगियों को नीचा दिखाने के लिए राधाकृष्ण के शरीर में सारे ब्रह्मांड का दर्शन किया है—

बेखि रे प्रगट द्वादस मीन ।

ऊधौ एक बार नन्दलाल राधिका, आवत सखी सहित रस मीन ।

षट उड़गन, षट मनि धरहू राजत हैं, चौबिस धातु चित्र केहि कीन ।

षट इंडु द्वादस पतंग मनु मधुप सुनिखग चौवन माधुरि रसपीन ।

द्वादस बिम्ब, सौ वानबं बज्रकन, षट दामिनि जलजनि हंसि बीन ।

द्वादस धनुष द्वादसै विषका मोहनमन षट चिबुकचिन्ह चितचीन ।

चौबिस क्षतुस्सद ससि सौबीस मधुकर, अंग अंग रस कंज नवीन ।^३

अब उद्धव पिंड में नाना चक्रों व अन्य पदार्थों की उपस्थिति दिखाकर योगमार्ग की उच्चता कैसे प्रमाणित कर सकते हैं ? इस प्रकार भ्रमरगीत में आगममूलक साधना का ही गुणगान किया गया है ।

नायिका भेद पर तांत्रिक प्रभाव—यद्यपि कामशास्त्र में वर्णित नायिका भेद को वैष्णव कवि आधार मानकर चले हैं किन्तु नायिका भेद को जो साधनात्मक रूप वैष्णव कवियों ने दिया है उस पर एक सीमा तक तांत्रिक प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। तन्त्रों में नायिका भेद अधिकतर जाति के आधार पर किया गया है। इसके अतिरिक्त नायिकाएं आनन्द को उद्दीप्त करने वाली मानी गई हैं, इसी उद्दीप्त आनन्द की आहुति ब्रह्मानन्द में देकर तांत्रिक साधक मानवीय जीवन और पारलौकिक जीवन में एकता स्थापित किया करते थे। नन्ददास ने लिखा है कि संसार में जो रस है उसका आधार ब्रह्म ही है। जैसे नाना सरिताएं समुद्र में ही समाती हैं, उसी प्रकार सभी रस, जाने या अनजाने, ब्रह्म में ही सम्मिलित होता है। प्रेमरस ब्रह्म के ही कारण है

१ सौति धरौ यह जोग आपनौ, ऊधौ पाइ परौ ।

कहं रसरौति, कहाँ तनसोधन, सुनि सुनि लाज मरौ ।

अंदन छाड़ि बिभूति बतावत, यह दुख कौन जरौ ।

सगुन रूप जु रहत उर अन्तर, निरगुन कहा करौ ।—बही, पृ० १४५५

२ हम तो काम्ह केलि की भूखी—

—बही, पृ० १४६५

३ सूरसागर; जिल्द २, पृ० १५०३

और ब्रह्म के ही कारण वह शोभित होता है ।^१ क्योंकि सब रूप प्रेम आनन्द और रस भगवान का ही है, अतः नन्ददास “निर्भय” होकर नायिकाभेद प्रस्तुत करते हैं—

रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग में आहि ।

सो सब गिरिधर बेव को, निधरक बरनों ताहि ।^२

इस प्रकार कृष्ण के प्रति रति के लिए नायिकाभेद का पठन-पाठन भक्तों के लिए अनिवार्य हो गया क्योंकि भगवान की गूढ़रति को लौकिक प्रेम के उद्घाटन द्वारा ही ध्यान का विषय बनाया जा सकता था—

जब लगि इनके भेद न जानै, तब लगि प्रेम न तत्व पिछानै ।

बिन जानें यह भेद सब, प्रेम न परिचय होइ ।

चरनहीन ऊंचे अचल, चढ़त न देख्यौ कोइ ।^३

अर्थात् जब तक भगवान के रतिचक्र में शामिल होने वाली शक्तियों के रूप, गुण, अवस्था आदि का पता नहीं चलता तब तक उनकी रति के स्वरूप का अनुकरण नहीं हो सकता । नन्ददास लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में सहायक मानते थे । उनका रूपमंजरी नामक एक स्त्री से प्रेमसम्बन्ध था, ऐसे प्रमाण मिलते हैं । उसके कहने पर ही उन्होंने रसमंजरी लिखी थी । आगे चलकर रीतिकालीन कवियों ने काव्यपद्धति के रूप में नायिकाभेद को स्वीकार किया यद्यपि उनमें जो साधक थे वे नायिका भेद का वास्तविक मर्म समझते थे । शुद्धभावदेह के अभाव में नायिका-भेद एक प्रचलित ‘फैशन’ के रूप में अपनाया गया था किन्तु भक्त कवियों ने उसका आन्तरिक रूप ही ग्रहण किया है, यही कारण है कि रीतिकाल में वह उच्च मानसिक स्थिति नहीं मिलती जो अष्टछाप के कवियों में मिलती है । अष्टछाप के कवि भगवान की रति का निःस्पृह होकर वर्णन करते हैं ।

आचार—हमने आचार्यों के दर्शन के प्रसंग में वैष्णवों की उपासना-पद्धति पर कुछ प्रकाश डाला है । कवियों ने उसी को काव्य रूप में प्रस्तुत किया है ।

गुरु और दीक्षा—बल्लभमत में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है । जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध गुरु ही कराता है । अष्टछाप के कवि गुरु व कृष्ण को इसीलिए एक मानकर चले हैं—

१ रसमंजरी, पृ० ३६ । नन्ददास, प्रथम भाग, सम्पा० उमाशंकर शुक्ला, प्रयाग, १९४२ ई०

२ वही, पृ० ३६

३ वही

“मैं तो सब श्री आचार्य महाप्रभून को ही जस वर्णन कियो है । कछु न्यारी देखूं तो न्यारी करूं ।”^१

गुरु के सम्बन्ध में “भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो” पद बहुत ही प्रसिद्ध है । छीतस्वामी गोविन्दस्वामी आदि ने कृष्ण की ही तरह गुरु की लीला का भी गायन किया है ।^२

गुरु और कृष्ण को एक मानने के कारण परवर्ती गुरुओं ने अपने को कृष्ण समझ कर स्त्रियों के साथ वाकायदा रासलीला भी शुरू कर दी थी ।^३

मंत्र—नामतत्व पर हम पीछे लिख चुके हैं । आगमों ने मंत्र को जो महत्व दिया था वह वैष्णवों व सन्तकवियों द्वारा मान्य है । नाम या मंत्र के महत्व के विषय में सब सन्त और भक्तकवि एकमत हैं । सूरदास ने लिखा है—

अद्भुत रामनाम के अंक ।

धर्म अंकुर के पावन द्वे बल, मुक्ति बधू ताटक ।

मुनिमन-हंस-पच्छ जुग जाकें, बल उड़ि ऊरध जात ।

जनममरन काटन कौं कर्त्तरि, तोछन बहु विख्यात ।^४

परमानन्ददास ने भी हरिनाम को सुखदाता, प्रीति उत्पन्न करने वाला और ब्रह्मानन्द का उद्दीपक कहा है ।^५

वैष्णव भक्तों में तन्त्रों की तरह ही जो सहस्र नाम प्रचलित हैं उनका मनोवैज्ञानिक कारण यही है कि साधना का आरम्भ नाम से ही होता है ।

१ भारतीय साधना और सूरसाहित्य से उद्धृत, पृ० २४२, डा० मुन्शीराम शर्मा संवत् २०१०, कानपुर ।

२ (घ) अबकें द्विजवर ह्वे सुख दीनों ।

तब कीनो गोपाल रूप अब वेद समृति दृढ़ कीनो ।—छीतस्वामी पृ० ४

(ब) पिय नवरंग गोवर्धन धारी ।

अमिनव रस सिंगार सरस, श्री विट्ठल प्रभु चित चारी-वही, पृ० ६

(स) गोविन्दस्वामी, पृ० २१० ।

(द) कुम्भनदास पृ० ३१

३ बल्लभाचार्य—मनीलाल सी० पारीख

४ सूरसागर, भाग १, पृ० २६

५ हरिजूकोनाम सब सुख दाता, करौ जु प्रीति निदिखल मेरे मन आनखमूल विधाता ।—परमानन्दसागर, पृ० २६०-२६१

नन्ददास ने रूप मंजरी में नवधाभक्ति को दो भागों में विभाजित किया है—
१ नादमार्ग, २ रूपमार्ग । श्रवण, कीर्तन और स्मरण में नाद प्रक्रिया मानी गई है और रूपमार्ग में पादसेवन, अर्चन और वन्दन की गणना की गई है ।^१

इस विभाजन से स्पष्ट है कि भक्तों की नामसाधना आगमों की तंत्र-साधना का ही एक रूप है । नामस्मरण और कथाश्रवण से साधक की चेतना स्पन्दित हो जाती है और नाना तरंगों उत्पन्न हो जाती हैं । पुनः तरंगों के शान्त हो जाने पर मूर्ति का उदय होता है । इसी आन्तरिक मूर्ति की उत्पत्ति के लिए अष्टछाप के कवियों ने हरिसेवा का विस्तृत वर्णन दिया है । इस प्रकार रूप अर्थात् मूर्ति की उत्पत्ति नाम साधना से सम्बन्धित है ।

रूप—रूप का आन्तरिक रूप हम स्पष्ट कर चुके हैं । सेवा के द्वारा जिस रूप की सृष्टि होती है, वही रूप भक्तों का सर्वस्व है । भक्त-कवियों ने इसी-लिए सेवा के समय भगवान की छवियों का ही अधिक वर्णन किया है । चतुर्भुजदास के अनुसार मंदिर और मूर्ति का महत्व इसीलिए अपरिमित है । ब्रजवासी ही इस रीति को जानते हैं कि मदनगोपाल की सेवा, अर्थात् आन्तरिक मूर्ति की सेवा मुक्ति से भी मधुर है—

ब्रजवासी जानें यह रीति ।

करत महल में टहल निरंतर, जाम जात सब बीति ।^२

तथा

सेवा मदनगोपाल की मुक्ति हू ते मोठी ।

जाने रसिक उपासिका, शुक्र मुख जिन दीठी ।

चरणकमल रजमन बसी, सब धर्म नहाए ।

श्रवण, कथन, चितन बढ़यो पावन गुन गाए ।

वेद पुरान निरूपि मैं रस लियो निचोड़ ।

पान करत आनन्द भयो डार्यो सब छोड़ ।

परमानन्द विचारि के परमार्थ साध्यो ।

रामकृष्ण पद प्रेम बढ़यो रस बाध्यो ।^३

अर्थात् सेवा का फल है 'इष्टदेव' की आन्तरिक-स्फुरत्त, जिसके कारण

१ अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५३८

२ अष्टछाप व बल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५८०

३ वही पृ० ५८१

साधक में आनन्द का पुनः आविर्भाव हो जाता है। इस मत में नित्य और नैमित्तिक आचारों का कवियों द्वारा विस्तृत वर्णन हुआ है। ये मूर्ति, मंदिर, देवता की सेवा से सम्बन्धित आचार वैदिक विधि के समानान्तर आगमों में विकसित आचारों से प्रेरित होकर ही निर्मित किये गये हैं।

महात्म्य—सारा कृष्णकाव्य इष्टदेव तथा उनकी लीला में सम्मिलित सरिता, पर्वत, वृक्ष, भक्त, शक्ति आदि का महात्म्य गायन मात्र है। आगमों की स्तोत्र परम्परा का विशिष्ट विकास ही कृष्ण काव्य में हुआ है। स्तोत्रों की विशेषता यह थी कि उनमें इष्टदेव के रूप, गुण, वेष-भूषा, वाहन, अस्त्र शस्त्र, वरदशक्ति और देवता के पूर्व समय में किये गये कार्यों का कवित्वपूर्ण वर्णन रहता था। स्तोत्रों में इष्टदेव का महात्म्य ही गाया गया है। आनन्द-लहरी आदि काव्य भक्ति स्तोत्र ही कहलाते हैं।

वल्लभमत के कवियों ने ब्रज और ब्रजाधीश की लीलाओं के महात्म्य-गायन में अपूर्व प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। क्षेत्र, लीला और गुरु आदि का जो महत्व है उसका भी विपुल वर्णन इस काव्य में मिलता है। छीतस्वामी ने गुरु महात्म्य वर्णन में गुरु को आनन्ददाता^१ पतितपावन, मनभावन, भवसागर तरिखे को अवलंबन, अनाथ के नाथ, भक्तों को अभयदानदाता, मायावाद विनाशक और भक्ति विधायक कहा है।^२

परमानन्ददास ने गुरु के अतिरिक्त गंगा, यमुना, भक्ति, राधा, ब्रजभूमि और भक्तों के समाज का महात्म्य गाया है।

गोपीमहिमा—

गोपी प्रेम की ध्वजा।

जिन गोपाल कियो बस अपने उरधरि स्याम भुजा ॥

भक्ति महात्म्य—

माधो या घर बहुत धरी।

कहन सुनन कौं लीला कीन्हों, मरजावा न टरी।

जो गोपिन के प्रेम न होती, अरु भागवत पुरान।

तो सब औधड़ पंथहि होतो, कथत गमैया ज्ञान।

बारह बरस कौं भयो दिगम्बर, ग्यानहीन संन्यासी।

१ छीतस्वामी, पृ० ४

२ वही, पृ० ५ से १६ तक

खानपान घरघर सबहिन के, भसम लगाय उदासी ।

पाखंड दंभ बळ्यो कलिजुग में श्रद्धा धर्म भयो लोप ।

परमानंददास वेद पढ़ि बिगरे, कापे कीजें कोप ।

ब्रजभूमहिमा—

धनि धनि वृन्दावन के वासी ।

नितप्रति चरनकमल अनुरागी, स्यामास्याम उपासी ।

स्त्री गोकुल के लोग बड़ भागी ।

नित उठि कमल नयन मुख निरखत, चरन कमल अनुरागी ।

प्रार्थना का महात्म्य—

हरि के भजन में सब बात ।

ग्यान करम सौ कठिन करि कत देत हौं दुखगात ।^१

सूरसागर में रास के समय देवताओं तथा उद्धव के द्वारा ब्रज व गोपी महात्म्य के विषय में पद मिलते हैं। छीतस्वामी ने गुरु के अतिरिक्त यमुना, बलभद्र, वृन्दावन आदि का महात्म्य गाया है। इसी प्रकार अन्य कवियों में महात्म्य परम्परा मिलती है। तंत्रों में महात्म्य का उद्देश्य था, देवतादि में लाभ पहुँचाने की सामर्थ्य बताकर साधकों को आकर्षित करना, यही परम्परा उक्त कवियों में भी सुरक्षित है—भक्तिमार्ग के प्रति आकर्षण तथा कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए ही महात्म्य विस्तार इस काव्य में किया गया है।

अभिव्यञ्जना पद्धति—वैष्णवभक्तों ने संस्कृत की जगह ब्रजभाषा को सांस्कृतिक भाषा का पद दिया था। अन्य लोकभाषाओं को भी भक्तों द्वारा यही सम्मान मिला। भगवान् कृष्ण जिस भाषा में यशोदा से दधियाचना करते थे भला उस भाषा का गौरव कैसे न बढ़ता ?

काव्य स्वरूप की दृष्टि से यह काव्य स्तोत्र परम्परा का काव्य है, यह हम कह चुके हैं। आनन्दलहरी में शक्ति का जो सौन्दर्य वर्णन मिलता है तथा संस्कृत काव्य में शैवों ने शिव-पार्वती प्रणय का जो वर्णन किया है, वह वैष्णव कवियों के लिए प्रेरणामूलक रहा है। जयदेव ने गीतगोविन्द में आनन्दलहरी की “क्वणत कांची दामा करिकलभकुम्भस्तनभरा” शक्ति ही राधा के रूप में वर्णित हुई है। आगमों के शक्तिवाद से प्रभावित होकर, ब्रह्म

की अंतरंगा शक्ति के रूप में राधा की कल्पना करके राधा-कृष्ण-विलास को ही कृष्णभक्तों ने अपना विषय बनाया है। अतः सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य आदि जननी व आदिपुरुष अथवा अव्यक्त चिरकिशोर और चिरकिशोरी तत्त्व का ही विलास-गायन मात्र है। यह विलास प्रत्येक परमाणु में नित्य रूप से हो रहा है, एक तत्त्व को केन्द्र बना कर नाना शक्ति पुंज उसके चारों ओर घूम रहे हैं, यही रास है, यही प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य है। अतः वैष्णवकाव्य स्वरूपतः शाक्त काव्य है किन्तु आगमों से प्रेरणा लेकर भक्तकवियों ने मौलिक काव्य की सृष्टि की है। उन्होंने नाना नूतन उद्भावनाएँ की हैं। सूक्ष्म सिद्धान्तों को रूप, भाव और अभिव्यक्ति दी है।

कृष्णकाव्य का सबसे प्रिय छन्द पद है। इसका सम्बन्ध आदि सिद्ध सरहपा से दिखाई पड़ता है। जयदेव के गीतगोविन्द में भी पदों से मिलते जुलते छंद हैं। कृष्णकवियों ने इसी पदपरम्परा को स्वीकार किया है।

प्रतीकात्मकता—यद्यपि कृष्ण-काव्य में अभिव्यक्त साधना में प्रत्येक पदार्थ भगवान का ही रूप माना जाता है, इसलिए भक्तों को मन्दिर और मूर्ति आदि को प्रतीक रूप में ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी कृष्ण की मनोहर लीलाएँ, विराट-प्रकृति-व्यापार, जो पिंड और उसके बाहर प्रत्येक क्षण हो रहा है, की प्रतीक भी मानी जा सकती है क्योंकि लीला बाह्य नहीं है, आन्तरिक है। साधक अपनी चेतना द्वारा इस लीला का सृजन और लय करता हुआ उसी में लवलीन रहता है।

विपरीतकथन-पद्धति — रसमार्गी भक्तकवियों ने सन्तकवियों की भड़कीली काव्य-पद्धति को स्वीकार नहीं किया है। सूरदास के वल्लभमत में दीक्षित होने के पहले कुछ पद अवश्य मिलते हैं जिस पर कबीर का प्रभाव दिखाई पड़ता पड़ता है।^१ भक्ति की दीक्षा के बाद भी सूर ने साहित्यलहरी में दृष्टिकूट लिखे हैं जिनमें साधना को चमत्कारक ढंग से व्यक्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती

१ जो लौं सरास्वरूप न सूझत ।

तौ लौं मृगमद नाभि विसारे, फिरत सकल बन बूझत ।

(अ) अपुनपौ आपनुही में पायो ।

शब्दाहि शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ।

(ब) ब्रष्टव्य-अपुनपौ आपुनही विसरयो तथा धोके धोके ही डहकायो आदि ।

भारतीय साधना और सूरसाहित्य से उद्धृत, पृ० ८७

है। सत्य के गोपन का प्रयत्न सभी आगमों से प्रभावित रहा है। कहा गया है कि देवता को परोक्ष-गायन ही प्रिय होता है, अतः कलाप्रदर्शन के साथ-साथ सत्य के परोक्ष-गायन की प्रवृत्ति भी इन पदों में मिलती है।^१

हितहरिवंश सम्प्रदाय के भक्त कवियों पर तांत्रिक प्रभाव—यद्यपि सखी-भाव वल्लभमत में भी स्वीकृत है तथापि राधावल्लभ सम्प्रदाय व हरिदास के सखीसम्प्रदाय में इसका विशेष विकास हुआ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय अपने को नितान्त मौलिक मानता है। हमने सन्तकवियों के अध्ययन में देखा है कि जो अपने को नितान्त मौलिक कहते हैं उन पर तांत्रिक प्रभाव और भी अधिक मात्रा में प्रमाणित होता है, अतः इन मौलिक मतों के कवियों को हमने वल्लभमत से अलग विवेचन का विषय बनाया है।

प्रमाणग्रंथ शीर्षक निबन्ध में ललिताचरण गोस्वामी ने यह स्वीकार किया है कि “यद्यपि विष्णुतत्त्व प्राचीन है तथापि प्राचीन वैदिक साहित्य में विष्णु-किंवा नारायण की उपासना पद्धति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इस ग्रंथ की पूर्ति वैष्णव आगम ने की है जो अपने को वेदों का ग्रंथ मानता है और अपना सम्बन्ध वेद की एकायनशाखा से बतलाता है। आगमों का प्रथम कार्य वेदों के हिंसाबहुल यज्ञों के स्थान पर हिंसाशून्य यज्ञों का प्रचार करना था और दूसरा कार्य विष्णुकिंवा नारायण को परमतत्त्व मानकर एक सरस एवं समृद्ध उपासना पद्धति का विकास करना था। आगमों में वेद प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का स्वतन्त्र दृष्टि से विचार किया गया है।”^२

स्पष्ट ही उक्त लेखक आगमों को वैष्णव सम्प्रदाय का मूल स्रोत मानता है। उक्त लेखक का मत है कि हितहरिवंश मत में दार्शनिकवाद के लिए स्थान नहीं, यहाँ प्रेमतत्त्व की ही स्वीकृति है। किन्तु भागवत् के प्रेम तत्त्व

१ परोक्ष प्रियाह वं देवा-द्रष्टव्य सूरनिर्णय, प्रभुव्याल मीतल, मथुरा, पृ० ३०३

(अ) दृष्टिकूट का उदाहरणः—ऊधो जू मन की मनहि रही।

पंचमुख दृग आठ जाके द्वादश चर न यही।

आठ नारी द्वं भरतारी, जुगल पुरुष इक नारी गही।

चारि वेद दुहि ललो सांवरौ नैनन सेन बई।—परमानन्दसागर, पृ० ३२१

२ श्रीहितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य-ललिताचरण गोस्वामी, बृन्दावन, संवत् २०१४, पृ० ५७-५८

से इस मत का प्रेमतत्त्व कुछ भिन्न है। अतः हितहरिवंश की वाणी ही प्रमाण मानी गई है। भागवत या अन्य पुराण नहीं। इसीलिए इस मत में हितहरिवंश के पद तथा उनके राधासुधानिधि नामक ग्रन्थ के ही भाष्य मिलते हैं।

हित या प्रेम तत्त्व—इस मत में प्रेम व भगवान को अभिन्न माना गया है। प्रेम को कुछ लोगों ने “शक्ति और भगवान” के अर्थात् शक्ति और शक्तिमान के रूप में भी ग्रहण किया है। किन्तु ललिताचरण जी के अनुसार इस मत में जीव व भगवान दोनों को प्रेम के अधीन बताया गया है। प्रेम को ही हित कहा गया है। प्रेम दो तत्त्वों के सम्बन्ध विशेष का नाम है। अतः यह दोनों की एकता स्थापित करता है।^१

किन्तु प्रेम की यह परिभाषा स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न तो यह होगा कि ये दो तत्त्व कौन हैं। निश्चित रूप से ये दो तत्त्व राधा और कृष्ण हैं और ये शक्ति और शक्तिमान के ही भिन्न नाम हैं।^२ श्री ललिताचरण ने भी राधा और कृष्ण को भोक्ता और भोग्य कहा है और इन दोनों की प्रीति को अपने व्यक्तित्व में प्रतिबिम्बित करने वाले जीवों को ही सखी कहा गया है।^३ स्पष्ट ही इस विवेचन से शक्ति और शक्तिमान का सिद्धान्त ही पुष्ट होता है।

नित्य विहार—कहा गया है कि एक ही प्रेमतत्त्व राधा, कृष्ण व सहचरी-गण व वृन्दावन के रूप में प्रकट होता है अतः इनकी रसमयी क्रीड़ा का नाम “नित्यविहार” है। अद्वैतवाद को पुष्ट करने के लिये कहा गया है कि प्रेम या हित ही क्रीडक है और वही क्रीड़ा है—

जो है नित्य विहार रस, वंभव हित अभिलाष।

सोई खिलारी खेल सो, आपुहि करत विलास।^४

राधाकृष्ण की रति का ऐक्य ही सहचरीतत्त्व है, इसे “हितसंधि” भी कहा गया है। राधाकृष्ण अद्वय अवस्था से लीलाधारी द्वैत रूप धारण करते हैं,

१ श्री हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय पृ० ७६

२ राधासुधानिधि स्तोत्र, ३

३ वही, पृ० ८२

४ श्री हितहरि० गो० सम्प्र० पृ० ८३

क्योंकि वे जीव या सहचरी की व्याकुलता नहीं देख सकते ।^१

निश्चित रूप से प्रेम के मनोहर सिद्धान्त की कल्पना में यहाँ मौलिकता दिखाई पड़ती है किन्तु इसका आधार आगमों का शक्तिवादी सिद्धान्त ही है । राधा की स्तुति और आनन्दलहरी में देवी की स्तुति में अद्भुत सादृश्य है ।^२

आगमों में साधना को आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया गया था । उसकी प्रतिध्वनि सेवक जी के इन शब्दों में मिलती है ।

“मैंने सब अवतारों का भजन करके देख लिया है किन्तु उनमें प्रीति का प्रकाश उतना न होने के कारण मन का पूर्ण आकर्षण नहीं होता । इसके बाद मैंने प्रेम स्वरूप ब्रजेन्द्रनन्दन के महाब्रजवैभव का भजन करके देखा है किन्तु वहाँ अनेक प्रकार की लीलाओं का चक्र चित्त को जमने नहीं देता ।^३

तात्पर्य यह है कि बल्लभमत में लीलाओं की अनन्तता है । अतः उससे भी अधिक आकर्षित करने वाली साधना पद्धति का आविष्कार हितहरिवंश के

१ सो हित संधि सखी जु जब अतिशय ध्याकुल होइ ।

तब प्रगटे हित हीय तें, एक प्रान तन बोइ ॥—वही, पृ० ८६

२ पादांगुली निहितवृष्टिमपत्रपिण्डं

बूरादुवीक्ष्य रसिकेन्द्रमुखेन्दुबिबम् ।

वीक्ष्ये चलत्पदगतिं चरिताभिरामां,

भङ्गार नुपुरवतीं बात कहि राधाम् ।

शिव-शक्ति के नित्यविलास का ही राधा कृष्ण के नाम से नित्य-

विहार राधासुधानिधि में किया गया है—

निज प्राणेशवर्या यदपि दयनीयेयमितिमां

मुहुश्चु बन्ध्यालिगीत सुरतमाध्या मदयति । (श्लोक ५५)

अहो रसिकशेखरः स्फुरति कोपि वृन्दावने ।

निकुंजनवनागरीकुचकिशोर केलिप्रियः । (श्लोक १११)

क्षणं सोत्कुर्वन्ती क्षणमथ महावेपुथमती ।

क्षणं श्यामश्यामेत्य मुमभिलपती पुलकिता ।

महाप्रेमा कापि प्रमदमदनोद्दामरसदा ।

सवानंवा मूर्त्तिर्जयति वृषभानोः कुलमणिः । (श्लोक २०३)

३ श्री हतहरि गोस्वामी सम्प्रदाय, पृ० ८७

द्वारा हुआ था जिसमें प्रेम और प्रमोदरूपिणी राधा को आधार बनाया गया था। इसलिए इस मत पर शाक्त प्रभाव और भी अधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है।

हित की रसरूपता—आध्यात्मिक रस लौकिक रस तथा काव्यरस से भिन्न माना गया है किन्तु गोड़िया भक्तों ने साहित्यशास्त्र की पद्धति पर भक्तिरस का जिस प्रकार वर्णन किया है उस प्रकार इस मत में नहीं मिलता। इस मत में रति या प्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है और राधाकृष्ण को प्रेम का कारण भी माना गया है और कार्य भी। अतः इन्हें रस का आलम्बन मात्र नहीं माना गया क्योंकि जहाँ रस स्वतः ही केलि का प्रयोजक माना गया है वहाँ नायक नायिका की आवश्यकता ही नहीं—

नायक तहाँ न नायिका, रस करवावत केलि ।^१

अर्थात् इस मत में राधाकृष्ण की रति पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। किन्तु यह सब तन्त्रों के कामकला विलास का ही विकास है। कहा गया है कि शिव ने काम को भस्म कर दिया था, राधा ने पुनः जीवित कर उसे पुनः नूतन बना दिया गया था। अतः कामकेलि का वर्णन ही इस मत का उद्देश्य है।^२

द्विबल सिद्धान्त—वल्लभ और चैतन्य ने विरहभाव पर भी बल दिया था। परन्तु यहाँ संयोग और वियोग दोनों की स्थिति एक ही साथ मानी गई है। इसे द्विबल सिद्धान्त कहा गया है। “युगलकिशोर के अंगप्रत्यंग सटे रहने पर भी वे अनमिले अनुभव करते हैं।” विरह का वही रूप इस मत में स्वीकृत है—

मिले अनमिले रहत विवि अंग-अंग अकुलाह ।

प्रेमहि विरह सरूप जहाँ, यह रस कहाँ न जाइ ।^३

इस प्रकार विरह भाव को कम महत्व देने के कारण इस मत में रसकेलि चित्रण की अति मिलती है।

१ श्री हितहरि० गो० सम्प्र० पृ० १०१

२ वही, पृ० १०४

३ वही, पृ० १११ तथा द्रष्टव्य—राधासुधानिधिस्तोत्र, पद्य ४६
अंकस्थितेपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।

वृन्दावन—आगमों और पुराणों के आधार पर वैष्णवों ने वृन्दावन को गोलोक का एक भाग माना था । वृन्दावन को विष्णुपुराण में संधिनीशक्ति का विकास माना गया है ।^१ राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की ही तरह वृन्दावन को नित्यनूतन और नित्य एकरस माना गया है ।^२ उसे परमप्रेम की मूर्ति कहा गया है ।^३ वैकुण्ठ की जगह वृन्दावन को राधाविहारविपिन मानकर तथा लक्ष्मी की जगह “केलिमगना” राधा के स्वरूप को स्वीकार करने के कारण, इस मत पर आगमों का प्रभाव बढ़ा है, घटा नहीं । इस वृन्दावन के कुंज-कुंज में संगमसंजोग और सुख का इसीलिए नित्य अस्तित्व माना गया है—

कुंज कुंज सैन सुखद सैन ऐन कुंज कुंज ।
 कुंज कुंज संगम संजोग सुख निशानी को ॥
 कुंज कुंज संजित शृंगार सौंज नई नई ।
 कुंज कुंज भोग जोग सौंधी मनमानी को ।^४

युगलकेलि—इस मत में लौकिक प्रेम पद्धति पर राधाकृष्ण की कामकेलि का निर्भय होकर वर्णन किया गया है । तांत्रिकों की यामल-साधना और इस कामकेलि में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता—

नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि-
 कुंज कोमल कमल-दलनि सिज्या रची ।
 गौर सांवल अंग रुचिर तापर मिले—
 सरस मणिनील मानो मृदुल कंचन लची ।
 सुरत नीबी निबन्ध हेत प्रिय मानिनी-
 प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची ।
 सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष-
 हुंकार गर्व दृग-भंगिम मामिनि लची ।
 कोटि कोटिक रभस रहसि हरिवंश हित-
 विविध कल माधुरी किमपि नाहित बची ।

१ ललिताचरण गो०, पृ० १४६

२ द्रष्टव्य—राधासुधानिधि—श्लोक २१६, २२१, २६५

३ ललिता०. पृ० १५३

४ वही, पृ० १६२

प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक-

पिवत मकरन्द सुख-रासि अन्तर सची-हितचौरासी^१

राधावल्लभमत की कामकेलि-प्रधानता का यह चरमरूप है। ललितादि सखियाँ अपने लोचनचषक इसी “सुखराशि” से आपूरित करती हैं, इसी लीलादर्शन को इस मत में “पुरुषार्थ” माना गया है। राधाकृष्ण को पति-पत्नी का रूप देकर मौलिकता की घोषणा की गई है—

“शुकदेवजी ने जिस लीला का वर्णन किया है वह भगवान व गोपियों की लीला है। दूल्हा-दुल्हिन की लीला दो समान रसिकों का रसविहार है। यह दोनों केवल रसिक हैं और कुछ नहीं। भगवत्ता और गोपेत्व सहज प्रेम की दृष्टि से विजातीय तत्व हैं।^२

वस्तुतः कृष्ण व गोपी की जगह ‘राधा-कृष्ण’ का पति-पत्नी-रूप प्रतिपादन कोई असाधारण उपलब्धि नहीं है, यह सब पहले ही हो चुका था। आगमों में पग-पग पर कहा गया है कि शिव व उमा पति-पत्नी हैं। जिस प्रकार बिना शक्ति के शिव शिव के समान कहे गये हैं, उसी प्रकार राधावल्लभमत में कृष्ण राधा के सम्मुख अपने को “दीन” और “अधीन” दिखाते हैं—

ऐसी जिय होय जो जिय सों जिय मिलै,

तन सों तन समाया त्यों तौ देखों कहा हो प्यारी।

तोहि सों हिलग, आंखिन सों आंखि मिली रहैं,

जीवन को यहै लहा हो प्यारी।

मोकों इतौ साज कहाँ री प्यारी, हों अति दीन तुववस,

भ्रूवक्षेप न जाइ सहा हो प्यारी।

श्री हरिदास के स्वामी स्याम कहत राखिलैं बांह बल—

हों “बपुरा” कहा—बहा हो प्यारी।^३

राधातत्व — राधावल्लभ सम्प्रदाय में शाक्तों की ही तरह राधातत्व को कृष्णतत्व से अधिक महत्व दिया गया है। राधाकेलि के ध्यान के आगे वेद की भी उपेक्षा की गई है। हितहरिवंश ने लिखा है कि मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा

१ राधा सुधानिधि में श्री हितहरिवंश ने “महालंपटमणि”

कृष्ण का राधा के साथ रति का मुक्ति होकर वर्णन किया है)

२ ललिता०, पृ० १८०

३ केलिमाल से उद्धृत-ब्रह्मव्य-ललिताचरण गोस्वामी, पृ० १६०

ही हैं ।^१ ललिताचरण गोस्वामी ने लिखा है कि हितप्रभु ने अपने प्रेम सिद्धान्त की रचना इस प्रकार की है कि श्री राधा के प्रति उनका सहज पक्षपात शक्तिवाद नहीं बन पाया है ।^२

इस घोषणा में सत्य का अंश इतना ही है कि प्रेम-तत्त्व पर इस मत में आगमों से अधिक बल दिया गया है । परन्तु प्रेमभावना के क्षेत्र में अनेक नये आविष्कार होने पर भी सिद्धान्ततः यह शक्तिवाद का ही पल्लवन है ।

सहचरीतत्त्व—राधावल्लभमत में सहचरीगण भी परात्पर प्रेमरूपा ही हैं । वे राधा-कृष्ण प्रेम में सहायता करती हैं । सहचरियों के प्रेम को युगल के प्रेम से भी सरस कहा गया है क्योंकि इनके प्रेम में “नेम” नहीं होता जबकि युगल के प्रेम में प्रेम और नियम दोनों रहते हैं—

लाल लाड़ली प्रेम तैं सरस सखिनु को प्रेम ।

अटकों हैं निजु प्रेमरस परसत तिनहि न नेम-प्रेमलता^३

युगल को सखियों की इच्छा के अधीन माना गया है । सखियाँ राधाकृष्ण को केलि में निमग्न करने के लिए उत्साहित ही नहीं करती, अपितु कृष्ण के करों से राधा के उरोजों का स्पर्श करने में सहायता भी पहुँचाती हैं ।^४ युगल की आसक्ति के उपभोग को सखियाँ स्वरूप का ही उपभोग मानती हैं ।

शाक्तागमों में शक्ति व शक्तिमान की एकता के दर्शन भी साधक द्रष्टा होकर ही करता है । आनन्दलहरी में देवी के कुचों और कुचों के नीचे ध्यानकेन्द्रित करने को कहा गया है—

१ केलिमाल से उद्धृत-द्रष्टव्य-ललिताचरण गोस्वामी, पृ० २०४—

रहौ कोऊ काहू मनहि दिये ।

मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तुण छिये ।

(इसके सिवा राधा सुधानिधि में राधा का स्तवन शाक्त प्रभाव को स्पष्टतः ध्वनित करता है)

२ वही, पृ० २१६

३ वही, पृ० २२५

४ होत बिबस तब तबही पिय प्यारी, सावधान तहाँ सखी हितकारी ।

कुंअरि अधर पिय अधरनि लावैं, रूपवदन नैननि बरसावैं ।

पिय के कर लैं उरज छवावैं, मनौं मन कौ खेल खिलावहि ।

ऐसी भाँति सब लाड़ लड़ाव ताही सौं अपनी जिय ज्यावैं—रतिभंजरी,

वही, पृ० २२८

मूखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो ।

हकारार्थं ध्यायेद्धरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।^१

“लास्यनिपुणा देवी श्रीर शिव के विहार” का ध्यान शाक्तागमों में विस्तार से वर्णित हैं ।^२ अतः राधा की कामकला को भी यदि जीवरूपी-सहचरियाँ देखती हैं तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है ।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत राधातत्व के विषय में लिखा है कि राधा को परात्परतत्व और सर्वशक्तिमती मानने से उसके शक्तिरूप में उपास्य होने का सन्देह होना स्वाभाविक है । इस सन्देह के निवारण के लिए ये तर्क प्रस्तुत किये हैं—

१—शक्ति की आराधना के लिए तांत्रिक पद्धति में जिन लौकिक कृत्यों का विधान है, वैसा कोई विधान राधा की उपासना के लिए नहीं है ।

२—शक्ति आराधक शक्ति को ‘माता’ के रूप में उपास्य मानते हैं, किन्तु राधा की कल्पना माता के रूप में नहीं है । इस मत में प्रिया के कृपाकटाक्ष की कामना की जाती है ।

३—राधावल्लभ सम्प्रदाय के आद्याचार्य ने शक्ति-शक्तिमान के रूप में राधा-कृष्ण का वर्णन नहीं किया ।^३

इन तीनों तर्कों से यह सिद्ध नहीं होता कि राधा और कृष्ण का जो स्वरूप इस मत द्वारा कल्पित है उस पर शक्तिवाद का प्रभाव नहीं है ।

१—सिद्धान्ततः राधा व पराशक्ति में कोई अन्तर नहीं है ।

२—आगमों में वर्णित कामकला विलास में शक्ति व शक्तिमान की कामक्रीड़ा का ध्यान स्वीकृत है । राधा और कृष्ण कामेश्वर और कामेश्वरी के आदर्श पर ही कल्पित हैं ।

३—शक्ति व शक्तिमान के आधार पर राधाकृष्ण का विकास हुआ है और विकास में गुणात्मक अन्तर अवश्य आता है, परन्तु वह अन्तर ऐसा नहीं है जो राधा और शक्ति में मौलिक भिन्नता स्थापित कर सके ।

१ आनन्दलहरी-आर्थर एवेलोन, पृ० ३२

२ वही, पृ० ५६

३ राधावल्लभ सम्प्रदाय—डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २१३, दिल्ली संवत् २०१४

४—कामकेलि के आधिक्य पर आगमों का अवश्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रेमरूपिणी “गिरजा” से गोपियाँ तक जब पति का प्रेम मांगती थीं तब शक्ति व शक्तिमान में प्रेम के अभाव की कल्पना कैसे हो सकती है। हाँ, राधाकृष्ण के प्रेम में मनोवैज्ञानिकता का विस्तार अवश्य दिखाई पड़ता है।

५—शक्तिपूजा में बलि व पंचमकार अनिवार्य-तत्त्व नहीं हैं। दक्षिणाचारी शाक्त व शैव भावसाधना ही करते हैं। तेरहवीं शताब्दी के बाद के शाक्तमत में भी भावसाधना ही प्रवलतर है।

साधना—राधावल्लभ-मत में बाह्यसाधना का महत्व अन्य सम्प्रदायों की तुलना में नगण्य है।

मंत्र—मंत्र व रूप का सम्बन्ध पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। इस मत में ऐसा विश्वास है कि प्रथम देवता का रूपदर्शन होता है, पीछे नाम स्फुरित होता है। कहते हैं कि हितहरिवंश को राधा ने स्वतः प्रकट होकर अपने नाम का मंत्र दिया था। “श्री राधा” नाम ही मंत्र है।

इसलिए अन्य मंत्रों की इस मत में कोई आवश्यकता नहीं समझी गई है। काष्ठ या पाषाण पर श्रीराधा मंत्र लिखकर पवित्र स्थानों पर स्थापित किया जाता है। इसे नाम सेवा कहा गया है।^१ सेवक जी ने नामजप पर बहुत बल दिया है—

नाम रटत आई सब सोहि

अर्थात् नाम रटने से ही मेरे हृदय में सम्पूर्ण शोभा आई है।^२ तंत्रों की ही तरह इस मत में भी ‘नामजप’ द्वारा नामी का प्रकट होना सम्भव बताया गया है—

श्वासहि नाम, नाम ही श्वासा, नाम श्वास को भेद मिटावे।

रोमरोम रग रग जब बोलै, तब कछु स्वाद नाम को पावे ॥

इन्द्रिय मन सब होइ नाम जब, सकल विषय फुरना जु नसावे।

बाहिर कछु न कछु तब भीतर, जिय अरु नाम एक ह्वे जावे ॥

तब निजु रूप नाम को प्रकटै, तन में श्रविन सहज-दिसावे।

तापे हित उमगीली जोरी तन-मन उमगि उमगि उमगावे।^३

१ राधावल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २५४

२ ललिताचरण गोस्वामी, पृ० ३०२

३ वही, पृ० ३०३

नाम व नाभी की एकता ही नामजप की विशेषता है । मंत्र से ही देवता प्रकट होता है, यह तंत्रों का स्पष्ट मत है । सेवकजी ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है—

नित-नित श्री हरिवंश नाम छिन छिन जु रटत नर ।

नित-नित रहत प्रसन्न तहाँ, दम्पति किशोर वर ।^१

इस सम्प्रदाय में 'शरणागति मंत्र' व 'निजमंत्र' के विषय में कहा गया है कि इनमें न तो तंत्रों की तरह ह्रीं, क्लीं आदि बीजमंत्र जोड़े जाते हैं और न नमः और शरणं आदि शब्द ही जोड़े जाते हैं । परन्तु यह स्मरणीय है कि इतनी नवीनता के बावजूद हैं ये मंत्र ही । नाम-महिमा का एक पद द्रष्टव्य है, इससे भी राधानामक मंत्र की महिमा ही प्रकट होती है—

परम धन 'राधा' नाम अधार ।

जाहि स्याम मुरली में डेरत, सुमिरत बारंबार ।

जंत्र, मंत्र वेद-तंत्र में, सबै तार कौ तार ।^२

गुरुतत्त्व—सभी आगममूलक मतों की तरह इस मत में भी गुरु का अमित महत्त्व है । इस सम्प्रदाय में राधा को ही गुरु माना गया है । हितहरिवंश को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि वह "हित" के मूर्तरूप माने गये हैं, उन्हें भगवान् कृष्ण के वेषु का भी अवतार कहा गया है । व्यास जी ने गुरु और गोविन्द को एक समान माना है—

गुरु गोविन्द एक समान ।

वेद पुरान कहत भागवत, ते जु वचन परमान ।^३

सेवा—दास जिस प्रकार राजा की सेवा तन मन से करता है, उसी प्रकार श्री सेवा का नाम, इस मत के अनुसार परिचर्या है । इस मत में दासी-भाव से राधा कृष्ण की सेवा की जाती है—

तिय के तन कौ भाव धरि, सेवाहित शृंगार ।

युगल महल की टहल कौ, तब पावै अधिकार ।^४

१ ललिता चरण गोस्वामी पृ० ३०६

२ भक्तकवि व्यासजी, सम्पा० बासुदेव गोस्वामी, अप्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००६ पृ० १६६

३ वही, पृ० १६१

४ भ्रूजबास का भजनसत द्रष्टव्य-श्रीहितहरिवंश गो० सम्प्रदाय पृ० २८१

प्रकटसेवा में भक्तजन राधा-कृष्ण के विग्रह की सेवा करते हैं। त्रिभंगी मुद्रा में वेणुवादन तत्पर कृष्ण की मूर्ति तथा उनके वामांग में राधा की “गादी” या आसन इस मत में सेवा का विषय है। शक्ति सहित देवता की सेवा पर बहुत बल दिया गया है—

“राधा के बिना न तो श्रीहरि का पूजन करना चाहिए, न ध्यान करना चाहिए और न जप करना चाहिए”।^१

इस मत में युगल की अष्टयाम सेवा में मंगला, शृंगार, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या, शयन व शैयासमय—अन्य सम्प्रदायों की ही तरह स्वीकृत हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार “रुद्रयामल तंत्र” से संकलित कर अष्टयामसेवा विधि नामक पुस्तक भी, गोस्वामी हित रूपलालजी ने वृन्दावन से प्रकाशित कराई है।^२ उक्त नित्यसेवा के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों की ही तरह विशेष पर्वों पर नैमित्तिक सेवा का आयोजन किया जाता है।

तिलक व कंठी—तिलक व कंठी का दीक्षा के पश्चात् धारण करना अनिवार्य माना गया है। तिलक में दो सीधी रेखाओं को कृष्ण व दोनों के बीच एक बिन्दी को राधा का प्रतीक माना जाता है। इसी तरह दो लर वाली कंठी को भी युगल का रूप माना जाता है।^३

वाह्यसेवाविधि की दृष्टि से अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की तरह इस मत की उपासना वैदिक कर्मकांड से भिन्न है और स्पष्टतः आगममूलक है, क्योंकि मंदिर, मूर्ति आदि सभी तत्व यहाँ स्वीकृत हैं। कहा गया है कि इस मत में सेवा के समय वैदिक, तांत्रिक व पौराणिक मंत्रों का प्रयोग नहीं होता, परन्तु तंत्रों का अटल सिद्धान्त है कि तत्व-परामर्श के समय जो मुख से निकले वही मंत्र है, अतः “राधा” नाम मंत्र ही है। इसलिए यह कहना सही नहीं है कि “वेदों में, तंत्रों में और पुराणों में अनेक प्रकार की श्रीकृष्णसेवा बताई गई है। यह सब मंत्रात्मिका है। विभिन्न मंत्रों से निष्पन्न होने वाली है, हमारे यहाँ तो श्रीगुरु की कृपा से अपने भाव एवं अपनी कुल-परिपाटी के अनुसार प्रेमपूर्ण

१ ललिताधरण गोस्वामी, पृ० २८४

२ राधावल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २५५

३ वही, पृ० २६३

नाम व नाभी की एकता ही नामजप की विशेषता है । मंत्र से ही देवता प्रकट होता है, यह तंत्रों का स्पष्ट मत है । सेवकजी ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है—

नित-नित श्री हरिवंश नाम छिन छिन जु रटत नर ।

नित-नित रहत प्रसन्न तहाँ, दम्पति किशोर वर ।^१

इस सम्प्रदाय में 'शरणागति मंत्र' व 'निजमंत्र' के विषय में कहा गया है कि इनमें न तो तंत्रों की तरह ह्रीं, क्लीं आदि बीजमंत्र जोड़े जाते हैं और न नमः और शरणं आदि शब्द ही जोड़े जाते हैं । परन्तु यह स्मरणीय है कि इतनी नवीनता के बावजूद हैं ये मंत्र ही । नाम-महिमा का एक पद द्रष्टव्य है, इससे भी राधानामक मंत्र की महिमा ही प्रकट होती है—

परम धन 'राधा' नाम अघार ।

जाहि स्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारंबार ।

जंत्र, मंत्र वेद-तंत्र में, सबै तार कौ तार ।^२

गुरुतत्त्व—सभी आगममूलक मतों की तरह इस मत में भी गुरु का अमित महत्त्व है । इस सम्प्रदाय में राधा को ही गुरु माना गया है । हितहरिवंश को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि वह "हित" के मूर्तरूप माने गये हैं, उन्हें भगवान् कृष्ण के वेणु का भी अवतार कहा गया है । व्यास जी ने गुरु और गोविन्द को एक समान माना है—

गुरु गोविन्द एक समान ।

वेद पुरान कहत भागवत, ते जु वचन परमान ।^३

सेवा—दास जिस प्रकार राजा की सेवा तन मन से करता है, उसी प्रकार की सेवा का नाम, इस मत के अनुसार परिचर्या है । इस मत में दासी-भाव से राधा कृष्ण की सेवा की जाती है—

तिय के तन कौ भाव धरि, सेवाहित शृंगार ।

युगल महल की टहल कौ, तब पावै अधिकार ।^४

१ ललिता चरण गोस्वामी पृ० ३०६

२ भक्तकवि व्यासजी, सम्पा० बासुदेव गोस्वामी, अप्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००६ पृ० १६६

३ वही, पृ० १६१

४ भूवबास का भजनसत द्रष्टव्य-भीहितहरिवंश गो० सम्प्रदाय पृ० २८१

प्रकटसेवा में भक्तजन राधा-कृष्ण के विग्रह की सेवा करते हैं। त्रिभंगी मुद्रा में वेणुवादन तत्पर कृष्ण की मूर्ति तथा उनके वामांग में राधा की “गादी” या आसन इस मत में सेवा का विषय है। शक्ति सहित देवता की सेवा पर बहुत बल दिया गया है—

“राधा के बिना न तो श्रीहरि का पूजन करना चाहिए, न ध्यान करना चाहिए और न जप करना चाहिए”।^१

इस मत में युगल की अष्टयाम सेवा में मंगला, शृंगार, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या, शयन व शैयासमय—अन्य सम्प्रदायों की ही तरह स्वीकृत हैं। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार “रुद्रयामल तंत्र” से संकलित कर अष्टयामसेवा विधि नामक पुस्तक भी, गोस्वामी हित रूपलालजी ने वृन्दावन से प्रकाशित कराई है।^२ उक्त नित्यसेवा के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों की ही तरह विशेष पर्वों पर नैमित्तिक सेवा का आयोजन किया जाता है।

तिलक व कंठी—तिलक व कंठी का दीक्षा के पश्चात् धारण करना अनिवार्य माना गया है। तिलक में दो सीधी रेखाओं को कृष्ण व दोनों के बीच एक बिन्दी को राधा का प्रतीक माना जाता है। इसी तरह दो लर वाली कंठी को भी युगल का रूप माना जाता है।^३

वाह्यसेवाविधि की दृष्टि से अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की तरह इस मत की उपासना वैदिक कर्मकांड से भिन्न है और स्पष्टतः आगममूलक है, क्योंकि मंदिर, मूर्ति आदि सभी तत्व यहाँ स्वीकृत हैं। कहा गया है कि इस मत में सेवा के समय वैदिक, तांत्रिक व पौराणिक मंत्रों का प्रयोग नहीं होता, परन्तु तंत्रों का अटल सिद्धान्त है कि तत्व-परामर्श के समय जो मुख से निकले वही मंत्र है, अतः “राधा” नाम मंत्र ही है। इसलिए यह कहना सही नहीं है कि “वेदों में, तंत्रों में और पुराणों में अनेक प्रकार की श्रीकृष्णसेवा बताई गई है। यह सब मंत्रात्मिका है। विभिन्न मंत्रों से निष्पन्न होने वाली है, हमारे यहाँ तो श्रीगुरु की कृपा से अपने भाव एवं अपनी कुल-परिपाटी के अनुसार प्रेमपूर्ण

१ ललितावरण गोस्वामी, पृ० २८४

२ राधावल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २५५

३ वही, पृ० २६३

सेवा ही प्रकाशित होती है” ।^१ इस प्रकार इस मत में नाम और नामी का सम्बन्ध नाम और रूप का सम्बन्ध, कृपा या शक्तिपात, मंदिर और मूर्तिपूजा आदि तत्त्वों पर तांत्रिक प्रभाव देखा जा सकता है ।

सखी सम्प्रदाय में कामकेलिप्रधान वर्णनों की अधिकता—हमारे विवेच्य काल के हितहरिवंश, हरिराम व्यास तथा ध्रुवदास आदि कवियों ने राधा-कृष्ण की संयोग-लीलाओं में आराध्य की कामकेलि का ही अधिक वर्णन किया है । इस प्रवृत्ति पर निश्चित रूप से आगमों का ही प्रभाव माना जाना चाहिए ।

हितचोरासी में ललिताचरण गोस्वामी के अनुसार सबसे अधिक पद “सुरतान्त” के हैं, सुरत के कम हैं, किन्तु सुरतान्त के वर्णन भी जब ध्यान के विषय बनते हैं तो इस विशिष्ट साधना-पद्धति पर आगमों का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है—

भूलत बोड नवल किशोर ।

रजनी जनित रंग सुख सूचत, अंगअंग, उठि भोर ।

रसिक रास जहां खेलत श्यामा-श्याम किशोर ।

उभं बाहु पाररंभित, उठे उनीदे भोर ।^२

हितहरिवंश ने सुरत के भी उत्तेजक चित्र दिये हैं—

आज बन क्रीड़त श्यामा श्याम ।

खंडन अधर करत परिरंभन, ऐंचत जघन दुकूल ।

उर नख पात तिरीछी चितवनि, वंपति रस समतूल ॥

बे भुज पीन पयोधर परसत वामदृशा पिय हार ।

वसननि पीक अलक आकर्षत, समर श्रमति सतमार ॥

पल-पल प्रबल चौप रस लम्पट, अति सुन्दर सुकुमार ।^३

जो कृष्ण महाभारत और अन्य पुराणों में पराक्रम, राजनीति व पांडित्य के प्रतीक थे, उनका यह रसलम्पटरूप देखकर केवल यह कहना काफी नहीं है कि यह कविकल्पना है, क्योंकि यह रसलम्पट रूप तथा इस रूप में

१ ब्रजलाल गोस्वामी के एक संस्कृत पद्य का अर्थ—ललिताचरण गोस्वामी से उद्धृत, पृ० २८७

२ वही, पृ० ३६१-३६२

३ द्रष्टव्य—ललिताचरण गोस्वामी, पृ० ३७५ से ३८१

की गई लीलाएँ “मानस प्रत्यक्ष” के रूप में ग्रहण की गई हैं। कवि कल्पना तो इस विशिष्ट साधना-पद्धति को केवल वाणी देने का साधनमात्र है। इसीलिए इसे आगम-पद्धति के रूप में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह प्रवृत्ति सर्व प्रथम तांत्रिक परम्परा में ही विकसित हुई थी। हितहरिवंश के समय भी इस साधना को अधर्म कहने वाले बहुत से लोग थे, अतः व्यासजी ने उन्हें जवाब देते हुए अपनी वामपंथी प्रवृत्ति का परिचय दिया है—

जासौ लोग अधर्म कहत हैं, सोई धर्म है मेरो ।

लोग दाहिने मारग लाग्यो, होव चलत हों डेरो ।

ढं ढं लोचन सबही कै, हों एक आँखि को डेरो ॥^१

व्यास जी ने तो अपने गुरु से भी अधिक मात्रा में कामकेलि का वर्णन किया है—

आजु लवंगलता गृह बिहरत, राजत कुंजबिहारी ।

प्रथम अंग प्रति अंगसंग करि, मुख चुम्बन सुखकारी ॥

तब कंचुकि बंद खोलत, बोलत चाटु बचन दुखहारी ।

हस्तकमल करि विमल उरज धरि, हरि पावत सुख भारी ॥

बधू कपट भुज पटनि दुरावति, कोप भृकुटि अनियारी ।

नाबी मोचत मुँख अलंकृत, नेति कहत सकुमारी ॥

कोक-कुसल रसरतीति प्रीतिबस, रति प्रगटत पिय प्यारी ।

अधर सुधामद भावक पीवत, आरजपंथ सो सीव बिदारी ॥^२

आर्यपंथ की सीमा तोड़ने के कारण ही व्यासजी ने अपने को वामपंथी कहा है। उन्होंने इस दिव्य रति के अतिरिक्त वसन, स्नानसमय, बैनी-गुह्न, हास, उरज, चरण, अंग, षोडश शृंगार, कृष्ण द्वारा राधाचरण-स्पर्श, बतरस, बंसीवट क्रीड़ा, भेषपलट, रास, अभिसार, शैयारस से लेकर विपरीत-बिहार^३

१ भक्तकवि व्यासजी, पृ० २४६

२ भक्तकवि व्यासजी, पृ० २७६

३ आज बन बिहरत जुगलकिशोर ।

कामिनि कुटिल तमकि तन झूलत, रति बिपरीति हिलोर ।

कामी करत बंधारि, लमिंत प्यारी बसनाचल छोर ॥

अधरामृत मासे कोऊ काहू, गनत न, जोबन जोर ।

हरि-उर ऊपर बिलसत दोऊ, पान पयोधर दोर ॥

कबहुं कामिनि के हरि पाँइन, लागत लेत निहोर ।—महाकवि व्यासजी, पृ० ३४५

और सुरतयुद्ध' तक का निःसंकोच वर्णन किया है। प्राकृत कामकेलि का कोई ऐसा रूप नहीं है जिसे सखी-सम्प्रदाय के कवियों ने वाणी न दी हो।

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों पर तांत्रिक-प्रभाव

शक्ति-शक्तिमान् की युगल उपासना निम्बार्क सम्प्रदाय की विशेषता है।^२ शक्ति-शक्तिमान् की यह उपासना मूलतः शक्ति और शिव की उपासना के रूप में प्रचलित थी यह कहा जा चुका है। निम्बार्क मत शक्तिवाद द्वारा ही सृष्टि-प्रक्रिया की व्याख्या करता है। सखीभाव से युगलरति का ध्यान इस मत में ध्येय माना जाता है। निम्बार्क ने रति के ध्यान को साधना का माध्यम बनाया, यह स्पष्टतः तांत्रिक प्रभाव है।

जयदेव निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि माने जाते हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि जयदेव के गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण के बिहार का मुक्त होकर वर्णन किया गया है। परवर्ती कवियों के लिए गीत गोविन्द एक अनुकरणीय आदर्श काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

श्रीभट्ट—युगलशतक निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रथम हिन्दी कृति मानी जाती है। सम्प्रदाय युगलशतक के लेखक श्रीभट्ट का समय १३ वीं और १४ वीं शताब्दी के मध्य मानता है किन्तु 'ब्रजमाधुरीसार' और हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी माना गया है। युगल शतक में सखीभाव से बिहाररस राधा-कृष्ण की सेवा और ध्यान का वर्णन है। गोपियों के बीच युगल-बिहार का मधुर वर्णन श्रीभट्ट तन्मय होकर करते हैं। शक्ति और शक्तिमान की तात्त्विक एकता पर तांत्रिकों की ही तरह सर्वत्र बल दिया गया है—

दर्शन में प्रतिबिम्ब ज्यों, नैनजु नैननि माहि ।

यों प्यारे पिय पलकहु, न्यारे नहि बरसाहि ॥

१ आजु अति कोपे स्यामा स्याम ।

बीर खेत वृन्दावन दोऊ, करत सुरत संग्राम ।

२ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याण गुणैकराशिम् ।

व्यूहाङ्गिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेश्वरं हरिम् ।

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुखा विराजमानामनुरूपसौमगाम् ॥

सखीसहस्रः परितेजितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् — निम्बार्क

अष्टव्य-निम्बार्क—माधुरी, ब्रह्मचारी-बिहारीशरण, संवत् १६६७

वृन्दावन, पृ० १ (प्रस्तावना)

भक्तगणों का उद्देश्य राधाकृष्ण ही मधुर लीला का ध्यान है, अतः गुह्यरति के वर्णन में भी श्रीभट्ट संकुचित नहीं होते—

बोड़ मिलि करत भाँवती बतियाँ ।

मदनगोपाल कुँभरि राधे के नखमनि अंक लिखत उर छतियाँ ।^१

ज्यों-ज्यों खूनरि सगबगे, त्यों त्यों लावत हीय ।

मीजत कुंजनि ते बोऊ, आवत प्यारे पीय ॥

श्री हरिव्यासदेव जी—श्री हरिव्यास जी को कोई राधावल्लभ सम्प्रदाय का मानते हैं, और कोई निम्बार्क सम्प्रदाय का । जो हो, इनकी महावाणी युगल शतक के भाष्य के रूप में प्रसिद्ध है । इसके पाँच अंग हैं, सेवा, उत्साह, सुरत, सहज और सिद्धान्त । इनमें राधा-कृष्ण की गुह्य-रति का अति विस्तार मिलता है ।

नबल डाढ़ी कर गहे दोऊ, भूमि भुकि रस लेत ।

मदुल अंग मनोज मोहन, सुरत संग निकेत ॥

नबल केलि कला कुतूहल, रमत रहसि उमाहि ।

रख लिए दोउ रसिक सम्मुख, सुख न बरन्यो जाहि ।^२

शक्ति-शक्तिमान् की यह गुह्यरति ही भक्तों का उद्धार करने वाली है अर्थात् राग का ध्यान ही राग का नाशक माना गया है । कामवासना पर विजय कन्दर्प-विजयी कृष्ण और राधा की रति के ध्यान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, यह तांत्रिक सिद्धान्त यहाँ स्वीकृत है—

जयति सुरति रमधीर दोऊ कुँभर ।

कुलमंडने खंडने दर्प कन्दर्प दल के ॥^३

युगल तत्त्व की इस अखंड केलि को ही कवि अपना सर्वस्व समझता है । इस सिद्धान्त को “वेदतंत्र का मंत्र” कहता है और राधा-कृष्ण की “नित्य जोड़ी” को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करता है, भाषा की भिन्नता होते हुए भी तांत्रिकों के शक्ति-शक्तिमान् की एकता का सिद्धान्त ही यहाँ प्रतिपादित हुआ है—

१ बहुभक्तियाँ फूल्यो बिपिन, रतियों सरब सुहात ।

बतियाँ भाँवति करत उर, छतियाँ अंक लिखात ॥

निम्बार्क माधुरी, पृ० १६

२ निम्बार्क माधुरी, पृ० ५०

३ वही, पृ० ५४

वेदतंत्र को मंत्र मनोहर श्री वृन्दावन नित्य बिहार ।

सूक्ष्म कलरव जन्य ब्रह्म पर परमधाम को परमाधार ॥

निरवधि नित्य अखंडल जोरी, गोरी स्यामल सहज उबार ।

आवि, अनन्त एक रस अद्भुत, मुक्ति परे पर सुख दातार ॥^१

श्री व्यास ने स्पष्ट कहा है कि तत्त्व एक ही है, उसके नाम दो हैं, राधा और कृष्ण में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है—

एक स्वरूप सवा द्वं नाम ।

आनन्द के ग्रहलादिनि स्यामा, ग्रहलादिनि आनन्द स्याम । (नि०)

व्यास जी अन्य भक्तों की ही तरह भगवान के अनुग्रह या शक्तिपात को ही एकमात्र साधन मानते हैं—

साधन करि नाकादि फल, नस्वर पावत जोय ।

एक कृपा ही करि कछु, सिद्ध होय सो होय ॥ (नि० मा०)

शक्तिपात के विश्वासी विधि-निषेध के विरोधी होते हैं, यह तांत्रिक सिद्धान्त भी व्यास जी में प्राप्त होता है—

बिधि निषेध आदिक जिते, कर्म धर्म तजि तास ।

प्रभु के आश्रय आवहीं, सो कहिए निज दास ॥ (नि० मा०)

युगल शतक और महावाणी की परम्परा में ही निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने काव्य रचना की है। श्री परशुरामदेव का परशुरामसागर प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें बाइस सौ पद्य हैं। परशुराम ने प्रेमतत्त्व में मग्न होने पर सर्वत्र बल दिया है।^२ परन्तु परशुराम जी पर संत कवियों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

श्रीरूपरसिक देव की वाणी महावाणी का परम्परा में आती है। युगलरति में कवि की तन्मय चित्तवृत्ति बसंत, रथयात्रा, होरी, कुंजबिहार आदि विभिन्न परिस्थितियों की सृष्टि करके, मधुर रस का छक्क कर पान करती है।^३ श्री तत्त्ववेत्ता, श्री वृन्दावनदेव, गोविन्ददेव, गोविन्दशरणदेव, विहारीदास, नागरीदास, पीताम्बरदेव, ललितकिशोरी, भगवतरसिक, सीतलदास,

१ निम्बार्क माधुरी, पृ० ५८

२ ऋण्डव्य, निम्बार्क माधुरी, पद संख्या ६, २५, २७ इत्यादि

३ निम्बार्क माधुरी ऋण्डव्य बृहदोत्सवमणिमाल, पृ० १०१-११३

श्री कृष्णदास,^१ सहचरिशरणदेव, स्वयंभूदेव, रसरंग आदि कवियों ने भी उक्त परम्परा का ही पालन किया है। राधा अथवा शक्ति के निष्ठ स्वरूप और निष्ठबिहार से सम्बन्धित इन कवियों की शृंगारिक वाणी साधनात्मक दृष्टि से आगमों और तंत्रों में वर्णित रागसाधना का ही एक विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसमें रतिक्रीड़ा को ध्यान का विषय बनाया गया है। काव्य की दृष्टि से जो मात्र शृंगार प्रतीत होता है, वह साधनात्मक दृष्टि से, अपने आदि स्रोत की दृष्टि से, शाक्तसाधना और शैव-साधना से अविच्छिन्न रूप में सम्पृक्त है और राधा के गुण-रूप-कृपा और रति का गायन आनन्द लहरी की परम्परा से अद्भुत सादृश्य रखता है।

हरिदास सम्प्रदाय के कवि

स्वामी हरिदास अपनी पूरी परम्परा के साथ निम्बार्क सम्प्रदाय में ही प्रतिष्ठित किए गए हैं किन्तु हरिदास सम्प्रदाय एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में भी माना जाता है अतः उसके कवियों को हम स्वतंत्र रूप में चर्चा का विषय बना सकते हैं। स्वामी हरिदास निम्बार्क मतावलम्बी स्वामी आशुधीर के शिष्य थे। लोक, वेद, कुल, कर्म आदि को छोड़कर रात-दिन शक्ति और शक्तिमान् की रति का ध्यान ही हरिदासी सम्प्रदाय के साधकों का पुरुषार्थ रहा है। हरिदास ने शक्ति-शक्तिमान की एकता को घन-विद्युत की एकता कहा है।^२ कामेश्वर और कामेश्वरी की एक दूसरे को प्रसन्न करने की स्पर्धा का भव्य वर्णन हरिदास ने भी किया है।^३ हरिदास में कहीं शक्तिपात या अनुग्रह सिद्धान्त,^४ कहीं राधाकृष्ण की केलि का ध्यान,^५ एकतास्थापक परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव^६, शक्ति (राधा) के द्वारा, शक्तिमान (कृष्ण) को सौन्दर्य प्राप्ति^७, शक्तिमान् द्वारा शक्ति की महिमा का वर्णन^८ तथा राधा के सम्मुख कृष्ण की अभिभूतता

१ माधुर्य-सहरी, श्रीकृष्णदास, वृन्दावनधाम, संवत् २००६ वि०

२ ज्यों घनदामिनि संग रहत नित, बिछुरत नाहि और बरन सौं।

—हरिदासवंशानुचरित, पृ० २२ नवनीति चौबे, इटावा, १९१० ई०, प्रथम संस्करण।

३ वही, पृ० २३

४ “स्वामी हरिदास रस सागर” में हरिदास के पद संख्या १, सम्पादक विश्वेश्वरदरारण, वृन्दावन, संवत् २०१७ विक्रमी

५ वही, केलिमाल

६ वही, पद संख्या, १३

७ पद, २४

८ वही, पद, २६

के वर्णनों द्वारा मूलतः एक ही दार्शनिक तत्व, शिव-शक्ति सिद्धान्त को विविध रूपों में वाणी दी गई हैं। तंत्रों के साधनात्मक ग्रन्थों में जो तत्त्व सिद्धान्त के रूप में सूक्ष्म और केवल धारणा का विषय था, उसे मूर्तिमान् और काव्य में मधुर कल्पना का विषय बनाना वैष्णव साधकों की विशेषता है। किस प्रकार शिव-शक्ति का सूक्ष्म सिद्धान्त काव्य का रूप धारण कर मूर्तित और प्रेषणीय बन जाता है, यह द्रष्टव्य है—

बाहि गहि लं चलै, चलिये जू कुंज में चितं मुख हंस मानो-
येई स्याम ।

श्री हरिदास के स्वामी, स्यामा कुंजबिहारी छाती सों छाती
लगाएँ गौर स्याम ।

शक्ति सम्प्रदाय में शक्तितत्व को प्रधानता दी गई है। शक्ति के बिना शिव शव है, यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। हरिदास सम्प्रदाय में राधा के संकेत पर कृष्ण नाचते दिखाई पड़ते हैं—

कुंजबिहारी नाँचत लाड़िली नचावत नीकं । (केलिमाल)

हरिदास सम्प्रदाय के भक्त कवि विठ्ठलविपुल ने भी परम्परा का अनुसरण किया है। इस सम्प्रदाय में 'सुरत' प्रसंगों के वर्णन अधिक मिलते हैं। पदार्थमात्र में धनात्मक और श्रृणात्मक शक्तियों के रूप में क्रीड़ाशील राधा कृष्ण या शक्ति शिव को मानवीय रूप में प्रस्तुत करके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का, शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति और उसके अव्यक्त रूप का तथा सृष्टि और स्रष्टा की आत्यंतिक स्थिति का अनवरत साक्षात्कार ही लीलागायन का उद्देश्य है—

प्रात समे आबत जु आलस भरे जुगलकिशोर देखे कुंजन की खोरी ।

लालहि बस करनी मदन मव हरनी मल्हकि पग धरनी उरज उदित री ।

स्यामा चलहु लड़ैती प्रिया कुंजनि करहु केलि ।

जुगलकिशोर मेरे कुंजबिहारी, प्यारी बन बिहार बिहरत नवरंगा ।

हमारें माई स्यामा जू कौ राज ।

जाके आधीन सवाई साँवरी, या ब्रज कौ सिरताज ।

बीठलविपुल की इस प्रकार की पक्तियों का वास्तविक मर्म तभी हृदयंग् होता है, जब वैष्णवसाधना के उक्त तांत्रिक रूप को स्मरण रखा जाए ।

शक्तिपात के बिना यह तत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता ।^१

बिहारीनिदास ने स्पष्ट कहा है, कि जब तक प्रपंच के मूल में स्थित तत्त्व की एकता का बोध नहीं होता, तब तक संसार के व्यवहार में ममता और एकत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ।^२ इसीलिए बिहारिनिदास जैसे भक्तकवियों ने सृष्टि के नियामक और नियामिका के बिहार में चित्त लवलीन करने को कहा था—

निकुंज विराजिए जू ।

नवजोवन जुगराज बिहारी, बिहरत नवरति साजिए जू ।

अंजन अनी नैन सर सूधे, भकुटि न चाप चढ़ाइ ॥

बिबि डरोज गज कुम्भनि पर अंचल चल ढाल दुलाइ ।

खण्ड-खण्ड भये गंड रवन छद बै भुज बंड सुहाइ ॥

सूटत महामाधुरी घूंटत, घूमत अंग अंग घाइ ।

भक्तों द्वारा अपने आराध्यों का यह रति-युद्ध देखकर तभी आश्चर्य और दुःख हो सकता है जब हम वाणी का प्रयोजन अपनी दृष्टि से ओझल कर दें । किन्तु यह 'रतिसंग्राम' पदार्थमात्र के भीतर नित्य चल रहा है और यह शिव और शक्ति का अनवरत विलास है, तंत्रों की यही अंतर्दृष्टि वैष्णव आगमों और तत्त्वशास्त्र वैष्णव कवियों की वाणियों में स्वीकृत हुई है ।

हरिदास सम्प्रदाय के अन्य कवि नागरीदास, सरसदास, रसिकदास, ललितकिशोरदास, ललितकिशोरीदास, पीताम्बरदेव, भगवतरसिकदेव आदि के काव्यों में यही परम्परा मिलती है । वस्तुतः आचार्य की वाणी के बाद, सम्प्रदाय की सम्पूर्ण वाणी, सिद्धान्ततः पुनरावृत्ति मात्र प्रतीत होती है अतः आचार्य पर अप्रत्यक्षतः तांत्रिक प्रभाव सिद्ध होने से, सम्पूर्ण सम्प्रदाय के काव्य से उदाहरण एकत्र करना व्यर्थ विस्तार सा लगता है ।

हरिदास के विषय में भक्तमाल ने लिखा है कि हरिदास गुगल के निकुंजविहार के गायक थे और "संमोहनीतंत्र" से एक उदाहरण देकर

१ साधन खम न कछु कियौ, ना कछु करिबे जोग ।

कृपा बिहारिनिदास कौ, सहज संजोगी भोग ॥ —हरिदाससागर में
द्रष्टव्य, बिहारिनिदास, दोहा संख्या, १५०

२ वही, दोहा, १५२

परवर्ती टीकाकार ने यह प्रमाणित किया है कि जो राधा के बिना कृष्ण की उपासना करते हैं, वह पापी होते हैं ।^१

शाक्तागमों में शक्ति-शक्तिमान के विहार के जो वर्णन मिलते हैं उनमें और उपयुक्त वैष्णव कवियों के वर्णनों में आधारभूत एकता दिखाई पड़ती है । शाक्तों के अनुसार अमृतसिन्धु में एक मणिद्वीप स्थिति है, वहाँ कल्पवृक्ष की वाटिका है, जहाँ कदम्ब वृक्षों का उपवन है, उस द्वीप में चिंतामणि से निर्मित भवन में परमशिव की शैया पर चिदानन्द रूपिणी देवी शयन करती है, इसका ध्यान कोई भाग्यशाली ही कर पाते हैं —

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिव्रते ।

मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।

शिवाकारे मन्त्रे परमशिवपर्यंकनिलयां ।

भजन्ति त्वांधन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीं ।^२

देवी के अतुल सौन्दर्य का भव्य वर्णन आगमों के स्तोत्रों में भी मिलता है । संस्कृत में कालिदास तथा परवर्ती कवियों ने शिव व शक्ति के सम्भोग का आकर्षक वर्णन किया है । यही पृष्ठभूमि वैष्णव कवियों को प्राप्त हुई थी, अतः उन्होंने भी युगनद्धशक्ति शक्तिमान के प्रीति के सुख और सौन्दर्य का मनोहर वर्णन किया है । हम कह चुके हैं कि यह सब ध्यान के लिए ही किया गया है । यह कहना गलत है कि देवी को केवल जननी के रूप में ही माना गया है क्योंकि त्रिपुरासुन्दरी और ललिता के रूप में साधक देवी के साथ मधुर सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है । देवी के साथ तादात्म्य करने के लिए साधक अपने को स्त्री मानकर चलते हैं । अतः आगमों और तंत्रों की पृष्ठभूमि के योगदान को स्वीकार न करने पर वैष्णव साधना का विकास नहीं सम्भवा जा सकता ।

जो यह समझते हैं कि आगमों और तंत्रों में केवल हठयोग और वामाचार है, वह आगमों की उस भावमयी साधना से परिचित नहीं है, जिसका विकास कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में हुआ है । शाक्त साधक तो कृष्ण की श्यामल मूर्ति को

१ गौरतेजो बिनायस्तु श्यामतेजः समतपेत्, जपेद्वा ध्यायेत् वापि स भवेत्पातकी शिवे-भक्तमाल सटीक, प्रियादास, संवत् १९८८, लेमराज श्रीकृष्णदास, बंबई पृ० १९६

२ आनन्दलहरी-आर्थर एबेलोन, पृ० १५

देवी का ही रूप मानते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का भव्य भवन आगमों पर ही आधारित है और उसमें पाँचरात्र, शाक्त और शैव सभी आगमों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ तक कि बौद्ध-तंत्रों में पल्लवित युगनद्ध-साधना का भी वैष्णवों की यामलसाधना पर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्तकवि—युगलविहार का ध्यान, शक्तिमान् से भी अधिक शक्ति या राधा की उपामना गौड़ीय सम्प्रदाय की विशेषता है। इस सम्प्रदाय में हिन्दी में बहुत कम काव्य मिलता है। फिर भी, माधुरी, रामराय, गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन, मनोहर, प्रियादास, वैष्णवदास, सुबलश्याम, कृष्णपंडित, वैष्णवदास, रामहरि, हरदेव, बल्लभरसिक, भगवन्तमुदित आदि कवियों की वाणियाँ प्रसिद्ध हैं।^१

श्री माधुरी कवि के अनुसार राधा और कृष्ण एक ही रूप हैं।^२ राधा-कृष्ण की रति के ध्यान में लवलीन चित्तवृत्ति वेदमार्ग और कुलकानि की भी चिन्ता नहीं करती।^३ राधा-कृष्ण के रस रंग को माधुरी जी सखी के रूप में संकेत से ही समझने को प्रस्तुत हैं।^४ माधुरी ने यह भी विश्वास प्रकट किया है कि जब पार्वती खण्ड में सब पुरुष युवतियाँ बन सकते हैं, तब वृन्दावन में सखी बनकर युगल सेवा में क्या असम्भवता है ?^५

माधुरी जी जीवन का एक ही पुरुषार्थ मानते हैं, कुंज के रन्ध्रों से युगलरति का दर्शन और युगल की सेवा। भेदाभेदवाद को अपनाने के कारण इन गौड़ीय भक्तों ने अपना व्यक्तित्व मुरझित रखा है परन्तु शक्ति और शक्तिमान्

१ प्रकाशित वाणियाँ—माधुरी वाणी (माधुरी), मोहिनी वाणी (गदाधर भट्ट) सुहृदवाणी (सूरदास मदनमोहन), बल्लभरसिक वाणी, प्रेमसम्पुट (विश्वनाथ चक्रवर्ती), हरिलीला (ब्रह्मगोपाल) राधाकुण्ड, मथुरा से प्रकाशित हो चुकी हैं।

२ गौर नाम अरु गौर तनु, अन्तर कृष्ण स्वरूप।

गौर साँवरे दुहुन को, प्रगट एक ही रूप।

माधुरीवाणी, दोहा संख्या, २

३ जा कारण छोड़ी सबै, लोक वेद कुल कानि—बही, दोहा ४६

४ सैननि में ही समुझिहों, कछुक बात रसरंग—बही, दोहा, ६६

५ पारबती के खण्ड में, सबै जुबति है जाय—बही, ७०

की जहाँ तक एकता का प्रश्न है, वहाँ इनमें और तांत्रिकों में पूर्ण एकता दिखाई पड़ती है। शक्तों की ही तरह शक्ति की महिमा और अनुग्रह के ये भक्तकवि विश्वासी हैं। शक्तप्रभाव द्रष्टव्य है—

नैननि सौं नैना मिले, मुख सौं मुख लिपटाय ।

भुज अरु भे सुरभे नहीं, रहे सुरति सुरभाय ।

उर सौं उर ऐसे मिले, सब अंगन सौं अंग ।

मनहुँ अरगजा में किधौं, नव केशर को रंग । (१८८)

वृन्दावनमाधुरी शीर्षक कविताओं में माधुरी जी ने तांत्रिकों के कैलास की ही तरह एक मोहक लोक की सृष्टि की है जहाँ शक्ति और शक्तिमान का अखंड विलास चलता है।

सूरदास मदनमोहन भी भगवान के शक्तिपात या अनुग्रह के विश्वासी हैं। तांत्रिकों ने शक्ति के बाल्यकाल का वर्णन नहीं किया किन्तु सूरदास मदनमोहन ने राधा के बाल्यकाल का भी वर्णन किया है—

अहो मेरी लाड़िली, सुकुमारि पालन भूलै ।^१

राधा-कृष्ण की तात्त्विक एकता को उक्त कवि काव्यभाषा में इस प्रकार व्यक्त करता है—

भाई री, राधा बल्लभ, बल्लभ राधा, ते इनमें, उनमें बे बसत ।

घाम-छाँह इत घन-बामिनी, उत कसौटी-सीक ज्यों लसत ।

सूरदास मदनमोहन ने भी अन्य भक्त कवियों की तरह कामेश्वर-कामेश्वरी के बिहार को विभिन्न ऋतुओं, उत्सवों, पर्वों और अन्य ऐसे ही अवसरों पर विविध प्रकार से इस प्रकार वर्णित किया है कि दिव्य सत्ता का दिव्यविहार पूर्ण मानवीय बन गया है। दिव्य और मानवीय, एन्द्रिक और अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा स्थूल और सूक्ष्म की तात्त्विक और साधनात्मक एकता स्थापित करने में तांत्रिक क्रिया के स्तर पर अधिक सफल हुए हैं, जबकि भक्त कवि भावनात्मक स्तर पर अधिक सफल हुए हैं। सूरदास मदनमोहन द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण का शृंगार, मान, राधा का अभिसार, हिंडोला झूलन, होरी-क्रीड़न आदि सब कुछ धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियों की एकता का ही प्रतिपादक है—

तू तो खंपक बरनी री मोहन बेलि,

जमुना पुलिन उदित भई सचन कुंज सहेलि ।

सौख्य तोहि स्यामसुन्दर, प्रीति सुधा नैननि पुर,
 बहु जतननि बारि किएँ राखत तोहि ब्रज महेलि ।
 तब तमाल लालन उर लपटाइ रही प्रेम री प्रेम कुसुम,
 कुच जुग फल लालन गलबहियाँ मेलि ।
 धनि सुहाग, भाग अनुराग तेरो री राधे,
 सूरदास मदनमोहन, प्रीतम संग करत केलि ।^१

यही परम्परा इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों में मिलती है। गदाधर भट्ट की वाणी में भी इन्हीं उक्त तत्त्वों की व्यंजना हुई है। राधा को गदाधर भट्ट ने निरुपम अनुरागिणी कामेश्वरी के रूप में ही वर्णित किया है—

जयति श्री राधिके, सकल सुख साधिके ।
 तरुनिमन निरुपम नवतन किसोरी ।
 कृष्णतन-लीन-मन रूप की रातकी,
 कृष्णा मुख-हिम—किरन की चकोरी ।
 कृष्ण-दृग-भृंग विश्राम हित-पद्मिनी,
 कृष्ण-दृग-मृगज बंधन सुडोरी ।
 कृष्ण-अनुराग-मकरंद की मधुकरी,
 कृष्णगुन-गान-रससिंधु बोरी ।

भगवान और भगवती के दिव्य राग में अपने मन को मग्न करके, एन्द्रिक जगत पर विजय-प्राप्ति की यह वैष्णवी साधना, साधना की दृष्टि से अवश्य आगमों की परम्परा का एक नूतन विकास मात्र है। रीतिकाल में राधा-कृष्ण प्रतीकमात्र रह गए। राधा-कृष्ण के विहार-वर्णन के समय भक्त-कवियों की उच्चचित्तवृत्ति के अभाव के कारण आगम-साधना का प्रभाव रीतिकाल पर नहीं खोजा जा सकता क्योंकि वहाँ काव्य साधनात्मक नहीं, केवल काव्य के लिए ही राधा-कृष्ण का प्रयोग किया गया है। किन्तु रीतिकाल में भी जो भक्त-कवियों की वाणी है उस पर आगम-प्रभाव स्पष्ट ही है, अनजाने ही शाक्त-शैव पाँचरात्र परम्परा उनके काव्य में मुखरित हुई है किन्तु रीतिकालीन काव्य इस शोध-ग्रन्थ से बाहर का विषय है।

उपसंहार—प्रमुख वैष्णव कवियों पर तांत्रिक प्रभाव के दिग्दर्शन के पश्चात् मीरा के काव्य पर तांत्रिक प्रभाव की चर्चा आवश्यक है। मीरा किसी

सम्प्रदाय विशेष की कवियित्री नहीं है। उन पर सन्तपरम्परा और वैष्णव परम्परा दोनों का प्रभाव था अतः सन्तों से प्रभावित उनके काव्य में वही तत्त्व हैं जो कबीर दादू आदि सन्तों में मिलते हैं और ऐसे काव्य पर तांत्रिक प्रभाव का वही स्वरूप है जिसका दिग्दर्शन सन्तकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव शीर्षक अध्याय में किया जा चुका है। किन्तु मीरा के विषय में यह स्मरणीय है कि उनके काव्य में साधनात्मकता कम आत्माभिव्यक्ति बहुत अधिक है। यत्र तत्र मन्तकाव्य की तरह हठयोगपरक शब्दावली आ गई है—

गुरु को सबद कान में पहिरूँ, अंग विभूति रमा के।

पाँच पचीस बस कर राखूँ, म्हांरो पल्ली न पकड़े कोय।

सुरत निरत का दिबला संजोले, मनसा की करले बातो।

सतगुरु मिलिया सांसा भाग्या, सैन बताई साँची।

सुन्न सिखर के द्वारे आके मोहि मिले अविनासी,

सुरत का नर बाँध बेड़ा, बेग उतरो पार।

सुरत चली जहाँ मैं चली रे, कृष्ण नाम भंकार।

अविनासी के पोल पर जो मीराँ करे छै पुकार।

पद्मावती शबनम के “मीराँ वृहत् पद संग्रह” में^१ नाथ प्रभाव छोटक पदों को एक स्थान पर संग्रहीत कर दिया गया है। इन पदों में नाथ-परम्परा अपने पूर्ण स्वरूप के साथ प्रतिष्ठित है किन्तु इन पदों में भी मीरा की आत्माभिव्यक्ति उन्हें सन्त-परम्परा से अलग करती प्रतीत होती है।

मीरा के वैष्णवीय पदों में भी राधा-कृष्ण रतिवर्णन के स्थान पर कवियित्री की निजी आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति अधिक है अतः मीरा पर तांत्रिक प्रभाव केवल अप्रत्यक्षरूप में इसी सीमा तक पाया जाता है कि मीरा की साधना भी “रागसाधना” थी। राग के ही माध्यम से ही उन्होंने राग पर विजय पाई किन्तु दयाबाई और सहजोबाई की तरह वे योगिनी नहीं थीं, यह उनकी पदावली से ही स्पष्ट है। अतः मीरा के प्रेम और विरह से छलकते हुए पदों का एक अपना विशिष्ट स्थान है, उनमें तांत्रिक परम्परा की अप्रत्यक्ष गूँज ही सुनाई पड़ती है।

रामभक्ति काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ

तुलसीदास—रामभक्तिकाव्य परम्परा में तुलसीदास प्रकाशस्तम्भ के

समान हैं। उन्होंने अपने से पूर्व सम्पूर्ण भारतीय परम्पराओं को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। रामचरितमानस को उन्होंने नाना पुराण निगमागमसम्मत कहा है। अर्थात् पुराणों और आगमों को उन्होंने विस्मृत नही किया है।

दर्शन—तुलसीदास अध्यात्मरामायण के दृष्टिकोण को अपनाकर चले है। अध्यात्म-रामायण में शांकरवेदान्त और रामानुजीय दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत् में सांख्या-चार्य कपिल व वेदान्ती उद्धव को भी भक्त के रूप में दिखाया गया है, उसी प्रकार अध्यात्म-रामायण में पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म के निर्गुणत्व, जीव-ब्रह्म की एकता तथा जगत् के मिथ्यात्व का निर्वचन किया गया है, किन्तु भक्ति के दृष्टिकोण से ब्रह्म के सगुणत्व, जीव के शेषत्व और भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इनके साथ ही सीतातत्व को शक्ति तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। तुलसी का भी यही दृष्टिकोण है। उन्होंने जहाँ विनयपत्रिका-मानस में जगत् का मिथ्यात्व बार-बार घोषित किया है,^१ वही भक्तितत्व की श्रेष्ठता भी प्रतिपादित की है। मानस के प्रारम्भ में, जैसा कि हम देख चुके हैं, जगत् को रज्जु में सर्पवत् प्रतीति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, वही उत्तरकांड में भक्ति को योग व ज्ञान का फल कहा गया है, अतः तुलसी में शांकरवेदान्त और रामानुज-रामानन्द परम्परा का समन्वय किया गया है।

कृपा का सिद्धान्त—तुलसीदास न भी कृपा के सिद्धान्त को अन्य वैष्णव कवियों के समान ही महत्व दिया है। जगत् रूपी भ्रम से बचने का एकमात्र

१ यन्मायावशास्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा ।

यत्सत्त्वावमूषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्ममः ॥ बालकांड का प्रारम्भ—
रामचरितमानस ।

* हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी ।

जद्यपि मूषा सत्यभासै, जब लागि नाहि कृपा तुम्हारो-विनयपत्रिका,
पद १२०, वियोगीहरि, सप्तम संस्करण, संवत् २०१३.

* हे हरि यह भ्रम की अधिकारी ।

अन विचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी ।

तुलसीदास सब विधि प्रवंच जग, जबपि भूठ भुति गावैं । वही, पद १२१

उपाय भगवान की कृपा है। फिर भी तुलसी ने भगवान की कृपा द्वारा प्राप्त भक्ति के साथ-साथ ज्ञान और योग को भी स्वीकार किया है। अर्थात् कृपा और कर्म दोनों का समन्वय उनके यहाँ मिलता है। भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए सभी प्रकार के कर्मों का फल भगवान के प्रति प्रेम को बताया गया है। भक्त के पास ज्ञानियों द्वारा प्राप्त मुक्ति भी स्वतः आ जाती है।^१

भक्ति की इतनी अधिक महिमा है कि ज्ञान व योग को प्राप्त करने के लिए भी भक्ति ही आवश्यक है। इस प्रकार भक्ति साधन भी है और साध्य भी। भक्ति कर्म, ज्ञान आदि के सम्बन्ध को तुलसी ने कृपा के साथ इस प्रकार सन्निविष्ट किया है—

राम कृपा बिन सुनु खगराई, जानि न जाइ राम प्रभुताई।

जानें बिनु न होइ परतीती, बिन परतीति होइ नहि प्रीती॥

प्रीति बिना नहि भगति बिढ़ाई, जिमि खगपति जल के चिकनाई।^२

सारांश यह है कि हरिकृपा अथवा शक्तिपात के बिना जीव का उद्धार नहीं हो सकता। आगमों के कृपा या शक्तिपात सिद्धान्त का ही तुलसी ने पल्लव किया है।

भक्ति का स्वरूप—यद्यपि तुलसीदास “अनपायिनी” भक्ति की प्राप्ति में शवरी, निषाद जैसे साधनहीन भक्तों को भी समर्थ मानते हैं क्योंकि भगवान् से कोई भी स्नेह कर सकता है तथापि कश्मीरी शैवमत की तरह ही तुलसीदास में भक्ति, ज्ञान व योग का समन्वय मिलता है। अर्थात् आनन्द रूपा भक्ति, योग व ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होती है। तुलसी ने शास्त्र का भक्ति के साथ सामंजस्य किया है, इसीलिए वह “वाशिरा” भक्त कहे जा सकते हैं जबकि “बेशिरा” भक्तों में सन्तकवि आते हैं।

तुलसी का उद्देश्य उपनिषद्, भगवद्गीता; महाभारत, शांकरवेदान्त, पुराण तथा आगम के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करना था, अतः

१ राम भजत सोई मुकुति गुसाईं, अनइच्छित आवहि बरियाई।

जिमि थल बिनु, जल रहि न सकाई, कोटि मांति कोउ करहि उपाई॥

तथा मोछ सुख सुनु खगराई, रहि न सकइ हरिभगति बिहाई।

उत्तरकांड, मानस बोद्धा, ११६

२ बही, बोद्धा, ८६

उन्होंने अपने भक्ति निरूपण में ज्ञान व योग को स्वीकार किया है। यह स्मरणीय है कि रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के साथ योग का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

बाशिरा भक्ति—तुलसी ने अरण्यकांड में माया द्वारा जगत् रूपी भ्रम की उत्पत्ति समझाई है, किन्तु यह माया भगवान के अधीन कर दी गई है। जिस जीव पर वह कृपा करते हैं, उससे वह माया दूर हो जाती है और तब उसे संसार का वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है। जगत् का वास्तविक रूप सत् असत् विलक्षण है।^१

तुलसी ने धर्म से विरत और योग से ज्ञान की उत्पत्ति कही है और ज्ञान को मोक्षप्रद भी बताया है, किन्तु इन सबके बिना भी भगवान् के अधीन होने पर उनकी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस भक्ति के प्रथम चिह्नों को देखने से यह पता चल जाता है कि तुलसी की भक्ति बाशिरा-भक्ति थी—

प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती, निज-निज कर्म निरत भूति रीती।^२

अर्थात् वर्णाश्रम धर्म और उसके प्रचारक ब्राह्मणों में प्रीति का उत्पन्न होना भक्ति को प्रथम शर्त है। निश्चित रूप से कबीर, दादू, नानक आदि इस शर्त को नहीं मान सकते थे, क्योंकि वे ब्राह्मण और वर्णधर्म की अवांछनीयता अपने युग में स्पष्ट देख रहे थे। इसीलिए तुलसीदास निम्न जातियों को एक सीमा तक ही अधिकार देते हैं। वह निश्चित रूप से प्राचीन व्यवस्था को पुनर्स्थापना करना चाहते थे किन्तु उसे अधिक से अधिक उदार बनाने का उन्होंने अवश्य प्रयत्न किया है। जहाँ तक भगवान को पाने का प्रश्न है, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ज्ञानियों से भी अधिक भगवान को अपने दास प्यारे होते हैं^३ चाहे वे किसी जाति या वर्ण के हों, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में तुलसीदास शास्त्र, वर्ण और विप्र तीनों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं—

१ गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानिहु भाई।

धर्म ते विरति, जोग तें ज्ञाना, ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।

अरण्य० दोहा १५-१६

२ अरण्यकाण्ड, दोहा, १६

३ उत्तरकाण्ड, दोहा, ८५-८६

सब मम प्रिय सब मम उपजाए, सबते अधिक मनुज मोहि भाए ।

तिन्हं महं द्विज, द्विज महं भुतिधारी, तिन्हं महं निगम धरम अनुसारी ॥

तिन्हं महं प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी, ग्यानिहु ते अति पुनि विज्ञानी ।

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा, जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ।^१

सन्तकवि ऐसे ही हरिदास होने पर भी तुलसी के प्रिय क्यों नहीं हो सके ? क्योंकि सन्तकवियों में तांत्रिक परम्परा की वह प्रवृत्ति मिलती थी जिसमें वर्णाश्रम धर्म और उसके व्यवस्थापक ब्राह्मणों का विरोध होता था । इसीलिए “साखी, सव्दी, दोहरे” कहने वालों का तुलसी ने विरोध किया है । दूसरी ओर वही तुलसीदास वामाचार के प्रवर्तक रुद्रशिव को इसीलिए स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उनके पूर्व ही वेद और वर्णव्यवस्था के रक्षकों में रुद्र-शिव को भी शामिल कर लिया गया था ।

भक्ति-योग व ज्ञान—उत्तरकांड में जब राम काकमुनि को उपदेश देते हैं, तब भक्ति के साथ योग और ज्ञान को भी वह नहीं भूले हैं —

भगति ग्यान, विग्यान विरागा, जोग चरित्र रहस्य विभागा ।

जानब तें सबही कर भेदा, मम प्रसाद नहि साधन खेदा ।^२

अन्यत्र भी भक्ति और ज्ञान में लोकहित की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं माना गया है—

जानहि भक्तिहि नहि कछु भेदा, उभय हरहि भव समव खेदा ।^३

किन्तु ज्ञानी भगवान के प्रादु तनय के समान हैं और भक्त बालक के समान । अतः भक्त की रक्षा के लिए भगवान स्वतः प्रयत्न करते हैं । दूसरे भक्ति से युक्त साधक पर माया प्रभाव नहीं डालती क्योंकि माया स्वयं स्त्री है और इसलिए भक्तिरूपी स्त्री पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता ।^४ अर्थात् रागमार्गी साधकों पर राग का प्रभाव नहीं पड़ता । स्पष्ट ही यह आगम-मूलक दृष्टिकोण है । आगमों के अनुसार राग का शमन करने वाले राग का शमन नहीं कर पाने, क्योंकि मृतवत् सर्प की तरह पुनः राग जाग्रत हो सकता है ।

१ उत्तरकाण्ड-बोहा ८५-८६

२ उत्तरकाण्ड, बोहा ८५

३ वही, बो० ११५

४ मोह न नारि-नारि के रूप, पन्नगारि यह चरित अनूपा ।

—वही, ११६

उत्तरकाण्ड के प्रसिद्ध दीपक के रूपक में तुलसी ने ज्ञान और योग की प्रशंसा की है। कहा गया है कि सात्त्विक श्रद्धाधेनु के दुग्ध को, धैर्य, सन्तोषादि गुणों से दधि रूप में परिणत कर, वैराग्यरूपी नवनीत निकालना चाहिए और योग-अग्नि से ममत्तारूपी मल को जला डालना चाहिए, तब विज्ञान-प्रधान बुद्धि दीपशिखा की तरह प्रज्वलित हो उठती है और “सोऽहं” की अनुभूति होती है, इस स्थिति में अनेक बाधाएं आती हैं। यदि किसी प्रकार निर्विघ्न समाधि प्राप्त हो जाय तो अति कठिन कैवल्यपद प्राप्त हो सकता है।^१

इस प्रकार ज्ञान व योग की महिमा को तुलसी स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने भक्ति को चिन्तामणि और ज्ञान को दीपक मानकर भक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

तुलसी के भक्ति-सिद्धान्तों में योग और ज्ञान का वह निरादर नहीं मिलता जो कृष्णकाव्य में मिलता है। रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के अनुसरण करने के कारण ही तुलसी संन्यास और योग की परम्परा को आगम-परम्परा के साथ सन्निविष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि सोमस, अगस्त्य, शरभंग, भरद्वाज आदि सभी ज्ञानी व योगी भक्त के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। आगमों की पंचदेवोपासना को तुलसी के रामावतसम्प्रदाय में इतना अधिक महत्त्व मिला है कि ज्ञान और योग के ऊपर सगुण ब्रह्म की भक्ति को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। किन्तु ज्ञान और योग की उपेक्षा नहीं की गई है। तुलसीदास ऐसे हठयोगियों का अवश्य विरोध करते हैं जो सगुण-भक्ति-विरोधी थे।

शक्तिवाद—तुलसी यद्यपि जगत् को मिथ्या मानते हैं, किन्तु उन्होंने माया को ब्रह्म के अधीन एक शक्ति के रूप में माना है। यह माया ब्रह्म के संकेत पर नर्तकी की तरह नृत्य करती है।^२ शंकराचार्य ने ब्रह्म और माया का यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है, यह स्मरणीय है। फिर भी माया को ईश्वर के अधीन कर देने से तुलसी को शक्तिवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह जगत् को शंकर की ही तरह मायाजन्य भ्रम मानते हैं जबकि शक्तिवादी उसे सत् मानते हैं।

आगममूलक शक्तिवाद का रूप तुलसी में सीतातत्व के रूप में प्रतिष्ठित है—

१ उत्तरकाण्ड, दोहा ११७, ११८, ११९।

२ उत्तरकाण्ड—काकभुनि का उपदेश

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया, सोइ अवतरिहि मोरि यह माया ।^१

अर्थात् लीला के लिए मैं सगुण रूप धारण करूँगा और मेरी शक्ति भी मेरी माया के द्वारा अवतार धारण करेगी । यहां शक्ति ब्रह्म का ही एक रूप है, वह ब्रह्म से भिन्न अज्ञान नहीं है ।

यही दृष्टि उमातत्व की प्रतिष्ठा में भी मिलती है । तुलसी ने उमा को अजा, अनादि और सृष्टिकारिणीशक्ति कहा है ।^२ और सीता के भी यही गुण बताये गए हैं, अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है । वस्तुतः सीता को उमा या लक्ष्मी का ही रूप दे दिया गया है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं बलेशहारिणीम्^३

शक्ति व शक्तिमान की पूर्ण एकता को भी आगमों की ही तरह तुलसी ने स्वीकार किया है—

गिरा अरथ जल बीचिसम, कहिअत भिन्न न भिन्न ।

बंदउं सीताराम पद, जिन्हहि परमप्रिय लिख ॥^४

शाक्तों की तरह शक्ति को जननी के रूप में भी देखा गया है । सीता को तुलसी अम्ब कह कर पुकारते हैं, क्योंकि पिता में वैभव, पराक्रम आदि गुण रहने से उनकी कृपा को माता ही जाग्रत कर सकती है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाय ।

मेरियो सुधि छाइबो, कछु करन कथा खलाइ ।^५

अन्यत्र तुलसी ने सीता को आदिशक्ति कहकर लक्ष्मी, उमा व ब्रह्माणी आदि शक्तियों को सीता की ही अंशरूपा कहा है—

१ बालकाण्ड — दोहा १५२

२ मयना सत्य सुनहुँ मम बानी, जगवंदा तब सुता सयानी ।
अजा अनादि, सक्ति अविनासिनि, सदा सम्भु अरधंग निवासिनि ।
जगसम्भव पालन लयकारिनि, निज इच्छा लीलाबधु धारिनि ।

बालकाण्ड, ६८

३ बालकाण्ड, प्रारम्भ

४ बालकाण्ड दोहा १८

५ विनयपत्रिका-पदसंख्या ४१

बाम भाग सोभति अनुकूला, आदि सवित छवि निधि जगमूला ।

जासु अस उपजहि गुनलानी, अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ।

भ्रकुटविलास जासु जग होई, राम बाम दिसि सीता सोई ।^१

विनयपत्रिका में तुलसी ने देवी-स्तुति में शक्ति को विश्वमूला, भीमा, रामा, वामा, चंडी, असुरविमर्दिनी तथा पराप्रकृति कहा है ।^२ इस “विकट देवी” का जो “ललित” और “पवित्र” उमा रूप है, उसी के आदर्श पर सीतातत्व की सृष्टि हुई है और रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में देवी का ललिता और रामा रूप ही विकसित हुआ है । तुलसी ने शक्ति सहित देवता पर सर्वत्र बल दिया है—

बेले जहं जहं रघुपति जेते, सवितन्ह सहित सकल सुर तेते ।

सती विधात्री इन्दिरा, देखीं अमित अनूप ।

जोहि जोहि बेष अजावि सुर, तेहि तेहि तन अनुरूप ।^३

शिव—तुलसीदास ने रुद्रशिव के वेदमार्गरक्षक और वेदमार्ग विरोधी अर्थात् वाममार्गी दोनों रूपों का चित्रण किया है । उन्होंने रामभक्ति के उपदेशकों में शिव को शामिल किया है । कृष्णभक्ति-साहित्य में भी शिव यशोदा के द्वार पर बालकृष्ण के दर्शन करने के लिए जाते हैं और रामभक्ति-सम्प्रदाय में भी वह राम के रूप के प्यासे दिखाये गये हैं । तुलसी के शिव को देखकर यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है कि यह देवता तथा इसके उपासक आर्य-तर जाति से सम्बन्धित रहे हैं ।

तुलसी ने शिव के तांत्रिक रूप के अनुसार उन्हें सिद्धिदाता,^४ श्मशान-निवासी^५, अवधूत, सिद्ध^६ तथा भैरव रूप कहा है ।^७ इस रूप में रुद्रशिव

१ बालकाण्ड-मानस, दोहा १४८

२ विनयपत्रिका-पद १५

३ बालकाण्ड-मानस, दोहा ५४-५५

४ विनयपत्रिका-पद ६

५ वही, पद ६

६ वही, पद १२

७ भोषणाकार भैरव भयंकर, भूत-प्रेत प्रमयाधिपति विपति हरता ।

डाकिनी साकिनी खेचरं भूचरं, जन्त्र-मन्त्र-भंजन प्रबल कल्मषारी ।

—वही, पद ११

अभिचार, जादू, भूत-प्रेत सिद्धि, शवसाधना आदि से सम्बन्धित दिखाई पड़ते हैं, फिर भी तुलसी ने उन्हें “रामरूप” कहकर वन्दना की है।^१

ऐसी भयंकर साधनाएं करने वाले रुद्रशिव को तुलसीदास वेदविप्र की मर्यादा का रक्षक भी बनाते हैं। शैव परम्परा के साधक जब ब्राह्मण गुरु का अपमान करते हैं तब शिव उन्हें श्राप देने को तैयार हो जाते हैं, क्योंकि नीति का विरोध वह नहीं सह सकते—

तवपि साप सठ बेहुऊं तोही, नीति विरोध सोहाइ न मोही ।

जौं नाहि बंड करौं खल तोरा, भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ।^२

यह मनोरंजक विषय है कि इन्हीं शिव के हठयोगी शिष्यों का तुलसी विरोध करते हैं,^३ क्योंकि वह वर्णाश्रम धर्म और ब्राह्मणों की उच्चता को नहीं मानते थे और भक्ति के भी विरोधी थे, किन्तु तुलसीदास भक्त होने पर भी वर्णाश्रमविरोधियों को क्षमा नहीं करते।^४

तुलसी-साहित्य में शिव को आगमों की ही तरह निराकार निर्गुण के रूप में चित्रित किया गया है^५ और उनका साकार रूप भी तुलसी के लिए उतना ही सत्य है, जितना कि राम का साकार रूप।

पंचदेवोपासना—वैदिकों के यज्ञयाग के समानान्तर स्मार्त ब्राह्मणों ने जिस पंचदेवोपासना का प्रचार किया था, उसे कभी हीन दृष्टि से देखा जाता था। तुलसी “स्मार्त” वैष्णव कहलाते हैं। उन्होंने विनय पत्रिका में गणेश, शिव, देवी, तथा विष्णु की स्तुतियाँ दी हैं। सूर्य-उपासना का उतना महत्व

१ भीषणाकार भैरव भयंकर, भूत-प्रेत प्रमथाधिपति विपति हरता ।
डाकिनी साकिनी लेखरं भूचरं, जंत्र-मंत्र-भंजन प्रबल कल्मषारी ॥

वही पद ११

२ उत्तरकाण्ड-दोहा १०७

३ हम लखि लखि हमार लखि, हम हमार के बीच ।

तुलसी अलखिहि का लखै, राम नाम जपु नीच ।—दोहाबली-दोहा १६

४ साली सबदाहि दोहरा, कहि कहनी उपखान ।

भगति निरूपहि भगत कलि, निर्दहि वेद-पुरान ।—वही, दोहा ५५४

५ निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं, बिदाकाशमाकाश, वासं भजेई

निराकारमोकारमूलं तुरीयं, गिरा ग्यान गोतीतमोक्षं गिरीशं

कलातीत कल्याण कल्पांतकारी, सदा सच्चिदानन्द दाता पुरारी

—उत्तरकाण्ड-दोहा १०८

तुलसी के समय तक नहीं रह गया था, इसलिए तुलसी ने उसे महत्त्व नहीं दिया ।

उक्त देवों के अतिरिक्त तुलसी ने रामभक्त होने से बानर हनुमान की उपासना का विपुल प्रचार किया है । राम के साथ राम के सेवक हनुमान की उपासना भी चल पड़ी । गणेश की तरह हनुमान की उपासना कभी स्थानीय थी । रामभक्ति के प्रचार के साथ हनुमान दूसरे प्रान्तों में भी पूजित हुए । इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं कि हनुमान-उपासना तांत्रिक उपासना है क्योंकि उसमें मंत्र और ध्यान का बहुत अधिक महत्त्व है । हनुमान की मूर्ति के ऊपर जो सिन्दूर लगाया जाता है, वह रक्त का अवशेष है ।^१ गणेश की ही तरह हनुमान को भी शिव के साथ सम्बन्धित कर दिया गया है । उन्हें यंत्र, मंत्र, मारण, कृत्या आदि से सम्बन्धित बताया गया है । तुलसी के पूर्व ही इस स्थानीय देवता को उच्च वर्गों ने स्वीकार कर लिया था । तुलसीदास ने तो स्पष्ट कहा है कि रामभक्त होने के कारण “सनेहवश” रुद्रदेव ने हनुमान का अवतार धारण किया था ।^२

गणेश की स्तुति के साथ रामचरितमानस का प्रारम्भ होता है, इससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । इस आर्येतर देवता को तुलसी वेदमार्ग के अनुकूल मानते हैं । उन्हें भी राम का भक्त बना दिया गया है ।

उक्त देवताओं के अतिरिक्त तुलसीदास ने “सियाराममय” कहकर देव, दनुज, नाग, खग, प्रेत, पितर, गन्धर्व, रजनीचर, किन्नर आदि की भी बन्दना की है ।^३ प्रेतपूजा में भी तुलसी का विश्वास था ।^४

वैदिक देवताओं के प्रति तुलसी की भक्ति नहीं थी । उन्होंने इन्द्रादि देवताओं को स्वार्थी व मायावी कहा है ।^५ पुराणों ने भी देवताओं के चरित्र

१ ब्रष्टव्य—एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री-भर्मनिंग कोशाम्बी, अध्याय २

२ जेहि सरीर रति रामसों, सोइ आवरें सुजान ।
रुद्रवेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान । दोहावली-दो० १४२

३ बाल काण्ड-दोहा ७

४ अयोध्याकाण्ड-दोहा ३५

५ स्वारथ विवस बिकल तुम्ह होह, भरत दोस नाहि राउर मोह ।
सुर स्वारथो मलीन मन, कीन्ह कुमन्त्र कुठाटु ।
रखि प्रपंच माया प्रबल, भयभ्रम भरति उषाटु —
अयोध्याकाण्ड-दो० २२०, २६५ ।

आदि के विषय में बहुत-सी अनुचित बातें लिखीं थीं और रुद्र, विष्णु और शक्ति की प्रशंसा की थी। इसलिए तुलसी ने भी देवताओं को प्रपंची प्रमाणित किया है। सम्भवतः तुलसी को उनकी स्वार्थवृत्ति खटकती थी, क्योंकि यज्ञयाग से प्रसन्न होकर ही देवता कुछ दे देते थे, जबकि राम अकारण ही कृपायु हैं।

यह मनोरंजक तथ्य है कि तुलसी वेद के विरुद्ध कोई बात नहीं सुनना चाहते और वैदिक देवताओं की जगह आगममूलक देवताओं में अपनी निष्ठा दिखाते हैं और उन्हें भी वेद के अनुकूल मान लेते हैं। इसका कारण यह है कि तुलसी के पूर्व निगमआगम का द्वन्द्व मिट चुका था।

रामपंचायतनपूजा—तुलसी ने उक्त देवताओं के अतिरिक्त परिवार सहित राम की पूजा का भी प्रचार किया। उन्होंने कहीं सीताराम की, कहीं लक्ष्मण सहित सीताराम की और कहीं हनुमान सहित पूरे राम-परिवार की उपासना का प्रचार किया है। पुराने देवताओं की जगह यह एक नई उपासना का प्रचार था। वैदिक देवतावाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।^१

मंत्रसाधना—भक्ति शास्त्रों में नाम या मंत्र को भक्तिप्राप्ति में सर्वत्र सहायक माना है। तुलसी ने मंत्रतत्त्व की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है।

विनयपत्रिका में मंत्र, यन्त्र का सम्बन्ध तुलसी ने शिव के साथ जोड़ा है। “ओं नमः शिवाय”—इस पंचाक्षरी मंत्र का उल्लेख तुलसी ने शिव के प्रसंग में किया है, किन्तु रामतारकमंत्र की महिमा भी तुलसी गाते हैं।^२ रामनाम को तुलसी ने शिव का भी सर्वस्व कहा है।^३ रामनाम की महिमा इतनी अधिक है कि “मरा-मरा” कहकर बाल्मीकि मुनि हो गये थे।^४ तुलसी रामनाम के आगे व्रत, तीर्थ, तप आदि को भी व्यर्थ समझते हैं।^५

१ मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा, पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा।

—मानस दो० १२६

२ पंचाक्षरी प्राण मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी।

ब्रह्म जीव सम रामनाम जुग, आखर बिस्व-विकासी।

—विनय पत्रिका, पद २२

३ सिब-सरबस सुखधाम नाम तब...विनय पत्रिका-पद १४१

४ वही, पद १५१

५ विदवास एक राम नाम को, व्रत तीरथ तप मुनि, सहमत पचि मरं करे-
तन छाम को—विनय० पद १५५

तन्त्रों में कहा गया है कि वेद के मंत्र कलियुग में काम नहीं देते, अतः तान्त्रिक मन्त्रों का ही फल इस युग में अमोघ माना जाता है। तुलसी भी इस परम्परा को स्वीकार करते हैं।^१

तुलसी ने “राम” बीजमंत्र के ‘रं’ ‘आ’ तथा ‘म’ को क्रमशः अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा का हेतु कहा है। इस मंत्र को वेदों का प्राण भी बताया गया है।^२ यह व्याख्या स्पष्ट ही तांत्रिक है।

तुलसीदास के अनुसार नामी नाम का सेवक है। नाम जपने से स्वतः देवता नाम का अनुसरण करता है।^३ नाम और रूप अनिर्वचनीय तत्त्व है। माधना से ही ये स्पष्ट होते हैं।^४ देवता का रूप नाम के अधीन रहता है। कोई भी विशेष रूप, बिना उसका नाम जाने पहिचाना नहीं जा सकता, जबकि रूप सम्मुख न होने पर भी नाम के स्मरण द्वारा रूप सम्मुख आ जाता है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म के बीच में नाम ही दोनों का साक्षी है। वह दोनों का प्रबोधक है, दुभाषिया है।^५ निर्गुण के उपासक योगियों को भी नाम का सहारा लेना पड़ता है।^६ नाम द्वारा ही परमात्मा का रूप स्पष्ट होता है। सिद्धियाँ भी नाम-जप से ही प्राप्त होती हैं।^७ और कामना हीन भक्त राम की भक्तिरस में लीन होकर नाम से ही अमृत तत्त्व को प्राप्त करते हैं।^८

१ यहि कलिकाल सकल साधन तह है छम-फलनि फरो सो ।

— विनय० पद १७३

२ बंदउं नाम राम रघुवर को, हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।

बिधि हरिहरमय वेद प्राण सो, अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥

— बालकाण्ड दो० १६

३ समुभूत सरिस नाम अर नामी, प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ।
वही, दोहा ३१

४ नाम रूप बुइ ईस उपाधी, अकथ अनादि सुसामुझि साधी । वही,

५ देखहि रूप नाम आधीना, रूप ज्ञान नहि नाम विहीना ।

रूप विशेष नाम बिनु जानें, करतलगत न परहि पहचानें ।

सुमरिअ नाम रूप बिनु देखें, आवत हृदय सनेह बिसेलें ।-वही

६ वही, दोहा २१

७ साधक नाम जपहि लय लाएं, होहि सिद्ध अनमादिक पाएं ।-वही

८ वही, दोहा २२

तुलसी ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्रह्म के निर्गुण सगुण दोनों रूपों से नाम बड़ा है, क्योंकि नाम से दोनों वश में हो जाते हैं। आगमों की मंत्र-साधना का तुलसी ने अनुसरण किया है, यह इससे प्रमाणित होता है, क्योंकि आगमों में देवता को मंत्रात्मक कहा गया है।

तुलसी को यह शंका होती है कि कहीं इसे लोग कवि-कल्पना न समझ बैठें, अतः उन्होंने मन्त्र-साधना के महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है—

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जनकी ।

कहउँ प्रतीति प्रीति रवि मनकी ॥

एक दासगत बेखिन्न एकू, पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ।

उमय अगम जुग सुगम नाम तैं, कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म रामतैं ।

राम एक तापस तियतारी, नाम कोटि खल अमित उधारी ।^१

तुलसी रामनाम के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों और विद्याओं में भी विश्वास करते थे।^२ उनके अनुसार मंत्र से भी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

बाह्य सिद्धियाँ और चमत्कार—आगमों ही की तरह तुलसी ने बाह्य सिद्धियों को मानकर भी अधिक महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि उनसे मुक्ति नहीं मिलती।^३ तन्त्रों में डामर कहलाने वाले तन्त्रों में ऐसी सिद्धियों का अधिक वर्णन मिलता है। ऐसी सिद्धियों को फलार्थी साधकों के लिए उपयुक्त माना गया है। तुलसी ने सिद्धि-परम्परा में अपना विश्वास प्रकट किया है—

जथा सुधंजन अंजि दृग, साधक सिद्धि सुजान ।

कौतुक देखत संल बन, भूतल भूरि निधान ॥^४

तुलसी ने शावरमन्त्रों की चर्चा की है जिनसे आर्शुसिद्धि होती है—

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा ।

साबर मंत्रजाल जेहि सिरजा ॥

१ बालकाण्ड-दोहा २३

२ जानकी मंगल-पद ४०

३ तुलसी परिहरि हरि हरहि पांवर पूजहिं भूत ।

अंत फजोहत होहिंगे, गनिका के से पूत ॥

—दोहावली, दोहा संख्या-२५१

४ बालकाण्ड, दोहा १

अनमिल आखर अरथ न जायु ।

प्रगट प्रभाव महेश प्रतापु ॥^१

तुलसी का मत है कि बाह्य सिद्धियों के लिए भी राममंत्र समर्थ है । रामनाम के जप द्वारा उस वामाचार को नहीं अपनाना पड़ता जिसे प्रायः साधक अपनाते हैं ।^२ तुलसी ने ऐसे वामाचारियों की निन्दा की है ।^३

बाह्य सिद्धियों, जादू और अभिचार का सम्बन्ध तुलसी ने आर्येतर जातियों के साथ अधिक दिखाया है । यह परम्परा अथर्ववेद के समय ही चली आ रही थी । मेघनाद, युद्ध में विजय के लिए निकुम्भिला देवी का यज्ञ करता है । इस यज्ञ में पशुबलि दी गई थी ।^४ तुलसी ने मेघनाद को मायावी कहा है इसका स्पष्ट अर्थ “ब्लैक मैजिक” का प्रयोक्ता है । मानस में राक्षसों की माया या जादू का चमत्कार तुलसी ने विस्तार से वर्णित किया है ।^५

आर्यों ने भी इस माया को सीख लिया था । देवी या शिव के साथ इसका विशेष सम्बन्ध दिखाई पड़ता है । विश्वामित्र अथर्व विद्या के विशेषज्ञ थे, उन्होंने राम को सिद्धियाँ दी थीं ।^६ दशरथ का सत्कार जनक ने सिद्धियों द्वारा किया था ।^७

१ बालकाण्ड बोहा १५

२ पय अहार फल खाइ जपु, राम राम षटमास ।

सकल सुमंगल सिद्धि सब, करतल तुलसीदास ।--बोहावली, बोहा ५

३ असुम वेष भूषन धरें, मच्छ अमच्छ जे लाहिं ।

ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माहिं ॥--बही, बोहा ५५०

४ मेघनाद मल्ल करइ अपावन, लल मायावी देव सतावन ।

जाइ कपिन्ह सो बेला बैसा, आहुति बैत दधिर औ भैंसा ॥--लंकाकाण्ड, बोहा ७५-७६ ।

५ उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया, जीति न जाय प्रभंजन जाया ।

सुन्दरकांड, १६ बोहा ।

नभ चढ़ि वरष विपुल अंगारा, महि ते प्रगट होहि जलधारा ।

माना भांति पिशाच पिशाची, माय काटु धुनि बोलहिं नाची ॥

लंका—बोहा ५२

६ बालकांड, बोहा २१०

७ बही, बोहा ३०६

सारांश यह है कि तांत्रिक परम्परा की बाह्य सिद्धियों से सम्बन्धित धारणाएँ और विश्वास तुलसीदास के साहित्य में सुरक्षित हैं, किन्तु उन्होंने आगमों की तरह इन बाह्य सिद्धियों को आध्यात्मिक विकास में बाधक माना है ।^१

अभिष्यंजना पद्धति—तुलसीदास पर आगमों की स्तोत्रपरम्परा का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है । देवता-स्तुति के रूप में उन्होंने विनयपत्रिका लिखी है और मानस में स्थान-स्थान पर उन्होंने स्तोत्र दिये हैं । इष्टदेवोपासना के साथ स्तोत्र की इस अभिन्नता का कारण है—ध्यान के लिए रूपों की सृष्टि तथा देवता के प्रति आत्मनिवेदन, अतः इष्टदेवता के गुणों, छवियों और प्रभाव का वर्णन तुलसी ने विस्तार से किया है । जहाँ तुलसी ने अन्य काव्यपद्धतियों को अपनाया था, वहाँ यह स्तोत्र-परम्परा भी उन्होंने अपनाई थी ।

विपरीत-कथनपद्धति का प्रयोग तुलसी में नहीं हुआ किन्तु प्रतीकात्मक पद्धति उनमें अवश्य विकसित हुई है । वस्तुतः राम की सारी लीला ही मानसी-ध्यान के रूप में गृहीत होने से आध्यात्मिक अर्थ ही देती है—उदाहरण के लिए साधना की दृष्टि से राम-रावण युद्ध आन्तरिक देवासुर-संग्राम का एक भव्य रूपक है ।

यह स्मरणीय है कि लोक भाषा के प्रति तुलसी की रचि के जो कारण बताये गये हैं उनमें एक कारण यह भी है कि रामानन्द ने नाथ-पंथियों के प्रभाव के कारण श्री वैष्णवों के विपरीत लोकभाषा में लिखने की परम्परा डाली थी, तुलसी ने उसी का अनुकरण किया है ।

रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय—तुलसीदास में राम का भूभारहारी रूप ही अधिक चित्रित हुआ है, किन्तु तुलसीदास के ही समय में रामावत सम्प्रदाय में ऐसे भी भक्त-कवि हुए हैं जो राम के ललितपक्ष को लेकर चले हैं । स्वयं रामानन्द पर आगम प्रभाव के कारण इस रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्तन का उत्तरदायित्व डाला गया है । यही नहीं अपितु कहा तो यहाँ तक गया है कि रामानन्द के भी पूर्व रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय का विकास हो चुका था । इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए वाल्मीकि रामायण, रघुवंश, जानकी-हरण (कुमारदास ८०० ई०) हनुमन्नाटक अथवा महानाटक (१०वीं शताब्दी) तथा प्रसन्नराघव नाटक (ग्यारहवीं शताब्दी) आदि रचनाओं से राम की रमण-

लीला से सम्बन्धित उदाहरण भी दिये गये हैं ।^१ यह भी बताया गया है कि रामभक्ति में रसिक भावना का साम्प्रदायिक स्वरूप सर्वप्रथम नम्मालवार में मिलता है । कुलशेखर व अंडाल, लोकाचार्य और वरवरमुनि में भी रसिक भावना का विकास दिखाई पड़ता है । इसी परम्परा में रामानन्द ने ईश्वर जीव के “भोग्य-भोक्तृत्व” भाव को प्रतिष्ठित किया था ।^२

रामानन्द के बाद अनन्तानन्द व कृष्णदास पयहारी में इसी रसिक भावना का विकास हुआ ।

रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अग्रदास—(विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी) उपर्युक्त रामभक्ति में रसिकभावना के विकास को यदि प्रामाणिक माना जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तांत्रिक युग में ही रामभक्ति में राम की शृंगारिक क्रीड़ाओं का प्रवेश हुआ । नम्मालवार व अंडाल तांत्रिकयुग के ही साधक हैं । और इन आड़वार भक्तों तथा इनके अतिरिक्त शैवभक्तों में भी गुह्य रहस्यवाद अवश्य मिलता है । तांत्रिक युग के प्रभाव के कारण ही राम के साथ माधुर्यभावना का सम्बन्ध दृढ़ हुआ है, किन्तु अग्रदास के पूर्व तक इसका साम्प्रदायिक रूप पूर्णरूप से निश्चित नहीं हो पाया था । अग्रदास ने आगमों की पद्धति पर शक्ति और शक्तिमान अर्थात् सीता और राम की रति-क्रीड़ाओं का वर्णन भक्तकवियों के लिए अनिवार्य कर दिया । इस प्रकार अग्रदास और उनके बाद रामभक्ति में जिस रसिक सम्प्रदाय का विकास हुआ है वह तुलसीदास में नहीं मिलता । तुलसीदास ने जागरूक होकर राम के मर्यादावादी रूप को प्रतिष्ठित किया है । अतः तुलसी पर आगमों के शक्तिवाद का जो प्रभाव दिखाई पड़ता है, उसमें मर्यादाहीन शृंगारिक चित्रणों के लिए स्थान नहीं है, जबकि अग्रदास और उनके बाद के कवियों में कृष्ण-भक्तों की तरह इस प्रकार के चित्रण बहुत अधिक मात्रा में मिलते हैं ।

डा० भगवतीसिंह ने भी “रसिक सिद्धान्तों” पर आगम-प्रभाव प्रमाणित किया है । उनके अनुसार “वैष्णवाचार्यों द्वारा विरचित रामभक्तिपरक रचनाओं

१ रामवस्त्रगलितः श्रमाम्बुमिच्छितं कुचयुगस्य कुंकुमम्
सा निरीक्ष्य हसिते सखीजने संमुखाद्युपजगाम सस्मितमृ-जानकीहरण ८-

११ द्रष्टव्य-रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ६७ से ७६ तक

२ नमः पदेना खंडेन त्वात्मात्मनोयत्स्वमुच्यते

वृत्त्यन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वमप्युत—वही, पृ० ८२

के साथ पांचरात्र तथा वैष्णव तन्त्रों की भी एक परम्परा पहले से ही चली आ रही थी। इसके अतिरिक्त शैव और शाक्त आगमों का भी प्रचुर साहित्य शताब्दियों पूर्व प्रस्तुत हो चुका था। अतएव साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के निर्माण में अग्रदास का उनसे भी प्रेरणाग्रहण असम्भव नहीं कहा जा सकता। विशेष-रूप से ऐसी स्थिति में जब श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में उनके पूर्वाचार्य यामुनमुनि आगम को पंचमवेद की प्रतिष्ठा दे चुके थे।^१

यद्यपि अग्रदास की “ध्यानमंजरी” में आगमों के विषय में उल्लेख नहीं मिलता तथापि भक्तमाल में उद्धृत अग्रदास के एक छप्पय में कहा गया है—

आगमोक्त शिवसंहिता, अगर एकरस भजनरति।^२

इसके अतिरिक्त १९वीं शताब्दी के मानस के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण-दास ने पांचरात्र, और शैव-शाक्त तंत्रों का उल्लेख किया है।

पांचरात्रसंहिताएँ—अगस्त्यसंहिता, भरद्वाज संहिता, वसिष्ठसंहिता, सनत् कुमारसंहिता, हिरण्यगर्भसंहिता आदि।

शैवतंत्र—शैवागमसागर, ब्रह्मयामलतन्त्र, स्कन्दयामलतन्त्र।

शाक्ततन्त्र—महासुन्दरी तन्त्र।

उपर्युक्त पांचरात्र संहिताओं में सनत्कुमार संहिता का यामुनाचार्य (१०४० ई० मृत्यु) ने तथा वसिष्ठ व भरद्वाजसंहिता का वेदान्तदेशिक (१४वीं शताब्दी) ने उल्लेख किया है।^३ इसका तात्पर्य यह हुआ कि अग्रदास के बहुत पूर्व इस संहिताओं का निर्माण हो चुका था।

ब्रह्मयामलतन्त्र में राम का शृंगारी रूप भी मिलता है,^४ इसी प्रकार अगस्त्यसंहिता में जो निश्चित रूप से तुलसी व अग्रदास से पूर्व निमित्त हो चुकी

१ रामभक्ति में रतिक सम्प्रदाय—पृ० ६०

२ वही

३ डा० भगवतीसिंह, पृ० ६१

४ रमाविहारी रघुराट रमाशक्त्येक विग्रहः।

रमाविग्रहधारी च रमाध्यानपरायणः

रमाकेलि कुलाचारी रमाचारगुरोगुरुः

रामो विष्णुगंगाभोगी, रामो ज्ञानवर्तावरः

रमातरंगसंहिता, रामभार्यारतिप्रिया—वही, पृ० ६३

थी, मानसी ध्यान के रूप में सीताराम के विहार का वर्णन किया गया है ।^१
सदा शिवसंहिता और अग्रदास की ध्यानमंजरी में सादृश्य दिखाई पड़ता है—

तस्य मध्येपुरं दिव्यं साकेतमिति संज्ञकम्-सदाशिवसंहिता
अवध पुनिर की अवधि यही स्मृति अस्मृति बरनी-ध्यानमं०
तन्मध्ये परमोदाराः कल्पवृक्षो वरप्रवः

तस्याधः परमं दिव्यं रत्नमंडपमुत्तमम् ।

तन्मध्ये वेदिका रभ्या स्वर्णरत्नविनिर्मिता ।

तन्मध्ये च परं शुभ्रं रत्नसिंहासनं शुभम् ।—सदाशिव सं०

कल्पवृक्ष के निकट तहाँ यक धाम मणिन जुत ।

कंचनमय सब भूमि परम अति राजत अवभुत ।

स्वर्णवेदिका मध्य तहां यक रजत सिंहासन ।

सिंहासन के मध्य परम अति पदुम सुभासन ।—ध्यानमंजरी^२

स्पष्ट है कि अग्रदास ने तन्त्रों से ही प्रेरित होकर शक्ति-शक्तिमान की रति-क्रीड़ा का वर्णन किया है । इसीलिए राम रमाकेलिकुलाचारी और सीता रति-प्रिया के रूप में चित्रित हुई हैं । मर्यादा की रक्षा के लिए स्वकीयाभाव को ही अपनाया गया है और जीव सखीभाव से सीताराम के रमण में सहायक होता है । स्वयं अग्रदास ने आगम का प्रभाव स्वीकार किया है—

सुनि आगम विधि अर्थ कछुक जो मन हियो आवे ।

एहि मंगल कर ध्यान जयामति बरन सुनावे ।^३

ध्यान मंजरी—अग्रदास ने शक्ति-शक्तिमान के युगल रूप का भव्य नख-सिख वर्णन किया है । यह नख-सिख वर्णन साधकों के ध्यान के लिए किया गया है ।

युगल की “सुरति” में सखियाँ अपने अपने अधिकार के अनुसार सेवा करती हैं—

१ अन्योन्यादिलष्टहृद्वाहुनेत्रं पश्यंतमावरात् ।

दक्षिणेन कराग्रेण कुचाग्रे चंचलाग्रकं ।

स्पृशन्तं च तनोत्सर्गं, परिहासेर्मुहुर्मुहुः ।

बिनोदपंतं ताम्बूलचर्वणकपरायणम् ।—बही

२ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ६४-६५

३ निजी हस्तलिखित प्रति से उद्धृत

जो जो जेहि अधिकार सचिव सेवा मन बासे ।
 बीना मुरतान गान कर प्रभुहिं उपासे ।
 एहि ध्यान उर धरे सो जन्म सफल करेवा ।
 भव चतुरानन आदि चरन बंदित सब देवा ।
 एहि वम्पति वर ध्यान रसिक जन नितप्रति ध्यावे ।
 रसिक बिनां एहि ध्यान और सपने नहिं पावे ।^१

ध्यान—

अतुलित जुगल स्वरूप कौन अस उपमा उनकी ।
 जेतिक उमादिससक्ति करि भासत तिनकी ।
 एहि विधि राजित राम अवधपुर अवध बिहारी ।
 वम्पति परम उदार मुजस सेवक सुखकारी ।
 अप अपनी निज ठौर नित्य परिकर बनि भारी ।
 सुरति सक्ति मिथिलादि रहत निस अन्याकारी ।
 “अमल अमृत रसधार” रसिक जन एहि रस पावें ।
 ताकी नीरस ज्ञान योग तप छोई लागे ।
 धर्मसार एहि चरित सुनत श्रवणन अघहारी ।
 रसिक जनन हित करन “रहस्य” यह ताहि प्रकासी ।^२

अपनी इस रसिकभावना के कारण अग्रदास सम्प्रदाय में “अग्रअली” और सीताजी की “प्रियसखी” चन्द्रकली के अवतार माने जाते हैं ।

अग्रदास की एक अन्य कृति “कुंडलिया” में सखी भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है ।

सहज चलौंगी आपनी, अनख मरेंगे लोग ।
 अनखि मरेगे लोग, वेद कुलकानि न करिहौ ।
 भली बुरी सिर धारि, अनन मारिग अनुसरिहौ ।
 देव पितर विधि अविधि, लोक परलोक न सूसो ।
 सरवस सीताराम कोऊ, रूसो कोउ तूसो ।
 अग्र सुमतिपयहरि बरौ, करिहौ दूढ़ संयोग ।
 सहज चलौंगी आपनी अनखि मरेंगे लोग ।

१ ध्यानमंजरी — निजी हस्तलिखित प्रति से, सम्बत् १८६६, लेखक बाबा मंगलदास ।

२ वही

यहाँ भी “सीताराम” का “युगनद्ध” रूप देखकर प्रसन्न होने की भावना है, एक स्थान पर अग्रदास राधावल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण की तरह राम को भी “सीता” का सुमिरन करते हुए दिखाते हैं—

जगत जपत रघुनाथ नाम सब,
राम करत सीता को सुमिरन,
रघुबर के मँथिली महाधन ।^१

तुलसीदास में मधुरामक्ति—अग्रदास की तरह रसिक भक्त तुलसीदास को “चारुशीला” या “तुलसीसखी” कहते हैं और उनके काव्य में भी “सखीभाव” खोजते हैं—

तुलसीदास के श्रृंगारपरक, काव्यस्थलों की व्याख्या रसिक सम्प्रदाय के अनुसार की गई है, अर्थात् तुलसीदास को भी सखीभावना का उपासक माना गया है । गीतावली में इस दृष्टिकोण के अनुसार कुछ ऐसे पद मिलते हैं जिनमें तुलसीदास का सखीभाव व्यक्त हुआ है—

जैसे ललित लखन लाल लोने ।
तेसिये ललित उरमिला परस्पर लखत सुलोचन कोने ।
सोभा सील सनेह सोहावने, समउ केलिगृह गौने ।
देखि तिघन के नयन सफल भए तुलसिदास हू के कोने ।^२

इसी प्रकार बरवै रामायण से भी एक पद्य उद्धृत किया गया है—

उठी सखी हंसि मिस कहि मृदु बँन ।
सिय रघुबर के भये उनीबे नैन ।

क्या इस प्रकार के पद्यों से यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि तुलसी सखीभाव के ही उपासक थे । वास्तविकता यह है कि तुलसी मर्यादा की सर्वत्र रक्षा करने के कारण सेवक-सेव्य भाव के ही उपासक ठहरते हैं । हमें इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं, हमें तो यह देखना है कि तुलसी पर तन्त्रों का प्रभाव किस रूप में पड़ा है और रसिक सम्प्रदाय के कवियों पर किस रूप में । हम, देख चुके हैं कि तुलसीदास के सीताराम शक्तिवादी सिद्धान्त के अनुरूप ही गढ़े गये हैं, किन्तु अपने मर्यादावाद के कारण तुलसीदास ने

१ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ३८१, ३८२

२ गीतावली-बालकाण्ड

उनकी गुह्यरति का वर्णन नहीं किया है, जबकि सखीभाव के उपासकों ने आगमों की श्रृंगारी-भावना का अनुकरण किया है।

नाभादास — नाभादास अग्रदास के शिष्य थे। इनके अष्टकालचरित के एक पद से ही सखीभाव प्रमाणित होता है—

हा रघुनन्दन चन्दन सीतल अंग ।
विकल बाल विरहनियाँ बिन पिय संग ।
सखि मनमोहन सोहन जोहन भोग ।
छोहन जियत जियरवा भामिनि भोग ।
कलित अंगसुख आभिहि नामहि देव ।
पीतम लाल पियरवा, यह जस लेहु ।^१

नाभादास भी रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय के साधकों द्वारा 'नाभाअली' के नाम से पुकारे जाते हैं।

भक्तमाल के अनुसार मानदास, मुरारिदास, खेमालरतन राठौर, प्रयागदास भी रसिकभाव के भक्त थे।^२ मानदास से विषय में नाभादास ने कहा है—कि मानदास ने 'राम' को गुप्तकामकेलि प्रकट की थी—

कोशलेशपदकमल अनन्यदास द्रव लीनो ।
जानकी जीवन सुयश रहत निशिदिन रंग भीनो ।
रामायण नाटक की "रहसि" उक्त भाषा धरी ।
गोप्य केलि रघुनाथ की, श्री मानदास परगट करी ।^३

बालकृष्ण 'बालअली' (काव्यकाल सं० १७२६) के विषय में कहा गया है कि वह रामानुज सम्प्रदाय में पहले दीक्षित हुए परन्तु उस मत के 'सदाचार' मार्ग से संतुष्ट न होकर स्वप्न में अग्रदास द्वारा सीतापरत्व युक्त सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इन्होंने "जेती रस रीति सब अलीभावमयी है"^४ कहकर "युगल-स्वरूप" का ही वर्णन किया है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस अलीसाधना से सम्बन्धित जो उदाहरण दिये

१ डा० मगवतीसिंह, पृ० १००

२ वही, पृ० १०१

३ भक्तमाल, पृ० २६८—खेमराम श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् १९८८

४ डा० मगवतीसिंह, पृ० ३८६-३८७

हैं, उनमें और कृष्ण सम्प्रदाय के मर्यादाहीन सम्भोगपरक चित्रणों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता—

नीबी करषत बरजति प्यारी ।

रसलंपट संपुट कर जोरत, पद परसत पुनि लं बलिहारी ।

पिय हंसि रस-रस कंचुकि खोलें ।

खमक निवारति पानि लाड़िली, मुरक-मुरक मुख बोलें ।^१

डा० भगवतीसिंह का इन उदाहरणों के विषय में मत है कि इनमें “युगल-विहार का जो वर्णन कि गया है, वह साम्प्रदायिक सिद्धांतों के अनुकूल है ।^२ किन्तु शुक्लजी द्वारा उद्धृत एक अन्य पद को वह प्रमाणिक नहीं मानते—

हमारे पिय ठाड़े सरजू तीर ।

छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ लड़े लखन के बीर ।

मृदु मुस्काय पकरि कर मेरो, खेंचि लियो तब चीर ।

झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर, करन लगे रति धीर ।^३

क्योंकि इस पद में जीव का रतिद्रष्टा रूप नहीं है, अपितु वह राम के साथ स्वयं रति करता है, अतः उसे डा० भगवतीसिंह एक “अष्ट रसिक” की उपाधि देते हैं ।^४ यह सही है कि ऐसे अष्ट रसिकों की कमी नहीं है और ऐसे लोगों ने बहुत से सम्भोगपरक पद लिख कर भक्तों की रचनाओं में शामिल कर दिये हैं । किन्तु तांत्रिक प्रभाव के कारण जब स्वयं भक्तकवि भगवान के सम्भोग का नग्न वर्णन करते हैं तब अष्ट रसिकों और पवित्र रसिकभक्तों की रचनाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता । स्वयं रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में रसिक अली जैसे भक्तकवि भी हुए हैं जो भगवान के साथ “स्वसुख” के सिद्धान्त को भी मानते थे और इस सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त अष्ट रसिक की रचना भी सम्प्रदाय के विरुद्ध नहीं प्रमाणित होती । तांत्रिकों ने स्पष्ट कहा

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८६, इंडियन प्रेस, प्रयाग, संवत् १९९७

२ डा० भगवतीसिंह, पृ० १५

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८६

४ डा० भगवतीसिंह पृ० १५

था कि संसार में भ्रष्ट और पवित्र कुछ नहीं है, जिससे पतन होता है, उसी से मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है। अध्यात्मवादी काम का भोग दिव्यस्तर पर करता है और इससे उसका आध्यात्मिक उत्थान होता है, जबकि एक सामान्य व्यक्ति काम के भोग से पतित होता है। इस दृष्टि को मान लेने के कारण राग को भी साधना का माध्यम मान लिया गया। भक्तकवियों ने भगवान को “कोककलानिपुण” सामान्य व्यक्ति के रूप में चित्रित किया। शक्तियों के साथ-साथ इस दिव्य लीला के वर्णन और लौकिक श्रृंगार में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता, केवल दृष्टिकोण का अन्तर अवश्य प्रतीत होता है। इसलिए सामान्य व्यक्ति के लिए जो भ्रष्ट है, साधक के लिए वही मुक्ति-प्राप्ति का साधन है। यही कारण है कि मधुराभक्ति के विकास के लिए शुद्धभावदेह पर इतना बल दिया गया है। परन्तु एक सीमा तक इस दिव्य लीला को गुप्त रखने का प्रयत्न करने पर भी जो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनसे भगवान की सम्भोग-लीलाओं को कभी अलग नहीं किया गया, उनका बराबर प्रचार होता है और उनकी जन-प्रियता का कारण यह है कि लौकिक और अलौकिक का विरोध जनता को उसमें नहीं मिलता।

रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय से सम्बन्धित ऐसे अनेक उदाहरण डा० भगवतीसिंह के प्रबन्ध में दिये गये हैं। हम अधिक उदाहरण न देकर इस सम्प्रदाय पर तांत्रिक प्रभाव का निर्देश करना अधिक आवश्यक समझते हैं।

शक्तिपात—इस सम्प्रदाय में भी भगवान की कृपा से ही साधना की ओर प्रवृत्ति मानी जाती है। शैवागमों के अनुसार मल का परिपाक होने पर ही शक्तिपात होता है, यहाँ भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है।^१

दीक्षा—साधना में प्रवेश के समय इस सम्प्रदाय में तांत्रिकों की ही तरह नया नाम रखा जाता है। दीक्षामंत्र को यहाँ भी “चिन्मय” कहा गया है। मंत्र की संज्ञा रहस्य है। ये रहस्य तीन प्रकार के हैं—

मन्त्रराज च बीजमन्त्र—रां रामाय नमः

शरणागति मन्त्र—श्री राम शरणं मम

तृतीय रहस्य—सकृदेवप्रपन्नाय, तवास्मीति च याचते ।

अमय सर्वभूतेभ्यो दवाम्येतद् व्रतं मम ।

दीक्षा के समय नौ प्रकार के भाव उपदेशित होते हैं—पिता-पुत्रभाव,

रक्षरक्षकभाव, भर्ताभार्याभाव, स्वामीसेवकभाव आदि भावों में श्रेष्ठ और अन्तिम भाव है—भोक्ताभोग्यभाव ।

इस सम्प्रदाय में गुरु का आगमों की तरह ही अमित महत्व है । गुरु को साधक और साध्य का मध्यस्थ माना गया है ।

मंत्र और गुरु के अतिरिक्त मुद्राओं का भी विधान किया गया है । धनुष, वाण, नाम, चन्द्रिका और मुद्रिका ये पाँच मुद्राएँ हैं । दीक्षा के अवसर पर न्यास की तरह ही साधक के वक्षस्थल पर युगल नाम की छाप दी जाती है । इस संस्कार में भी युगल का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । नाम को युगल-विग्रह का प्रतीक माना गया है । तिलक और कंठी धारण में भी युगल सिद्धान्त मिलता है ।

वर्णन—इस मत में पाँचरात्र आगमों की तरह ही, व्यूह, विभव, अंतर्ध्यानी और अर्चावतार ब्रह्म के ये पाँच रूप स्वीकृत हैं । अर्थात् परात्पर ब्रह्म अपनी शक्ति द्वारा अनेक रूप धारण करता है । इस सम्प्रदाय को इसीलिए शक्तिवादी कहा जा सकता है । परात्पर ब्रह्म या राम के साथ सीता शक्ति की स्थिति मानी गई है । परवर्ती सीतोपनिषद् के आधार पर सीता शब्द की यह व्याख्या की गई है कि जो अपनी चेष्टा से भगवान् को वश में करे, वह सीता है—सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता । इस सम्प्रदाय में जीव का स्त्रीभाव ही कल्पित है, पुरुषभाव नहीं । जीव सीता की शक्ति का अंश है, अतः वह सीता के सम्मुख समर्पण करता है । इस सम्प्रदाय में जगत को शक्तिरूप माना गया है ।

साधना—इस मत में आगमों की तरह मूर्ति-उपासना का बड़ा महत्व है ।

मूर्तिपूजा में मूर्ति को साक्षात् भगवान् माना जाता है, प्रतीक नहीं । क्योंकि मूर्ति में भगवान् की शक्ति का अवतरण होता है ।

इस मत में बाह्य उपासना का उद्देश्य भगवान् की मधुर लीलाओं में प्रवेश प्राप्त करना है । कर्म तथा ज्ञान को इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक माना गया है । एक विशेष प्रवृत्ति यह है कि इस सम्प्रदाय में योग को भी बहुत अधिक महत्व दिया गया है ।

क्रम-साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम या मंत्रसाधना आती है । सन्तकवियों की तरह इस मत में अजपाजाप स्वीकृत है । अजपाजाप से भक्ति प्राप्त होती है और अन्त में प्रपत्ति उत्पन्न होती है जिसमें भक्त भगवान् के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता । इसी स्थिति को सर्वोच्च माना गया है । तंत्रों में जहाँ

ब्रह्म के साथ पूर्ण अद्वैत स्थिति मानी गई है, वहाँ इस मत में साधक के व्यक्तित्व की रक्षा का प्रयत्न किया गया है।

इस मत में सात साधन-भूमियाँ मानी गई हैं। प्रथम तीन भूमियों में मन्त्रजप अथवा नामजप तथा अजपाजप को स्वीकार किया गया है। चौथी भूमिका नाम ध्यान है, इसमें हृदयकमल में युगल नाम का तथा कमल के दलों पर प्रणव आदि महामन्त्रों का ध्यान किया जाता है। नाम के भीतर से अनाहतनाद व्यक्त होता है, ऐसा विश्वास भी इस मत में स्वीकृत है। नामध्यान से सच्चिदानन्द प्रकट हो जाता है।

इसके बाद भगवान् के गुणों का चिन्तन किया जाता है पाँचरात्र आश्रमों के षडगुण ही इस मत में ही स्वीकृत हैं। तत्पश्चात् शक्ति-शक्तिमान का रूप-ध्यान किया जाता है जो महाभाव को उत्पन्न करता है। युगल में प्रीति की दृढ़ता से ही महाभाव प्राप्त होता है। “मादनदशा” में युगलविहार का दृश्य साधक को मस्त कर देता है और “उन्मादन” अवस्था में युगल के अनुराग को देखकर जीव आत्मविभोर हो जाता है। यही “दीवानेपन” की स्थिति है। जैसे तान्त्रिक योगी व सूफी आत्मानन्द से छक कर भूमते थे वैसे ही भक्त अपनी चेतना में स्फुरित भगवान् के नित्यविहार को देखकर भूमता है। वह संसार के द्वन्द्वों से परे हो जाता है।

परवर्ती राम सम्प्रदाय के भक्तों ने परवर्ती सन्तकवियों की तरह ही पर्याप्त “मौलिकता” दिखाई है। उन्होंने उक्त तत्त्वों के नाना भेद किये हैं और साकेतधाम, कनकभवन आदि के कविस्वपूर्ण वर्णन दिये हैं, परन्तु इन सबका “पैटर्न” तान्त्रिक है। साकेतधाम के विषय में यह स्पष्ट कहा गया है कि उसका दर्शन सर्वप्रथम पिंड में चाहिए, तभी उसका पारमायिक रूप स्पष्ट होता है। जिस तरह विश्वनार्थसह तथा कबीर मन्सूर के लेखक ने नाना लोकों की कल्पनाओं पर बल दिया है, उसी तरह इस मत में साकेतधाम की कल्पना पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इस प्रकार इस मत में परवर्ती राम-सम्प्रदाय और मथुरा-वृन्दावन के सखी-सम्प्रदाय का समन्वय मिलता है।

स्वमुख व तत्सुख सिद्धान्त—रसिकझली नामक भक्त कवि ने राम के साथ जीव की रति को भी माना है, किन्तु जीव को वह “सुख” राम की कृपा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, यही स्वमुख का सिद्धान्त है। तत्सुख सिद्धान्त के अनुसार जीव केवल सखीभाव से सीताराम की रसिलीलाओं का केवल दर्शन

कर सकता है।^१ वल्लभाचार्य के मत में स्वसुख का सिद्धान्त जिस प्रकार स्वीकृत था, उसी प्रकार रसिकमाली ने तत्सुख के साथ स्वसुख का सिद्धान्त भी प्रचलित किया, किन्तु अधिकतर तत्सुख का सिद्धान्त ही माना जाता है।

वस्तुतः तत्सुख का सिद्धान्त मर्यादा की रक्षा के लिए बनाया गया है। भक्तों को यह भय रहा है कि कहीं उनका सिद्धान्त पूर्ण रूप से रहस्यवादी न हो जाय। किन्तु तत्सुख का सिद्धान्त भी रहस्यवाद से रहित नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार भी सीताराम की परिचर्या करते समय सखियों को “चुम्बन”, “भ्रातृगण” आदि का सुख तो प्राप्त होता ही था। इस प्रकार रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पर तांत्रिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता है।

सम्पूर्ण वैष्णव-साधना व दर्शन पर विहंगावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भार्य धर्म के लिए इस साधना व दर्शन द्वारा प्रस्तुत तत्त्व, देवता, शक्ति, मूर्ति, मन्दिर, गुरु मन्त्र, स्तोत्र, भक्ति आदि नवीन थे। ये तत्त्व शैव, शाक्त, पाँचरात्र तथा बौद्ध, तन्त्रों में विकसित हुए थे। इनमें बहुत से तत्त्व पुराणों में भी स्वीकृत हुए थे। वैष्णवों ने इन तत्त्वों को स्वीकार कर अपनी विशिष्ट साधना और तद्गुरूप अपने काव्य का विकास किया है। सम्पूर्ण वैष्णव-कवि दार्शनिक दृष्टि से शक्तिवादी हैं, साधना की दृष्टि से उन्होंने शक्ति और शक्तिमान की मधुर लीलाओं का ही अधिक वर्णन किया है। तुलसीदास को छोड़कर अन्य सभी कवियों ने दिव्यरति को लौकिक रति के रूप अपनी लेखनी का विषय बनाया है। शक्ति और शक्तिमान को लौकिक नायक और नायिका का रूप देखकर उनकी परस्पर प्रीति और रति में ही भक्तकवि निमग्न रहे हैं। तान्त्रिकों के द्वारा राग को साधना का माध्यम स्वीकार कर लेने के कारण ही यह सम्भव हुआ है। वैष्णव कवियों ने तन्त्रों और आगमों से ही अपनी भाव-साधना के लिए प्रेरणा ली है। जिस तरह पंक से कमल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तान्त्रिकों के वामाचार से मध्यकालीन वैष्णव भक्तों द्वारा सीता और राम तथा राधा और कृष्ण का जन्म हुआ है। जिस प्रकार कमल-पुष्प को ग्रहण करते समय पंक का भय रहता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की मधुराभक्ति के ग्रहण में पतन का भय विद्यमान है।

१ उक्त साधना से सम्बन्धित दिए गये तथ्यों के लिए ब्रह्मव्य रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय में सम्प्रदाय व साधना शीर्षक निबंध।

इसीलिए उष्णकोटि के मानसिक भाव के अभाव में रतिकालीन काव्य का रूप अत्यधिक अश्लील और यत्र तत्र पूर्ण रूप से पतित दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार दीप से काजल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की मधुरा-भक्ति से रीतिकालीन काव्य का जन्म हुआ है।

वैष्णव दर्शन और साधना आर्य और आर्येतर धारणाओं और साधनाओं का परिणाम है। सामाजिक दृष्टि से जाति, वर्ण और वर्ग आदि पक्षपातों से निर्लिप्त रह कर, कम से कम भक्ति के क्षेत्र में वैष्णवों ने प्रत्येक मनुष्य को इस साधना का अधिकारी बनाया है। काव्य-कला की दृष्टि से हिन्दी का मध्यकालीन काव्य वैष्णव साधना का ही प्रतिफल है। आगमों और तन्त्रों ने इस वैष्णव काव्य की पृष्ठभूमि का निर्माण किया था, इसलिए उसके अनुशीलन के बिना वैष्णव साधना और वैष्णव-काव्य के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

वैदिक युग के पूर्व भी मनुष्य ने अपने बाह्य जीवन के अनुरूप विचारों और विश्वासों का विकास किया था। वैदिक-परम्परा को प्रभावित करती हुई नाना देशी-विदेशी, स्थानीय, प्रान्तीय, निम्न और उच्च जातियों के विश्वासों और विचारों को समेटती हुई तांत्रिक धारा एक विराट महाधारा के रूप में प्रवाहित हुई थी। इस महाधारा की गृहणशील प्रवृत्ति के कारण इसमें उच्च और निम्न सभी प्रकार की धारणाओं और साधना-विधियों का विकास हुआ। तांत्रिक-युग (६००-१३००) में आकर यह महाधारा शैव, शाक्त, वैष्णव व बौद्ध तांत्रिक धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई। इसने अपने समय के अन्य सांस्कृतिक आन्दोलनों को भी प्रभावित किया। तांत्रिकयुग में इस महाधारा की सर्वत्र एकता दिखाई पड़ती है। जैसे मिट्टी के गुण से जल का गुण बदल जाता है, उसी प्रकार नाना सम्प्रदायों में पहुँचकर यह नये रूप धारण कर लेती है। अनेक दृष्टियों या “दर्शनों” का सम्बन्ध भी इससे स्थापित होता है। परन्तु आधार की दृष्टि से इन सब में समानता दिखाई पड़ती है।

यह समानता शक्तिवाद, कुण्डलिनी योग तथा शक्ति सहित देवता की उपासना—मुख्यतः इन तीन रूपों में दिखाई पड़ती है। यह लक्ष्य करने योग्य तथ्य है कि इन तीनों में शक्ति अथवा नारीतत्त्व सन्निविष्ट है। वैदूर्यमणि की तरह इस शक्ति सिद्धान्त के नाना रूप हैं। सिद्धान्ततः प्रज्ञा-उपाय, शक्ति-शिव, लक्ष्मी-विष्णु, प्राण, अपान आदि शक्ति और शक्तिमान के सिद्धान्त के ही

भिन्न-भिन्न नाम हैं। इनका सामरस्य ही तंत्र साधना का सार है। इसी सामरस्य को संकेतित करने के लिए यामल, युगनद्ध, युगल अथवा युगल सरकार आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यही यामल सिद्धान्त योग के क्षेत्र में कुण्डलिनी योग का अथवा प्राण और अपान के ऐक्य का, वामाचार में योगी-योगिनी के मेलक का तथा भावक्षेत्र में शक्ति सहित देवता की रमणीय लीला के ध्यान का रूप धारण करता रहा है। यदि सन्तकाव्य में शक्तिवाद का योग-परक रूप व्यक्त हुआ है तो वैष्णवकाव्य में शक्ति-शक्तिमान के यामल को वाणी मिली है।

सामाजिक दृष्टि से तांत्रिक परम्परा आर्य व आर्येतर जातियों के सम्मिलन का कार्य करती रही है। उसने संकीर्ण सामाजिक व्यवस्थाजन्य असंगतियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। इस रूप में यह परम्परा सन्तकवियों में अपने प्रखर तेजोहीप्त रूप में प्रकट हुई है। कबीर जैसे सन्तकवियों का आलोचनात्मक काव्य इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी ओर यह धारा वैष्णवों के इस सिद्धान्त में व्यक्त हुई है कि जाति-पाति को कोई नहीं पूछता, जो भगवान को भजता है, वह भगवान का हो जाता है। कृष्ण-भक्त-कवियों का लोक-वेद से अतीत स्वच्छन्द प्रेम मार्ग, तांत्रिक स्वच्छन्दतावाद की ही पुनर्ध्वनि मात्र है। सभी वर्णों और जातियों को स्वीकार करने के कारण भक्ति के माध्यम से सामाजिक जड़ता के विरुद्ध जो आन्दोलन हुए, उनके पीछे निम्न जातियों की उदबुद्ध सामाजिक चेतना ही थी, जिसे तन्त्रों ने प्रारम्भ से ही स्वीकार किया था।

किन्तु सन्त-वैष्णव धाराएं अपने समय की बठोर नियम-शृंखलाओं का विरोध करते-करते तांत्रिकों की तरह अतिवाद को नहीं अपनाती, यह हमारी संस्कृति व समाज दोनों के लिए शुभकर हुआ है।

फिर भी इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि कृष्ण सम्प्रदाय तथा परवर्ती राम-सम्प्रदाय में आराध्य की कामकेलि के वर्णनों की अधिकता से नैतिक शिथिलता भी अवश्य आई है।

कला की दृष्टि से तांत्रिक युग के स्थापत्य और मूर्तिकला में जो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, वही वैष्णव काव्य में भी मिलती हैं। शक्ति सहित देवताओं की रमणीय मूर्तियों के अंकन का प्रयत्न प्रस्तर, स्वर और शब्द इन तीनों के माध्यम से होता हुआ दिखाई पड़ता है। भुवनेश्वर (लिंगराज), कोणार्क (सूर्य मन्दिर) तथा खजुराहो के मन्दिर और मूर्तियाँ उक्त तथ्य को प्रमाणित

करती हैं। अजन्ता और बाघ के चित्रण, एलोरा तथा एलिफेन्टा के मधुर और कमनीय मूर्ति-अंकन भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं। कालिदास के कुमारसंभव और एलिफेन्टा (आठवीं शताब्दी) में अंकित “शिव-पार्वती-परिणय” में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। इसी परम्परा का विकास जयदेव के गीतगोविन्द, चंडीदास और विद्यापति के पदों तथा ब्रज-क्षेत्र के कवियों की ललित-स्वर-लहरी में हुआ है। वैष्णव-काव्य में चित्रित राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण अथवा रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में चित्रित सीता-राम की जो मूर्ति हमारे सम्मुख अवतरित होती है, वह तांत्रिक युग में ही प्रस्तर, स्वर और शब्द इन तीनों माध्यमों से अभिव्यक्ति हो चुकी थी। अलंकरण, रसपीयूष-वर्षण तथा भोग-अभिव्यक्ति के इन सभी रूपों में इन तीनों प्रवृत्तियों का एकमात्र स्रोत तांत्रिक परम्परा है, जो कहीं पुराणों के माध्यम से और कहीं प्रत्यक्ष रूप से वैष्णव-कवियों द्वारा गृहीत हुई है।

जिस प्रकार कलाकारों के लिए आदेश था कि पहले समाधि में देवता को प्रत्यक्ष करो, तभी उसका अंकन हो सकता है, उसी प्रकार वैष्णवकवि प्रथम देवता का साक्षात्कार करता है और तब उसका रूप वर्णन करता है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए गुरु, देवता, मंत्र, कथा-श्रवण, सेवा, अर्चा, सत्संग आदि का विधान किया गया है। जब देवता का युगल स्वरूप वैष्णव कवि के मानसिक सितित्ज पर स्फुरित हो जाता है, तब वही आन्तरिक देवता शब्द का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए तुलसीदास ने सीता और राम के स्वरूप को “गिरा अर्थ सम” अभिन्न कहा है। शब्द और अर्थ जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार देवता का वास्तविक स्वरूप और व्यक्त स्वरूप अभिन्न हैं।

तांत्रिक परम्परा से कला का दूसरा रूप सन्तकाव्य के रूप में विकसित हुआ है। यह शुद्ध “सिद्ध-काव्य” है, जो अटपटा किन्तु प्रेम से पगा हुआ और अटूट आत्म-विश्वास से ओतप्रोत है। यह काव्य हठयोगियों द्वारा सन्त-कवियों तक पहुँचा था। यह सन्तकाव्य ऊपर से खुरखुरा और खीझ उत्पन्न करने वाला प्रतीत होता है। किन्तु धूल की ढेरी में अनजान हीरों की तरह बहुमूल्य अनुभव और अन्याय के विरुद्ध मानवीय आत्मा की ऊष्मा इस काव्य में विद्यमान है। धैर्य की छलनी से छानने पर सन्तकाव्य में सिद्धकाव्य का ही धरोहर दिखाई पड़ती है। सिद्धांततः वैष्णवकाव्य में तांत्रिकधारा का यह विश्वास ही व्यक्त हुआ है कि वासना के नाश के स्थान पर उसका शोधन, उसका उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण सम्भव है। भारतीय दर्शन का यह

विचार कि आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति में मानवीय अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) का विनाश अनिवार्य है, तांत्रिक परम्परा में स्वीकृत नहीं हुआ था। वैष्णव भी इसीलिए राग के शमन में विश्वास नहीं करते। सन्त कवियों में भी एक सीमा तक यह दृष्टि मिलती है, क्योंकि सन्तुलित गार्हस्थिक जीवन को वे आध्यात्मिक उपलब्धि में बाधक नहीं मानते। किन्तु फिर भी उनमें प्रमोद-वृत्ति का अधिक विकास नहीं हुआ।

मध्यकालीन सन्त-वैष्णव-काव्य आस्थामूलक साहित्य है। आस्था के लिए निर्भ्रान्ता होना आवश्यक है और निर्भ्रान्तता विचारविशेष की स्वीकृति का ही दूसरा नाम है। आस्था ही वह स्तोत्र है जिससे कल्पना को नए-नए रूप मिलते हैं। अतः काव्य के विश्लेषण में उसके प्रेरक तत्वों की शोध आवश्यक हो जाती है। इस दृष्टि से सन्त-वैष्णव-काव्य के प्रेरक तत्वों में तांत्रिक परम्परा का योगदान महत्वपूर्ण है।

हमारे विवेच्यकाल (१४०० ई० से १७०० ई०) के बाद के कवियों पर भी तांत्रिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए परवर्ती सन्तसम्प्रदाय और परवर्ती राम-कृष्ण काव्य और भी अधिक तांत्रिक प्रभाव को सूचित करते हैं। परवर्ती सन्त-सम्प्रदाय में कुण्डलिनियोग का ही विकास हुआ है। परवर्ती सन्तकवि भी तांत्रिकों की तरह ही सामाजिक भेदभाव के कठोर आलोचक हैं। परवर्ती राम-कृष्ण-काव्य में सखीभाव की उपासना और भी अधिक बढ़ी है।

रीतिकाल में परकीयाभाव, नायिकाभेद तथा अवलीलता की प्रवृत्ति और भी बढ़ी है। रीतिकाल में सभी कवि साधक नहीं थे, इसलिए शुद्ध काव्य भी राधा-कृष्ण के नाम पर लिखा गया। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि परकीयाभाव, नायिकाभेद, अभिसार आदि का जो साधनात्मक रूप था, वह रीतिकाल में समाप्त हो चुका था। क्योंकि भक्तिकाल में जिन सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ था, वे आज तक जीवित हैं। यह स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है कि साधनात्मक और सैक्यूलर-इन दो श्रेणियों में से किस श्रेणी का काव्य रीतिकाल में अधिक मिलता है। यहाँ इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि विहारी और देव से लेकर भारतेन्दु और रत्नाकर तक और रत्नाकर से लेकर कृष्णायन तक कृष्ण-काव्य की और उसके साथ-साथ राम-भक्ति के रसिक काव्य की परम्परा अखंड रही है। यह परम्परा जान या अनजान में उन धारणाओं और विश्वासों की प्रचारक है जिनका आविष्कार तांत्रिक परम्परा में हुआ था।

खड़ी बोली में भी कामायनी व पार्वती जैसे काव्यों पर आगमों का ही अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार मध्यकाल में शंकराचार्य के माया-वाद और संन्यासवाद के विरुद्ध आगममूलक शक्तिवाद द्वारा संघर्ष किया गया था, उसी प्रकार आज के बुद्धिवाद के दोषों को देखकर कामायनीकार ने बुद्धि और श्रद्धा के सामंजस्य पर बल दिया है तथा जीवन और जगत् को अम समझने वाले दार्शनिकों के विरुद्ध कामायनीकार ने जीवन की स्वीकृति पर अधिक बल दिया है।

अंगरेजी शिक्षा से अप्रभावित भारतीयमानस का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि आज धार्मिक क्षेत्र में जो नाना देवी-देवताओं की उपासना प्रचलित है, वह आगममूलक ही है। आज भी अपने स्थूलरूप में तंत्रों की अथर्ववेदी परम्परा, भूत-प्रेत उपासना, जादू, टोटका, शकुन, मंत्र तथा भाड़-फूंक आदि के रूप में विद्यमान है। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति तो तंत्र का यही अर्थ समझता है।

आज का हिन्दू समाज मंदिर, मूर्ति, नामकीर्तन, घरेलू आचार, उत्सव, मेले, व्रत, तीर्थ आदि से ही परिचित है। ये सब आगम परम्परा के ही तत्व हैं।

यद्यपि उत्पादन के साधन न बदलने के कारण वर्ण, वर्गवैषम्य से रहित समाज की स्थापना में तांत्रिक-साधक सफल नहीं हो सके। परन्तु शताब्दियों तक तांत्रिक साहित्य तथा उससे प्रभावित मध्यकालीन साहित्य ने समाज की असंगतियों के विरुद्ध अनवरत रूप में अभियान किया है। अतः तांत्रिक साहित्य के अनुशीलन का भविष्य उज्ज्वल है।

सहायक ग्रन्थ

- १ आनन्द लहरी—सर जान बुडरफ या आर्थर एवेलॉन ।
- २ अथर्ववेद—हिन्दी अनुवाद सायणभाष्य, रामचन्द्र शर्मा, मुरादाबाद, संवत् १९८६
- ३ अद्वयवज्रसंग्रह—गायकबाड़, ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, सम्पा० हरप्रसाद शास्त्री; १९२७ ई०
- ४ अहिर्बुध्न्यसंहिता—सम्पादक एम० डी० रामानुजाचार्य, ग्राड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१६
- ५ अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय—दीनदयाल गुप्त, प्रयाग, संवत् २००४
- ६ अष्टमाध्याय—हेमचन्द्र विद्यारत्न, एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता १८९७ ई०
- ७ अथर्ववेदीय कौशिक गृह्य सूत्र—उदयनारायणसिंह, मधुरपुर-मुजफ्फरपुर, बिहार, १९४२ ई०
- ८ आनन्दलहरी—आर्थर एवेलॉन, मद्रास १४५३
- ९ अरली बंगाली शैव पोइट्री—आशुतोष भट्टाचार्य, कलकत्ता बुक हाउस
- १० आर्यमंजु श्रीमूलकल्प—त्रिवेन्द्रम सीरीज, गणपतिशास्त्री, १९२० ई०
- ११ अष्टछाप—कंठमणिशास्त्री-क्रांकरीली, सं० २००६ वि०
- १२ इन्टरनेशनल इश्यू आफ द तांत्रिक आर्ट्स जर्नल, वोल्यूम—५, नं० १, न्यूयार्क

- १३ इन्द्रोडकशन दू व पांचरात्र एंड व अहिर्बुध्न्य—एफ० ओ० श्रेडर,
ग्राह्यार लाइब्रेरी, मद्रास १९१६
- १४ इन्टरनेशनल जर्नल आफ तांत्रिक आर्ट्स—अमेरिका
- १५ इसोटैरिक बुद्धिज्म—ए० पी० सिन्नेट, लंदन, १८८३ ई० द्वितीय संस्करण
- १६ इंडिया इन बैबिक एज—पुरुषोत्तमलाल भार्गव, जयपुर, १९५६ ई०
- १७ इंडियन साधुज—घुरे
- १८ इन्द्रोडकशन दू तंत्रशास्त्र—आर्थर एवेलान
- १९ ईश्वरप्रस्थमिता—उत्पलदेव
- २० उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—संवत् २००८, प्रयाग, परशुराम चतुर्वेदी
- २१ उज्ज्वल नीलमणि—सम्पा० दुर्गाप्रसाद, बम्बई, १९३२ ई०
- २२ उडुशतंत्र—माधवप्रसाद व्यास, बनारस, सं० १९९२ वि०
- २३ एन इन्द्रोडकशन दू द स्टडी आफ इंडियन हिस्ट्री—डी० डी० कोशाम्बी,
बम्बई, १९५६ ई०
- २४ एक नवीन भक्ति सूत्र—सरस्वतीभवन सीरीज, बनारस, १९२३
- २५ ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री—के० एम० पनिककर, बम्बई, १९५० ई०
- २६ ए मेटाफिजिकल आफ मिस्टीसिज्म—गोविन्दाचार्य स्वामी, मैसूर,
१९२३ ई०
- २७ ए हिस्ट्री आफ ब्रजबुलि लिट्रेचर—सुकमारसेन, कलकत्ता, १९३५ ई०
- २८ एलीमेंट्स आफ हिन्दी इकनोमिक्स—गोपीनाथ राव, मद्रास, १९१४ ई०
- २९ एन आउटलाइन आफ रिलीजिअस आफ इण्डिया—जे० एन० फर्कुअर,
१९२० ई०
- ३० ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसफी—डा० एस० एन० दास गुप्ता,
केम्ब्रिज, १९४० ई०
- ३१ एन इन्द्रोडकशन दू तांत्रिक बुद्धिज्म—डा० एस० बी० दास गुप्ता, कलकत्ता
विश्वविद्यालय
- ३२ एनसियेन्ट हिस्ट्री आफ बेस्टर्न एशिया इंडिया एण्ड क्रीट—प्रो० बी०,
ह्राज्जो, न्यूयार्क
- ३३ ऐतरेय ब्राह्मण—
- ३४ ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषद फिलासफी—आर० डी० राना डे, पूना
ओरियेन्टल बुक ऐजेंसी, १९२६ ई०
- ३५ आग्नेय-हिन्दी अनुवाद—रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रयाग, १९५४ ई०

- ३६ ग्रान सम तांत्रिक टेक्स्ट्स स्टडीज इन ऐनसियेन्स कम्बोज—पी० सी० बागची
प्रकाशक-कलकत्ता विश्वविद्यालय
- ३७ ग्रान व इंटरप्रेशन ग्राफ़ सम डाउटफुल वर्ड्स इन द ग्रयबंवेद—तारापाद
चौधरी
- ३८ कौलावली निर्णय—तांत्रिक टेक्स्ट्स सीरीज, कलकत्ता
- ३९ कबीरग्रंथावली—श्यामसुन्दरदास, छटा संस्करण, संवत् २०१३ वि०,
काशी ।
- ४० कलहरल हैरीटेज ग्राफ़ इंडिया—जिल्द २ रामकृष्ण कर्ममोर्देशन
वोल्यूम्स
- ४१ कबीर साहब का बीजक—विश्वनाथ सिंह जू देव-बम्बई, संवत् १९६१ वि०
- ४२ कालतत्त्व विवेचन—आर० भट्ट
- ४३ कालचक्रतंत्र—
- ४४ कंटालॉग ग्राफ़ व बुद्धिस्ट संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स—कैम्ब्रिज वि० विद्यालय
(१८८३ ई०)
- ४५ कम्पैरेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी ग्राफ़ मन्त्रशास्त्र—एम० बी० भावेरी
- ४६ केव टैम्पल्स ग्राफ़ इंडिया—फर्ग्यूसन
- ४७ कुलाएवं-निर्वाण—सम्पादित पी० सी० बागची, कलकत्ता, १९३४ ई०
- ४८ कबीर मस्नूर—स्वामी परमानन्द बम्बई, १९०२
- ४९ कामकलाविलास—एवेलॉन
- ५० कबीरपंथ—जी० एच० वेस्टकोट, कानपुर
- ५१ कारणग्रन्थ—सत्प्रत समश्रयी, प्रकाशक जीवाराम विद्यासागर, १८७३ ई०
- ५२ कुम्भनवास—जीवनो और पदसंग्रह, कांकरोली, राजस्थान संवत् २०१० ।
- ५३ कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, बनारस,
संवत् २००८
- ५४ काश्मीर शैविज्म—जे० सी० चटर्जी
- ५५ कंटालोग आफ बरबार लाइब्रेरी : हरप्रसाद शास्त्री, नेपाल, कलकत्ता
- ५६ गोविन्दस्वामी जीवनी और पदसंग्रह—कांकरोली, राजस्थान
- ५७ गंडव्यूह—बी० भट्टाचार्य, गा० ओ० सीरीज
- ५८ गनेश—ए० गेटी, ग्राक्सफोर्ड १९३६ ई०
- ५९ ग्लीनिंग्स फ्रोम द तंत्राक्ष—गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन सीरीज,
जिल्द—२

- ६० ग्रोथ आफ सिविलीजेशन—डबल्यू० जे० पेरी
 ६१ गंधर्व तंत्र—संपादक रामचन्द्रकाक तथा हरभट्ट शास्त्री, श्रीनगर, कश्मीर,
 १९३४ ई०
 ६२ गौड्स आफ नारबर्न पेंथियन — गेटी
 ६३ गोरखबानी—डा० बड़वाल
 ६४ गारलैंडआफ लैटर्स—एवेलॉन
 ६५ ग्रेटनेस आफ शिवा—एवेलॉन
 ६६ गोरक्ष सिद्धान्तसंग्रह—
 ६७ गुरुग्रन्थ साहब—शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर,
 १९५१ ई०
 ६८ चौका विधान —साधु बंसूदास कबीरपंथो, बड़ौदा १९४० ई०
 ६९ छन्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर
 ७० छीतस्वामी—(जीवनी और पद संग्रह) कांकरौली, राजस्थान, २०१२ वि०
 ७१ जैन साहित्य और इतिहास (द्वितीय संस्करण)—नाथूराम प्रेमी, बम्बई,
 १९५६ ई०
 ७२ जगजीवन बानी—(प्रथम भाग) वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
 ७३ जयाल्य संहिता —गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज
 ७४ दू वज्रयान वर्क्स—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि-अनंगवज्र, ज्ञानसिद्धि- इन्द्रभूति
 बड़ौदा, १९२९ ई०
 ७५ ट्री ऐण्ड सरपेंट वरशिप—फर्ग्यूसन
 ७६ ट्रान्सफौम्ड हिन्दूइज्म—ई० पी०बी०, लंदन १९०८ ई०
 ७७ ड्रैवैडियन गौड्स इन मोडर्न हिन्दूइज्म—डबल्यू० टी० एलमोर, मद्रास
 १९२५ ई०
 ७८ डिवायन सांग्स आफ जरथुस्त —तारापुरवाला ।
 ७९ त्रिपुरारहस्य —सरस्वती भवन सीरीज, काशी ।
 ८० तंत्रराजतंत्र—एवेलॉन ।
 ८१ तिब्बतन योग एण्ड सीक्रिटुडोकिट्रिन—डी० एस० काजी ।
 ८२ तंत्राज—देयर फिलासफी एण्ड ओकल्ट सीक्रिट-डी० एन० बोस ।
 ८३ तांत्रिक टैक्स्ट्स सीरीज—आर्थर एवेलॉन, आगमानुसंधान समिति,
 कलकत्ता
 ८४ तंवालोक—अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत सीरीज, श्रीनगर ।

८५ तथागत गुह्यक तंत्र या गुह्यसमाज तंत्र—गायकवाड़ ओरि० सीरीज, बड़ौदा

८६ तत्त्वसंग्रह—शांतिरक्षित, गायक० ओरि० सीरीज, बड़ौदा ।

८७ व फाउन्डेसंस आफ व अर्थबैबलिक रिलीजन—एन० जे० शिन्दे, मैसूर ।

८८ व साक्ताज् अरनेष्ट ए० पाइने—कलकत्ता, १९३३ ई० ।

८९ व मवर गोडेस आफ कामाख्या—बेनीकान्त काकती, गोहाटी, १९४८ ई०

९० व सिक्ख रिलीजन—एम० ए० मैकलिफ, ओक्सफोर्ड, १९०९ ।

९१ बोहा कोशगीति—राहुल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ।

९२ व इण्डियन बुद्धिस्ट इकनोमिस्ट—बी० भट्टाचार्य, कलकत्ता १९२४ ई० ।

९३ व वेद आफ ब्लैक यजुस स्कूल—ए० बी० कीथ, हारवर्ड यूनीवर्सिटी, १९१४ ई० ।

९४ व सिस्टिम आफ चक्र—सरस्वती भवन सीरीज, गोपीनाथ कविराज ।

९५ व ग्रेट लिबरेशन—एवेलॉन ।

९६ बेबीरहस्य—

९७ व बन्डर वैंट वाश इण्डिया—ए० एल० वाशम, लंदन, १९५३ ई०

९८ व रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ अर्थबैबल—एन० जे० शिन्दे, पूना, १९५२ ई०

९९ व गोल्डन बाऊ, लंदन—१९५४ ई० संक्षिप्त संस्करण, फ्रेजर

१०० व बेंबिक एज—भारतीय इतिहास समिति

१०१ व वर्टिकल मैन—डबल्यू० जी० आरचर, लंदन, १९४७ ई०

१०२ व शैव स्कूल आफ हिन्दूइज्म—एम० शिवपाद सुन्दरम्, लंदन, १९३४ ई०

१०३ नैरात्म्य परिपृच्छा—सम्पा० सुनीतकुमार मुखोपाध्याय, विश्वभारती पुस्तक भंडार, कलकत्ता १९३० ई०

१०४ न्यूलाइट ग्रान व एनसियेंट ईस्ट—वी जी० चाइल्ड

१०५ नाथपंथ—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकादमी, प्रयाग, १९५० ई०

१०६ नन्ददास ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास, काशी, प्रथम संस्करण, संवत् २००६ विक्रमी

१०७ निष्पन्नयोगावली—प्रभयकर गुप्त, गायक० ओ० सीरीज, बड़ौदा

१०८ प्रबन्धचिन्तामणि—मेरु, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, संवत् १९६७ ई०

- १०६ प्रिंसिपल आफ तंत्राज—एबेलॉन
- ११० प्रज्ञा-पारमिता—बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
- १११ परफेक्शन आफ विजडम—इ० जे० थामस
- ११२ पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट इन बंगाल—एम०एन० बसु
- ११३ पाम लीफ सैलेक्टड मैन्युसक्रिप्टस—हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता
- ११४ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—रांगेय राघव, दिल्ली
१९५३ ई०
- ११५ प्रि एरियन एलीमेंट्स इन इंडियन कल्चर—ए० के० सूर, कलकत्ता
१९३४ ई०
- ११६ पाटल—संत साहित्य विशेषांक—सम्पा० रामदयाल पांडे, पटना,
१९५५ ई०
- ११७ परशुराम कल्पतन्त्र—गायक० ओरि० सीरोज, बड़ौदा
- ११८ पातन्जलि योगदर्शन—हरिहरानन्द आरण्य, लखनऊ विश्वविद्यालय
- ११९ परमानन्दसागर—सम्पा० गोवर्धननाथ शुक्ल, अलीगढ़, १९५८ ई०
- १२० प्रीमियर आफ हिन्दूइज्म—जे० एन० फर्कुअर, आक्सफोर्ड, १९१४ ई०
- १२१ पारानन्दसूत्र—स्वामी त्रिविक्रम तीर्थ, बड़ौदा, १९३१ ई०
- १२२ फिलोसफीकल एसेज—डा० एस० एन० दास गुप्ता, कलकत्ता
- १२३ बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आंध्र—के० आर० सुब्रमनियन, मद्रास, १९३२ ई०
- १२४ बौद्ध दर्शन मोमांसा—प्रथम संस्करण, बल्देव उपाध्याय, बनारस,
१९४६ ई०
- १२५ बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक भूलक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग,
१९५८ ई०
- १२६ बुद्धिज्म—सर मोनियर विलियम्स, लंदन १८८९ ई०
- १२७ बुद्धिस्ट तांत्रिक लिटरेचर आफ बंगाल—एस० के० डे०, न्यू
इंडियन एन्टीक्विटी जिल्द १ (१९३८)
- १२८ बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स थो ब एजिज—सी० एडवर्ड
- १२९ बुद्धिस्ट मैडीटेशन—ए० लॉयड
- १३० बिगनिंग आफ बुद्धिस्ट आर्ट—एम० फाउवर
- १३१ बुद्धिस्ट मौनूमेन्ट्स आफ सेंद्रल इण्डिया—ए० कनिंघम, लन्दन,
(१८५४ ई०)

- १३२ बुद्धिज्म इन इट्स कनेक्शन विद ब्रह्मनिज्म एण्ड हिन्दूज्म एण्ड इट्स कंट्रास्ट विद क्रिस्चियनिटी—मोनियर विलियम्स लन्दन, १८८६ ई०
- १३३ बुद्ध-गान-ओ दोहा—कलकत्ता (१९२३)
- १३४ बृहत् वेवता—अंगरेजी मे अनूदित-आर्थर एंथॉनी मैग्दानल हार्वर्ड ओ० सीरीज
- १३५ बिगनिंग आफ् लिग-कल्ट इन इण्डिया—अतुल कृष्ण सूर
- १३६ भारतीय दर्शन—बल्देव उपाध्याय, काशी, १९४८ ई०
- १३७ भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, स० २०१० विक्रमी
- १३८ महापुराण या आविपुराण—पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ, काशी, १९५१ ई०
- १३९ महामाया—सर जान बुडरफ, मद्रास, १९५४ ई०
- १४० महाभारत—गीताप्रेस, १९५५ ई०
- १४१ मंजुश्रुत आफ् इंडियन बुद्धिज्म—प्रथम भाग, एच० कर्न, स्ट्रैसबर्ग १८९६ ई०
- १४२ मौडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा—एन० एन० बसु, कलकत्ता, १९११ ई०
- १४३ मालिनीविजयोत्तर तंत्र—कश्मीर सीरीज, मधुसूदन कौल, बम्बई, १९२२ ई०
- १४४ महामाया—एवेलॉन
- १४५ मिस्टोरियस कुंडलिनी—एवेलॉन
- १४६ माडर्न बुद्धिज्म इन बंगाल—हरप्रसाद शास्त्री
- १४७ मातृका भेदतंत्रम्—सम्पा० चिन्तामणि भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९३३ ई०
- १४८ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान—नलिनाक्षदत्त, लन्दन, १९३० ई०
- १४९ मंजुश्री मूलकल्पः—गणपति शास्त्री त्रिवेन्द्रम सीरीज, १९२० ई०
- १५० मिथ इन प्रिमिटिव साइक्लोजी—बी०मेलिनोवस्की, लंदन १९२६ ई०
- १५१ महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र—अवेकनिंग आफ् फेथ शीर्षक से अनुदित टी० सुजुकी, शिकागो, १९०० ई०
- १५२ मंडोबल मिस्टोसिज्म आफ् इण्डिया—क्षितिमोहन सेन, लंदन १९४६ ई०
- १५३ मेरुतंत्र—बम्बई, संवत् १९६५ वि०

- १५४ माडर्न रिलीजस मूवमेन्ट्स इन इंडिया—जे० एन० फर्कुअर न्यूयार्क,
१९१५ ई०
- १५५ मेनुअल आफ ए मिस्टिक—बुडवर्ड
- १५६ योग उपनिषद्—सम्पा० महादेव शास्त्री, मद्रास १९२० ई०
- १५७ योगिनी हृदय दीपिका—सरस्वती भवन सीरीज़ काशी, १९२३ वि०
- १५८ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं—डा० बड़थवाल, पीताम्बरदत्त, काशी सं०
२०१२ वि०
- १५९ रिलीजन्स आफ इंडिया—हापकिन्स
- १६० रिलीजन एण्ड फिलॉसफी आफ अथर्ववेद—एन० जे० शिन्दे, पूना
१९५२
- १६१ रिलीजन एण्ड राइज आफ कंपीटलिज्म—आर० एच० टॉनी
- १६२ राधा-तंत्र—
- १६३ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवतीसिंह, बलरामपुर, जि०
गोडा, सं० २०१४ वि०
- १६४ षडयामल तंत्र—देवीरहस्य-रामचन्द्र काक, १९४१ ई० श्रीनगर
- १६५ लामाइज्म—“द बुद्धिज्म ओफ तिब्बत-वैडेल-केम्ब्रिज, १९३४ ई०
द्वितीय संस्करण
- १६६ लिंग सिद्धान्त चन्द्रिका—एम० आर० सकहरे, बेलगाँव, १९४२ ई०
- १६७ लोकायत—देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
- १६८ ललितासहस्रनाम—अनुवादक अनन्त कृष्णशास्त्री, संस्करण २, ओटकमंड,
१९२५ ई०
- १६९ ललिताकल्ट—बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार—मद्रास यूनीवर्सिटी,
१९४२ ई०
- १७० वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल—जिल्द १, एस० के० डे०
कलकत्ता, १९४२ ई०
- १७१ वन हंड्रेड पोइन्ट्स ओफ कबीर—रवीन्द्रनाथ टैगोर, लंदन, १९३४ ई०
- १७२ वरिवस्यारहस्यसु—
- १७३ विज्ञान भैरव—
- १७४ विलेज गॉड्स आफ साउथ-इंडिया—हेनरी व्हाइट हेड ।
- १७५ वेदास्तिक बुद्धिज्म आफ बुद्ध—जीनिंग्स ।
- १७६ वैदिक माइथालॉजी—ए० ए० मैकडॉनल लन्दन १८९७

१७७ वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा ।

१७८ वैष्णवोपनिषद्—महादेव शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, द्वितीय संस्करण १९५३ ई०

१७९ वैदिक साहित्य—रामगोविन्द त्रिवेदी, काशी १९५० ई०

१८० सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन द गृह्य सूत्र—वी० एम० आप्टे, संशोधित संस्करण, १९५४ ई०

१८१ स्कूल्स एण्ड सेक्ट्स इन जैन लिटरेचर—अमृत्यचन्द्र ।

१८२ सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ आफ द बृह्य सूत्राज—वी० एम० आप्टे ।

१८३ सक्ति एण्ड डिवाइन पावर—एस० के० दास

१८४ सिद्ध सिद्धान्त संग्रह—सरस्वती भवन सीरीज काशा

१८५ सम आस्पैक्ट्स आफ बीर-शैव फिलासफी—सरस्वती भवन सीरीज ।

१८६ सम आस्पैक्ट्स आफ द हिस्ट्री एण्ड डोक्ट्रिन आफ द नाथ—गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन सीरीज

१८७ संस्कृति संगम—क्षितिमोहन मेन, साहित्य भवन लि० प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५१ ई०

१८८ सद्धर्म पुंडरीक—सम्पा० कर्न, सेन्टपीटर्स बर्ग, १९१२ ई०

१८९ सैक्स एण्ड सैक्स वरशिप या फैलिक वरशिप, ओ० ए० वाल, प्रकाशक सी० वी० मोस, १९२२ ई०

१९० सन्तकवि दरिया—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी पटना, १९५४ ई०

१९१ सुन्दर ग्रन्थावली—कलकत्ता सं० १९९३ वि० सम्पा० हरनारायण

१९२ सुमिरण वर्शन—युग नदास, कबीर धर्मनगर, १९११ ई०

१९३ सूरसागर—काशीनागरी प्रचारिणी सभा, सम्पा० नन्द दुलारे वाजपेयी, सं० २००५

१९४ साधनमाला—जिल्द २, बी० भट्टाचार्य, गायक० ओ० सीरीज, बड़ौदा

१९५ सन्तकवियों के काव्य संग्रहों के लिए द्रष्टव्य—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित काव्य संग्रह

१९६ सेकोह्देइय टीका—नारोपा, गायक० ओरि० सीरीज, बड़ौदा

१९७ स्वच्छन्द तन्त्र—रिसर्चविभाग, श्रीनगर, १९२१ ई०

१९८ सम आस्पैक्ट्स आफ द फिलासफी आफ शाक्त तन्त्र—सरस्वती भवन सीरीज, काशी

१९९ सम आस्पैक्ट्स आफ द हिस्ट्री एण्ड डोक्ट्रिन आफ द नाथाज—सरस्वती भवन सीरीज, काशी

- २०० स्वयंभू पुराण—हरप्रसाद शास्त्री
- २०१ साउथ इण्डियन इमेजिज आफ गॉड्स एण्ड गॉडसिज—मद्रास १९१०
- २०२ सीक्रिट डॉक्ट्रिन—मदाम ब्लेवात्स्की
- २०३ स्पन्द-निरणय — क्षेमराज
- २०४ शाक्ताज—इ० ए० पायने
- २०५ शतपथ ब्राह्मण—जूलियस इर्गलिंग, सैक्रिड बुक सीरीज, आक्सफोर्ड, १८८२ ई०
- २०६ शक्ति एण्ड शाक्त—आर्थर एवेलॉन, गनेश एण्ड को० मद्रास, चतुर्थ संस्करण, १९५१ ई०
- २०७ शतपथ ब्राह्मण—हिन्दी विज्ञान भाष्य, मोतीलाल शास्त्री, जयपुर
- २०८ शक्ति अंक—कल्याण, गोरखपुर
- २०९ शिवांक—कल्याण, गोरखपुर
- २१० शांडिल्य संहिता—भाग १, सरस्वती भवन सीरीज, बनारस, १९३५ ई०
- २११ शिवसंहिता—अंगरेजी में अनुवाद, एस०, सी० वसु
- २१२ शैव-स्कूल आफ हिन्दूजिम्—शिवपादसुन्दरम्
- २१३ शाक्त-सम्प्रदाय—नर्मदाशंकर, देवशंकर मेहता, फार्वस गुजराती सभा (गुजराती भाषा में)
- २१४ श्री चक्रसंहारतन्त्र—सम्पा० काजी द्वासमदुप, कलकत्ता १९१९ ई०
- २१५ शिक्षासमुच्चय, शांतिदेव—सी० बेंडल द्वारा अनूदित, लंदन १९२२ ई०
- २१६ श्यामारहस्य—जीवनानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९६ ई० द्वितीय संस्करण
- २१७ श्री राधा का क्रमिक विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, काशी, १९५६ ई०
- २१८ श्री हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य—ललिताचरण गोस्वामी, वृन्दावन, सम्वत् २०१४ वि०
- २१९ हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ द वर्ल्ड—लंदन, १९०७ ई०
- २२० हिन्दुत्व—रामदास गोड़, संवत् १९९५ ई०
- २२१ हंसविलास—गायक० ओरि० सीरीज, १९३७ ई०
- २२२ हिस्ट्री ओफ कैमिस्ट्री—पी० सी० राय, कलकत्ता, १९५६
- २२३ हिन्दी व कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन—हिरण्यमय, आगरा, १९५९
- २२४ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—प्रथम भाग, काशी, संवत् २०१४ वि०

२२५ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा

२२६ हिन्दी काव्य में विर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बड़थवाल, प्रथम
संस्करण लखनऊ, संवत् २००७ वि०

२२७ हरिदास बंशानुद्धरित्र—नवनोत चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण, सन् १९१०,
इटावा

२२८ हिन्दू संस्कृति ग्रंथ—कल्याण, गोरखपुर

२२९ हठयोग—बर्नार्ड

२३० हिम्स आफ द आइवार—हूपर

२३१ हिम्स आफ द तमिल शंबाइट सेन्ट्स

२३२ हिन्दूजिम एण्ड बुद्धिजिम—चार्ल्स इलियट

२३३ हैविन लाइज विविन ग्रस—टी० बर्नार्ड

२३४ हिम्स टू द गौडेस—एवेलॉन

२३५ हठयोग प्रदीपिका

शब्दानुक्रमणिका

अ

अभिनवगुप्त ३, ६, १३, ६७, ६८, ६९,
१२५, २२७, २२९, २४४

अग्रदास ८, ३२४, ३३९, ४२७, ४२८

अहिर्बुध्न्य ६, २८, ७७

अभिचार ६, १३, १५, ३४, २७५,
४२५

अतियोग २३

अथर्ववेद १०, ४४३

अघोर २८

अदिति ३०

अद्वयवज्र ५५, ५६, ६३, ६७

अनंगवज्र ५६, ५७

अश्वघोष, ५८, २१७, २२३

अभिसम्बोधि ६०, २४०

अप्पर ६३

अघोर शिवाचार्य ६७

अप्यय दीक्षित ६७, १२७

अजपा जप १०६, २४६

अनन्त कृष्ण शास्त्री १३४

अनाहत चक्र १३७

अनाहत नाद १५६

अमीर खुसरो १८१

अगम तत्त्व १६८

अमरोली २०१

अवधूत मार्ग २५१

अक्क महादेवी २८०

अंदाज ४२७

अविकृत परिणामवाद ३४७

अष्ट छाप ३६७

आ

आनन्दगिरि १

आप्टे २६

आगम २, ३

आइसिस ५

आम्भृणी ७

भार्थर एवेलोन १८, २०, १२८, ३०३

४०८

भानन्द ६१

भाणव उपाय १०७, २२७

भादिनाथ १५०

आदिभवानी ३३१

आङ्गवार ३१६, ४२७

आशुधीर ४०५

इ

इओ ५

इन्द्र ६, ११

इक्ष्तर ५, ६, ७

इला ६

इन्द्राणी १५

इन्द्रयोनि २३

इन्द्रभूति ५२, ५७, ५८, ६६

उ

उत्पलाचार्य ८५, ६८

उपनिषद् १८

उषा ६

उमा हैमवती २४, ३०

उन्मनावस्था १०५, ११४, १२१, १३२,

१३५, १४०, १६६, २६३

उद्धव ४१३

उमातत्व ३१८

उन्मादनावस्था ४३६

उड़िया वैष्णवोद्ध १८८

उलट बांसियाँ ३०८

उपसंहार ४३६

ऋ

ऋग्वेद ८

ए

एलोरा ४४१

एलिफेण्टा ४४१

ओ

ओसिरिस ५

क

कच्छप २६

कपिल ३५, ४१३

कर्न ५१, ७२

करुणा ५३, ५६

कबीर ५४, ६६, ७४, १४०, १७०,

१८२, १६८, २०१, २०२, २०८,

२०९, २१७, २२४, २४३, २४६,

२५३, २५७, २६२, २६४, २८७,

२९०, २९२, २९४, २९७, ३११,

४१५

कन्हपाद् ६३

कंचुक ८५, १३१

कश्मीरी शैवमत ६८

कलाध्वा ११०

करीमशाह १८२

कबीर का ब्रह्म २१८

कबीर में आत्मा २२३

कण्ठी सिद्धान्त ३६६

कवि रामानन्द ४४३

कक्षीवान् ६

कपिला ३०

ककहरा २६६

कालीदेवी ६, २०, ३०, १३५

कालिका १५

कामतत्व १६

काल १७, ८५
 काकी २८
 कापाली ३०
 काया २७१, २७२
 कात्यायनी ३०
 कात्तिकेय ३२
 कापालिक व्रत ३२, ६७
 कालचक्रयान ७४
 कालमुख ६७
 कामकला १०३, १३१
 कालविजय १०८
 क्रान्ता १२८
 कादरी सम्प्र० १८१
 काकापंथ १८२
 कालविन १६३
 कालिदास ४०७, ४४१
 कामकेलि ४००
 काकमुनि ४१७
 क्रिया ३०
 कीर्ति ३०
 कुब्जिका तंत्र ४
 कुड्य देव ७
 कुण्डलिनी ७, ८, २३, ६५, १०३,
 ११३, १३२, १३४, १३७, १५२,
 १६६, २३२, २४४
 कुहू ३०
 कुमारी ३०, १४२
 कुलाचार १४२
 कुतुबुद्दीन काकी १८०
 कुलूकभट्ट १८५
 कुम्भनदास ३७१, ३७३, ३७७, ३८४

कुमारदास ४२६
 कुलशेखर ४२७
 कृत्या १३
 कृष्ण हारीत २६
 कृष्णदत्त लीहित्य २६
 कृष्णधृति सात्यकी २६
 कृष्ण ऋषि २६
 कृष्ण पंडित ४०६
 केशवदास २२३, २६०
 कैम्पवेल ३६
 कौलावस्था ११६, ११६, १४१, २६५
 कौशाम्बी डी० डी० १६५, १६६, १७०,
 १७३, ४२१

ख

खजुराहो ४४०
 खसमावस्था ६६, १११, १२२, २६३,
 खंचरी मुद्रा १५२, २६६, ३६५
 खेमालदास रतन राठौर ४३२

ग

गणपति ३२, ३७
 गणाध्यक्ष २८
 गणेश २०, ४२०
 गणपति शास्त्री ५१
 गरीबदास २४६, २६७, ३०२, ३११
 गदाधर भट्ट ४०६, ४११
 ग्राम देवता २०
 गिखतेल १३७
 ग्रियर्सन ३२५
 गुप्तभाषी १११
 गुरु हरगोविंद १६६
 गुरु गोविन्दसिंह १६६, १६७

गुरु हरराय १६७
 गुलाल साहब २४४, २२६, २४६, २६०,
 २६४, २६१, २६३, ३०१
 गुरु ३८३, ३६८
 गेटी एलिस ६, २०, ३७
 गोविन्थनाथ १
 गोपीनाथ राव ३६, १३८
 गोपीनाथ कविराज १००, १२७, १२६,
 १३२, १३६, १५१, २५०, २७८,
 गोरखनाथ १६०, २१६
 गोविन्दाचार्य स्वामी ३२४
 गोपीरमण ३३७
 गोलोक ३६०
 गोविन्द स्वामी ३७१, ३७२, ३७३,
 ३७७, ३८४
 गोवर्धननाथ शुक्ल ३७१
 गोविन्द देव ४०४
 गोविन्दशरण देव ४०४
 गौतम बुद्ध २
 गोड़पाद १२७
 गोड़ीय सम्प्रदाय ४०६
 घ
 घंटाधारी २८
 च
 चक्र १५, १६, १७, २३
 चंडी ३०
 चंडीदास ३३१ ४४१
 चन्द्र नाड़ी ११६
 चक्रपूजा ११८, १४२
 चक्रसाधना २५५

चरणदास २६६
 चौका विधान २५०
 चमत्कार ४२४
 चन्द्रवली पांडेय १८४
 चाइल्ड वी० गार्डन ७
 चामुण्डा ३३
 चारुशीला ४३१
 चित्शक्ति ४०, १०३
 चिन्तामणि १२१
 चिन्ताभरिण भट्टाचार्य ३
 चैत्य २६
 चैतन्यदास १८६, १६१
 चैतन्यमत ३५०
 छ
 छीतस्वामी ३७०, ३७१, ३७३, ३८४,
 ३८६
 ज
 जरमनित ५
 जल २०
 जगजीवनदास २२६, २४३, २४५, २६२,
 २६२, ३०२
 जयदेव ४०२, ४४१
 जयशंकरप्रसाद ४४३
 जादू १०, २७३, ४२१
 जायसी १८३
 जापानी जैन सम्प्रदाय ५३
 जिनसेन ४८
 जिकिर साधना २४५
 जीवानन्द ५२
 जैनयोग ४८
 जैनपंचाक्षरी ४८

ऋ
 भावेरी एम० ४८
 ट
 टाटेम २६
 टेलीपौथी १२
 त
 तथता ५८, २१६
 सथागत ५८
 तन्वीतत्व १४८
 तत्ववेत्ता ४०४
 तत्सुख सिद्धान्त ४३६, ४३७
 तसमित ५
 त्मु ५
 तंत्र १
 ताज १८३
 तांत्रिक जैनमत ४७
 तांत्रिक वैष्णव साधन ८६, ८८
 तांत्रिक शैवमत ६२
 तांत्रिक शाक्तमत १२४
 तारानाथ १५१
 तिलक सिद्धान्त ३६६
 तिरुमूलर ६३
 तीर्थंकर ४७
 तुलसीदास १०, १२७, १८५, १६२,
 २०८, २७६, ३२१, ३२३
 तुकसामन्तवाद १७३
 तुलसीसाहब २४६, २६८
 तुलसी का शक्तिवाद ४१७
 तुलसी के शिव ४१६
 व
 दरिया साहब (मारवाड़ी) २६१, २६७,
 २८३, ३०२

दरिया साहब (बिहारी) २२१, २३७,
 २४२, २४७, २६७, २७६, २८२
 दक्षिण पंथ १२६, १४२
 दया बाई २४३, २५१, २५६, २६४
 दक्षिणाचार्य ३२१
 द्रविड़ ६
 दत्तात्रेय ३४, १२७
 दत्ता एन० ६०
 दादू ५४, ६६, १८२, २२८, २५०,
 २६७, ४१५,
 दासागंज १८०
 दारा शिकोह १८०
 दास गुप्त एस० बी० १, ३५१, ३६१
 दास गुप्ता एस० एन० २, ४१, ७८,
 ८६, १००, १०२, ३३७
 दिति ३०
 द्विदल सिद्धान्त ३६२
 दीनदयालु गुप्त डा० ३२३, ३५२, ३५७,
 ३६१
 दीवानापन ४३६
 दुर्वासा ७६, १२७
 दुर्गा ७, ३०, १३८
 दुला २०
 दुर्गाप्रसाद ३५३
 द्वृती ११६
 ध
 धरमदास २२१, २४६, २६१, २६१,
 ३०१, ३०३, ३११, ३१२
 धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी २२१, २४८, २६३
 धन्वन्तरि २६
 धारणी मंत्र ५१, ७३
 धूर्त २८
 धृति ३०

न

नटराज ७
 नरनारायण २८
 नवदुर्गा १३८
 नलिनाक्षदत्त ५०
 नन्ददास ३७४, ३७६, ३७८, ३७९,
 ३८३
 नवनीत चौबे ४०५
 नम्मालवार ४२७
 नाग २०
 नाद ४१, ६१, ६०, १०२, १३१,
 १५४, २२८, २४८, २५५, २६४
 नाथूराम प्रेमी ४६
 नारोपा ६०
 नाथपंथ ७४, १५०, २०४
 नाथसिद्ध १५०, १५१
 नागार्जुन १५५, २२३, २३७
 नानक १८२, १६३, १६४, १६६, २२०
 २४५, २४६, २६६ २८८, २९०,
 २९१, ३०२, ४१५
 नामदेव १६२, २१०
 नाथसाधना १६६
 नाथनमार ६३, २०७
 नादयोग २५८, २६३
 नारद ३३३
 नामजप ३६४
 नायिकाभेद ३८२
 नागरीदास ४०४, ४०७
 नाम श्रौर रूप ४२३
 नाभादास ४३२
 निगम ३

निशाचर २८
 निरंजन् १०५, १८६, २१८, २२८,
 २३०, २३५, २३६
 निष्कलंक १८१. १८२
 निजामुद्दीन झीलिया १८१
 निरति २६५
 निर्गुणभक्ति २७६
 निरंकार २८५
 निम्बार्कमत ३५०, ४०२, ४०३
 नित्यविहार ३५०, ३६०
 निकुम्भिला देवी ४२५
 नृसिंह २६

प

पशुपति २०, २६, २८
 पलाला २८
 पञ्च पञ्च २८
 परिणामवाद ४०
 परशुराम चतुर्वेदी ५४, २१७
 परम व्योम ८२
 परम शिव ८३, ६६
 परमानन्द स्वामी २२६, २३३, २३६,
 २४२, २७०, २७१, २६४
 परमानन्ददास ३७७, ३८६, ३८७, ३८९
 परावाक् १३०, २५३
 पशु साधक १४१
 पतञ्जलि १५१
 परस्परप्रभाववाद १६२
 परचा २२६
 परवर्ती सन्तों में चक्र २६७, २६९
 परशुरामदेव ४०४
 पद्मावती शबनम ४१२

पणिक्कर के० एम० ३१६, ३२७, ३२६
 प्रणव २१, २३, २१६, २४४
 प्रजापति २३
 प्रतर्दन यज्ञ २४
 प्रज्ञा ५३
 प्रकाश ६१, १०२, १३०
 प्रत्यभिज्ञा १०४
 प्रसिद्धि ३००
 प्रभुदयाल मीतल ४१०
 प्रयागदास ४३२
 पृथिवी २०
 पाशुपतसम्प्रदाय २४
 पाश २५, ४२, १०४
 पाशुपतव्रत ३१, ३३, ६३
 पारख २२२
 पाहने १२८
 पारीख एम० सी० ३८४
 प्राण १७, २२, २४
 पांढरात्र २७, ३०, ७७, १०१, २०७
 प्राणध्वा १०७
 पितृ पूजा २६
 पिपीलिका मार्ग २४७, २६०
 प्रियादास ४०८, ४०९
 पिंगलामत २
 पिरण्ड-ब्रह्माण्ड ५, १५, २३
 पीताम्बरदेव ४०४, ४०७
 पीताम्बर बड़थवाल १६८, १६९, २०३,
 २१८, २२५, २४१, २४८, २६६
 २६७, २६५, ३०६
 पुष्टि ३०, ६४
 पुण्डरीकगृह २३

पूजा ११५
 पूर्णानन्द १२८
 प्रेमयोग ३७६
 पंचमकार १४, ११६, १३६
 पंचककार २८८
 पंचदेवोपासना ४१७, ४२०

फ

फजुलुल्लाह नबी ११८
 फरीदुद्दीन १८१
 फर्कुअर ५२, ६५, १२४, २८८, ३३२,
 ३३६

फाउचर ३७

फाहियान ७२

फेजर ११

ब

बलदेव उपाध्याय २, १२८, २०३ ३५३
 बलिप्रथा ७
 बरूनी १८२
 बलरामदास १८६
 ब्रह्मन् १४, २२
 ब्रजलाल बनर्जी १८
 बालजेबल ५
 बालचन्द्र सूरी ४६
 बाणभट्ट १२४
 बाशिरा १८४
 बाथुरी जाति १८७
 बाह गुरु १६६
 बाशिराभक्त ४१४, ४१५
 बाल्मीकि ४२२
 बाबा मंगलदास ४३०
 बालकृष्ण "बाल भल्ली" ४३२
 ब्राह्मणवाद १६७

बिन्दु ६१, ६०, १०२, १३०, १५६,
२२८, २६४

बिठोवा ७५

बीजमन्त्र १६, २१, २३

बेविरा १८४, १६२, ४१४

बैकुंठ ८२

बेनीकान्त काकती १४५

बेन्दवावस्था १५६

ब्लैकमैजिक १४, ४२५

बुद्धि ३०

बुल्ला साहब २२०, २५६, २६२, ३१०,
३११

बोधिचित् ५२, ५७, ५८, ६०

बौद्ध-जप ५४

बौद्ध-मुद्रा ५६

बौद्ध-काया ५६

बौद्ध-दीक्षा ६४

बौद्ध षडंग योग ६४

बौद्ध-देवमंडल ६७

बौद्ध-प्रतीक ६६

बौद्धमत रूपान्तर ७२

बौद्ध जैन पौरोहित्य १७०

भ

भवानी २६, ३२२

भक्ति २७, १११, १४८

भद्रकाली ३०

भद्रबाहु ४७

भग ५२

भगवतीसिंह ३४१, ४२७, ४२६, ४३१,
४३२, ४३३, ४३४

भगवत्तरसिक ४०४

भगवन्त मुदित ४०६

भक्ति का औचित्य ३२५

भंडारकर ६५

भारती ६

भागवत सम्प्रदाय २६

भानुवती ३०

भास्कर ६८, १२७

भाई गुरुदास १६६

भावदेह ३२४, ३६४

भाव साधना ३६६

भीखा साहब २२१, २५१, २५६, २६४,
२६७, ३०१, ३१२

भैरवी चक्र १६

म

महाभारत २७

मत्स्य २६

महाकाली ३०

मग ब्राह्मण ३६

मल्लिवेण ४६

महायान ५०

मंजु श्री मूल कल्प ५१

महासुख ६३

महिमा धर्म ७६

मत्स्येन्द्रनाथ ६७, १५०

महावैन्दव ग्रन्थस्था १३२, १३७

मंत्र १३३, २४४, ३८४

महाविद्या १३८

महा भैरव १४५

महाकवि देव १८२

महादेव शास्त्री २०२, ३३६

महासुख २६५

मधुसूदन सरस्वती २७६
 मधुरा भक्ति श्रीर तंत्र ३२२, ४३१
 महाराणा कुम्भा ३२३
 महात्म्य ज्ञान ३३५, ३८६
 महाभाव ३६५
 मन्मथ विजय ३७६
 मनोहर कवि ४०६
 मातृपूजा ८
 मायावी १४
 माया १४, १००, १०१, १२६, २२७
 ३१६
 मालिनी २८
 मातृका २८
 मार्केण्डेय ३२, १५१
 माणिक्य वाशगर ६३
 मार्क्स १६४
 माधुरी कवि ४०६
 मानदास ४३२
 मादन दशा ४३६
 मिथनोकरणा १८
 मिथुन भावना २२
 मिलीमिली २८
 मीमांसा ४१
 मीनमार्ग २४७, २६०
 मीरा १८२ ४१२
 मुस्लिम एकेस्वरवाद १७८
 मुंशीराम शर्मा ३६८, ३८४, ३८८
 मुईउद्दीन १८०
 मुरारीदास ४३२
 मुद्रा ११४
 मूर्तिपूजा २६ ११३, ४३५
 मृगव्याध २८

मेघयन्ति २०
 मेघा ३०
 मेघातिथि १८५
 मैकलिफ १६३, १६४, २६३
 मैथुन ६६
 मोनियर विलियम्स १२८, ३३८

य

यजुर्वेद १८
 यबयुम ६२
 यामल ३, १२५
 यास्क १०
 यातुधान १४
 याज्ञवल्क्य २५
 यामुनाचार्य ७८ ३२६, ३४८
 यारी साहब २२१, २६७, ३१०
 युगनद्ध ६२, ४३१
 युगल केलि ३६३
 योनि ७, १५, १४५
 योगिनी मेलन ११८
 यंत्र ६. ७

र

रघुनन्दन शर्मा १६, १८५
 रमाई पंडित ७६, १८६, १८७
 रस १४५
 रसखानि १८३
 रसूलशाह १८३
 रतिचक्र ३६६
 रसरंग ४०५
 रसिकदास ४०७
 रसिकसम्प्रदाय ४२६, ४३४, ४३५
 रसिक झली ४३६
 रा ५

रामगोविन्द त्रिवेदी ८

रामचन्द्र शर्मा ११

रावण १६

रात्रि देवी २०

रक्षस १३, २६

रामदास गौड़ ३१, ६३, ६५, १२६

रासलीला ३३, १४७, ३७३

रामानुज ६७, २०७, ३२३, ३४८,
४१३

रामकंठाचार्य ६८

राम १०५, २०६, २२३

राधा ११६, १४५, ३६६, ३६४, ३६६

राधास्वामी सम्प्रदाय ११०

रामचन्द्र काक १३४, १३६

राजबली पाण्डे १७३, १७६

रामकुमार वर्मा २०६

राहुल सांकृत्यायन २३६, २६६, २६६,
३०६, ३०७, ३०६

रामनाम रस २७८

राष्ट्रीयसांस्कृतिक धारा ३१७

रामचन्द्र शुक्ल ४०२, ४३२

रामराय ४०६

राम हरि ४०६

रामपंचायतन ४२२

रामानन्द १६१, १६२, २०३, २०४,
२०५, २०७, २३६, २४१, २४३,
३२०, ४१५, ४२६, ४२७

रामानुजाचार्य एम० डी० ७६

रुद्र ७, ६, २०, २४, २७, २८, ३०
७६

रूपसाधना ३८५

रूपरसिक देव ४०४

रांगेय राघव २६

ल

लज्जा ३०

लक्ष्मी १५, ३०, १३८

लक्ष्मीकरां देवी ६३

लकुलीशपाशुपत ६७

लक्ष्मीधर १२६

ललिता १३८

लय २७४, २८०

लक्ष्मी शक्ति ३१६

ललिताचरण गोस्वामी ३५१, ३६०
३८६, ३६५, ३६६, ४००

ललितकिशोरी ४०४, ४०७

ललितकिशोरीदास ४०७

लामावाद ६६

लिङ्गपूजा ७, ६, २०, २८, ३३, ६६,
११६, १४६

लिङ्गायत ६५

लिङ्गराज ४४०

लीला ३५७

लूथर १६३

लोकाचार ४२७

व

वल्लभाचार्य ८, ५८, १७५, ३४८,
३४६, ३५५, ३६३, ४३७,

वज्रयोषित् ५२

वज्रयान ५५

वज्रयोग ६०

वज्रसत्त्व ६१

वसुबन्धु ७२

वसव ६६, २६८
 वसुगुप्त ६८
 वर्णाव्यवस्था १७६, १७७
 वज्रोली २०१
 वल्लभरसिक ४०६
 वरवर मुनि ४२७
 वर्तमान हिन्दू समाज ४४३
 वसु एन० एन० ७३, ७५, ७६, १८७
 व्यूह-सृष्टि ८१
 वाचस्पति १
 वामाचार ५, ७, १८, १९, ५६, ६४,
 ७३, १२७, १४३, ४०८
 वात्ययोग २५
 व्यास २६
 व्यापिनी १२१
 वाक् शक्ति १३७
 वासुदेव गोस्वामी ३६८
 व्यास कवि ४०१, ४०३, ४०४
 विष्णु ६, ६, २०, २१, २७, २६, ३२
 विनायक २०
 विरूपाक्ष २६
 विटरनित्स २७, ३२
 विनता ३०
 विनयतोष भट्टाचार्य ५०, ५२, ५५
 विमर्श ६१, १०२, १३०
 विल्सन १२८
 विलियम बार्ड १२८
 विज्ञानेश्वर १८५
 विश्वनारायणसिंह २१६, २७३, २५३, २७५,
 २८४, ४३६

विकल्पपरामर्श २२७
 विहंगम मार्ग २४७
 विद्यापति ३३१, ४४१
 विजयेन्द्र स्नातक २६५, ३६६
 वियोगी हरि ४०२, ४१३
 विहारीशरण ४०२
 विहारीदास ४०४, ४०७
 विश्वेश्वरशरण ४०५
 विहारिनिदास ४०७
 विट्ठलविपुल ४०६
 विश्वनाथ चक्रवर्ती ४०६
 विश्वामित्र ४२५
 वीरभैरव ६५
 वीरसाधक १४१, १८४
 बुडरफ १२८
 वृन्दावन १४५, ३६३
 वृन्दावनदेव ४०४
 वेडेल ६६
 वैष्णवशक्तिवाद ८०, ३५२
 वैष्णव शुद्ध सृष्टि ८२
 वैष्णव प्रतीक ८३, ३८८
 वैष्णव शुद्धेतर सृष्टि ८४
 वैष्णव दीक्षा ८७
 वैष्णव नाडी योग ८६
 वैष्णव मंत्रयोग ६०
 वैष्णव यंत्र ६१
 वैष्णव-साधना ३६१
 वैष्णव मुक्ति ३५४
 वैष्णवदास ४०६
 वेस्टकोट जी० ए० ९८६
 वेन्दव जगत् ३६४

श

शची ६

शतरूपा २२

शब्दसाधना २३, १६६

शर्वीणी २६

शक्ति २७, ३२, ४१६

शक्तिपात् ८६, १११, १३३, ३५६,
३६८, ४३४

शक्तिवेध १०५

शब १३१, १४१

शक्तिपूजा १३६

शाबरमंत्र ४२४

शाकम्भरी ३०

शाक्तोपाय १०७

शाम्भव उपाय १०७, २४०

शाक्तोल्लास १४०

शाहदुल्ला सम्प्रदाय १८१, १८२,

शाह इनायत १८२

शाह लतीफ १८२

शिन्दे एन० जे० १०, १४

शिवपंचाक्षरी ४२२

शिवा ७

शिव ३०, ३२

शिवाद्वैतवाद ६७

शिवदयाल २२०, २२८, २४६, २५२,
२६१, २६८

शीतपूतना ३०

शुद्धचिति १२६

शून्यता ५८, ६३, ६६, ७६

शून्य १८६, २१८, २२१,

शेख सलीम चिश्ती १२१

शेख फरीद १६३

शैतानवाद २३१

श्वेताम्बर-देवमण्डल ४६

शैवदीक्षा ११२, १३३

शैव पीठ ११३

शैव न्यास ११३

शंकराचार्य १२७, १३६, १८५, २०८,
२३७, ३१६, ३४८, ४१२, ४१७,
४४३

शांतिदेव ५५

शातरक्षित ५५

श्रद्धा ६

श्रीकंठाचार्य ६७

श्रीभट्ट ४०२

श्रीकृष्णदास ४०५

श्रीविद्या १३५

श्रृगाल २८, ३०

श्रेडर एफ० ओ० ७७

ष

षड्दर्शन ६३

षट्चक्रनिरूपण १३५

षोड्षी १३५

स

संघट्ट ३, ११६

सरस्वती ८, २०

सरमा ६, ३०

स्कन्द २०, २८

सर्प २७

सम्ख्या भाषा ५१, ५४, ६६

सहजयान ५५

संविद् ६१
 समरसता ६३
 सहज ६३, १०३, १५४, १६५, २१६,
 २२४, २४०, २६२
 सरहपाद ७२
 सम्बन्धदार ६३
 स्वच्छन्द शक्ति १००
 सहज जय ११५
 समनावस्था १२१, १३५
 स्पन्द १२१
 सदानन्द १२७
 सप्तमाता १३८
 संधिरक्षण १५५
 सन्त लोक कल्पना २२६
 सतगुरु २४१
 सन्त-दीक्षा २४३
 सन्त ध्यान २४५
 सन्तों में चक्र २५६
 सन्तों के प्रतीक २८५, २६५
 सन्त-वामाचार २८८
 सहज-काव्य ३०६
 सहजोखाई २१८, २२१, २४३, २५१,
 २५६, ३१०
 सहचरी तत्व ३६५
 सहचरिशरण देव ४०५
 स्वयंभूव ४०५
 सरसदास ४०७
 स्वमुख सिद्धान्त ४३३
 सकहरे एम० ग्रा० ६४
 सात्वत २६, ७८
 सामनस पद १०८

सायणाचार्य १२७
 सामरस्य १३०, १४८, ३६६, ४४०
 सामंतवाद १७०
 स्वामी दयानन्द ३१८
 साधन भूमि ४३६
 सिद्ध काव्य ४४१
 सिद्ध शरीर २६३
 सिक्खमत १६२
 सिद्धाचार्य ५५
 सिनीवाली ६, ३०
 सिन्धु सभ्यता ६
 सीतलदास ४०४
 सीतातत्व ४१३, ४१७
 सुरापान १८, ३६, ११६
 सुपर्णा ३६
 सुखावती स्वर्ग ५२
 सुजीतकुमार मुखोपाध्याय ५७
 सुजुकी ५८
 सुदर्शन ८१
 सुन्दर शैव ६३
 सुन्दरदास २१८, २२५, २२६, २२७,
 २३६, २४०
 सुरति २४७
 सुकुमार सेन ३३१
 सुबल-श्याम ४०६
 सूर ए० के० ३७
 सूर्यमंदिर ४४७
 सूरदास मदनमोह ४०६, ४१०
 सूरदास ३६७, ३७२, ३७३, ३७६, ३७७,
 ३७६, ३८३
 सूक्ष्म वेद २३२
 सूर्य नाडी ११६

सोमानन्द ६८

सोहरावर्षी १८१

सौषुम्न ज्योति १५३

ह्वेन सांग ७३

ह

हरप्रसाद शास्त्री २, ७३, १५१

हरिदास ८, ४०५, ४०७

हनुमान ३७, ४२१

हठयोग १२०

हरभट्ट शास्त्री १४५

हरिहरानन्द आरण्य १५२, १५६

हजारीप्रसाद द्विवेदी १७७, १८६, २२६,

२३८, २४२, २५१, २६५

हरिदेव ४०६

हापकिन्स १२८

हिट्टायट ६

हितहरिवंश ८, ३६१, ३६७, ४०१

हिकारोपासना २३

हिरण्यमय ङा० ६६, ६८, २७७, २८१,

२६८, २६९

हित सिद्धान्त ३६०, ३६२

हीनयान ५०

हुसैनी ब्राह्मण १८१

हृदय पुंढरीक १३५

हेमचन्द्र ४८

हेमचन्द्र विद्यारन्त ३४८

हेमाद्रि १८५

क्ष

क्षण ६२

क्षितिमोहन सेन २६, ३६, १७८, १७९,
२६७

क्षेमेन्द्र २३७

क्षेमराज ६८

क्ष

त्राटक मुद्रा २६७

त्रिकुटी २६६

त्रिपुरा-सुन्दरी १००, १३५, १४५

त्रिलोचन ३१०

ज्ञ

ज्ञान और क्रिया १०६

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ	शुद्ध
सेलेक्टिड	२	सेलेक्टिड
प्रामाण	३	प्रमाण
अद्व	४	अद्वय
टेक्ट्स	४	टेक्ट्स
ब्रह्मांड	५	ब्रह्माण्ड
कार्यो	७	आर्यो
आत्मभूली	७	आत्मभूली
शक्ति	६	शक्ती
पुष्टि	१६	पुष्ट
तत्तरीय	२०	तत्तरीय
प्रवृत्ति	४०	प्रवृत्त
अभिलाष	६६	अभिलाष
आइयार	७७-७६	आइयार
पाँचरात्र	७६-८५	पाँचरात्र
धिष्ठिता	६१	धिष्ठिता
शक्तिवाद	६६	शक्तिवाद
उत्पत्तता	६७	उत्पत्तता

हिरण्यमय	६८	हिरण्यमय
शाक्त	१०७-११३, १२४, १२५, १२७	शाक्त
तादात्म्य	११४	तादात्म्य
जोड़वेनी	११५	जोड़ वेना
इन्द्रियां	११७	इन्द्रियां
तंत्रालोक	११९	तंत्रालोक
योगदान	१२५	योगदान
लक्ष्मीयालय	१२५	लक्ष्मीयामल
वशिष्ठ	१२६	वशिष्ठ
प्रकाशिक	१२६	प्रकाशित
उद्धृत	१३१	उद्धृत
अनुसंधान	१३४	अनुसंधान
दृष्टव्य	१३८	द्रष्टव्य
स्फुरति	१३९	स्फुरित
उद्धति	१४५	उद्धृत
राजयोग	१५१	राजयोग
अनार्थ	१५३	अनार्थ
संहाल	१५६	संहाल
समाहित	१६३	समाहित
किया	१६५	लिया
कंसंज्ञान	१६५	कंसंज्ञान
तुलनात्मक	१७४	तुलनात्मक
भरणपोषण	१७५	भरण पोषण
सम्प्रदायो	१७८	सम्प्रदायों
ता अरध	२२०	तो अरध
मंसूर	२३७	मंसूर
बखेडे	२३८	बखेड़े
अंतर्भाव	२४२	अन्तर्भाव
अश्रित	२४९	आश्रित
तांत्रिक योग	२५२	तांत्रिक योग
उद्धृत	२५३	उद्धृत

बौद्धांत्रिक योग

उन्मम

प्रातिभा

दृष्टिता

अमोघ

प्रम

देककर

बोलं

भक्ति

अनुगमन

बाह्याचार

सौन्दर्य लहरी

मारवि

सर्व

परिस्थित

कंसपूशनन्स

पनिवकर

नृशस

लम्पट

साधना

सभा

उपनिषद्

कामेक्षा

सीत-राम

प्रवृत्तियां

अर्थात्

खेचरी भांड

पारवती

उप्रेक्षा

रतियो

नवनीति

~~२५५५~~

२६५

२६६

२७४

२७६

२८१

२८७

२८६

२८६

३०१

१६३-३०१

३०४

३०६

३२१

३२१

३२४

३२७-३२६

३२८

३३४

३३४

३३६

३३८

३३८

३३६

३४५-३४७

३५१

३६५

३७६

३८१

४०३

४०५

बौद्ध तांत्रिक योग

उन्मन

प्रतिभा

दृष्टता

अमोघ

प्रेम

देखकर

बोलं

मुक्ति

अनुगमन

बाह्याचार

आनन्द लहरी

मारवि

सर्व

परिस्थिति

कंसपूशनन्स

पणिवकर

नृशंस

लम्पट

साधना

सभी

उपनिषद्

कामेच्छा

सीताराम

प्रवृत्तियां

अर्थात्

खेचरीभाण्ड

पारवती

उपेक्षा

रतियां

नवनीत

हिरण्यमय	६८	हिरण्यमय
शाक्त	१०७-११३, १२४, १२५, १२७	शाक्त
तादात्म्य	११४	तादात्म्य
जोड़वेनी	११५	जोड़ वेना
इन्द्रियां	११७	इन्द्रियां
तंत्रालोक	११९	तंत्रालोक
योगदान	१२५	योगदान
लक्ष्मीयालय	१२५	लक्ष्मीयामल
वशिष्ठ	१२६	वशिष्ठ
प्रकाशिक	१२६	प्रकाशित
उद्धृत	१३१	उद्धृत
अनुसंधान	१३४	अनुसंधान
दृष्टव्य	१३८	द्रष्टव्य
स्फुरति	१३९	स्फुरित
उद्धति	१४५	उद्धृत
राजयोग	१५१	राजयोग
अनार्थ	१५३	अनार्थ
संहाल	१५६	सँह्वाल
समाहित	१६३	समाहित
किया	१६५	लिया
कंसंशान	१६५	कंसंशान
तुलनात्मक	१७४	तुलनात्मक
मरणपोषण	१७५	मरण पोषण
सम्प्रदायो	१७८	सम्प्रदायो
ता अरध	२२०	तो अरध
मंसूर	२३७	मंसूर
बलेडे	२३८	बलेडे
अन्तर्भाव	२४२	अन्तर्भाव
अश्रित	२४९	आश्रित
तांत्रिक योग	२५२	तांत्रिक योग
उद्धृत	२५३	उद्धृत

बौद्धांत्रिक योग	२५५	बौद्ध तांत्रिक योग
उन्मम	२६५	उन्मन
प्रातिभा	२६६	प्रतिभा
दृष्टिता	२७४	दृढ़ता
अमोघ	२७६	अमोघ
प्रम	२८१	प्रेम
देककर	२८७	देखकर
बोलै	२८६	बोलै
भक्ति	२८८	मुक्ति
अनुगमन	३०१	अनुगमन
बाह्याचार	१८३-३०१	बाह्याचार
सौन्दर्य लहरी	३०४	आनन्द लहरी
मारवि	३०६	भारवि
सर्व	३२१	सर्व
परिस्थित	३२१	परिस्थिति
कंसपूशनन्स	३२४	कंसपूशनन्स
पनिषकर	३२७-३२८	पणिषकर
नृशस	३२८	नृशंस
लम्पट	३३४	लम्पट
साधना	३३४	साधना
सभा	३३६	सभी
उपनिषद	३३८	उपनिषद्
कामेक्षा	३३८	कामेच्छा
सीत-राम	३३८	सीताराम
प्रवृत्तियां	३४५-३४७	प्रवृत्तियां
अर्थात्	३५१	अर्थात्
खेचरी भांड	३६५	खेचरीभाण्ड
पारवती	३७६	पार्वती
उपेक्षा	३८१	उपेक्षा
रतियों	४०३	रतियाँ
नवनीति	४०५	नवनीत

बिहारीनिवास

४०७

बिहारिनिवास

माई री

४१०

माई री

पल्लव

४१४

पल्लवन

नवनीति

५०५

नवनीत

विनोदपंत

४२६

विनोदवन्त

रतिकालोन

४३८

रतिकालीन

निभ्रान्ति

४४२

निभ्रान्त

दीनदयाल

४४४

दीनदयालु

आड्यार

४४५

आड्यार

पदसंह

४४६

पदसंग्रह

अरबुद

४४७

अरबुद

